ISSN 0975-5217
UGC-CARE LIST (GROUP-I)

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

(Volume 27, Issue 1, January-June, 2023)

मिथिलांचल संगीत परिषद
संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा, बिहार (भारत)

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध-पत्रिका)

ISSN 0975-5217
UGC-Care list (Group-I)

भैरवी

(दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध पत्रिका)

(Volume-27, Issue-1, January-June, Year-2023)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित कला संकाय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध–पत्रिका)

ISSN 0975-5217
UGC-Care list (Group-I)

Volume-27, Issue-1, January-June Year 2023

प्रधान सम्पादक
प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो.– 09430063265
ईमेल – npushpamji@gmail-com

मूल्य
इस अंक का मूल्य : 400/– रुपये
व्यक्तियों के लिए :
वार्षिक : 800/– रुपये त्रैवार्षिक 2400/– रुपये
पंचवार्षिक 4000/– रुपये आजीवन : 15000/– रुपये
संस्थाओं के लिए :
वार्षिक : 850/– रुपये त्रैवार्षिक 2500/– रुपये
पंचवार्षिक 4500/– रुपये आजीवन : 16000/– रुपये
(केवल मनी आर्डर/चेक /बैंक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

"भैरवी" विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित एवं UGC-Care list (Group-1) में शामिल है। साथ ही यह Peer Reviewed Refereed Visual and Performing Arts Research Journal है।

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाजियावाद –201 102

Patron

Prof. Chaman Lal Verma
Ex. Dean and Head
University Department of Music
Himachal Pradesh University, Shimla

Prof. Pt. Ritwik Sanyal
Top Grade Dhrupad Artist
Ex. Dean, Faculty of Performing Arts
Banaras Hindu University, Varanasi

Prof. Pt. Sahitya Kumar Nahar
Vice-chancellor
Raja Maan Singh Tomar Sangeet Vishwavidyalaya
Gwalior, Madhya Pradesh

Editorial Board

Chief Editor
Prof. Pushpam Narain
Ex. Dean, Faculty of Fine Arts
Head, University Department of Music and Dramatics
Lalit Narayan Mithila University, Darbhanga, Bihar

Editorial/ Advisory Board

1. Prof. K. Shshi Kumar
   Dean, Faculty of Performing Arts
   Banaras Hindu University, Varanasi

2. Prof. Snehashish Janpriya Das
   Head. Department of Music
   Women's College Jag Chowk, Amarawati, Maharashtra

3. Dr. Ashwani Kumar Singh
   Associate Prof, Department of Music
   Faculty of Performing Arts.
   M.S. University, Baroda, Gujrat

4. Dr. Shobhit Kumar Nahar
   Asst. Prof. Instrumental Music Women's College
   Banaras Hindu University, Varanasi

Peer Review Committee

1. Prof. Om Prakash Bharti
   Head, Department of Performing Arts
   Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya,
   Wardha, Maharashtra

2. Dr. Rajesh Kelkar
   Dean, Faculty of Performing Arts
   Maharaja Siyaji Rao University, Baroda, Gujrat

3. Prof. Umesh Kumar
   Head, Department of Hindi
   B.M.A Callege Baheri, Bihar

4. Dr. Amar Kant Kuwar
   Head, Department of Hindi
   M.L.S.M College, Darbhanga, Darbhanga, Bihar

5. Dr. Santosh Dattatrayrao Parchure
   Head, Department of Music
   S.P.H. Women's College, Malegaon, Nashik, Maharashtra

6. Dr. Shashank S. Maktedar
   Associate Prof. and Officiating Principal
   Goa College of Music, Panji, Goa

7. Dr. Ved Prakash
   University Department of Music and Dramatics
   Lalit Narayan Mithila University, Darbhanga, Bihar

8. Dr. Ramshankar
   Faculty of Music and Performing Arts
   B.H.U., Varanasi

9. Dr. Pallavi Shailesh Meshram
   Associate Prof. in Applied Arts
   Bharti Vidyapeeth' Collge of Fine Arts,
   Pune, Maharashtra

जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।
लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुधा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं।)

'Music is the bridge of peace and love'

'संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।'

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

वीणा वाद्य यंत्र

संपादक की कलम से....

इतिहास से विरासत में हमें भारतीय संगीत जैसी अमूल्य निधि मिली है। अन्य देशों के संगीतों की अपेक्षा इसमें जो विशिष्टता है वह मान्यताओं के कारण है जो संगीत के सम्बंध में हमारे पूर्वजों की थी। भारत में संगीत क्षणिक आमोद–प्रमोद व अतृप्त तृष्णा की वस्तु न होकर समस्त ब्रह्माण्ड अथवा व्यक्त जगत से ऐक्य का आभास है, चिरानन्द प्रदान करने वाली आध्यात्मिक साधना है और साँसारिक दुखों से मुक्ति प्रदान करने और ब्रह्म तक मानव को ले जाने वाला मार्ग है। हमारी सभ्यता ने संगीत को हमारे जीवन में इस प्रकार बुन दिया कि सहस्र शताब्दियों के पश्चात भी वह उसका अविच्छिन्न अंग बना हुआ है। संसार में सम्भवतः ऐसा अन्य कोई देश नहीं है जहाँ संगीत इतने पुराने युग से जन जीवन में इतना व्याप्त हो जितना कि वह भारत में रहा है। संसार की सब जातियों की अपेक्षा भारतवासियों के कहीं अधिक संगीत प्रेमी होने की बात का जिक्र मैगस्थनीज भी कर गये हैं।'इण्डिका' नामक अपने ग्रंथ में आर्यन ने मैगास्थनीज का यह कथन उद्धृत किया है कि, 'सब जातियों की अपेक्षा भारतीय लोग संगीत के कहीं अधिक प्रेमी हैं।' सहस्रों वर्षों से हमारे जीवन में लगभग सभी काम किसी न किसी प्रकार के संगीत से आरंभ होते रहे हैं।

जन्म से लेकर मृत्यु तक यह संगीत हमारे साथ बना रहता है। जिस दिन बालक संसार में अपनी आँखें खोलता है उस दिन से ही संगीत से भी उसका परिचय हो जाता है। नामकरण, कन्छेद, विवाह आदि में तो संगीत होता ही है। ऐसा कोई तीज त्यौहार नहीं होता, ऐसा कोई पर्व और संस्कार नहीं होता, जिसमें संगीत न हो। घर में ही क्यों? हमारे यहाँ खेत में, चौपाल में, चक्की चलाने और धान कूटने में भी संगीत चलता ही रहता है। हमारे जन–जीवन के उल्लास को प्रकट करने का तो यह प्रभावी साधन है ही साथ ही उसको गतिमान बनाने का भी अस्त्र है। संगीत उनको रचनात्मक कार्यों में अग्रसर होने की सामूहिक स्फूर्ति और प्रेरणा प्रदान करता है और उनको वह सामूहिक शक्ति देता है जो उन्हें उन कामों के करने के योग्य बना देती है जो वे अकेले या समूह में संगीत की प्रेरणा के बिना न कर पाते।

भारत में संगीत ने आध्यात्मिक और साँस्कृतिक क्षेत्र में वह काम किया है जो संभवतः और कोई शक्ति शताब्दियों के परिश्रम के पश्चात भी न कर पाती। यद्यपि भारत का साधारण जन वर्णमाला से सर्वथा अपरिचित ही है, किन्तु फिर भी वह आध्यात्मिक ज्ञान से शून्य नहीं है। देश के किसी भी दूर से दूर के ग्राम में आप चले जाइए आपको वहाँ का साधारण कृषक भी अनेक आध्यात्मिक तथ्यों से पूर्णतया परिचित मिलेगा। वर्णमाला से सर्वथा अपरिचित होने पर भी साधारण जन इस प्रकार का ज्ञान रखता है तो उसका एक प्रमुख कारण यही है कि संगीतमय गाथाओं और कथाओं ने उसके हृदय में उस ज्ञान को बैठा दिया है। आज भी ऐसे अनेक लोग मिल जायेंगे जो सर्वथा अनपढ़ होते हुए भी तुलसी के रामचरितमानस के अनेक पद सादर सुना सकते हैं, और कबीर के पदों का तो कहना ही क्या है? अतः भारत के साँस्कृतिक आध्यात्मिक विकास में संगीत का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रहा है।हमारे देश के प्राचीन युग में संगीत शास्त्रियों और संगीतज्ञों का भी बड़ा ऊंचा दर्जा होता था जैसा कि संगीत शास्त्रियों की मुनि और ऋषि की उपाधियों से पूर्णतया स्पष्ट है। इन संगीत शास्त्रियों का देश के

मानसिक निर्माण में इसलिए भी पर्याप्त भाग होता था क्योंकि प्राचीन युग में संगीत शास्त्र का अध्ययन शब्द शास्त्र के अध्ययन के साथ ही वैदिक शिक्षा व्यवस्था का अनिवार्य अंग था।

भारतीय संगीत कल्याण साधना का एक मार्ग है और सामूहिक शिक्षा का एक ढंग है। अतः यह आवश्यक है कि अपने संगीत को पुनः अनुप्रमाणित करने के लिए हम इन दोनों पक्षों से इसका संबंध फिर जोड़ दें। हमारे यहाँ तो संगीत की कसौटी यही है जड़ दीप उससे जल उठे। यदि तुलसी और कबीर ने अपने संगीत से उत्तर भारत के ग्राम्य जीवन को आध्यात्मिकता से प्लावित कर दिया और अनपढ़ों को पण्डित बना दिया तो आज का संगीतज्ञ वैसा क्यों नहीं कर सकता है। हमारे संगीतज्ञ मीरा और तुलसी की परम्परा को पुनर्जीवित करें।

हमारे संगीत के स्वरूप अपने स्वभावगत उद्देश्य के अनुकूल ही बने हैं। उदाहरणार्थ हमारे संगीत में रागों का स्थान प्रधान है। यदि राग नहीं तो हमारा संगीत भी नहीं। किन्तु रागों का यह महत्व अन्य बातों के अतिरिक्त इसलिये भी तो है कि हमारे संगीत का ध्येय मन में एक और केवल एक रस का उद्रेक करना है। मानसिक शिक्षा और समय का यह बड़ा प्रभावी तरीका है। खेद है कि हमारे देश की प्रचलित परिपाटियाँ संगीत की परम्परा को विकृत कर रही हैं और इस प्रकार हमारी भारी हानि कर रही है। देश और जाति के लिए संगीत को मानसिक और चारित्रिक उन्नति का एक साधन बनाने का प्रयत्न किया जाय न कि केवल मन बहलाव और विलास का एक जरिया।

अब समय आ गया है कि संगीत का हमारी शिक्षा व्यवस्था से घनिष्ठ सम्बंध कायम किया जाए। उसका यह अर्थ नहीं कि यह विश्वविद्यालयों की परीक्षाओं के लिए एक विषय मात्र हो जाए। विद्यार्थियों की सामाजिक या सामूहिक चेतना के निर्माण में संगीत का भी अंश हो। हमारे यहाँ तो भगवान भी बिना मुरली या डमरू के पूरे नहीं समझे गए हैं। विद्या की देवी सरस्वती के हाथ में पुस्तक के साथ–साथ वीणा भी बताई जाती है। उसका यही अर्थ है कि किसी भी व्यक्ति की शिक्षा केवल पुस्तकीय ज्ञान से ही नहीं पूरी होती वरन् उसके लिए यह भी आवश्यक है कि उसकी मानसिक वृत्तियाँ का भी ऐसा परिमार्जन हो गया हो कि उसे वैराग की कोई भी बात अच्छी न लगे और उसके हृदयतंत्री के तार सर्वदा वही मधुर राग से गूँजते रहें। आज हमारी शिक्षा ऐसी नहीं है और इसीलिए आज हमारे यहाँ मस्तिष्क और हृदय का तालमेल ठीक नहीं दिखाई देता। प्लेटो ने भी इस बात पर जोर दिया था कि संगीत के बिना मानव की शिक्षा पूरी नहीं मानी जा सकती। अतः हमारे संगीत शास्त्रियों और शिक्षा शास्त्रियों दोनों को ही यह विचार करना है कि यह सम्बंध कैसा हो और किस प्रकार कायम किया जाए। अनेक युग बीते तब भारतीय संगीत का उद्भव भगवान शिव से हुआ था। तब से समय के प्राँगण में अनेक राजा महाराजा, सेनानी और विजेता आए और विलुप्त हो गए, अनेक साम्राज्य बने और बिगड़े अनेक दुर्दिन आये और दुःख के पहाड़ टूटे किन्तु भारत बना रहा और भारतीय संगीत बना रहा।

संगीत संदर्भित अनेकों विषय हैं जिसपर चिंतन आवश्यक है।पुनश्च चर्चा करूंगी। भैरवी दृश्य एवं प्रदर्शनकारी कला की शोध पत्रिका के अंक सत्ताईस का प्रथम पुष्प प्रकाशित हो रहा है ,सुधि विद्वानजन एवं पाठकगण से प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा रहेगी । संपादक मण्डल के सभी सदस्यों के सहयोग हेतु आभारी हूँ । सधन्यवाद।

प्रो. डॉ पुष्पम नारायण
सम्पादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वर नगर दरभंगा– 846004
मो0 09430063265 E-mail: npushpamji@gmail.com

अनुक्रमणिका

सम्पादकीय			xi
1.	कथक नृत्य का प्रदर्शन क्रम–एक साधना पद्धति	डॉ श्यामा पंडित	1
2.	मानस का महात्म्य	रमेश कुमार राज	4
3.	संस्कृत कालीन रंगशाला में नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का अध्ययन	नीतिश प्रियदर्शी प्रो. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'	9
4.	मानसिक विकारों के प्रबंधन में नादयोग की भूमिका	प्रगति, प्रो0 सुरेन्द्र कुमार	13
5.	आदिवासी जीवन के अस्तित्व का संघर्ष : 'गायब होता देश'	कपिल कुमार रंजन	18
6.	हिंदी नवजागरण में महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान	कविता	21
7.	पद्म विभूषण – गंगूबाई हंगलजी का व्यक्तित्व	डॉ. प्रीति बंसीधर इंगले (वाकपंजर)	26
8.	गणित विकास की भारतीय परंपरा	डॉ0 डोरी लाल	31
9.	उपशास्त्रीय गायन शैली : ठुमरी गायन शैली	डॉ0 अपर्णा शुक्ला	39
10.	कार्य संतोष पर शिक्षकों के स्वबोध का प्रभाव	प्रशांत भास्कर	45
11.	हिन्दी की महिला पत्रकारिता : अतीत और आज	डॉ. समर विजय	49
12.	बुन्देलखण्ड में गुप्तकालीन विरासत को उद्घाटित करने वाले पुरातात्त्विक अवशेष	सत्यम दुबे, गोविन्द पाण्डेय	53
13.	मेवाती घरानों की रचनाओं के साहित्य का अवलोकन	सिद्धार्थ मिश्रा, प्रो. कौमुदी क्षीरसागर बर्डे	57
14.	बिहार प्रांत में प्रचलित पारंपरिक लोकगीतों का विवेचनात्मक अध्ययन	अनंत शंकर डॉ. अरविन्द कुमार	62
15.	भारतीय संगीत में कुछ निवडक संगीतज्ञो का स्वरलिपि में योगदान	डॉ. वृषाली र. देशमुख	67
16.	मर्यादा और भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम	डॉ0 प्रीति राय	71
17.	ललित निबंध साहित्य में लोककलाएँ	डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज	76
18.	विद्यार्थियों के जीवन कौशल का आत्म विश्वास पर पड़ने वाले प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन	कृष्ण कुमार पाण्डेय, डॉ. प्रमोद कुमार नायक	83
19.	संगीत संचार में संप्रेषण माध्यम का महत्व	प्रसेक राज, डॉ. चंद्र नाथ मिश्र	89
20.	शिक्षा के विकास में संगीत की भूमिका	डॉ .चंद्रिका कुमारी	96
21.	शिक्षा में संगीत का महत्व	डॉ. पुष्पवाणी	102

22.	मध्य प्रदेश में महिला सशक्तिकरण की दिशा में किए गए प्रयास	वरुण कुमार सिंह डॉ श्रीमती शैलजा दुबे	108
23.	आतंकवाद और अहिंसा : एक दृष्टिकोण (गाँधी की नजर में)	डॉ. खुश्बू कुमारी	112
24.	भारत–बांग्लादेश संबंधः चुनौतियाँ और अवसर	डॉ मनीष कुमार साव	118
25.	मध्यकाल में भारतीय संगीत	डॉ. पंकज शर्मा	124
26.	भारतीय शास्त्रीय संगीत में बांसुरी का योगदान	ब्रजेश कुमार छाया, डॉ0 किरण सिंह	128
27.	मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता	पूनम देवी, डॉ. प्रियंका	132
28.	स्वतंत्रत भारत के अग्रणी आधुनिक दृश्य चित्रकारों पर एक अध्ययन	अनिता यादव डॉ आई. यू. खान	135
29.	भारतीय संस्कृति में लोकगीतों की प्रासंगिकता	डॉ0 जितेन्द्र सिंह	141
30.	भारतीय नवजागरण में रंगमंचीय नाटकों का योगदान (पारसी रंगमंच के विशेष संदर्भ में)	डॉ. राहुल मिश्र	145
31.	कथक नृत्य के आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का अवलोकनात्मक अध्ययन	डॉ. पूजा चौधरी	152
32.	स्वतंत्रता के बाद भारतीय कला मे होने वाले परिवर्तन की एक समीक्षा	डॉ. अमिता राज गोयल	157
33.	पुराणतत्त्वमीमांसा में अन्तर्निहित श्रीमद्भागवत महापुराण का अर्थानुशीलन	रिंकू कुमार, कमलेश कुमारी	165
34.	भारतीय ज्ञान परंपरा में कश्मीरी लोक संस्कृति का अवदान (विशेष संदर्भ कथासतीसर)	प्रभाकर कुमार, प्रो० रसाल सिंह	189
35.	मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री शिक्षा समस्याएँ	प्रोमिला	179
36.	असमिया समाज में श्रीमंत शंकरदेव का अवदान	डा० साइफुल इस्लाम	183
37.	The Essence of Danda Nata: Investigating the Folk Dance Culture of Kandhamal	Dibya Ranjan Tripathy Dr Santosh Kumar Mallik	186
38.	Environmental Justice and Disparities in Pollution Exposure	Vinit Kumar Malik	195
39.	Exploring the Legacy of Indian Architecture through Mughal Seeds in Contemporary Architectural Decoration	Pooja Dahiya	203
40.	Bargeet and Ankiya Geet: The Two Vaishnavite Music Forms of Assam	Sonica Hazarika	211
41.	The Influence of Historical Events on Social Realism in Vikram Seth's Works	Javed Khan Manglia Dr. Seema Choudhary	219
42.	Exploring Identity and Diaspora in Rohinton Mistry's Works	Neha Bhadoo, Dr. Neeraj Dubey	225
43.	Women in Buddhism Based on Literat and Archaeological Sources	Deepa Ahirwar	232
44.	Status of Women in Ancient India	Dr. Radhika Kapur	238

45.	Modified IrSal Cricket Fielding Test	Aushaf Ahmed, Dr. Mohd Imran Altaf Ahmed, Dharmendra Kumar, Vivek Prakash Singh and Nasim Haque	249
46.	Shazar Stone Craft: A Study of Banda District (Uttar Pradesh)	Nishant Kumar	258
47.	Women Empowerment: An Emerging Issue Towards Rural Development (Special Reference of Korba District)	Dr. Prince Kumar Mishra	267
48,	Boosting Women Workforce Participation Rate in Rural Areas of Bihar: A Big Challenge	Manvi, Dr. Chanchal Charan	273
49.	Interwoven Wisdom: The Socio-Cultural Heritage of the Indian Knowledge System	Tamanna, Dr. Nrapendra Vir Singh	282
50.	A Study of Mental Retardation in Relation to Anxiety and Adjustment of Children in the Indian Context	Dr Sana Shakeel	294
51.	Namita Gokhale: Illuminating the Indian Literary Landscare-A Critical Study of Her Works and Contributions	Dhanshree Pareek Dr. Kavita Sharma	297
52.	Different Interpretations of A Few Ragas in Some Gharanas	Mohena Bahl, Prof. Ojesh Pratap Singh	302
53.	Exploring the Impact of Music Therapy in Promoting Holistic Well-being among Senior Citizens	Anubhuti Gupta	309
54.	Cultural Diplomacy Between India and Nepal	Mithilesh Kumar	319
55.	Introspection and the Art of Poetry: An Overview	Pinku Malakar	328
56.	Navigating Digital Narratives: A Drift in Digital Media	Dr. Nitin Anand Anbhule	334
57.	The Role of English in India's Political Discourse	Himadri Sarkar	344
58.	Rising Caesarean Section Rates: A Global Health Concern with Local Solutions for Optimal Maternal Well-being	Tushar Purohit, Dr. Satender	352
59.	The Devotional Self : Rasa/Bhakti, the Vedic Art of Feeling	Rubina Sultana	359

कथक नृत्य का प्रदर्शन क्रम–एक साधना पद्धति

डॉ श्यामा पंडित*

सार सक्षेप

कथा का श्रवण करते करते अपने प्रेमी अर्थात कथा नायक से प्रेम होना, तत्पश्चात अपने प्रेमी को प्राप्त करने की तीव्र उत्कंठा एवं उत्कंठा से ग्रसित मन, भाव व् आंगिक चेष्ठा द्वारा उसको प्राप्त करने के लिए किये गए कठिन साधन, जीवन की प्रत्येक चेष्टा में उसको प्राप्त करने का प्रयास, और अंत में कठिन अभ्यास अथवा साधना से उस भाव की प्राप्ति जहाँ प्रियतम के संग की अनुभूति प्रतिक्षण हो, यही है कथक नृत्य के प्रदर्शन क्रम का स्वरुप।

प्रासंगिक रूप से कथक नृत्य वंदना से प्रारंभ होकर मध्य में विभिन्न नृत्त अंगों यथा ठाट, आमद, तोड़े, टुकड़े, तिहाई, परण को साधता हुआ भाव साधना तक पहुंचता है जहा वह भजन, ठुमरी, ध्रुपद, पद आदि का प्रदर्शन करते हुए अपने आराध्य से मिलन की अनुभूति करता है। अतः कथक नृत्य के आचार्यों द्वारा कथक नृत्य का स्वरुप इस प्रकार गढ़ा गया है कि यह साधन भक्ति से प्रारंभ होकर, भाव भक्ति तक के चरण सम्पूर्ण करता हुआ, मात्र एक नृत्य प्रदर्शन का क्रम नहीं रह जाता, अपितु भक्ति की उच्च अवस्था अर्थात भाव भक्ति तक पहुंचने की पद्धति प्रतीत होती है ।

शोध समस्या

वर्तमान नर्तकों में नृत्य की पूर्व प्रतिपादित परंपरा के प्रति घटती रूचि व कम जानकारी से कथक नृत्य के मूल उद्देश्य, आध्यात्म से भटकाव एक प्रमुख समस्या है।

बीज शब्द

कथक नृत्य, कथक परंपरा, प्रदर्शन क्रम, कथक वस्तुक्रम, कथक और आध्यात्म

प्रस्तावना

कथक नृत्य की शास्त्रीय परंपरा में इसका स्वरुप कथा गायन की विशेष परंपरा से आरम्भ होकर शास्त्रीय नृत्य रूप को प्राप्त हुआ, इस बीच में कथा गायकों एवं बाद में नृत्याचार्यों ने इस परंपरा में अनेक अंगो को अपने प्रयोग और अनुभूति से जोड़ते गये और इस तरह आज यह पूर्ण नृत्य के स्वरुप में हम सबके समक्ष प्रस्तुत है, जिसमें नृत्य, नृत्त एवं नाट्य तीनों की विशेषताएँ समाहित है ।नृत्य, नाट्य की विशेषताओं से समृद्ध इस नृत्य के विभिन्न अंग ही इस नृत्य की वस्तु कहलाते है, एवं इन वस्तुओं अथवा अंगों को आचार्यों द्वारा बताये गये विशेष क्रम में प्रस्तुत करना ही इस नृत्य का वस्तुक्रम अथवा प्रदर्शन क्रम कहलाता है। कथा गायन की इस विशेष परंपरा जो बाद में नृत्य रूप में परिणित हुई, का आरम्भ से ही ध्येय आध्यात्मिक एवं ईश्वर प्राप्ति रहा है, अतः कालांतर में भी नृत्याचार्यो द्वारा जो इसके अंगो का क्रम निर्धारित किया गया वह भी इसी प्रकार था जिससे की इसका मूल स्वरुप अर्थात ईश्वर की प्राप्ति के साधन अथवा पद्धति के रूप में बना रहा है। कई वैष्णव अथवा शैव या अन्य देवी देवताओ के उपासकों अथवा साधको ने इस नृत्य को अपनी साधना के लिए माध्यम के रूप में चुना, संभवतः इसलिए भी यह देखने को मिलता है की अधिकांशतः नृत्याचार्य वैष्णव थे अथवा भक्ति के अन्य मार्गों से जुड़े हुए थे, और अपनी अपनी प्रीति के अनुसार अपने आराध्य के स्वरुप को चुनकर इस नृत्य माध्यम से साधते थे, इसलिए भी शास्त्रीय नृत्य अथवा गायन हमेशा

सहायक प्राध्यापक, संजीव अग्रवाल ग्लोबल एजुकेशनल विश्वविद्यालय, भोपाल।

से साधना का विषय माने गये है।

विश्लेषण

कथक नृत्य का मूल स्वरुप कथा वाचन की परंपरा से प्रारंभ होकर मध्य काल अथवा मुगल काल में अपने पूर्ण नृत्य को प्राप्त हुआ, अतः अपने उत्पत्ति काल में कथक नृत्य का स्वरुप अथवा अंग एकमात्र कथा गायन था, जिसमे वेदों एवं पुराणों की कथाओं को लयबद्ध करके रोचक तरीके से प्रस्तुत किया जाता था, इस प्रकार कथा गायन के माध्यम से वेदों एवं पुराणों में वर्णित ज्ञान को समाज में सहज ही लोकप्रिय, सुलभ, सुग्राह्य करने का कार्य इस समुदाय के लोगो द्वारा किया गया, जिससे लोक में विभिन्न आराध्य देवताओं की कथा एवं स्वयं उनके प्रति लोगों की रूचि, आस्था व् प्रेम बढ़ा। इस प्रकार आध्यात्मिक उन्नति अथवा उत्थान के लिए कथा गायन की यह परंपरा एक सहज साधना पद्धति का मार्ग प्रशस्त हुआ व परंपरा में अनवरत प्रवाह मान रहा।

उस समय तक कथक नृत्य में वस्तुक्रम जैसी कोई अवधारणा नहीं थी, वस्तु से तात्पर्य उस विधा में उपस्थित विभिन्न अंग से है जिससे की उस विधा का स्वरुप निर्धारण होता है, अतः कथक नृत्य अपने प्रारंभिक कलेवर में किसी व्यवस्थित वस्तु क्रम के बिना ही अपनी आत्मा माने जाने वाले आराध्यों यथा कृष्ण, राम, विष्णु, शिव के लीला एवं कथा प्रसंगों से अलंकृत था ।कालांतर में शनै शनै इसके स्वरुप में परिवर्तन के साथ साथ इन आराध्यों की कथाओं को और अधिक रुचिकर तरीके से प्रस्तुत करने की आशा व् इच्छा ने इस नृत्य के स्वरुप में एक व्यवस्थित वस्तुक्रम का रूप धारण कर लिया।

कथक नृत्य के वस्तुक्रम में सर्वप्रथम वंदना अथवा किन्ही भी आराध्य जिसमें साधक नर्तक की प्रीति है की स्तुति की जाती है, वस्तुक्रम के इस भाग में साधक अपने आराध्य के रूप, गुण, वैभव, एश्वर्य आदि का गुणगान पौराणिक व् वैदिक श्लोको के माध्यम से करता है। अपने आराध्य के रूप, वैभव, गुण से प्रभावित नर्तक का नृत्य रूप में प्रथम परिचय होता है अपने आराध्य के वैभव से अचंभित नर्तक भगवान से अपने कार्य की सफलता, उस पर कृपा करने की याचना करते हुए ईश्वर की लीला, कथा, महत्व, शक्ति, इत्यादि को परम श्रद्धा व् अतृप्त मन से निरंतर सुनता है और यही है भक्ति का प्रथम चरण अर्थात श्रवण, कीर्तन। ईश्वर के गुण, चरित्र, नाम, पराक्रम आदि का आनंद एवं उत्साह के साथ कीर्तन करता साधक नृत्य के दूसरे क्रम पर पहुँचता है।

नृत्य का यह पड़ाव कठिन परिश्रम के साथ साधना करने का है, वंदना में जिस साध्य को नर्तक ने जाना है उनके और अधिक निकट पहुचने का है, उनके द्वारा की गई विभिन्न लीला ऐश्वर्य से स्वयं एवं सहृदय दर्शक को परिचित कराने का है। परन्तु नर्तक साधक को जो वंदना में उस परमसत्ता की क्षणिक अनुभूति हुई थी उन पर मन को स्थिर कर पाना इतना आसन नहीं होता, जिन परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए करोड़ो जन्म भी कम पड़ जाते उनको नृत्य द्वारा जानने के लिए साधक को अपने मन, इन्द्रिय, अंग, उपांग, प्रत्यांग पर नृत्य के माध्यम से नियंत्रण प्राप्त करना होता है। ठाट, तोड़े, टुकड़े, तिहाई, परण आदि नृत्त पक्ष को अपने विभिन्न अंगों में साध कर अपने एक एक अंग पर तथा उनकी चेष्टाओं पर नियंत्रण पा जाते है एवं अपने मन एवं आत्मा को पूर्णतः नृत्य और उसके द्वारा साध्य अपने आराध्य में स्थिर कर लेते है, और इसका प्रमाण ये है की नर्तक नृत्य के इन निरर्थक बोलो में भी अपने आराध्य की लीलाओ की कल्पना करना प्रारंभ कर देता है ।इस सन्दर्भ में पंडित शम्भू महाराज जी द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली छेड–छाड़ का आमद बहुत प्रसिद्ध है, इसके अतिरिक्त छोटी छोटी तिहाई में भी भगवन की लीलाओं का प्रदर्शन भी कथक नृत्य में बहुत प्रचलन में है।

नृत्त रुपी कर्म योग तुल्य साधना व् अपने छोटे छोटे अंगों पर नृत्य क्रियाओं द्वारा नियंत्रण प्राप्त करने के बाद नर्तक कथक नृत्य में ठाट, आमद, तोड़े, तुकडे, परण आदि नाचने के बाद संपूर्ण

इन्द्रिय समर्पण के साथ कवित्त और गत निकास, गतभाव आदि कथक नृत्य के बहुत प्रचलित अंगों को प्रदर्शित करता है। कवित्त कथक नृत्य का ऐसा अंग है जिसमें बड़े–बड़े पौराणिक कथानकों को कविता में पिरोकर, ताल व् लय के साथ प्रस्तुत किया जाता है। नृत्य के इस अंग में नर्तक अपने आराध्य की छोटी छोटी लीलाओं अथवा कथा प्रसंगों से स्वयं एवं सहृदय को परिचित कराता है, ये लीलाये व् प्रसंग नर्तक एवं दर्शक दोनों को आराध्य का और सामीप्य प्रदान करते है। इन कवित्त में भी अधिकांशतः आराध्य द्वारा किये गए कृत्य अथवा उनकी वेशभूषा का ही वर्णन किया जाता है।

कवित्त के उपरांत कथक नृत्य में विभिन्न गत निकास को प्रदर्शित किया जाता है, गत् निकास में विभिन्न मुद्राओ को धारण करके ताल के साथ गति करता है, इस चरण में नर्तक अब आपने आराध्य के विभिन्न आयुधों एवं उनको दर्शाने वाली मुद्राओं को स्वयं के अंगों में धारण करने का अभ्यास करता है यथा मुरली, मुकुट, घूघट, तलवार आदि। वंदना एवं विभिन्न कवित्त आदि में सुने हुए अपने आराध्य के चरित्र का अनुगमन करते हुए उन्ही के समान वीर और ओज अपने अंगों में धारण करने का प्रयास भी करता है ।

गत निकास के उपरांत कथक नृत्य का अलग अंग है गतभाव, कथक नृत्य के इस अंग में नर्तक अपने आराध्य की लीलाओ एवं कथा प्रसंगों को विस्तृत रूप से प्रदर्शित करता है। कथक के इस अंग में नर्तक स्वयं में ही अपने आराध्य के गुण चरित्र को धारण करके उनका अनुकरण करते हुए उनकी लीलाओ को प्रदर्शित करते हुए अपने आराध्य के ही आवेश में रहता है, इस स्थिति में नर्तक स्वयं ही अपने आराध्य के समान व्यवहार करता है और लोगों को सामाजिक शिक्षा प्रदान करता है।

कथक नृत्य के वस्तुक्रम में सर्वाधिक प्रचलित अंग है भाव पक्ष। जिस प्रकार गीता में भगवद प्राप्ति के लिए विभिन्न योगों का उल्लेख मिलता है, यथा कर्म योग, ज्ञान योग और भक्ति योग आदि और इनमे से भी भगवान कृष्ण ने भक्ति योग की श्रेष्टता प्रतिपादित की है। इसी का अनुमोदन कथक नृत्य का वस्तु क्रम भी करता है।

नृत्त पक्ष में अपने कर्म साधना (नृत्त साधना) द्वारा स्वयं के अंग,मन पर नियंत्रण कर, कवित्त, गत निकास, गतभाव में ईश्वर की विशालता का ज्ञान पाकर, आत्मा की तुच्छता और परमात्मा की सर्व शक्ति को अनुभव कर अपने अंग आवरण को भंग कर ज्ञानी की श्रेणी से भी उच्च अवस्था को प्राप्त होता है। कथक नृत्य का भावपक्ष उसी भक्ति योग का आलम्वन कर साधना के परम फल को प्राप्त कर लेता है, अर्थात अपने आराध्य पर पूर्ण अधिकार पा लेता है , जहाँ कर्म योग का परिश्रम और ज्ञान योग की दैन्यता समाप्त हो जाती है एवं वह परम सत्ता ही अपना वास्तविक प्रियतम प्रतीत और अनुभूत होता है। दासत्व का भाव अब किंचित भी नर्तक साधक के ह्रदय में नहीं रहता अपितु अब तो वह प्रेम में स्वयं और अपने आराध्य में कोई भेद नहीं समझता, उस पर पूर्ण अधिकार जताता है।

कथक नृत्य के विश्राम अंग में प्रदर्शित की जाने वाली ठुमरी अथवा भजन भक्ति योग के श्रेष्ठतम रूप, माधुर्य भक्ति का अनुपम व् जीवंत उदाहरण है, जिसमे नर्तक को तनिक भी भान नहीं रहता की कृष्ण परम ईश्वर है अपितु वह उनके साथ उसी साधारण प्रेमी के सामान व्यवहार करता है जेसे प्राकृतिक संसार में साधारणतया देखने को मिलता है,

उदाहरण के रूप में एक ठुमरी –

कान्हा में तोसे हारी, छोडो साडी
सुनो बिहारी नाहि , मै दूंगी तोहे गारी

यहाँ नर्तक यह अनुभूति कर रहा है कि कृष्ण उसको छेड़ते हुए उसकी साड़ी खींच रहे है, तो नर्तक भी अपने प्रेमी भाव के अनुरूप कृष्ण को गाली देने की धमकी दे देता है। कभी तो वह इन पदों में अपने प्रियतम से परेशान दिखता है और कभी उनके ना दिखने पर उनके वियोग में परेशान हो जाता है उदाहरण–

कों गली गयो श्याम, बता दे सखी

अतः कथक में प्रयोग इन ठुमरियो और भजनों में सर्वोच्च माधुर्य भाव की उत्कृष्ट झलक देखने को मिलती है, यहाँ नर्तक के बाहरी आवरण का भेद भी समाप्त हो जाता है, अर्थात नर्तक पुरुष है या स्त्री ,इसका भेद समाप्त हो जाता है और पुरुष मात्र एक ही होता है और वह है उसका प्रियतम श्री कृष्ण।

निष्कर्ष

कथक नृत्य की उत्पत्ति व् इसके लक्ष्य के मूल में आध्यात्मिक भक्ति को निर्विवाद स्वीकार्य किया गया है ,चूंकि प्रारंभ कथक नृत्य का कोई व्यवस्थित वस्तुक्रम नहीं था अपितु कथक नृत्य की आत्मा माने जाने वाले श्री कृष्ण और राम व अन्य देवादि यथा शिव की लीला व कथा प्रसंगों को नचा या प्रदर्शित किया जाता था।

कालांतर में कथक आचार्यों के अथक प्रयासों से इस नृत्य का एक व्यवस्थित वस्तुक्रम निर्धारित किया गया जो बहुत हद तक परपरागत रूप से आज भी प्रचलित है। आचार्यो ने कथक नृत्य का वस्तुक्रम एक संपूर्ण भक्ति साधना पद्धति के समान गहरा है, जो आदि से अंत तक अपनी मूल अवधारणा आध्यात्मिक भक्ति की प्राप्ति के लक्ष्य को रेखांकित करते हुए आगे बढ़ता है , और शास्त्रों में वर्णित नवधा भक्ति को चरितार्थ करते हुए, स्तुति के रूप में श्रवणं व् कीर्तनं से आरम्भ होकर ठुमरी व् भजन के माध्यम से आत्मनिवेदन एवं भक्ति योग के उत्कृष्ट भाव माधुर्य भक्ति की पराकाष्ठा पर विश्राम पाता है। इस प्रकार यह कहा जा सकता का है कि कथक नृत्य का वस्तुक्रम एक संपूर्ण आध्यात्मिक साधना पद्धति है जिसके माध्यम से अथवा जिसका आलाम्वन करतके भी ईश्वर की सानिध्य और सर्वश्रेठ भक्ति, माधुर्य भक्ति के स्तर तक पंहुचा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वाजपेयी श्रीमती गीता रघुवीर /कथक के प्राचीन नृत्तअंग, सकीम पब्लिकेशन।
2. मिश्रा सुशीला, लखनऊ की संगीत परंपरा, उ.प्र.संगीत नाटक अकादमी ।
3. टाक, माया गायक संगीत कला बिहार, 1987, आ.भा.गा. महा.वि.।
4. सिंह मांडवी कत्थक परंपरा, स्वाति पब्लिकेशन ।
5. व्यास भोलाशंकर, दशरूपकम/प्रथम प्रकाशः चौखम्बा संस्कृत भवन वाराणासी, चौथा संस्करण ।
6. आजाद तीरथराम, कथक दर्पण, संजय प्रकाशन।
7. पंडित श्यामा, कथक नृत्य में आराधना एक विश्लेषणात्मक अध्ययन, शोध प्रबन्ध।
8. मलैया सुधा, चाक्षुक यज्ञ, वसुधा प्रकाशन भोपाल।
9. डॉ. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, प्रकाशन व्यूरो सूचना।
10. शर्मा डॉ. रामविलास, आस्था और सौंदर्य, किताब महल प्राइवेट लिमिटेड।
11. मीतल प्रभु दयाराम, व्रज की कलाओं का इतिहास,साहित्य प्रकाशन।
12. गुप्ता भारती, कथक और आध्यात्म,राधा पब्लिकेशन
13. ओझा डॉ. शंकर दत्त, संस्कृति की मन्दाकिनी, शिव आराधन प्रकाशन।
14. प्रसाद जनेश्वर, रीतिकालीन श्रृंगारिका एवं ललित कलाएँ, भारतीय विधा प्रकाशन।

मानस का महात्म्य

रमेश कुमार राज*

सारांश

'रामचरितमानस' हिंदी का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है और कवि गोस्वामी तुलसीदास हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि. 'मानस' का प्रभाव भारतीय जनमानस पर जितना पड़ा है संभवतः उतना किसी भी काव्य या महाकाव्य का नहीं पड़ा है। 'मानस' के आदर्शों ने मानव समाज को संस्कारित किया है। गोस्वामी तुलसीदास के इष्ट मर्यादा पुरुषोत्तम राम का व्यक्तित्व मानव समाज के अनुकरणीय है। उनका त्याग, संयम, मर्यादा का पालन, एकनिष्ठ प्रेम ग्रहणीय सब हैं. 'मानस' का समस्त 'काण्ड' किसी न किसी महान उद्येश्यों की पूर्ति करता है। 'बालकाण्ड' में राक्षसों के संताप से ऋषि–मुनियों की मुक्ति और धनुर्भंग कर सीता स्वयंवर का चित्रण है तो 'अयोध्याकाण्ड' में राम वनवास. 'अरण्यकाण्ड' में शूर्पनखा मान मर्दन है तो 'किष्किंधाकाण्ड' में राम–सुग्रीव मैत्री और हनुमान मिलन। पूरा 'सुन्दरकाण्ड' हनुमान को समर्पित है तो 'लंकाकाण्ड' में रावण का पराभव. 'उत्तरकाण्ड' रामराज्य को समर्पित है। प्रत्येक 'काण्ड' का अपना विशेष महत्त्व है. इस लेख में उन्हीं महत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है।

बीज शब्द

मर्यादा पुरुषोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, काण्ड, रामायण, रामचरिमानस, गोस्वामी, भारतीय जनमानस, आदर्श, रामराज्य, पराभव, मान मर्दन, अर्वोत्कृष्ट, महाकाव्य, मंगलाचरण, धनुर्भंग, ह्रदयस्थल, निश्छल, निकृष्ट, अधम, सहनशीलता, संस्कार, निलज्ज, न्यायप्रियता, उज्ज्वलतम, सोपान।

प्रस्तावना

वाल्मीकि कृत 'रामायण' भारतीय साहित्य की नींव है तो गोस्वामी तुलसीदास कृत 'रामचरितमानस' उस नींव पर खड़ा हिंदी साहित्य का विशाल भवन, जिसमें भारतीय जनमानस निवास करता है। 'मानस' मनुष्य के ह्रदय स्थल में स्थित है तो मनुष्य 'मानस' के विशाल भवन में। ऐसा कोई भी मानव नहीं है जो 'मानस' के आदर्शों और संस्कारों से संस्कारित न हुआ हो। गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तिगत विचारों से कुछ लोगों को असहमति हो सकती है, 'मानस' के कुच्छेक प्रसंगों से वे निराश हो सकते हैं, लेकिन उसकी शिक्षा और संस्कार से विमुख नहीं हो सकते। मानव की पहली प्राथमिकता उसका एक बेहतर मनुष्य होना है और 'मानस' मानव को उच्च कोटि का मनुष्य बनाता है। तुलसीदास कृत यह पवित्र ग्रन्थ हिंदी साहित्य का सबसे उज्ज्वलतम सोपान है। सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। डॉ. रामकुमार वर्मा 'हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखते हैं, "हिंदी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है 'रामचरितमानस' है।"[1]

'रामचरितमानस' की रचना–तिथि संवत् 1631 है। तुलसीदास ने 'बालकाण्ड' के प्रारंभ में यह तिथि बताई है– "संवत् सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपदधरि सीसा।"[1] वेणीमाधव दास ने भी इसकी रचना–तिथि यही बताई है–

> "राम–जन्म तिथि बार सब, जस त्रेता महँ भास।
> तस इकतीसा महँ जुरे, जोग लग्न ग्रह रास।।
> यहि विधि भा आरंभ, रामचरित मानस विमल।
> सुनत मिटत मद दंभ, कामादिक संसय सकल।।"[1]

सहायक प्राध्यापक (गेस्ट), हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय।

रघुराजसिंह ने अपनी 'राम रसिकावली' में भी यही तिथि दी है–

"कछु दिन करि कासी महँ बासा। गए अवधपुर तुलसीदास।।
तहँ अनेक कीन्हेंउ सतसंगा। निसिदिन रँगे राम रति रंगा।।
सुखद राम नौमी जब आई। चौतमास अति आनंद पाई।।
संवत् सोरह सै इकतीसा। सादर सुमिरि भानु कुल ईसा।।
वासर मौन सुचित चित चायन। किय आरंभ तुलसी रामायन।।"[1]

इस प्रकार अंतर्बाह्य दोनों साक्ष्यों के आधार पर 'मानस' की रचना–तिथि संवत् 1631 ही है।

रामचरितमानस' सात काण्डों में विभक्त हिंदी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है। इसमें कुल पदों की संख्या 9900 बताई गई है, जिसमें 5100 चौपाई हैं और शेष दोहा–सोरठा छंद हैं। स्वर्गीय श्री रामदास गौड़ ने 'मानस' की भूमिका में चौपाइयों की संख्या 5100 दी है। श्री रामचरणदास ने भी 'मानस–मयंक' में चौपाइयों की संख्या यही बताई है,

"एकावत सत सिद्ध है, चौपाई तहँ चारु।
छंद सोरठा दोहरा, दस रित दस हज्जारु।।

अर्थात् चौपाइयों की संख्या 5100 है और छंद, सोरठा और दोहा सब मिलाकर दस कम दस हजार हैं। अर्थात् समस्त छंद संख्या 9990 है। "[5] 'मानस' में मुख्य छंद दोहा–चौपाई है। इसके अतिरिक्त सोरठा, तोमर, हरिगीतिका, त्रिभंगी, अनुष्टुप स्थोद्धता, स्त्रग्धारा, मालिनी, तोटक, वंशस्थ, भुजंग–प्रयात नग–स्वरूपिणी, वसंत तिलका, इंद्रव्रजा, शार्दूल विक्रीड़ित आदि कुल अठारह छंदों का प्रयोग किया गया है।

बालकाण्ड' में सम्पूर्ण रामकथा का संक्षेप में वर्णन किया गया है। अहिल्या का उद्धार, तारका वध, शबरी का वर्णन, जटायु की मुक्ति, राम–सुग्रीव मैत्री, समुद्र पर पुल का निर्माण, रावण का अंत कर सीता को लेकर अयोध्या आगमन आदि का वर्णन इसमें है। इस 'काण्ड' में विशेष रूप से राजा दशरथ का महात्म्य बताया गया है कि वे कितने प्रजावत्सल और ऋषि–मुनियों का आदर करने वाले राजा हैं। उनके राज्य की प्रजा उन्हें कितना सम्मान देती है। यह पूरी कथा शिव–पार्वती के संवाद से प्रारंभ होती है–

"कीन्ह प्रस्न जेहि भाँति भवानी।
जेहि बिधि संकर कहा बखानी।
सो सब हेतु कहब मैं गाई।
कथा प्रबंध बिचित्र बनाई।"[1]

प्रत्येक काण्ड के प्रारंभ में मंगलाचरण का विधान है। 'बालकाण्ड' के आरंभ में सरस्वती, गणेश, भवानी, शंकर, वाल्मीकि, हनुमान, सीता, ब्रह्मादि, असुर और राम की स्तुति है। संत स्वभाव, स्थान की महिमा, सत्संग का प्रभाव, दुष्टों का स्वभाव, अच्छे साधु की पहचान, बुद्धि की दीनता, रामकथा का प्रभाव, अवधपुरी की महिमा, परिवार का महत्त्व, नाम स्मरण, सगुण–निर्गुण प्रसंग, नारी स्वभाव, ब्राह्मण की महिमा, राम अवतार, नामकरण संस्कार, बाल लीला, राम का गुरुकुल में प्रवेश, मुनि विश्वामित्र के साथ वन गमन, तारका वध, अहिल्या उद्धार, धनुर्भंग, स्वयंवर आदि का वर्णन 'बालकाण्ड' में किया गया है। 'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहु' की महिमा का बखान इसी इस काण्ड में है। प्रेम की अनिर्वचनीयता में उसकी परम सिद्धि है। यह इस प्रसंग से स्पष्ट होता है। 'मानस' की रचना में कवि ने अनेक धर्मग्रंथों की सूक्तियों से मदद ली है। पं. रामनरेश त्रिपाठी कहते हैं, "तुलसीदास ने संस्कृत के अनेक प्राचीन ग्रन्थों से रत्न चुन–चुनकर अपने 'मानस' को सजाया है।"[7]

'अयोध्याकाण्ड' में मंगलाचरण के बाद राम के राज्याभिषेक की तैयारी, देवताओं की कुटिलता के कारण सरस्वती द्वारा मंथरा की मति फेरने का वर्णन है। कैकेयी–मंथरा संवाद, कैकेयी–दशरथ संवाद, राम वन गमन, सुमंत और राम सीता का संवाद, सुमंत की अकेले अयोध्या वापसी, राम–केवट संवाद, प्रयाग में राम और भारद्वाज ऋषि का मिलन, राम–वाल्मीकि संवाद, राजा दशरथ का परलोकवास, भरत का समाज सहित चित्रकूट आगमन और उनका खाली हाथ वापस अयोध्या लौटकर राम की चरण पादुका को गद्दी पर प्रतिष्ठित

कर उसकी सेवा, भरत का नंदिग्राम जाकर तपस्वी का जीवन यापन आदि का वर्णन है। 'मानस' का 'अयोध्याकाण्ड' जनमानस का हृदयस्थल है। यह काण्ड विशेष रूप से भरत की भक्ति, त्याग और निष्ठा को समर्पित है। भरत ने भ्रातृत्व का जो आदर्श प्रस्तुत किया है, उसने उन्हें भारतीय जनमानस के हृदय में सदा के लिए स्थापित कर दिया है। निःस्वार्थ, निश्छल प्रेम की मूर्ति हैं भरत। उनके स्मरण मात्र से सारी कटुता, दुष्टता का क्षय हो जाता है।

'अरण्यकाण्ड' में मंगलाचरण के बाद इन्द्र पुत्र जयंत द्वारा काग का वेश धारण कर सीता के पाँव में चोंच मारना, राम द्वारा जयंत को एक आँख से अंधा बनाकर छोड़ देना, ऋषि अत्रि के पास जाना और अनुसूया का सीता को वस्त्र आभूषण देकर उपदेशित करना, उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम स्त्री का भेद बताना, विराध राक्षस का वध, मुनि शरभंग से वार्तालाप, ऋषि अगस्त्य के शिष्य सुतीक्ष्ण भेंट और सुतीक्ष्ण को साथ लेकर अगस्त्य के पास जाना, पृथ्वी को निशाचरहीन करने की राम की प्रतिज्ञा, जटायु से भेंट, पंचवटी निवास, शूर्पणखा प्रकरण, मारीच वध, सीता हरण, कबंध और शबरी उद्धार, राम–नारद संवाद आदि का वर्णन है। अंत में सत्संग की महिमा का उल्लेख है। अरण्य प्रवेश का तात्पर्य राम का प्रवास की मूल समस्याओं में प्रवेश है। यहीं से उनका जीवन संघर्ष प्रारंभ होता है। उनकी वीरता, सहनशीलता, धैर्य, पौरुष आदि की परीक्षा प्रारंभ होती है। घोर निराशा और समस्याओं में मनुष्य का विचलन स्वाभाविक है। इसीलिए अनुसूया सीता को मानसिक रूप से तैयार करती हैं। यह समस्या प्रवेश और विपत्ति के आगमन का 'काण्ड' है।

'किष्किंधाकाण्ड' में मंगलाचरण के पश्चात् सुग्रीव का राम को ऋष्यमूक पर्वत की ओर आते देखकर घबराना, हनुमान को राम के आने का भेद जानने के लिए भेजना, राम–हनुमान मिलन, हनुमान द्वारा अग्नि को साक्षी मानकर राम–सुग्रीव में मैत्री कराना, बालि वध और सुग्रीव का राज्याभिषेक करना, सुग्रीव का भोग–विलास में लिप्त होकर राम को दिया हुआ वचन भूलना, राम का सुग्रीव पर क्रोधित होना, हनुमान का सुग्रीव को सावधान करना, संपाति द्वारा सीता का पता बताना, समुद्र का प्रस्ताव, हनुमान को जामवंत द्वारा प्रोत्साहित किया जाना आदि का वर्णन है। राम की वचनबद्धता और वनवास के उपरांत उनका प्रथम राजनैतिक आदर्श दोनों का संकेत पहली बार इस काण्ड में दिखाई देता है। राम ने अपने पिता को यह वचन दिया है कि चौदह वर्ष पूर्ण होने से पहले वे किसी गाँव में पाँव नहीं रखेंगे। उन्होंने ऐसा ही किया। लक्ष्मण को भेजकर सुग्रीव का राज्याभिषेक कराया। राजनैतिक आदर्श यह कि उन्होंने बालि का राज्य सुग्रीव को सौंपकर अंगद को उसका उत्तराधिकारी बना दिया।

सम्पूर्ण 'सुंदरकाण्ड' हनुमान को समर्पित है। इस काण्ड का एक बड़ा संदेश मनुष्य को यह बताना है कि उसे कहाँ बड़ा बनना चाहिए और कहाँ छोटा। हनुमान चाहते तो गदा मारकर सुरसा का मुँह तोड़ देते। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। इसका सांकेतिक अर्थ यह है कि जब किसी विशेष प्रयोजन से कोई कार्य किया जा रहा हो तो मनुष्य को लघु बनकर सिर्फ अपने लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। यहाँ हनुमान ऐसा ही करते हैं। लेकिन लंका पहुँचकर सीता का पता लगाते ही उनका आचरण बदल जाता है। क्योंकि जिस कार्य से वे लंका आए थे वह सिद्ध हो चुका था। कार्य सिद्धि से पहले कोई भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे उद्देश्य प्राप्ति में बाधा या विलम्ब हो। यह सीख हमें बजरंगबली से लेनी चाहिए।

'सुन्दरकाण्ड' में उपरोक्त संदेशों के अतिरिक्त हनुमान–विभीषण संवाद, अशोक वाटिका में सीता से भेंट, सीता और त्रिजटा का संवाद, हनुमान–सीता संवाद, लंका दहन के बाद हनुमान का राम के पास वापसी, राम–हनुमान का संवाद, वानर सेना का समुद्र तट पर आना, मंदोदरी–रावण संवाद, विभीषण

का रावण द्वारा अपमानित होकर राम की शरण में आना, राम के दूत शुक का प्रसंग, शुक द्वारा लक्ष्मण के पत्र को रावण के पास पहुँचाना, समुद्र पर राम का क्रोधित होना आदि प्रसंगों का वर्णन किया गया है। 'सुन्दरकाण्ड' में ही राम, सीता और हनुमान, तीनों का उग्र रूप पहली बार दिखाई देता है। तृण की ओट से सीता द्वारा रावण को अधम निलज्ज कहना और क्रोधित होकर राम का समुद्र पर बाण तान देना इसके उदाहरण हैं।

लंकाकाण्ड' में मंगलाचरण के बाद सेतुबंध रामेश्वर की स्थापना, सेना सहित राम का लंका प्रवेश, रावण की व्याकुलता, मंदोदरी और पुत्र प्रहस्त द्वारा रावण को बार–बार समझाना, राम के बाण से रावण के मुकुट और छत्र का गिरना, मंदोदरी द्वारा राम महिमा का वर्णन और सीता को सौंपने की विनती, रावण–अंगद संवाद, युद्ध का आरंभ, लक्ष्मण मूर्छा, हनुमान द्वारा वैद्य सुषेण और संजीवनी बूटी लाना, हनुमान–भरत संवाद, कुंभकरण संग युद्ध, कुंभकरण–विभीषण संवाद, राम–रावण का युद्ध, रावण का वध और मंदोदरी विलाप। विभीषण का राज्याभिषेक, सीता की अग्नि से वापसी, अयोध्या आगमन आदि प्रसंगों का वर्णन है। राम–भरत संवाद के बाद कुंभकरण–विभीषण संवाद 'मानस' का दूसरा मार्मिक प्रसंग है। रावण इस बात के प्रतीक हैं कि यदि राज्य का नेतृत्व कुशल और विवेकपूर्ण व्यक्ति के हाथ में न हो तो वह कुल सहित पूरे राज्य के विनाश का कारण बनता है। रावण कामांध जरूर था। लेकिन उसने सीता का बलात् शोषण नहीं किया। कोई भौतिक हानि नहीं पहुंचाई। इससे उसके दूसरे चरित्र का भी पता चलता है।

उत्तरकाण्ड' में राम राज्याभिषेक और रामराज्य का वर्णन है। कथानक की प्रस्तुति के लिए आदर्श वक्ताओं का प्रयोग किया गया है जो सम्पूर्ण कथा का वाचन करते हैं। राम के अवतारी स्वरूप के संबंध में जितने भी संभावित प्रश्न हैं, पार्वती, भारद्वाज और गरुड़ जैसे मानस के श्रोताओं के सम्मुख शिव, याज्ञवल्क्य और काकभुशुंडि आदि वक्ताओं के द्वारा उसे प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं परम पूज्य कथावाचकों के द्वारा गोस्वामी तुलसीदास ने अपने समय के तमाम प्रश्नों का उत्तर भी दिया है। यह काण्ड अपने समकालीन समाज में व्याप्त धर्म–अधर्म, सगुण–निर्गुण, आस्था–अनास्था, ऊंच–नीच, स्त्री–पुरुष भेद आदि द्वंद्व का निदान करता है। ये कलयुगी लक्षण हैं जिसका वर्णन उत्तरकाण्ड में है। सामाजिक और राजनीतिक आदर्शों के दृष्टिकोण से यह काण्ड अधिक महत्वपूर्ण है। रामराज्य का आदर्श प्रस्तुत करना और समन्वय की विराट चेष्टा इस काण्ड का उदात्त पक्ष है। राजा राम ने अपनी न्यायप्रियता का जो उदहारण पेश किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

सन्दर्भ सूची

1. वर्मा, रामकुमार, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, आठवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ सं. 405
2. पोद्दार, हनुमान प्रसाद (टीकाकार), रामचरितमानस, गीता प्रेस, दो सौ पचीसवाँ पुनर्मुद्रण, पृष्ठ सं. 40
3. दास, वेणीमाधव, मूल गोसाईं चरित, गीता प्रेस, दोहा सं। 38, प्रथम संस्करण, 1940, पृष्ठ सं 19
4. वर्मा, रामकुमार, हिंदी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, आठवाँ संस्करण, 2010, पृष्ठ सं 405
5. गौड़, श्रीरामदास, श्रीरामचरितमानस की भूमिका, हिंदी पुस्तक एजेंसी, प्रथम संस्करण, 1982, पृष्ठ सं 64–65
6. पोद्दार, हनुमान प्रसाद (टीकाकार), रामचरितमानस, गीता प्रेस, दो सौ पचीसवाँ पुनर्मुद्रण, पृष्ठ सं 40
7. त्रिपाठी, रामनरेश, तुलसीदास और उनकी कविता, हिंदी–मंदिर प्रयाग, प्रथम संस्करण, 1937, पृष्ठ सं 218

संस्कृत कालीन रंगशाला में नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का अध्ययन

नीतिश प्रियदर्शी
प्रो० लावण्य कीर्ति सिंह काव्या*

नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का संस्कृत कालीन रंगशाला में अनुसरण प्रमुख रूप से एक सुसंगत, सौंदर्यपूर्ण और समृद्ध नाट्य अनुभव को बनाए रखने के लिए किया जाता था। यह एक आद्यांतवादी (सबकुछ की शुरुआत और समाप्ति को एक समय पर एक इकठ्ठा करने वाला) और सुसंस्कृत शैली में नाटक, नृत्य, रंग, और संगीत की एक अद्वितीय समन्वय स्थापित करने में समर्थ करता था। संस्कृत रंगमंच की परम्परा वैदिक काल से चली आ रही है। यह परम्परा प्राचीन तथा अर्वाचीन (''समकालीन'') का संगम है। आज जो हम रंगमंच का स्वरूप देख रहे हैं उसके मूल में संस्कृत रंगमंच ही है। यह रंगमंच सुश्लिष्ट एवं सुव्यवस्थित है।

''संस्कृत कालीन रंगशाला'' से सामान्यतः तात्पर्य है ''संस्कृत काल'' या ''आदिकाल'' में उपस्थित रंगशाला, जो कि एक प्राचीन या पुरातात्विक काल की थी। भारतीय साहित्य, कला, और संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है और उसके विभिन्न कालों में विभिन्न रंगशालाएं थीं, जो किसी समय के रंग, नृत्य, और नाटक का केंद्र थीं। इन रंगशालाओं में कलाकार नृत्य, संगीत, और नाटक का प्रदर्शन करते थे, जिससे समृद्धि और सांस्कृतिक विकास होता था। जिसने उस समय के सांस्कृतिक जीवन को दर्शकों और कलाकारों के बीच संवाद का केंद्र बनाया था। यहां नाटक, नृत्य, और संगीत के माध्यम से भारतीय भाषा, साहित्य, और दर्शन का प्रचार–प्रसार होता था तथा रंगशाला या प्रेक्षागृह, जहां नाट्य और नृत्य प्रदर्शित होता है, वह स्थान है जिसमें नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का पालन किया जाता है। नाट्यशास्त्र एक प्राचीन भारतीय ग्रंथ है जिसमें नृत्य, संगीत, और नाटक के सिद्धांतों, तकनीकों, और नैटिकों का विस्तारपूर्ण अध्ययन किया गया है। इसमें रंगशाला का वर्णन और उसके निर्माण के लिए भौतिकीय और रसायनिक सिद्धांतों का विस्तृत वर्णन भी है।

नाट्य वेदा आचार्य भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के द्वितीय अध्याय में वर्णित रंगशाला या प्रेक्षागृहों को तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया हैः विकृष्ट (आयताकार), चतुरस्त्र (वर्गाकार), और त्रयस्त्र (त्रिकोणाकार)। इन प्रेक्षागृहों को ज्येष्ठ, मध्यम, और अवर (सबसे बड़ा, बीच का, और सबसे छोटा) भेद के साथ संबोधित किया गया है। नाट्यशास्त्र में इस प्रकार के नौ नाट्यमंडपों का उल्लेख है, जिनमें प्रत्येक का अपना अद्वितीय आकार और माप होता है।

भरत ने नाट्यशास्त्र में मापन के लिए हाथ और दंड का प्रयोग किया है। एक हाथ डेढ़ फुट और एक दंड चार हाथ के बराबर माने गए हैं। इसमें प्रेक्षागृहों के विभिन्न परिमाणों को निर्धारित करने के लिए ये माप हुए हैंः

– सबसे बड़ा प्रेक्षामंडपः 108 हस्त या 162 फुट

– बीच का प्रेक्षामंडपः 64 हस्त या 96 फुट

– सबसे छोटा प्रेक्षामंडपः 32 हस्त या 48 फुट

इस प्रकार, भरत ने विभिन्न परिमाणों के साथ तीन प्रकार के प्रेक्षागृहों की स्थापना की है, जिन्हें ज्येष्ठ, मध्यम, और अवर के अनुसार वर्गीकृत किया गया है। जिसका उद्देश्य रंगशाला में साक्षात्कार या

*शोध छात्र, ल.ना.मि.विश्वविद्यालय,दरभंगा
*शोध निर्देशक, ल.ना. र. मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा।

प्रदर्शन के दौरान दर्शकों को रसाभास होना चाहिए। नाट्यशास्त्र में रस के सिद्धांतों के अनुसार, रंगशाला में दर्शकों को भावनात्मक और आनंदात्मक अनुभव होना चाहिए। नाट्यशास्त्र में प्रेक्षागृह के निर्माण के लिए अनुशासन दिया गया है, ताकि दर्शकों को उचित स्थान और सुविधाएं मिल सकें। यह विभिन्न प्रक्रियाओं के साथ संबंधित है, जिसमें रंगशाला का सही ढंग से निर्माण होना एक महत्वपूर्ण अंश है। इसमें रंगशाला के आभूषण और वातावरण के लिए भी विचार किया गया है। इसमें प्रेक्षागृह के साथ–साथ अन्य स्वरुप नेपथ्य, वेदिका, रंगशीर्ष, रंगपीठ, मत्तवारणी,आदि में का सही स्थान का चयन तथा सही प्रकार की आवृत्ति, प्रकाश, और सजावट के निर्देश दिए गए हैं ताकि प्रदर्शन को आकर्षक बनाए रखा जा सके। नाट्यशास्त्र में रंगशाला के निर्माण के लिए विभिन्न सूत्र दिए गए हैं। इसमें रंगशाला के आकार, रचना, और स्थान का चयन के लिए निर्देश दिए गए हैं। सिद्धांतों से तात्पर्य हो सकता है। इस रूप में, नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का प्रेक्षागृह में प्रयोग रंगशाला के निर्माण, प्रदर्शन, और दर्शकों के साथ संवाद को संगठित और सुव्यवस्थित बनाए रखने में होता है। भरत ने अपने समवर्ती युग में स्थायी प्रेक्षागृहों का निर्माण करते समय विभिन्न सामग्रियों का प्रयोग किया। इन सामग्रियों में लकड़ी, ईंट, चूना, वज्रलेप, सुघालेप, आदि शामिल थीं। नाट्यशास्त्र में 'तज्ज्ञैः'(''विशेषज्ञ लोगों द्वारा'') शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि इस समय प्रेक्षागृह निर्माण के लिए विशेषज्ञ भी थे। इन विशेषज्ञों ने स्थम्भ संख्या और अन्य निर्णयों का निर्धारण करते हुए प्रेक्षागृह की निर्माण योजना बनाई।

प्राचीन काल में संस्कृत के महँ नाटककार के नाम वर्णित है जो हमारे साहित्य के अग्रदूतक एवं मार्गदर्शक है। कोई भी नाटककार अपनी रचना मंचित करने या करवाने के लिए ही करता है। तो यह निश्चय ही प्राचीन नाटककारों के मस्तिष्क में उन दिनों प्रचलित किन्हीं प्रेक्षागृहों का स्वरूप अवश्य विद्यमान रहा होगा, क्योंकि नाटकों की सार्थकता नाट्य प्रयोगों में ही निहित होती है। अतः संस्कृत कालीन नाटककारों के नाट्य में नाट्यमंडप या रंगशाला के विवरण प्राप्त होते है।

अश्वघोष, भरत, कालिदास, शूद्रक, विशाखदत्त, दण्डी, भवभूति आदि ऐसे प्राचीन नाटककार हैं, जिनकी कृतियों में तत्कालीन प्रेक्षागृहों के स्वरूप लक्षित होते हैं।

अश्वघोष, भास और शूद्रक ईसा 300 और 200 वर्ष पूर्व के नाटककार हैं। इनके समय में नाटकों का अभिनय किसी स्थल–विशेष पर किया जाता था। अश्वघोष कृत 'बुद्धचरित' नाटक से ज्ञात होता है कि बुद्ध के जन्म के अवसर पर नगर से बाहर किसी वाटिका में मनोविनोद के विभिन्न कार्यक्रमों को प्रस्तुत करके उत्सव मनाया गया था। उस समय इस आयोजन के लिए अस्थायी प्रेक्षास्थल का निर्माण कर लिया गया था। प्रेक्षकों को रंगमंच के कार्यक्रम बिना बाधा के स्पष्ट दिखाई दे सकें और वे सुविधापूर्ण आसनों पर बैठकर दृश्यों का आनंद ले सकें, इस उद्देश्य से यह अस्थायी रंगमंडप किन्हीं प्रेक्षागृह सिद्धांतों पर निमित किया गया था। एक अन्य कृति 'सौंदरनंद' में 'आनतं' नामक स्थल को 'नृत्य– शाला' के रूप प्रयोग किया गया है। 'सारिपुत्र प्रकरण' नाटक के विषय में कहा जाता है कि इस नाटक का अभिनय सीताबेंगा गुफा स्थिति शैलगुहाकार नाट्य– मंडप में किया गया था। ईसा से 300 वर्ष पूर्व की यह नाट्यशाला पुरातत्व विभाग को उत्खनन में प्राप्त हुई है।

भास के तेरह नाटकों में मुक्ताकाशी प्रेक्षास्थल से लेकर भवन के अंदर बने आच्छादित प्रेक्षागृहों के विभिन्न स्वरूप परिलक्षित होते हैं। उनके प्रारम्भिक नाटकों की अपेक्षा उनके बाद के नाटकों में प्रेक्षागृह के उत्कृष्ट स्वरूप उपलब्ध हैं। भास के समय विशाल एवं विस्तृत प्रेक्षागृहों का प्रचलन भी था, क्योंकि 'उरूभंग' में युद्ध आदि के दृश्यों को रंगमंच पर दर्शाया गया है और जीवित जंगली जानवरों को भी रंगमंच पर दिखाया गया है। नाटक के अध्ययन से प्रेक्षागार के स्थान का स्पष्ट संकेत नहीं

मिलता है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि ये प्रेक्षागार नगर से बाहर किसी खुले मैदान में थे। आजकल सरकस दिखाने का विशाल प्रेक्षागार उक्त प्रेक्षास्थल से साम्यता रखता है। भास के अन्य नाटकों से ज्ञात होता है कि उनके कुछ नाटक देव भवन तथा प्रासादों से सम्बद्ध प्रेक्षागृहों में खेले गए, जहां पर प्रेक्षागृह विनियोजित रूप से बने थे। स्टेज दुमंजिला होता था । कभी–कभी त्रिधरातलीय मंच की आवश्यकता भी दिखाई गई है। पात्रों का ऊपर के प्रासाद से नीचे देखना और फिर उतर कर नीचे आना आदि क्रियाओं के लिए 'अधो विलोक्य', 'अवतीर्य', 'आरूह्य' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। एक ही समय पर अनेक दृश्यों को एक साथ ही दिखाने के लिए रंगमंच को बहुकक्षीय बनाया गया था। 'अभिषेक' नाटक में तीन दृश्यों को एक स्थल पर दिखाया गया है। इन तीन दूषयों में सम्पूर्ण लंका नगर का दृश्य, रावण का विशाल प्रासाद तथा रावण का प्रमद वन हैं। हनुमान, रावण के प्रासाद पर चढ़कर नीचे रावण का प्रमद वन देखते हैं। इसी नाटक के तीसरे अंक में विभीषण का प्रवेश स्टेज के ऊंचे घरातल पर होता है, वह पहले से ही नीचे धरातल पर आसनस्थ राम को देखकर, सीढ़ियों द्वारा नीचे उतरता है। इसी प्रकार 'अविमारक' नाटक में रंगमंच पर प्रासाद, उस पर चढ़ने का निर्देश, तदनंतर पात्र अविमारक द्वारा सीढ़ियों से उतरने का दृश्य दर्शाया गया है। 'प्रतिमा' नाटक में राजभवन से सम्बद्ध संगीत– शाला दर्शायी गई है, जो हमें यह विश्वास दिलाती है कि उस समय संगीतशाला नाट्यशाला के रूप में प्रयुक्त होती थी। 'चारूदत्त' और 'स्वप्नवासवदत्ता' भी ऐसे नाटक हैं, जिनमें प्रासाद, कक्ष आदि की व्यवस्था के लिए रंगमंच का बहु– घरातलीय और बहुखंडीय होना आवश्यक है।

शूद्रक के 'मृच्छकटिकम् नाटक में अभिनय के लिए एक पारम्परिक रंगपीठ के संकेत मिलते हैं। प्रथम अंक में सूत्रधार रंगमंच पर प्रवेश करने पर, एक ओर घूम कर देखता है कि यह संगीतशाला शून्य है। तदनंतर भूख लगने पर अपने घर की ओर देखता है। इसके पश्चात् नेपथ्य की ओर मुंह करके अपनी पत्नी को बुलाता है। उसके घर के दृश्यों में एक युवती का चक्की पीसना तथा दूसरी का पुष्पों को गूंथना दर्शाया गया है। यहां चार भिन्न–भिन्न दृश्यों को दर्शाने के लिए रंगपीठ के कई भाग किए गए हैं। एक अन्य अंक में वसंतसेना का प्रासाद की छत पर चढ़ने का दृश्य इस बात को लक्षित करता है कि प्रेक्षागृह उस समय विकास के चरमोत्कर्ष पर थे। अनेक दृश्यों का एक ही समय पर, आजकल की भांति, पाश्वं दीप्ति (फ्लैश बैक) के बिना, स्टेज पर ही विभिन्न कक्षों की व्यवस्था द्वारा दर्शाना उस समय के विकसित रंगमंच कला का ज्वलंत उदाहरण है। मृच्छकटिकम् एवं कुट्टनीमत के नाटकों से ज्ञात होता है कि वसंतसेना और मालती आदि देवदासियां अपना निजी प्रेक्षागृह रखती थीं। इन ग्रंथों में ऐसी देवदासियों के प्रेक्षागृह का स्थान और स्वरूप निश्चित नहीं किया गया है। लेकिन अनुमान के आधार पर यह कह सकते हैं कि प्रेक्षागृह अपेक्षाकृत छोटे रहे होंगे। इनका स्थान देवदासियों के आवास के साथ ही नगर के बाहर अथवा मध्य में हो सकता है।

उपर्युक्त प्राचीन नाटकों के अतिरिक्त विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस', कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुंतलम्', 'विक्रमोर्वशीश' तथा 'मालविकाग्निमित्र' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' नाटकों में भी पारम्परिक प्रेक्षागृहों का स्वरूप देखने को मिलता है। इन नाटकों में प्रासाद आदि का रंगमंच पर दर्शाना, 'आरूह्य', 'अवतीयं' 'अधोविलोक्य' आदि शब्दों का प्रयोग कई मंजिल वाले मंचों के अस्तित्व का प्रमाण है। प्रेक्षागृह के संदर्भ में इन नाटकों के परिशीलन से मुख्य और महत्वपूर्ण बात यह है कि प्रायः तत्कालीन सभी नाटकों में नेपथ्य–स्थल को अभिनय–स्थल के रूप में प्रयोग किया गया है। यह स्थल विशेषतः अलौकिक दृश्यों को दर्शाने एवं स्टेज के अग्रभाग पर अभिनीत किए जा रहे विषय से पृथक विषय के दृश्यों की संयोजना के लिए प्रयुक्त है। एक उदाहरण है उत्तररामचरित के सातवें अंक में गर्भनाटक के दिखाने का उल्लेख मिलता है। इस गर्भनाटक के

अभिनय से पूर्व वाद्य यंत्रों को हटाने का निर्देश प्राप्त होता है। भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार अभिनव गुप्त के अनुसार वाद्य यंत्रों को नेपथ्य–स्थल पर रखा जाता था। इससे यह निश्चित रूप से ज्ञात होता है कि उत्तररामचरित में उल्लिखित गर्भनाटक के अभिनय से पूर्व नेपथ्य–स्थल पर रखे वाद्य यंत्रों को हटाया गया था। तदनंतर उसी स्थान पर गर्भनाटक दर्शाया गया। यहां इसी संदर्भ में एक बात और उल्लेखनीय है कि उन दिनों रोम और यूनान की रंगशालाओं में भी नेपथ्य स्थल पर वाद्य यंत्रों (आर्केस्ट्रा) का स्थान निर्धारित था। जब कभी अलौकिक या नाटक के मुख्य कथावस्तु से इतर विषय पर कुछ दृश्यों को दर्शाना होता था, तो वहां पर भी नेपथ्य–स्थल का ही प्रयोग किया जाता था। उस समय नेपथ्य–स्थल स्टेज के पृष्ठ भाग में दो फुट से पांच फुट की ऊंचाई पर एक चबूतरे की भांति बनाया जाता था। यूनान की प्राचीन रंगशालाओं के ध्वंसावशेषों से ज्ञात होता है कि कभी–कभी नेपथ्य–स्थल को वास्तु–शिल्प की दृष्टि से कई स्तम्भों के ऊपर भी बनाया जाता था। आजकल नेपथ्य का अर्थ केवल ग्रीन रूम है, जहां पात्र अपनी वेषभूषा और सजावट करते हैं। 'मालविका– अग्निमित्र' में संगीतशाला का उल्लेख मिलता है। यह शाला राजप्रासाद का एक अंग थी। इसके अतिरिक्त कालिदास को अन्य कृतियों जैसे, 'कुमारसम्भव' और 'मेघदूत' में क्रमशः 'दरीगृह' तथा 'शिलावेश्म' शब्द ऐसे पार्वत्य गुफाओं के प्रेक्षामंडपों की ओर संकेत करते हैं, जहां नागरजन कला का आनंद लेते थे। इन प्राचीन पार्वत्य प्रेक्षागृहों के अस्तित्व के विषय में यह सम्भावित है कि प्राचीनकाल में राजागण अपनी विजय यात्रा के मध्य मनोरंजन हेतु गुफाओं में नाट्यमंडप की व्यवस्था कर लेते हों, क्योंकि पहाड़ी गुफाओं की निम्नोन्नत भूमि प्रेक्षागृह की संरचना के लिए उपयुक्त होती है। यह ऊंची–नीची भूमि दर्शकों के बैठने तथा पात्रों की भूमिका–स्थल के अनुकूल थी तथा प्रेक्षागृह का निर्माण नाट्यशास्त्र के अनुसार ही होता था।

इस प्रकार, संस्कृत काल की रंगशालाएं नाट्यशास्त्र के सिद्धांतों का पालन करती थीं और नृत्य, संगीत, और रंग की सुविधा में एक अद्वितीय संगम स्थापित करती थीं।

मानसिक विकारों के प्रबंधन में नादयोग की भूमिका

प्रगति*
प्रो.सुरेन्द्र कुमार**

शोध सार

नाद सुनते ही हमारी श्रवणेन्द्रियां उत्तेजित हो जाती हैं। मन के हाव – भाव में परिवर्तन होने लगता है। जैसे ही नाद हमारे कानों में सुनाई पड़ता है उसी के अनुरूप हमारी क्रिया होने लगती है। नाद, संगीत का उच्चतम स्तर है जो लय का प्रकार है। संगीत (नाद) का वर्णन विश्वभर के ग्रन्थों में विस्तार से पाया जाता है। भारतीय हठयोग के ग्रंथ, उपनिषद एवं वैदिक ऋचाएँ इसका प्रमाण प्रस्तुत करती हैं। भारतीय संस्कृति में नाद का विशेष महत्व है, जन्म होने से लेकर मृत्यु तक नाद जीवन का अभिन्न अंग बना रहता है। प्राचीन काल में युद्ध के समय यौद्धाओं के उत्साहवर्धन हेतु भेरिघोष एवं शंखनाद किया जाता था, वीर रस से परिपूर्ण छंदों का गायन होता था। जब कोई व्यक्ति मानसिक रूप से दुःखी होता है तब वह ईश्वर भक्ति के भजन एवं अन्य शोक एवं वियोग संगीत सुनने की आकांक्षा रखता है। खुशी में अन्य प्रकार के वीणा, मंजीरा, ढ़ोल आदि प्रचलित संगीत सुने जाते हैं। नाद के द्वारा मानसिक विकारों को भी दूर किया जाता है जिसके विषय में अनेक ग्रन्थों में चर्चा मिलती है। प्रस्तुत शोध – पत्र में मानसिक विकारों के प्रबंधन में नादयोग की भूमिका को दर्शाया गया है।

बीज शब्द : नादयोग, संगीत, मानसिक विकार, स्वास्थ्य।

प्रस्तावना

नाद का नाम सुनते ही हमारे मन में किसी ऐसे संगीत की लय उत्पन्न होने लगती है जो हमें प्रिय होती है। हम ऐसे अवसर पर स्वयं को रोक नहीं पाते और गीत, भजन, गाने, या अन्य संगीत विधाएँ गुनगुनाने लगते हैं, उस संगीत की ध्वनि पर झूम उठते हैं। वहीं जब कोई ऐसी ध्वनि हमारे कानों में पड़ती है जो शोक गीत से प्रेरित हो तब हमारा मन उसके प्रति उदार और शांत बन जाता है। वास्तव में संगीत अथवा नाद हमारे मन एवं चित्त पर अत्याधिक प्रभावकारी है। इसलिए मानसिक विकारों में नादयोग की भूमिका का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। वर्तमान में मानसिक विकार बहुत तीव्र गति से बढ़ रहे हैं जिनका प्रबंधन हम भारतीय ग्रन्थों में उल्लेखित नादयोग के माध्यम से कर सकते हैं। सम्पूर्ण सृष्टि में विचरित ध्वनि अथवा संगीत के समूह को नादयोग कहा जाता है। नादयोग संगीत का उच्चतम स्तर है इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि नाद की उत्पत्ति कैसे हुई? तो इसका सरल उत्तर है नाद का आरम्भ सृष्टि का निर्माण होने के साथ ही नाद की ध्वनि संचारित होने लगी होगी इसलिए हमारे मन पर नाद का सर्वाधिक प्रभाव दिखाई पड़ता है। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मांड में 'अ' 'ऊ' 'म' मात्राओं के संयोग से ऊँ की ध्वनि संचारित हो रही है जो नाद की परम लय है। ब्रह्माण्ड की इस लय से ही नाद उत्पन्न हुआ है इसी ध्वनि से अन्य संगीत एवं वर्णों का निर्माण हुआ है। सपेरे के द्वारा बीन बजाने पर सर्प उसमें लीन हो जाता है, बादल के गर्जना को सुनकर मोर नाचने लगता है। नाद का प्रभाव केवल मनुष्यों पर ही नहीं अपितु जानवरों पर भी पड़ता है।

भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण संसार में संगीत ने अपनी जगह बना रखी है। संगीत का मन पर गहरा प्रभाव पड़ता है। शादी –विवाह, जन्म दिवस

*योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
**विभागाध्यक्ष, योग विज्ञान विभाग गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार ।

आदि के अवसरों पर संगीत का आयोजन किया जाता है, ऐसे ही अन्य अवसरों पर भी संगीत का आयोजन किया जाता है जो व्यक्ति के चित्त पर प्रभाव डालता है और मनोविकारों को ठीक करने में अपनी महती भूमिका निभाता है। यह नाद प्रकृति में विद्यमान है जिसका न कोई आरंभ है न कोई अन्त। यह अनादि है, शाश्वत है। विश्व के सभी आध्यात्मिक केन्द्रों पर नाद हेतु उपकरण अवश्य लगे होते हैं फिर वे किसी भी धर्म के केंद्र क्यूँ न हों जैसे हिन्दू मंदिरों में घण्टा, घण्टियां एवं ओइम् एवं अन्य जयकार लगाए जाते हैं, मस्जिद में भी अजान की जाती है तथा कुरान की आयतों का पाठ किया जाता है, गुरुद्वारों में भी ओंकार की ध्वनि को चलाया जाता है, जिनके नाद से मानसिक एकता उत्पन्न होती है। जिस प्रकार काँच के आतिशी में प्रकाश किरणें एकत्र होकर अग्नि उत्पन्न कर देती हैं उसी प्रकार नाद की लय सभी मानसिक विकारों को लय के साथ रमा लेती है और मानसिक शांति प्रदान करती है। हठयोग के ग्रन्थों में कहा गया है कि नाद के माध्यम से हम न केवल मनोविकारों को दूर कर सकते हैं वरन् मोक्ष को प्राप्त कर जन्म मरण के बंधन से पूर्णतः मुक्त हो सकते हैं। हठप्रदीपिका में कहा भी गया है कि नाद से मोक्ष भी नहीं मिला तो भी अनन्त सुख अवश्य ही प्राप्त होता है जो राजयोग समाधि के बराबर है।[1] हठयोग के ग्रंथ घेरण्ड संहिता में नादयोग समाधि का वर्णन किया गया है,[2] जिसमें नाद के माध्यम से मोक्ष प्राप्त करने की बात कही गयी है। हठतत्वकौमुदी के लेखक स्वामी सुंदरदेव जी तो सभी लयों में नादयोग समाधि को सर्वश्रेष्ठ समाधि बताते हैं।[3]

हठप्रदीपिका में स्वामी स्वात्माराम जी ने नादानुसंधान की चर्चा की है जिसके चार चरणों को विस्तार से बताया है। आरंभावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति अवस्था।[4] स्वामी जी कहते हैं कि आरंभावस्था में झण–झण की ध्वनि का नाद सुनाई पड़ता है जिससे ब्रहम ग्रंथि का भेदन होता है तथा साधक शून्यचारी हो जाता है अर्थात् विचारों से मुक्त हो जाता है।[5] दूसरी अवस्था है घटावस्था, इसमें विष्णु ग्रंथि का भेदन होता है तथा साधक को भेरी जैसे वाद्ययंत्रों की ध्वनि सुनाई पड़ती है, जिससे साधक देवतुल्य हो जाता है।[6] तीसरी अवस्था है परिचयावस्था, इसमें ढ़ोल के जैसे नाद की ध्वनि सुनाई पड़ती है और साधक के व्याधि, दुख, बुढ़ापा, भूख, प्यास, निद्रा आदि समाप्त हो जाते हैं।[7] चतुर्थ अवस्था है निष्पत्ति अवस्था इसमें रुद्र ग्रंथि का भेदन होता है तथा वीणा नाद का अनुभव होता है। नादबिन्दु उपनिषद में कहा गया है कि जब साधक ब्रह्म नाद में लीन हो जाता है तब वह विश्व की समस्त चिंताओं से लिप्त हो जाता है उसमें कोई संदेह नहीं है।[8] नाद के स्तर का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि 'सर्वप्रथम समुद्रगर्जन, मेघगर्जन, भेरी ध्वनि, निझर की ध्वनि जैसी ध्वनि सुनाई पड़ती है, उसके बाद मध्य स्थिति में मृदंग और काहलर की ध्वनि सुनाई पड़ती है और अन्त में किङ्किणी वंशी वीणा और भ्रमर गुजार की ध्वनि सुनाई पड़ती है'।[9] इस तरह सूक्ष्म से सूक्ष्म नाद सुनाई पड़ता है। नादानुसंधान का इसी प्रकार वर्णन हठरत्नावली में स्वामी श्रीनिवास योगी जी ने किया है।[10] तथा हठतत्वकौमुदी में श्री सुन्दरदेव जी ने भी नादानुसंधान का विस्तृत वर्णन किया है।[11] उपरोक्त दोनों पुस्तकों में हठप्रदीपिका के तथ्यों की पुष्टि की जाती है।

वर्तमान में मानसिक विकारों की स्थिति

वर्तमान समय में मानसिक विकारों से पीड़ितों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है 'विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट 2022 के अनुसार विश्वभर में लगभग 970 मिलियन लोग मानसिक विकारों से पीड़ित हैं। जिनमें 52.4% महिलाएँ एवं 47.6% पुरुष शामिल हैं'।[12] मानसिक विकारों के प्रति लोगों को जागरूक करने के लक्ष्य से प्रतिवर्ष 10 अक्तूबर को 'विश्व मानसिक स्वास्थ्य दिवस' मनाया जाता है। ''विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) द्वारा जारी एक हालिया रिपोर्ट के अनुसार, तकरीबन 7.5 प्रतिशत भारतीय किसी–न–किसी रूप में मानसिक विकार से ग्रस्त हैं। वर्ष 2020 तक भारत की लगभग 20 प्रतिशत आबादी मानसिक रोगों से पीड़ित होगी।

मानसिक रोगियों की इतनी बड़ी संख्या के बावजूद भी अब तक भारत में इसे एक रोग के रूप में पहचान नहीं मिल पाई है, आज भी यहाँ मानसिक स्वास्थ्य की पूर्णतः उपेक्षा की जाती है और इसे काल्पनिक माना जाता है। जबकि सच्चाई यह है कि जिस प्रकार शारीरिक रोग हमारे लिये हानिकारक हो सकते हैं उसी प्रकार मानसिक रोग भी हमारे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं"।[13] महर्षि वशिष्ठ इन मानसिक विकारों को आधि कहते हैं जिसका प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है और व्याधि उत्पन्न होती है।[14] मानसिक विकारों के निरंतर बढ़ते आंकड़ों को देख कर ''वर्ष 2017 में मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षा अधिनियम बनाया गया जिसका मुख्य उद्देश्य मानसिक रोगों अथवा विकारों से ग्रसित लोगों को मानसिक स्वास्थ्य सुरक्षा और सेवाएँ प्रदान करना है। साथ ही यह अधिनियम मानसिक रोगियों के गरिमा के साथ जीवन जीने के अधिकार को भी सुनिश्चित करता है। इस अधि ानियम के अनुसार, 'मानसिक रोग' से अभिप्राय विचार, मनोदशा, अनुभूति और याददाश्त आदि से संबंधित विकारों से होता है, जो हमारे जीवन के सामान्य कार्यों जैसे– निर्णय लेने और यथार्थ की पहचान करने आदि में कठिनाई उत्पन्न करते हैं''।[15] मानसिक स्वास्थ्य हमारे सर्वांगीण विकास हेतु अत्यंत आवश्यक है इसलिए महर्षि सुश्रुत भी मन और इंद्रियों की प्रसन्नता होने पर ही व्यक्ति को स्वस्थ मानते हैं।[16] विश्व स्वास्थ्य संगठन ने भी उसी व्यक्ति को स्वस्थ माना है जो शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक रूप से सम्पन्न है इनमें से किसी एक की अनुपस्थिति में व्यक्ति स्वस्थ कहलाने योग्य नहीं है।[17] मानसिक विकारों के चलते आज के युवाओं में आत्महत्या जैसे मामले बढ़ते जा रहे हैं, प्रतिवर्ष विश्वभर में लगभग एक लाख लोग आत्महत्या कर लेते हैं।[18] आज के युग में युवा पीढ़ी और बुजुर्ग लोगों में इतना अंतर हो गया है कि वे एक साथ बैठना पसंद नहीं करते हैं, उनके विचार एक दूसरे के बिलकुल उलट हैं, जिसके चलते युवा से लेकर बुजुर्ग तक सब मानसिक विकारों से पीड़ित हैं।

मानसिक विकारों का सामान्य परिचय

जो रोग हमारे मन एवं मस्तिष्क में संचारित होते हैं किन्तु उनका असर शारीरिक मुद्रा पर भी दिखाई पड़ता है वे मानसिक विकार कहलाते हैं।[19] महर्षि चरक के अनुसार चिन्ता, कुंठा, तनाव, चिड़–चिड़ापन, काम, क्रोध, ईर्ष्या, मोह, मद, शोक, भय, उद्वेग, हर्ष आदि रोग मानिसक विकार कहलाते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के समय में अवसाद, सीजोफरेनिया, मनोविदलता, ओटिज्म स्पेक्ट्रम, डिस्टीमिया, कंडक्ट डिसॉर्डर, ईटिंग डिसॉर्डर, इडियोपैथिक डवलपमेंट इंटेलेक्चुअल डिसेबिलिटी, अटेंशन डेफिसिट, हाइपर एक्टिविटी आदि। ये सभी मनोविकार वर्तमान में बहुत तीव्रता से फैल रहे हैं।

मानसिक विकारों का नादयोग प्रबंधन

वर्तमान में मानसिक विकारों की स्थिति के आँकड़े चौंकाने वाले हैं, निरंतर मानसिक रोगियों की बढ़ती संख्या चिंता का विषय है, चूंकि रोगियों की संख्या अधिक है और चिकित्सकों की संख्या कम है, विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट 2014 के अनुसार भारत में प्रति एक लाख मानसिक रोगियों पर मात्र 0.301 मनोचिकित्सक तथा 0.07 मनोवैज्ञानिक थे। किन्तु इस समस्या का समाधान भी हमें नादयोग में मिल जाता है। उपरोक्त मानसिक विकारों के लिए योग एवं अन्य ग्रन्थों में नादयोग का वर्णन मिलता है साथ ही भिन्न – भिन्न संस्थानों एवं योगियों ने भी नादयोग के माध्यम से मानसिक रोगों को कम करने के उपाय सुझाए है। नाद के माध्यम से मन शांत एवं चित्त विश्रांति का अनुभव करता है। मानसिक उद्वेग शांत हो जाते हैं, इसलिए मानसिक विकारों से पीड़ित व्यक्ति को भ्रामरी प्राणायाम का अभ्यास कराया जाता है,[20] भ्रामरी प्राणायाम मन में सजगता और मन को संतुलित करने की विधि है।[21] जिससे तंत्रिका – तंत्र में सक्रिय न्यूरोन्स शांत हो जाते हैं और एंडोर्फिन हार्मोन सक्रिय हो जाता है जिसके बाद व्यक्ति को सुख का अनुभव होता है। महर्षि महेश योगी ने भावातीत ध्यान में संगीत अथवा नाद का

उपयोग किया है जिससे एंडोर्फिन हॉर्मोन सक्रिय हो जाता है जो व्यक्ति के मस्तिष्क पर अधिक प्रभावकारी है, यह तनाव एवं चिंता आदि मनोविकारों को दूर करने में सक्षम है। गायत्री पीठ शांति कुंज में प्रतिदिन गायत्री नाद को सुनाया जाता है जिससे वहाँ रहने वाले साधकों में सकारात्मक विचार उत्पन्न होते हैं, मानसिक विश्रांति मिलती है। यह मानसिक विश्रांति मनोविकारों को दूर करने में मुख्य भूमिका निभाती है। हठप्रदीपिका में कहा गया है कि नाद के अभ्यास से बाहरी विक्षोभ अथवा बाधाएँ नहीं आती व्यक्ति उन सभी विकारों से मुक्त हो जाता है।[22] स्वात्माराम जी कहते हैं कि जब व्यक्ति नाद में लीन हो जाता है तब वह बाह्य विषयों से मुक्त होकर उन्हें भूल जाता है, जिन विषयों अर्थात् जिन विकारों से वह पीड़ित है उनसे मुक्त हो जाता है।[23] जैसे एक पंखविहीन पक्षी एक जगह स्थिर हो जाता है उसी प्रकार नाद लय में व्यक्ति का मन स्थिर हो जाता है और वह मानसिक विकारों से मुक्त हो जाता हैं महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि 'जब भ्रामरी नाद में मन लीन हो जाता है तब किसी प्रकार का द्वंद, विक्षोभ, एवं बाह्य आघात का अनुभव नहीं होता, व्यक्ति प्रसन्न और आनंदित हो जाता है।[24] नाद की विशेषता में घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि 'जप से आठ गुना उत्तम ध्यान है, ध्यान से आठ गुना उत्तम तप है तथा तप से आठ गुना उत्तम नाद है। इसलिए नाद का मन पर अधिक प्रभाव है और निरंतर इसका अभ्यास करना चाहिए'। नादबिन्दु उपनिषद में चित्त अथवा मन को शांत करने के विषय में लिखा है कि 'जिस नाद अथवा ध्वनि में सर्वप्रथम मन एकाग्र हो उसमें मन को लीन करना चाहिए उसके करने से मन में बाह्य विषयों का मिथ्या रूपी दुःख अथवा द्वंद समाप्त हो जाते हैं तथा ब्रहमनाद को लगातार श्रवण करने वाले व्यक्ति के समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं और वह विरोधी भावनाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है । जैसा की कबीरदास कहते भी हैं कि 'कबीर सबद सरीर मैं, बिनु गुन बाजै तांति। बाहर भीतर रमि रहा, तांतै छूटि भरांति'/अर्थात् वाद्ययंत्रों की नाद मेरे शरीर में रमण कर रहा है जिससे मेरे मन को विश्रांति का अनुभव हो रहा है परिणामस्वरूप मेरी सारी भ्रांतियों अथवा दुख दूर हो रहे हैं।

निष्कर्ष

संगीत अथवा नाद हमारे मन को अत्यधिक प्रभावित करता है, इसलिए भिन्न – भिन्न योगियों एवं संस्थानों ने नादयोग को मानसिक विकारों के प्रबंधन हेतु अपनाया है, हठयोग, नादयोग, एवं अन्य सभी धार्मिक ग्रंथ नाद के माध्यम से शांति स्थापित करने एवं चित्त अथवा मन को शांत करने विषय में प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जिसकी पुष्टि उपरोक्त तथ्यों से हो जाती है। उपरोक्त तथ्य मनोविकारों के प्रबंधन में नादयोग की महती भूमिका को प्रदर्शित करते हैं। इसलिए मनोविकारों के प्रबंधन में नादयोग का उपयोग कर समाज को मानसिक रोगों से मुक्त रखा जा सकता है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम। लायोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते/ हठप्रदीपिका 4द्ध74.
2. घेरण्ड संहिता, (2011) सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार भारत पृ० स० 367.
3. नादानुसंधानसमाधिमेकं मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम/ हठातत्वकौमुदी 54ध्9.
4. आरंभावस्था घटश्चौव तथा परिचयोअपि च। निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्ट्यम हठप्रदीपिका 4द्ध69.
5. हठप्रदीपिका, 2001, दिगंबर जी स्वामी, एवं झा डॉ. पीताम्बर, कैवल्यधाम श्रीमनमधाव योग मंदिर समिति लोनावाला पुणे महाराष्ट्र, पृ.स. 157.
6. द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः। दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा, विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात् परमानन्दसूचकः। अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तदा भवेत् हठप्रदीपिका 4/72–73.
7. चित्तनन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः। दोषः दुःख जराव्याधिक्षुधानिद्रा विवर्जिते+/ हठप्रदीपिका 4/75/

8. सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः। मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः नादबिन्दु उपनिषद 51.

9. आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसंभवः । मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा / अन्ते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः । इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः / नादबिन्दु उपनिषद 34–35.

10. हठरत्नावली, घरोटे एम. एल., देवनाथ परिमल, कान्त विजय (2017), द लोनावला योग संस्थान रचना गार्डन भंगरवाडी लोनावला पृ० सं० 134.

11. हठतत्वकौमुदी, घरोटे एम. एल., देवनाथ परिमल, कान्त विजय (2012), द लोनावला योग संस्थान रचना गार्डन भंगरवाडी लोनावला पृ० सं० 687.

12. World mental health report ¼transforming mental health for all½] ISBN 978&92&4&004933&8 ¼electronicversion½ worldhealthorganization 2022https:@ @wwwwhoint@ publications@ i@item @9789240049338https:@@www who int@data @gho@data @major& themes@health &and&wellbeing# :~:teÛ t¾The%20WHO%2 0constitution% 20states%3A%20% 22Health]of %20 menta l%2 0disor ders% 20or%20 disab ilities

13. https://www-drishtiias-com/hindi/printpdf/ mental&health&4#:~:teÛt¾% E0%A4%B5% E0%A4%BF%E0%A4%B6 %E0%A5% 8D% E0%A4%B5%2 0%E0%A4%B8%E0 %A5% 8D%E0%A4%B5%E0%A4%BE% E0%A4% B8%E0%A5% 8D%E0%A4% A5% E0%A5% 8D%E0% A4%AF%20%E 0% A4% B8% E0%A4%82%E0%A4 %97%E0% A4%A0% E0%A4%A8]%E0%A4% A1%E0% A4%BE% E0%A4%B2%20%E0%A 4%B8% E0%A4% 95%E0%A4%A4%E0%A5 %87%20%E0%A4% B9%E0%A5%88%E0% A4%82% E0%A5%A4

14. योग वशिष्ठ (महारामायण), 2016, दशोरा श्री नंदलाल, रणधीर प्रकाशन, रेलवे रोड हरिद्वार, पृ.स. 335.

15ण https://www-drishtiias-com/hindi/printpdf/ mental&health& 4#:~:teÛt¾%E0%A 4%B5%E0% A4%B0%E0%A5% 8D%E0%A4% B7% 202017% 20% E0%A 4%AE%E0% A5%87% E0%A4% 82%20% E0%A4%B2%E0%A4% BE%E0% A4% 97% E0%A5%82%20%E0 %A4% 95% E0% A4%BF %E0%A4%AF% E0%A5% 87%20% E0%A4%97%E0%A 4%8F]% E0%A4%89% E0%A4% A4% E0%A5% 8D%E0% A 4%AA% E0% A4%A8% E0%A5%8D%E0%A4

16. समदोषरू समाग्निश्च, समधातु मलक्रियः प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते।। सूश्रुत संहिता सूत्र स्थान 15 / 10

17. https://www-who-int/data/gho/data/major& themes/health&and&well&being

18- https://journals-lww-com/indianjpsychiatry/ fullteÛt/2012/54040/suicide__an_ indian_ per-spective-2-aspÛ

19. चरक विज्ञान 6 / 5.

20. घेरण्ड संहिता, (2011) सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार भारत पृ० स० 329.

21. घेरण्ड संहिता, (2011) सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार भारत पृ० स० 326.

22. अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत हठप्रदीपिका 4 / 83.

23. बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा हठप्रदीपिका 4.92.

24. घेरण्ड संहिता, (2011) सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार भारत पृ० स० 371.

25. घेरण्ड संहिता, (2011) सरस्वती स्वामी निरंजनानन्द योग पब्लिकेशन्स ट्रस्ट मुंगेर बिहार भारत पृ० स० 326.

26. योग उपनिषद संग्रह (2015), भारती परमहंस स्वामी अनन्त, चौखम्भा पब्लिशर्स गोकुल भवन, गोपाल मंदिर लेन वाराणसी, भारत पृ. सं० 294.

27. अभ्यस्यमानो नादोऽयं ब्रह्म' आवृणुते ध्वनिः। पक्षाद् विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् नादबिन्दु उपनिषद 32.

आदिवासी जीवन के अस्तित्व का संघर्ष 'गायब होता देश'

कपिल कुमार रंजन*

साहित्य का सृजन–पथ मानवीय मूल्यों का धारक और संवाहक है। हिन्दी साहित्य के समकालीन लोकवृत्त में आदिवासी जनसमुदाय की संवेदना और चेतस प्रकृति समादृत है। भारत का आदिवासी समुदाय सामूहिकता में विचार करता है। प्रकृति से गहन जुड़ाव और लगाववृत्ति उनके अनुभव और स्मृति की आधारशिला है जो उनकी धात्री और संरक्षण दोनों हैं। आदिवासी साहित्य की आरंभिक परम्परा में गीतों की वाचिक परम्परा के साथ साथ कथाएँ और गाथाओं की परम्परा भी देखने को मिलती है। आदिवासी सभ्यता की विकास–यात्रा वन्य क्षेत्रों और जीव–जंतुओं के बीच से प्रारंभ होकर महानगरों तक भी आती हुई दिखाई देती हैं। आदिवासी समुदायों के आचार–विचार, रहन–सहन भाषा–संस्कृति, लोकजीवन में व्याप्त संस्कृति पर्व त्योहार, उत्सव तथा धार्मिक परम्पराएं भिन्न–भिन्न हैंय परंतु इन सभी भिन्नताओं के बावजूद भी इनके सामाजिक–सांस्कतिक विकास में कुछ समानताएं हैं, जिनके आधार पर ही इन समुदायों को सम्मिलित रूप में आदिवासी कहकर संबोधित किया जाता है। इन संघर्षों के साथ अन्य, अंतर अनुशासनात्मक विधाओं की शाखाओं के साथ–साथ साहित्य में भी हुई है। विशेष रूप से उपन्यास विधा इनमें प्रमुख है। आदिवासी हिंदी उपन्यासों में रणेन्द्र के उपन्यास 'गायब होता देश' में आदिवासी समुदाय के जीवन – संघर्ष की अभिव्यक्ति को प्रमुखता से देखा जा सकता है।

आदिवासी समाज ,साहित्य और संस्कृति के लिए सन 1994 ई० में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा लिया गया निर्णय बहुत महत्वपूर्ण है ।उस समय संयुक्त राष्ट्र संघ ने निर्णय लिया कि 9 अगस्त को ''विश्व आदिवासी दिवस'' के रूप में मनाया जाएगा। इस निर्णय के माध्यम से एक महत्वपूर्ण पहल सामने आया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1995 ई० से 2004 तक की अवधि को 'अंतरराष्ट्रीय विश्व आदिवासी दशक' घोषित किया। इस दशक के दौरान एक नारा पूरी दुनियां में गुजा, जो था–' कार्य और सम्मान की सदी'। इस नारे ने आदिवासियों के सम्मान को अंतर्राष्ट्रीय मुखरता प्रदान किया जिसका प्रभाव आदिवासी समाज, साहित्य और संस्कृति पर पड़ा तथा इसने आदिवासियों के लिए संघर्ष करने वाले व्यक्तियों को भी प्रेरित किया।

1990 ई० के बाद हिंदी में आदिवासी साहित्य पर सोचने –विचारने और लिखने पढ़ने में गति आयी । हालांकि आदिवासी साहित्य प्राचीन है। आदिवासी कवि और रचनाकार बहुत पहले से लिखते आ रहें है य बतौर उदाहरण सुशीला सामद, रत्नमाला ,रोजकेरकेट्टा और रामदयाल मुंडा जैसे लेखक प्रसिद्ध हैं। यही वह समय है जब आदिवासी समाज की नैतिकता, उनका संघर्ष, उनकी संस्कृति और इतिहास, आदिवासी कथा– साहित्य में प्रखरता के साथ दर्ज किया जा रहा था। संजीव, मनमोहन पाठक,राकेश कुमार सिंह ,रणेन्द्र, विनोद कुमार, महुआ माजी और हरिराम मीणा जैसे लेखकों के द्वारा सामने आ रहा था, तथा अकादमिक शोध और बहस का विषय बन रहा था।

वैश्वीकरण से तात्पर्य '' स्थानीय तथा क्षेत्रीय वस्तुओं या घटनाओं के विश्व स्तर पर रूपांतरण की प्रकिया है । इसे एक ऐसी प्रक्रिया का वर्णन

शोधार्थी, हिंदी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी–221005।

करने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है जिसके द्वारा पूरे विश्व के लोग मिलकर एक समाज बनाते हैं तथा साथ कार्य संव्यवहार करते हैं। यह प्रक्रिया आर्थिक, तकनिकी, सामाजिक तथा राजनीतिक ताकतों का संयोजन है।''[1] स्पष्ट है कि, वैश्वीकरण का तात्पर्य विश्व का एकीकरण है। इसमें अर्थव्यवस्था का प्रवाह, विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का प्रसार, स्थानीय संस्कृति तथा वैश्विक संस्कृति का प्रचार–प्रसार, योजनाओं तथा नीतियों में निजीकरण तथा उदारीकरण की प्रवृत्ति, मुक्त बाजार–व्यवस्था की स्थापना शामिल है।

समकालीन आदिवासी हिंदी उपन्यासों में वैश्वीकरण का प्रभाव प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में दिखाई पड़ता है। भारत में उदारीकरण के बाद वैश्वीकरण का प्रभाव काफी तेजी से बढ़ा है। संसाधनों की अनुपलब्धता और बढ़ती जनसंख्या ने अपने विकास के पहिये को उन जंगलों की तरफ मोड़ दिया जहां आदिवासी समुदाय सदियों से बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के अपना जीवन निर्वहन करते आ रहा था। इस बाहरी हस्तक्षेप ने उनको लोकल से ग्लोबल बना दिया है। समकालीन समय में आदिवासी जीवन का यथार्थ रूप ' गायब होता देश ' उपन्यास में हम देख सकते हैं, जिनमें वैश्वीकरण का प्रभाव मौजूद है ।

रणेन्द्र द्वारा लिखित 'गायब होता देश'(2014) इस अर्थ में महत्वपूर्ण उपन्यास है कि वह बड़ी तटस्थता से उस पूरी प्रक्रिया को समझाता है जिसके द्वारा भारतीय मुंडा समुदाय ही नहीं बल्कि उनके जैसे दुनिया भर में फैले गरीब, निरक्षर आदिवासियों को विश्व के नक्शे से गायब कर दिये जाने की मुहीम चल रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से अगर हम देखें तो ''छोटानागपुर में सबसे पहले मुंडाओं ने ही प्रवेश किया था। ई.पू. 600 में ये लोग पश्चिम (विंध्याचल रेंज) से यहां आये थे। ये आस्ट्रिक प्रजाति से सम्बंध रखते हैं और मुंडा भाषा परिवार की प्रमुख बोली 'मुंडारी' बोलते हैं। ये रांची जिले के पूर्वी व दक्षिणी अंचलों में बसते हैं।''[2] कुल इक्यावन खंडों में विभाजित यह उपन्यास पत्रकार किशन विद्रोही की हत्या से शुरू होता है। किशन विद्रोही की डायरी , राजेश पाहन द्वारा हत्या के कारणों की तलाश और आदिवासी विद्वान डॉ.सोमेशवर सिंह मुंडा के माध्यम से यह उपन्यास आदिवासियों की समृद्ध संस्कृति, ज्ञान और उत्तरोत्तर बदतर जीवन की व्यथा को बयां करता है। यह उपन्यास इस अर्थ में विशिष्ट है कि इसमे स्वयं आदिवासी समुदाय भी सवालों के घेरे में हैं।

सच तो यह है कि, आदिवासी समुदाय भी बाजारवाद की गिरफ्त से बच नहीं पा रहा है। हमारी–आपकी तरह उसे भी विभिन्न प्रलोभनों की तरह उपभोगवादी वस्तुओं के लोक लुभावन जाल में फसाने की पुरजोर कोशिशे की जा रही हैं। इस जाल को फैलाने–फसाने में कारगर भूमिका निभाता है हमारा आज का मीडिया तंत्र। एक समय था जब मीडिया को लोकतंत्र के 'चौथे खंभे' का दर्जा मिला हुआ था, लेकिन आज की मीडिया अमीरों की मुखापेक्षी हो गया है। यह सच्चाई को बजाय तटस्थता में प्रस्तुत करने के उसे कांट–छांट कर परोसने और पाठकों–दर्शकों को गुमराह करता है। 'गायब होता देश में किशनपुर एक्सप्रेस, टोटल चेंज और पलाश चौनल के द्वारा मीडिया के पूंजीवादी चरित्र को किशन विद्रोही के बहाने दिखाया गया है।यह वही किशन विद्रोही है जिसने एक समय। ''लगभग तीन सौ भूमिहीन मजदूरों के साथ आंदोलन के साथी बुध्दूबीघा में जापानी बुद्ध मंदिर के पार के खेत की ओर बढ़े। तभी मठ के गुंडों–पहलवानों ने बम और गोलियों की बौछार कर दी। पहली गोली जानकी मांझी के पैर में लगी थी। लहराता बम पांचू मांझी के पेट में लगा। अंतड़ी बाहर निकल गई। साथियों ने अंतड़ी समेट कर गमछी से पेट को बांध दिया। एक खटिया पर पांचू को लिटा, जुलूस बढ़ चला। तभी दूसरा बम मेरे करीब गिरा। केके बढ़ कर मुझे बगल के गड्ढे में नही ठेलता, तो मेरी हालत भी पांचू जैसी ही हो जाती । बम के टुकड़ो ने केके की जांघो और बाहों को छेद दिया,लेकिन अपने ही खून में डूबा केके मठ की जमीन में हल जोतने वाला पहला आदमी था। उसके हल–बैल दौड़ते रहे,जब तक यह बेहोश होकर नहीं गिरा। उसके बाद खुद जननायक ने इसे विद्रोही कह पुकारा था।''[3]

एक समय भूमिहीनों के लिए अपने जान की बाजी लगाने वाला यह किशन विद्रोही मीडिया के

चंगुल में ऐसे फसता है कि वह आदिवासियों की जमीन छिनैती कराने वाला केके झा के दलाल में तब्दील कर दिया जाता है। मीडिया द्वारा जमीन की छिनैती कराने वाला एक पूरा तंत्र विकसित है। जिसमें अखबार मालिक से लेकर पुलिस–प्रशासन, रियल स्टेट होल्डर, कॉरपोरेट घराने, स्थानीय ठेकेदार आदि शामिल हैं। यह सब एक गठबंधन के रूप में कार्य करते हैं क्योंकि इन सबका अपना–अपना 'शेयर' है। मिल बांटकर खाने वाली रणनीति के तहत सब एक–दूसरे के संगी हैं जो इनके विरोधी हैं, 'विकास' के विरोधी और नक्सली हैं।हमारी सरकारें और पुलिस व्यवस्था नक्सली करार कर आखिर किसको मार रही हैं–शोषण का विरोध करने वाले आदिवासियों को ही न! आज की मीडिया की तरह स्वयं इस उपन्यास में झूठ को परोसने और विकास के मोहक सपने दिखाने वाले चौबिसिया घंटे वाले चौनल हैं। ये चैनल जमीन,पानी की छिनैती में लगे बांध कंपनियों और रियल स्टेट होल्डरों के हैं। जो हर पल आदिवासियों के विनाश के औजारों को विकास के सामानों में बदलने में लगे हैं। यह मीडिया ही है जो सत्तावर्ग की शोषणकारी नीतियों और परियोजनाओं को जनता हितैषी के रूप में प्रचारित–प्रसारित करती है। 'विकास ' का कोई भी प्रोजेक्ट जमीन पर आने के पहले विज्ञापन और सरकारी – गैरसरकारी घोषणाओं के द्वारा आम जनता के बीच रोपा जाता है। विकास का यह विज्ञापन नेहरू के समय शुरू हुआ और आज तक उसी के सहारे सभी पार्टियाँ चुनाव जीत रही हैं और नेता लोग काले धन से खा – अघा रहे हैं। विकास के लिए बड़े बांधो और कारखानों का जो मॉडल शुरू किया उसकी जब्त में तब भी गरीब,दलित, किसान और आदिवासी ही आये थे। हरित क्रांति से जहाँ धीरे–धीरे धरती की बंजरता बढ़ी वहीं बड़े बांध भी विकास के पूजास्थल नहीं बल्कि गरीबों के विनाश के सबब बने आदिवासियों को क्या चाहिए,उनकी जरुरत क्या हैं , वे कैसे बेहतर जिंदगी जी सकेंगे इसे कोई नहीं जानना चाहता। कॉर्पोरेट घराने सरकारों से मिलकर बड़ी आसानी से इन आदिवासियो को अवैध बाशिंदा करार कर इनकी जमीन हथियाने का षड्यंत्र करती हैं क्योंकि इन आदिवासियो के पास अपने पूर्वजों की जमीन के कागज नहीं होते और न ही ये हमारी कोर्ट कचहरी के अंग्रेजी अक्षर ज्ञान और वकीलों से वाकिफ हैं। इसलिए यह मानना की देश के सभी नागरिक समान हैं और सबको समान अधिकार और अवसर मिला हुआ है, तो यह एक छद्दम है। पूंजीवाद के केंद्र में विकाश नहीं मुनाफा है। मुनाफे के इस सच को अब जागरूक आदिवासी समाज भी समझने लगा है इसलिए वे ' विकास ' के पैरोंकारों से पूछतें है कि ''थोड़ी देर के लिए सोचिए बच्चू ! अगर लुटियन के दिल्ली के नीचे कोयला निकल आए, इलाहाबाद सिविल लाइन्स के नीचे बॉक्साइट, यूरेनियम चंडीगढ़ के नीचे, और आयरन लखनऊ, चेन्नई, बंगलूरू के नीचे तो उजाड़ेगा लोग उसे ? नहीं, कभी नहीं ऐसा कभी नहीं होगा। क्योंकि वहां के रहने वाले एलीट सम्मानित नागरिक हैं। भारत माता के अपने खास बेटे। हम क्या हैं ?''[4]

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि इस उपन्यास में उठाया गया यह प्रश्न वाजिब है कि क्या आदिवासी समुदाय भारत मां के सौतेले बेटे है? वास्तविकता तो यह है कि 'गायब होता देश' सचमुच ही ऐसे लोगों की नीयत पर सवाल उठाने वाला एक ऐसा उपन्यास है, जिनके लिए देश और मानवीय संवेदना से अधिक व्यक्तिगत लाभ महत्वपूर्ण है। ऐसे में कोई भी देश,समाज और मानव समुदाय वैश्विक मानचित्र से गायब हो सकता है। इस गायब होता देश को पुनःनक्शे पर लाने के लिए लामबंदी की जरूरत है,उस लामबंदी की वकालत करता है, रणेंद्र का यह उपन्यास।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. भारत के आदिवासी चुनौतियां एवं सम्भावनाएं, डॉ.जनक सिंह मीणा, कुलदीप सिंह मीणा,वाणी प्रकाशन,नई दिल्ली, संस्करण–2017,पृ.164
2. आदिवासी समाज,साहित्य और राजनीति, केदार प्रसाद मीणा, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली ,संस्करण–2014,पृ.33
3. गायब होता देश,रणेंद्र,पेंगुईन बुक्स,संस्करण–2014, पृ.11
4 .वही,पृ.160

हिंदी नवजागरण में महावीर प्रसाद द्विवेदी का योगदान

कविता*

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी नवजागरण के प्रमुख स्तम्भ है । हिंदी नवजागरण के इतिहास में महावीर प्रसाद द्विवेदी की विशेष महत्व है। इन्होंने हिंदी नवजागरण में वैचारिक क्रांति उत्पन्न की। हिंदी नवजागरण से अभिप्राय सन् 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के दौरान भारत के हिंदी प्रदेशों में आये राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जागरण से है। हिंदी नवजागरण की सबसे प्रमुख विशेषताएं है। हिंदी प्रदेश की जनता में स्वांतर्त्य–चेतना का जागृत होना। इसका पहला चरण स्वयं सन् 1857 का विद्रोह था। जबकि दूसरा चरण भारतेंदु हरिश्चंद्र से शुरू हुआ और तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी से माना जाता है। इन्होंने साहित्य को 'ज्ञान राशि का संचित कोश' कहा है । इस समय भाषा के परिमार्जन से लेकर कवियों को प्रशिक्षण देने तक का ऐतिहासिक कार्य एक साहित्यिक पत्रिका कर रही थी, जो द्विवेदी के संपादन में निकलने वाली 'सरस्वती' पत्रिका से समझा जा सकता है। 'सम्पत्तिशास्त्र' नामक पुस्तक में ब्रिटिश शासन नीति का खुलकर विरोध किया। खड़ी बोली हिंदी को परिमार्जित करके उसे कविता की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने कहा कि हिंदी के कवियों का कर्त्तव्य है कि वे लोगों की रूचि को ध्यान में रखकर अपनी कविताएँ ऐसी सहज और मनोहर रचे कि साधारण पढ़े–लिखे लोगों में भी पुरानी कविताओं के साथ–साथ नयी कविताएँ पढ़ने का अनुराग उत्पन्न हो जाए।

भारत में नवजागरण सन् 1857 के प्रथम स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान शुरू हुआ जिसका केंद्र बंगाल था। अमरनाथ ने कहा भी है कि, "ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, थियोसोफिकल सोसाइटी जैसे विविध आन्दोलन तथा विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ टैगोर, ईश्वरचंद विद्यासागर, महर्षि अरविन्द आदि विचारक इसके सूत्रधार था।[1] 'निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति कै मूल' अर्थात् अपनी भाषा की प्रगति ही हर तरह की प्रगति का मूलधार है। इस सत्य का साक्षात्कार भारतेंदु हरिश्चंद्र ने आज से डेढ़ सौ साल पहले ही कर लिया था, इसलिए हम भारतेंदु को 'आधुनिक हिंदी का अग्रदूत' कहते हैं। इन्होंने 'हरिश्चंद्र चन्द्रिका', 'कविवचन सुधा','बालाबोधिनी' जैसी पत्रिकाओं का संपादन किया, अनेक नाटक लिखे, नाटकों के अनुवाद किये और उनमें अभिनय किया। कविताएँ, निबंध, व्यंग्य और आलोचनाएँ लिखी। भारतेंदु नाटक के सन्दर्भ में लिखते हैं कि, "अब नाटकादि दृश्य काव्य में अस्वाभाविक सामग्री–परिपोषक काव्य, सहृदय सभ्यमण्डली को नितांत अरुचिकर है, इसलिए स्वाभाविक रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्रहिणी है, इससे अब अलोकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्यकाव्य प्रणयन करना उचित नहीं हैं।[2]

नवजागरण काल में बौद्धिक उदारवाद के साथ राष्ट्रीय भाषाओं की उन्नति का प्रश्न जुड़ा था। उस जमाने के सभी बुद्धिजीवी या मॉडरेट लोग अंग्रेजी–भक्त नहीं थे। हर प्रांत में समाज सुधार के साथ अपनी जातीय भाषा की बहुमुखी उन्नति के प्रयास चल रहे थे। यह बौद्धिकता उपनिवेश के अधीन नहीं था। हिंदी के सन्दर्भ में व्यर्थ ही उर्दू से एक रस्साकशी चली आ रही थी इसलिए हिंदी के भाषिक परिष्कार के साथ उसकी राष्ट्रीय–सामाजिक प्रतिष्ठा का सवाल उस दौर में महत्वपूर्ण था। महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषा–सम्बन्धी विचारों से

शोधार्थी, पीएचडी (अनुवाद अध्ययन विभाग), इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली

हिंदी के बारे में उनकी समावेशी सोच और दूरदर्शिता का बोध होता है। वे कहते थे, "अंग्रेजी भाषा सीखने की आवश्यकता है जरुर। तथापि इससे मातृभाषा में शिक्षा प्राप्त करने की महत्ता कम नहीं हो जाती।[3]

महावीर प्रसाद द्विवेदी भारतेंदु युग और छायावाद के बीच सेतु के रूप में भी नजर आते हैं। अपने संपादन काल के दौरान इन्होंने अपनी काफी रचनाएँ छद्म नाम से छापी थी । उन्होंने कई बड़े कवियों और लेखों की हिंदी सुधारने का काम किया था। कथा साहित्य में द्विवेदी युग की मुख्य देन प्रेमचंद है। वही काव्य में द्विवेदी युग की देन मैथिलीशरण गुप्त को माना जाता है । द्विवेदी युग की साहित्यिक हलचलों और वैचारिक संघर्ष को एक बड़े फलक पर देखते हुए भारतेंदु युग को हिंदी नवजागरण का पूर्व काल और द्विवेदी युग को इसका उत्तर काल कहा जा सकता है।

द्विवेदी जी को अनेक भाषाओं का ज्ञान था । अंग्रेजी, फारसी, उर्दू, बंगला, मराठी, गुजराती, हिंदी आदि भाषाओं में दक्षता प्राप्त की । वे भाषा को जनता से जोड़कर देखते थे । उन्होंने अपने कई लेखों में 'हिंदी उर्दू की एकता' की बात कही है । वे भाषा और साहित्य दोनों में विचार स्वांतर्त्य को महत्व देते थे। वे रीति–विरोधी थे। द्विवेदी जी चूँकि प्रगतिशील विचारों के लेखक थे, इसलिए उन्होंने समझ लिया था कि आगे आने वाले दिनों में हिंदी क्षेत्र में खड़ी बोली ही व्यवहार और साहित्य सृजन का एकमात्र माध्यम होगी । मराठी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं की उन्नति देखकर उनके मन में हिंदी की उन्नति की आकांक्षा उत्पन्न हुई।

द्विवेदी जी ने सन् 1896 में लार्ड बेकन के 58 निबंधों में से 36 निबंधों का हिंदी अनुवाद किया जोकि सन् 1899 में ये निबंध 'बेकन–विचार–रत्नावली' के नाम से प्रकाशित हुए । श्री हर्ष के महाकाव्य 'नैषध–चरितम्' पर अपनी पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'नैषध–चरित–चरितम्' लिखी जोकि हिंदी की पहली आलोचना पुस्तक मानी जाती है। द्विवेदी जी अपने लेखन कार्य करते हुए छोटी–बड़ी कई पुस्तकें लिखी और विक्रमांकदेवचरित चर्चा, हिंदी भाषा की उत्पत्ति, संपत्तिशास्त्र मुख्य है और अनूदित पुस्तकों में 'शिक्षा' जोकि हर्बर्ट स्पेंसर के 'ऐजूकेशन' का अनुवाद है, और 'स्वाधीनता' जोकि जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' का अनुवाद है।'सरस्वती' हिंदी नवजागरण की एक सशक्त पत्रिका के रूप में स्थापित हुई । संपादन और लेखन के दोहरे बोझ का द्विवेदी जी के स्वास्थ्य पर बहुत ही बुरा असर पड़ा और वे सदा के लिए अस्वस्थ्य हो गए । उन पर अनिंद्र रोग का आक्रमण हुआ। प्रेमचंद्र जी ने लिखा भी है, "द्विवेदी जी का जीवन साहित्य और साधना तप का जीवन है। साहित्य ही उनका सर्वस्व है। उनकी चिंता, कल्पना, आकांक्षा और विनोद सबका स्त्रोत एक ही था और वह साहित्य है। साहित्य उनके लिए कीर्ति का साधन न था और धन का तो हो ही क्या सकता था। पांडित्य प्रदर्शन भी उनकी मनोवृत्ति न थी । उनके हृदय में उनकी जड़े उतनी ही गहरी थी, जितनी हमारे जीवन में यथार्थ और ममत्व की होती हैं।[4]

नवजागरण एक अवधारणा है। यूरोप की कल्पना का श्रेय स्विज विचारक बर्कहार्ट को है। यूरोप के सन्दर्भ में देखें तो यूरोप में नवजागरण की जगह पुनर्जागरण अधिक तर्कसंगत मालूम पड़ता है। "यूरोप के रेनेसाँ को पुनर्जागरण अथवा पुनर्जन्म कहने का मुख्य कारण यह है कि यूरोप ने लम्बे अंधकार युग और सामंती मध्यकाल से छुटकारा पाया था।" भारत के नवजागरण का चिंतन कई बार राष्ट्रीय जागरण की पहचान पुनरुत्थानवाद में रूप में होती है एवं बुद्धिवाद की पहचान पश्चिमी सभ्यता और अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका के समर्थन के रूप में की जाती है । महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके युग के अधिकांश लेखकों की खूबी यह है कि वे राष्ट्रीय जागरण और बुद्धिवाद दोनों को जोड़कर देखने की दृष्टि लेकर चल रहे थे। संभव है कि कोई लेखक किसी एक तरफ और कोई लेखक किसी दूसरी तरफ ज्यादा झुका हो ।

दरअसल द्विवेदी युग के हिंदी नवजागरण को महज हिंदी भाषा का उत्थान समझना भूल है, जिस तरह उसे छायावाद के विपरीत पक्ष के रूप में देखना गलत है । देखा जा सकता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी नवजागरण को न भाषा सुधार और हिंदी गौरव की प्रतिष्ठा तक सीमित रहने दिया और न रूढ़ नैतिक मर्यादावाद या विक्टोरियाई आदर्शवाद तक।

रामविलास शर्मा ने महावीर प्रसाद द्विवेदी के संबंध में कई जड़ धारणाओं का खंडन करके उनके जातीय–सामाजिक महत्व को रेखांकित किया है । प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति उनके झुकाव की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा,"द्विवेदी जी का दृष्टिकोण प्राचीन संस्कृति के प्रति नकारात्मक नहीं हैं। वे उसके पुनर्मूल्यांकन, बुद्धिसंगत ज्ञान के पक्ष में हैं। वे जानते थे कि प्राचीन संस्कृति पर गर्व राष्ट्रीय आत्मसम्मान का अभिन्न अंग है और स्वाधीनता आन्दोलन के लिए आत्मसम्मान की यह भावना अत्यंत मूल्यवान है।[6]

महावीर प्रसाद द्विवेदी को हिंदी नवजागरण की परम्परा इसलिए कहा जाता है क्योंकि उन्होंने ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन किया । साथ ही साहित्य ने अनुदार भावों को जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य जहाँ है, वहां कट्टरवाद नहीं होगा। यह द्विवेदी जी के बारे में कहा गया है कि,"साहित्य ने जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में नहीं पाई जाती।[7] वे मानते थे कि साहित्य से दूर रहने वाले 'असभ्य एवं अपूर्ण सभ्य' हैं और साहित्यिक भावों का अधःपतन मनुष्य के अपने 'मानसिक जीवन की हत्या' है।

द्विवेदी जी भाषाविद् होने के साथ–साथ अनेक विषयों के विद्वान भी थे। उन्होंने साहित्य के अतिरिक्त दर्शन–विज्ञान, पुरातत्व, इतिहास, अर्थशास्त्र, वनस्पति, जीव जन्तु, समाजशास्त्र आदि विषयों पर महत्वपूर्ण लेखन किया है, भारत में अंग्रेजी राज्य की विश्लेषणात्मक आलोचना की है । हिंदी नवजागरण के माध्यम से वे राष्ट्रीय नवजागरण तक पंहुचते हैं और आधुनिक हिंदी नवजागरण के प्रणेता बनकर भाषा सुधारक व हिंदी परिष्कार के माध्यम से वे भारतीय जनमानस के प्रेरणास्त्रोत बनते हैं।

भारतीय अतीत को रुढ़िवाद से मुक्त पुनर्व्याख्या और राष्ट्रीय बुद्धिवाद के विकास को द्विवेदीयुगीन नवजागरण की दो मुख्य प्रवृतियों के रूप में देखा जा सकता है । पहले का संबंध भारतीय परम्पराओं के बुद्धिसंगत ज्ञान से है। दूसरे का संबंध अनौपनिवेशिक बौद्धिकता से अलग बुद्धिवाद की नई राह की खोज से है। उस युग में धार्मिक कट्टरवाद और बौद्धिक उपनिवेशवाद दोनों पूरी ताकत से मौजूद थे। इनसे टकराए बिना हिंदी नवजागरण अपना आकार नहीं पा सकता था। द्विवेदी जी वेदों की महत्ता पूरी तरह स्वीकार करते हैं, लेकिन उनके ईश्वर द्वारा रचे जाने की धारणा का खंडन बौद्धिक साहस से करते हैं। संस्कृत के विद्वान और हिन्दू रीति–रिवाज का व्यक्ति होने के बावजूद महावीर प्रसाद द्विवेदी धार्मिक पाखंड और कट्टरता के आलोचक थे । द्विवेदी जी ने यह सवाल उठाया कि, "जब खुद लोपामुद्रा, घोषा जैसी स्त्रियां भी वेद की रचयिता थी तो स्त्री वेद क्यों नहीं पढ़ सकती? उन्होंने मुसलमानों के वेद पढ़ने का समर्थन किया और एक टिप्पणी लिखी, 'एक मुसलमान विद्वान का संस्कृत प्रेम'।[8]

द्विवेदी जी ने अर्थशास्त्र, विज्ञान, इतिहास जैसे विषयों पर भी लिखा और अन्य लेखकों को भी इस दिशा में प्रेरित किया । संपत्तिशास्त्र पुस्तक द्विवेदी जी की अर्थशास्त्र से सम्बंधित है। जिसमें उन्होंने भारत की आर्थिक स्थिति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है और अंग्रेजो की अर्थनीति के पीछे उनके झूठ को भी उजागर किया है । संपत्तिशास्त्र की भूमिका में लिखा है कि, "हिंदुस्तान संपत्तिहीन देश है। यहाँ सम्पत्ति की बहुत कमी है। जिधर आप देखेंगे उधर ही आपको दरिद्र–देवता का अभिनय, किसी न किसी रूप में, अवश्य ही दिख पड़ेगा।[9] राजनीतिक दृष्टि से भारत अंग्रेजों का उपनिवेश था । भारत जैसे विशाल देश को ब्रिटिश जैसा छोटा देश गुलाम बना लेता है । मुट्ठी भर अंग्रेज करोड़ों भारतवासियों को लूटकर अपना घर भरते हैं । यह

स्थिति उतनी ही अस्वाभाविक है जितनी की असह्य। द्विवेदी जी सरस्वती पत्रिका के माध्यम से भारतीयों में राजनीतिक चेतना जागृत करने का अथक प्रयास किया । अनेक कवियों, लेखकों, साहित्यकारों को देशप्रेम पर कविताएँ, लेख, आलेख लिखने के लिए आमंत्रित किया । 'सरस्वती' पत्रिका संपादक के रूप में द्विवेदी जी ने लेखकों, कवियों में राजनीतिक चेतना की ऐसी अलख जगायी जिससे समस्त भारतीय जनमानस में क्रांति का परिवेश तैयार किया । वे पहले राजनीतिज्ञ थे । जिन्होंने ब्रिटिश शासन का खुलकर विरोध किया और इसका प्रमाण उनकी पुस्तक 'संपत्तिशास्त्र' है।

भारत में अंग्रेजों ने यहां के व्यापार का नाश करके औद्योगीकरण की जड़े ही काट दी। द्विवेदी जी ने अंग्रेजों की व्यापार नीति की विस्तृत आलोचना की । अंग्रेजों ने भारत के सामंतों के साथ मिलकर पहले यहां की जमीन पर कब्जा किया फिर यहां के व्यापार पर अधिकार किया।"गाँव की जिस बदहाली का चित्रण द्विवेदी जी ने संपत्तिशास्त्र में किया है, वह सब प्रेमचंद्र के कथा साहित्य की पृष्ठभूमि।[10]

द्विवेदी युग में हिंदी समाज पिछड़ी अवस्था में था। धार्मिक मान्यताएं समाज में अधिक प्रचलित थी। निरक्षरता और निर्धनता दोनों थी, किसानी बुरी अवस्था में थी । जनार्दन भट्ट के लेख 'हमारे गरीब किसान और मजदूर' 1914 ई. की सरस्वती में प्रकाशित हुआ था। द्विवेदी युग के कई लेखकों ने किसान–मजदूरों की जीवन स्थितियों को सामने रखकर लेख लिखे थे। स्त्रियों की दशा अत्यंत खराब थी । घर की भीतर ही उनका सम्पूर्ण संसार था। बाद में उनमें से कुछ मुख्यतः असहयोग आन्दोलन के दौरान बाहर निकली । स्त्री जागरण को लेकर द्विवेदी जी और उस युग के लेखकों में चिंताएं दिखाई देती हैं । आज का समाज हिन्दू जागरण का है, द्विवेदी जी का समय हिंदी नवजागरण का था, जिस समय भारतीय पूंजीपति उद्योगपति कम थे, बीसवीं सदी के उस पहले दशक में उन्होंने 'सम्पतिशास्त्र' पुस्तक लिखी थी। एक शताब्दी से अधिक का समय बीत चुका है, हिंदी के किसी लेखक, पत्रकार और संपादक ने अर्थशास्त्र पर स्वतंत्र पुस्तक नहीं लिखी है।

सामाजिक दृष्टि से द्विवेदी जी ने भारतीय सामाजिक रुढ़ियों को नष्ट करने, पुरानी वर्ण व्यवस्था बदलने, जाति बिरादरी का भेदभाव मिटाकर व छुआछूत आदि कुरीतियों पर अपने लेखों के माध्यम से कुंठाराघात किया। उन्हें सुदृढ़ सामाजिक संरचना में बाधक माना। इस दृष्टि से वे नवजागरण के प्रणेता बनकर उभरे हैं। "सरस्वती में इतिहास और समाजशास्त्र पर जो निबंध छपे वे आधुनिक–बोध के विचार से मूल्यवान हैं। जुलाई 1915 की सरस्वती में 'सत्यशोधक का समाजशास्त्र' शीर्षक निबंध छपा।[10] आचार्य द्विवेदी ने सरस्वती में नवीन सामाजिक चिन्तन पर बल दिया । सरस्वती में सत्यशोधक नाम से एक लेखक ने लिखा, "बाल विवाह, वृद्ध विवाह, अनमेल विवाह, शादी ब्याह में फिजूलखर्ची आदि कुरीतियों को रोकने के लिए ब्राह्मणों, वैश्यों, कन्याकुब्जों, गोंडों, सनाढयों, अग्रवालों, खंडेलवालों, कायस्थों, कलवारों आदि की सैकड़ों सभाएं हैं, पर इन सभाओं के कार्यकर्ताओं ने यह विचार नहीं किया कि हमारी सारी सामाजिक कुरीतियों की जड़ वर्ण व्यवस्था है।

अंत में कह सकते हैं कि द्विवेदी जी ने हिंदी प्रदेश में नई सामाजिक चेतना का प्रसार किया। समाज में फैली कुरीतियों का विरोध किया तथा वैज्ञानिक चेतना का प्रसार किया । द्विवेदी जी आधुनिक और नए ज्ञान अनुशासकों के हिमायती थे। हिंदी नवजागरण में उन्होंने जो योगदान दिया, जिस तरह हिंदी की सेवा की है इतना किसी ने नहीं किया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अमरनाथ, हिंदी भाषा की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन, संस्करण 2012, पृष्ठ 216
2. रामविलास शर्मा, भारतेंदु हरिश्चंद्र और हिंदी जागरण की समस्याएँ, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1953, पृष्ठ. 148
3. शम्भुनाथ, हिंदी नवजागरण भारतेंदु और उनके बाद, वाणी

प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ. 245
4. प्रेमचंद्र, हंस पत्रिका , मई, 1993, पृष्ठ. 89
5. प्रदीप सक्सेना, 1857 और भारतीय नवजागरण, आधार प्रकाशन, पंचकूला, संस्करण 1996, पृष्ठ. 73
6. रामविलास शर्मा , महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, पहला छात्र संस्करण 2012, पृष्ठ. 120
7. महावीर प्रसाद द्विवेदी , साहित्य का महत्व (निबंध)
8. शम्भुनाथ, हिंदी नवजागरण भारतेंदु और उनके बाद, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2022, पृष्ठ. 248
9. महावीर प्रसाद द्विवेदी , संपत्तिशास्त्र, इंडियन प्रेस, प्रकाशन प्रयाग, 1908, पृष्ठ. भूमिका
10. रामविलास शर्मा , महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, पहला छात्र संस्करण 2012, पृष्ठ. 383
11. रामविलास शर्मा , महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, पहला छात्र संस्करण 2012, पृष्ठ. 163

पद्म विभूषण–गंगूबाई हंगलजी का व्यक्तित्व

डॉ. प्रीति बंसीधर इंगले (वाकपंजर)*

सारांश

गंगूबाई हंगल (1913–2009) एक महान प्रसिध्द भारतीय शास्त्रीय गायिका थीं, जिन्होंने हिंदुस्तानी संगीत में अपनी अव्दितीय आवाज और गायन शैली से एक अमिट छाप छोड़ी। भारतीय शास्त्रीय संगीत के किराने घराने का गंगूबाई हंगल प्रतिनिधित्व करनेवाली और जातीय बाधाओं को पार कर संगीत क्षेत्र में अपने गायन की छाप छोडते हुये आधे से अधिक सदी तक अपना योगदान देने वाली गायिका थी। गंगूबाई हंगल की ठुमरी गायन शैली ने उन्हें ठुमरी की महान गायिका के रूप में स्थापित किया। उनकी आवाज की मधुरता और संगीत की गहराई ने उन्हें देशभर में प्रसिध्दि दिलाई। गंगूबाई हंगल और ठुमरी का नाता बहुत गहरा था। वह ठुमरी की एक महान गायिका थीं और उनकी आवाज में ठुमरी की भावनात्मकता और मधुरता भरी हुई थी।

प्रस्तावना

गंगूबाई हंगलजी ने ठुमरी, भजन जैसे अभिजात्य हिन्दुस्थानी संगीत के गायन प्रकारों में अपना प्रभुत्व दिखाया । ख्याल गायकी उनका विशेष लक्ष्य था। किराना घरानें की शास्त्रीय गायिका के रूप में उनकी ख्याति थी। अचूक स्वर लगाव तथा आवाज में धीर गंभीरता, दमदार तथा बुलंद आवाज रसिक के मन में जगह बनाती थी लेकिन इस बुलंद आवाज के पीछे ज्ञान सौंदर्य का अविष्कार बाधक थी। माधुर्य सौंदर्य का सशक्त अविष्कार उनके गायन की प्रमुख विशेषता थी। उनके गायन मे लालित्य, उच्च गुणवत्ता और कलात्मकता की उंचाई थी। गंगूबाई ने ''सोसायटी ऑफ प्रमोशन ऑफ म्युजिक फॉर यंगर जनरेशनै(च्ब्ड ।ब।ल्) संघटन के लिए युवा दर्शकों के लिए भारत भर में 300 से अधिक कार्यक्रम प्रस्तुत किया। 1924 में बेलगांव में कॉंग्रेस अधिवेशन में उनके व्दारा गाये गये गीत के लिए महात्मा गांधी जी ने उनकी प्रशंसा की थी। 1925 में उन्हें किराना घराने के गायक उस्ताद अब्दुल करीम खान के सामने गाने का मौका मिला। इस प्रस्तुत लेख में गंगूबाई जी के जन्म से लेकर प्रारंभिक जीवन, व्यक्तिगत जीवन तथा संगीत साधना, उनका करियर, उनकी गायन शैली की विशेषताएँ , उनको मिले हुये सम्मान तथा पुरस्कार उनके परिवार का सांगीतिक सम्मान तथा उनके परिवार का सांगीतिक योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

अंतर्मुख :–

1. जन्म और प्रारंभिक जीवन
2. व्यक्तिगत जीवन
3. संगीत साधना
4. संगीत मे करियर
5. पुरस्कार और सम्मान
6. गायन शैली में विशेषताएँ
7. गंगूबाई हंगल और ठुमरी की कुछ विशेषताएँ
8. परिवार का सांगीतिक योगदान
9. निधन
10. निष्कर्ष

1. जन्म और प्रारंभिक जीवन :

गंगूबाई हंगल का जन्म 5 मार्च 1913 को कर्नाटक के धारवाड़ शहर में एक देवदासी परिवार में हुआ था। उनके पिताजी चिक्कुराव नादीगर एक .षक थे और

*सहायक प्रोफेसर (संगीत विभाग), मधुकरराव पवार कला महाविद्यालय, मुर्तिजापुर, जिला–अकोला

माता अंबाबाई और उनकी दादी दोनों भी कर्नाटक शास्त्री की एक सुप्रसिध्द शास्त्रीय गायिका थी।बचपन में गंगूबाई का परिवार धारवाड के शुक्रवार पेठ में रहता था जो कि एक मूल ब्राह्मण प्रदान क्षेत्र माना जाता था। उन दिनो जाति वाद समाज में बहुत प्रबल था। उन दिनो ब्राह्मणों के घर मे जाना निषेध था, जो ब्राह्मणों के घर जाता था उन्हें कड़ी से कड़ी सजा मिलती थी।अपने जीवन का एक किस्सा गंगूबाई बताती है कि , ''मुझे याद है कि बचपन में किस प्रकार मुझे धिक्कारित होना पडा था, जब मैं एक ब्राह्मण पडोसी के बगीचे से आम तोड़ती हुई पकड़ी गयी थी। उन्हें आपत्ति इससे नहीं थी कि मैंने उनके बाग से आम तोडे बल्कि उन्हें आपत्ति इस बात से थी कि शूद्र जाति की एक लडकी ने उनके बगीचे में घुसने का दुस्साहस कैसे किया ? आश्चर्य की बात यह है कि , अब वही लोग मुझे अपने घर दावत पर बुलाते हैं। गंगूबाई हंगल ने अपनी संगीत की प्रारंभिक शिक्षा अपने घर से ही प्राप्त कर भारतीय संगीत की मूल बातें सीखी और सबसे उल्लेखनीय जो था, वह थी पारंपरिक सरगम, सोलमाइजेशन, सिलेबस का उपयोग करके गायन की तकनीक। बचपन में धारवाड में गंगूबाई ने प्रतापलाल तथा श्यामलाल से कुछ समय तक कत्थक नृत्य का शिक्षण प्राप्त किया। किशोरा–अवस्था में पहुचनेसे पहले ही अपनी माँ के साथ सार्वजनिक रूप से प्रदर्शन करना शुरू किया। 1928 में उनकी प्राथमिक स्कूली शिक्षा पूरी होने पर और हिन्दुस्तानी संगीत का आगे अध्ययन करने के लिए उनका परिवार हुबली चला गया।

गंगूबाई का संगीत के प्रति जन्मजात बड़ा लगाव था। अपने बचपन के दिनों में वह ग्रामोफोन सुनने के लिए सडक पर दौड पडती थी और उसी आवाज की नकल करने की बार बार कोशिश करती थी। अपनी बेटी में संगीत की यह प्रतिभा को देखकर ही गंगूबाई की माँ ने कर्नाटक संगीत के लगाव को दूर रख दिया और उन्होनें अपने मन में सुनिश्चित करके यह ठान लिया कि बेटी को वह संगीत कि शिक्षा एच. .ष्णाचार्य जैसे दिग्गज और किराना घराने के उस्ताद सवाई गंध र्व से सर्वश्रेष्ठ हिन्दुस्थानी शास्त्रीय संगीत सिखे।

2. व्यक्तिगत जीवन

सोलह साल की उम्रमे में ही गंगूबाई ने ब्राह्मण वकील तथा व्यवसायिक गुरू राव कोलगी से शादी कर ली। उनको दो बेटे नारायण राव और बाबू राव और एक बेटी .ष्णा थी। उनको पति गुरू राव का साथ अधिक समय तक नहीं लिखा था क्योंकि चार वर्ष बाद ही गुरूराव की मृत्यु हो गयी वे अपने पीछे गंगूबाई के साथ दो सुपुत्र और एक सुपुत्री छोड गये। अपना घर चलाने के लिए गंगूबाई को बडी कठिनाईयो से गुजरना पडा।उन्होनें इन कठिनाईयों का डटकर सामना कर अपने बच्चो को पढाया लिखाया। अपना घर चलाने के लिए और बच्चो का लालन पालन करने के लिए उनको कभी अपने गहने तो कभी घर के बर्तन भी बेचने पडे।

3. संगीत साधना

13 वर्ष के आयु में ही .ष्णाचार्य हुलगुर जो कि एक किन्नरी वीणा वादक थे, उनसे हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत का ज्ञान लेते हुए औपचारिक रूप से प्रशिक्षण लेना शुरू किया।गंगूबाई ने हलगर से एक साल में साठ रचानायें सीखी यह सबसे उल्लेखनीय था।बाद में उन्होनें अपनी संगीत की शिक्षा गुरू दत्तोपंत देसाई से अध्ययन करके बाद में गुरू सवाई गंधर्व (रामचंद्र गणेश कुंदगोडकर) से संगीत सीखा। सवाई गंधर्व का गांव हुबली के पास था लेकिन उन्होनें जब हंगल को अपना शिष्य बनाया तब उनका रहना कहीं और था, तो बीच बीच में ही हंगल ने उनसे प्रशिक्षण लिया।बाद मे गंधर्व के साथ तीन साल तक संगीत का अध्ययन कया। गंगूबाई हंगल ने अपने पूरे करियर में सवाई गंधर्व जी की शैली का तथा अधिक व्यापाक रूप से किराना घराने का अधिक बारीकी से अध्ययन करके उसका पालन किया।

गंगूबाई ने अपने गुरू सवाई गंधर्व की शिक्षा के बारे में एक बार कहा था मेरे गुरूजी ने यह सिखाया है कि जिस तरह एक कंजूस इंसान अपने पालो के साथ व्यवहार करता है तो उसी तरह तुम भी सुरों को इस्तेमाल करो..... ताकि श्रोतागण राग की हर बारीकियों का महत्व समझ सके ।संगीत के प्रति

गंगूबाई का लगाव इतना बढ गया था कि कंदगोल स्थित अपने गुरू के घर तक पहुंचने के लिए गंगूबाई 30 किलोमीटर की यात्रा ट्रेन से पूरी करके आगे पैदल ही जाती थी वहाँ उन्होनें भारत रत्न से सम्मानित पंडित भीमसेन जोशी तथा फिरोज दस्तूर के साथ संगीत की शिक्षा ली। किराना घराने की परंपरा को बरकरार रखते हुये गंगूबाई ने इस घराने और इस घराने से जुडी शैली की शुध्दता के साथ कभी भी किसी भी तरह का समझौता किए जाने के पक्ष में नहीं थी। गंगूबाई को आसावरी, भीम पलासी, तोडी, पूरिया धनाश्री, मारवा, केदार और चंद्रकौंस इन रागों की गायकी के लिए सबसे अधिक वाहवाही प्राप्त हुई।

4. संगीत मे कैरियर

गंगूबाई हंगल ने अपना संगीत कैरियर 1930 के दशक में शुरू किया। उन्होंने अपना पहला प्रदर्शन आकाशवाणी धारवाड़ में दिया। इसके बाद उन्होंने देशभर में कई संगीत समारोहों में प्रदर्शन किया । हंगलजी की प्रतिष्ठा 1930 के दशक के मध्य से बढनी शुरू हुई। शुरुवात में गंगूबाई भजन, भक्ति गीत, मराठी भाषा के गीत और ठुमरी गाये, उन्होने रिकार्डिंग करना शुरू किया। वे ऑल इंडिया रेडिओ में भी एक नियमित आवाज बन गईं और अपने समुदाय से बाहर अधिक बार प्रदर्शन भी किया। 1940 के दशक की शुरूवात करते हुये उन्होनें ऑल इंडिया रेडियो पर अपने प्रसारण और देशभर में संगीत कार्यक्रमों मे अपनी व्यस्तता के कारण वह एक हिन्दुस्थानी संगीत मे वह प्रसिध्द हस्ती बन गयी और किराना घरानें का नाम उचांई तक पहुंचाया। 1945 तक उन्होनें देशभर के अलग अलग शहरों में ख्याल, भजन तथा ठुमरी पर आधारित सार्वजनिक प्रस्तुतियां दी। इसके अलावा गंगूबाई को भारत के कई उत्सवो तथा महोत्सवो में गायन के लिए बुलाया जाता था। खास कर मुंबई के गणेश उत्सव में विशेष रूप से रूचि लेती थी। 1945 के पश्चात उन्होनें उपशास्त्रीय शैली में गाना बंद करके केवल शुध्द शास्त्रीय शैली में रागों को गाना पसंद किया और जारी रखा। साथ ही साथ वह ख्याल शास्त्रीय गीतों मे पारंगत थी। 1940 के दशक के मध्य तक हंगल ने अपना ध्यान पूरी तरह से ख्याल गायकी पर केंद्रित कर दिया था।

5.पुरस्कार और सम्मान

गंगूबाई हंगल को कई पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है –

1. संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार (1962)
2. पद्म भूषण (1971)
3. संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार (1973)
4. कालिदास सम्मान (1996)
5. संगीत नाटक अकादमी फेलोशिप (1996)
6. पद्म विभूषण (2002)
7. महाराष्ट्र सरकार का विशेष पुरस्कार (2003)

भारत सरकार तथा कर्नाटक राज्य सरकार से गंगूबाई हंगल को उनके सांगीतिक कार्य को देखकर कई सम्मान एवं पुरस्कार प्राप्त हुये। गंगुबाई को चार मानद डॉक्टरेट, 24 पुरस्कारों का समावेश, 9 बार पंत प्रधान एवं 5 बार राष्ट्रपति की ओर से गौरव प्रदान गया। पाचवी तक पढाई करनेवाली गंगूबाई जी ने संगीत की मानद प्राध्यापिका के रूप में कार्य किया । गंगुबाई को 50 से अधिक पुरस्कार प्राप्त हुए । धारवड के कर्नाटक विद्यापीठ में गंगूबाई जी ने सिनेट सदस्य के रूप में कार्य किया। भारतीय शास्त्रीय संगीत के प्रचार एवं प्रसार के लिए गंगूबाई जी ने 200 से अधिक स्कूलों तथा महाविद्यालयों में कार्यक्रम प्रस्तुत किया।1932 – 1935 के बर्षो में ग्रामोफोन इस कंपनी व्दारा '' गांधारी'' इस टोपन नाम से जो साठ से अधिक ध्वनिमुद्रिका निकाली थी वह बहुत लोकप्रिय हुई। कवि मामा वरेरकर गंगूबाई जी की आवाज में दो गीत मुद्रित किया वो थे, ''बाळाचा चाळा'' और ''आईचा कुला'' ।

कर्नाटक राज्य सरकार ने 2008 में कर्नाटक राज्य संगीत विश्व विद्यालय, म्हासुर का नाम गंगूबाई हंगल के नाम रखने का निर्णय लिया और बाद में कर्नाटक राज्य डॉ. गंगूबाई संगीत और प्रदर्शन, कला

अधिनियम, 2009 को राज्य विधि मंडळ व्दारा पारित किया। इसके बाद वर्तमान में कर्नाटक राज्य डॉ. गंगूबाई संगीत और प्रदर्शन कला, विश्वविद्यालय, म्हासुर, कर्नाटक में संचालित कियाद्य गंगूबाई हंगल पर सितंबर 2014 मे हिन्दुस्थानी संगीत के उनके योगदान को और उनके सांगीतक कार्य को याद रखने के लिए एक डाक टिकट जारी किया गया था।

6. गायन शैली की विशेषताएँ

गंगूबाई हंगल की गायन शैली की सबसे उल्लेखनीय विशेषताओं में से उनकी गायन शैली की गुणवत्ता, सुर और धुन के प्रति संवेदनशीलता एवं तकनीकी दक्षता शामिल थी। हंगल एक विशिष्ठ स्वर में गाती थी। आमतौर पर राग गाते समय राग को धीरे धीरे पेश करती थी, ताकि दर्शक हर एक सुर का आनंद ले सके और उसके महत्व को पहचान सके। उनके गायन में सोलमायजेशन सिलेबल्स का उपयोग करके इम्प्रोवाइजेशपन के त्रुटिहीन स्वर एवं अंल.त अंश भी उनके गायन मे प्रमुखता से शामिल थे।

गंगूबाई हंगल की गायन शैली में निम्नलिखित विशेषताएँ थीं:

1. मधुर और मोहक आवाज ।
2. गहरी भावनात्मकता और भावपूर्ण गायन ।
3. ठुमरी और खयाल की विशेषज्ञता ।
4. संगीत की गहरी समझ और प्रस्तुति की अव्दितीयता ।
5. अपनी आवाज का अव्दितीय उपयोग ।

गंगूबाई हंगल ने ठुमरी को अपनी आत्मा में बसाया था और उनकी गायन

शाली में ठुमरी की विशेषताएँ स्पष्ट दिखाई देती थीं।

7. गंगूबाई हंगल और ठुमरी की कुछ विशेषताएँ

1. भावनात्मक जुड़ावः गंगूबाई हंगल की आवाज में ठुमरी की भावनात्मक अभिव्यक्ति, भावनात्मक जुडाव, तथा भावपूर्ण गायन और मधुरता भरी हुई थी ।
2. राग की गहरी समझ : गंगूबाई हंगल को ठुमरी की गहरी समझ थी और वह इसकी विशेषताओं को अपनी गायन शैली में शामिल करती थीं।
3. अनोखी गायन शैली : गंगूबाई हंगल की गायन शैली में ठुमरी की विशेषताएँ स्पष्ट दिखाई देती थीं।
4. ठुमरी की विविधताः गंगूबाई हंगल ने ठुमरी की विविधता को अपनी गायन शैली में शामिल किया था।
5. आत्मीयताः गंगूबाई हंगल की आवाज में ठुमरी की आत्मीयता और मधुरता भरी हुई थी। गंगुबाई हंगल की कुछ प्रसिद्ध ठुमरियाँः

1. ''बाबुल मोरा नहर छूटो ही जाए''
2. ''चाँदनी रात में ''
3. ''कटता टिकरी में ''
4. ''मोरे सैया जी उतरे ''
5. ''नमों में दर्शन करो''

गंगूबाई हंगल की ठुमरी गायन शैली ने उन्हें ठुमरी की महान गायिका के रूप में स्थापित किया। उनकी आवाज की मधुरता और संगीत की गहराई ने उन्हें देशभर में प्रसिध्दि दिलाई।

ठुमरी के कुछ प्रसिध्द राग जिन्हें गंगूबाई हंगल ने गाया।

1. राग काफी
2. राग यमन
3. राग भाव
4. राग पीलू
5. राग देश

8. परिवार का सांगीतिक योगदान

हंगल परिवार ने 1992 में हंगल म्युजिक फाउंडेशन की स्थापना की। गंगूबाई अपना हुबली का घर ''गंगालहरी'' का नूतनीकरन करके एक संग्रहालय बनाया और वहाँ उन्होनें गुरू का स्मारक बनवाया। इस संग्रहालय में भारत के विविध प्रांत के 120 प्रकार के शास्त्रीय एवं लोकवाद्य हैं। गंगूबाई का पोता मनोज हंगल के अथक परिश्रम से वहाँ पर यह संग्राहालय खडा हुआद्य हुबली के चार एकड़ जगह में संगीत गुरुकुल की स्थापना की गई द्य उनका शिष्य परिवार बहुत बड़ा था। इनमें नागनाथ वाडिया (हुबली), अशोक नादगीर(कुंडगोल), साईनाथ माहीते (बेलगाम), कन्या.ष्णा हंगल (हुबली), श्रीमती पटटामल (दिल्ली), और शंकुतला भरने (गोवा) इन शिष्यों ने उल्लेखनीय कार्य किए हैं।

9. निधन

गंगूबाई हंगल ने 2006 में अपने संगीतमय सफर की 75 वी वर्षगाँठ मनाते हुये अपनी अंतिम सार्वजनिक प्रस्तुति दी और 21 जुलाई 2009 को 96 वर्ष की आयु में हदय का दौरा पड़ने से वह अनंत मे विलीन हो गई। उनके निधन से संपूर्ण संगीत जगत ने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के उस युग को दूर जाते हुये देखा जिसने शुध्दता के साथ अपना सबंध बनाया था।गंगूबाई हंगल की मृत्यु के कारण कर्नाटक राज्य सरकार ने गंगूबाई हंगल जी के निधन पर दो दिन का शोक घोषित कर दिया । धारवाड जिले के जिला आयुक्त व्दारा हुबली में 22 जुलाई को अंतिम संस्कार की घोषणा की गयी ।

अतः स्पष्ट है कि गंगूबाई हंगल ने ठुमरी, भजन आदि अभिजात्य हिन्दुस्तानी संगीत के गायन प्रकारों में अपना प्रभुत्व दिखाया।ख्याल गायकी पर उनका विशेष लक्ष्य था। किराना घरानें की शास्त्रीय गायिका के रूप में ख्याति थी। गंगूबाई हंगल एक महान गायिका थीं, जिन्होंने हिंदुस्तानी संगीत को नई ऊंचाइयों पर पहुंचाया। उनकी आवाज की मधुरता और संगीत की गहराई ने उन्हें देशभर में प्रसिद्धि दिलाई। गंगूबाई जी ने अपने जीवन में कभी हार नहीं मानी। अपने जीवन में आनेवाली सामाजिक एवं आर्थिक परेशानियों का डटकर सामना किया। गंगूबाई ने कभी हार नही मानी तथा अपने संगीत के पथ पर वह हमेशा अटल

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Wikipidia-org
2. Britannica : www.britannica.com
3. '' गंगूबाई के सम्मान में दो दिवसीय राजकीय शोक'' प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया. 21 जुला0 2009
4. ''पद्म पुरस्कार.'' संचार और सूचना प्रौधोगिकी मंत्रालय (भारत)
5. ''अनुभवी भारतीय गायिका गंगूबाई हंगल का निधन'' संबधी प्रेस 21 जुलाई 2009
6. रामनारायण गौरी (29 नवंबर 1989,) मूल से 30 अगस्त 2007 को पुरालेखित।
7. सूरसंगम मे श्रद्धांजली '' गंगूबाई हंगल'' को अधिगमन तिथि 19 मार्च 2012
8. गठण के तीन साल बाद, संगीत विश्वविद्यालय ने सही दिशा पकडी, द हिन्दु ,चेन्नई, भारत, 8 मई 2011 मूल से 25 जनवरी 2013 को पुनरलिखित
9. मराठी विश्वकोश गंगूबाई हंगल 13/08/2019 – विजया वार्ड– संगीत–नृत्य
10. आपलं महानगर– www.mymahanar.com मार्च 02, 2021 मुंबई

गणित विकास की भारतीय परंपरा

डॉ० डोरी लाल*

सारांश

भारतीय ज्ञान परंपरा अतिप्राचीन है। इस ज्ञान परंपरा में आधुनिक गणित, विज्ञान, चिकित्सा, एवं प्रबंधन सहित ज्ञान के सभी क्षेत्रों के लिए अदभुत खजाना छिपा है। इस ज्ञान का अध्ययन कर एवं इसे औपचारिक शिक्षा में समाहित करके हम पुनः विश्व गुरु बन सकते हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा में "वसुधैव कुटुंबकम" (दुनिया एक परिवार है) का विचार आधार स्तम्भ है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भी प्राचीन एवं शाश्वत भारतीय ज्ञान और विचार की समृद्ध विरासत को एक मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में मान्यता देती है। यह बात स्वयंसिद्ध है कि भारतीय ज्ञान परंपरा में गणितीय गणवेषणा का उद्‌गम भारतीय उपमहाद्वीप में हुआ है। संख्या, शून्य, स्थानीय मान, अंकगणित, ज्यामिति, बीजगणित, कैलकुलस आदि का श्रीगणेश भी भारत में ही हुआ। भारतीय प्रधानमंत्री ने अपने मासिक रेडियो संबोधन 'मन की बात' के 88वें एपिसोड (24 अप्रैल 2022) के दौरान वैदिक गणित की उपादेयता पर अपने विचार प्रस्तुत किये थे । प्रस्तुत लेख इस सार्थक पृष्ठभूमि के साथ भारतीय ज्ञान परंपरा मैं गणित के विकास का वर्णन करता है। साथ ही, गणित की भारतीय परंपरा के आधुनिक शिक्षा मैं समावेशन पर सुझाव भी प्रस्तुत करता है।

प्रस्तावना

भारतीय ज्ञान प्रणाली प्रभाग, शिक्षा मंत्रालय के अंतर्गत एक नवोन्मेषी प्रकोष्ठ है, जिसके तहत गणित, विज्ञान, प्रौद्योगिकी, कला, संगीत आदि सभी विषयों में अंतर–विषयक अनुसंधान को बढ़ावा दिया जाता है। यह वेदों एवं उपनिषदों के साथ भारत की समृद्ध विरासत और पारंपरिक ज्ञान को भी केंद्र में रखता है। स्पष्ट है कि भारत मैं सीखने–सिखाने और शैक्षणिक अनुप्रयोग की एक समृद्ध परंपरा रही है। इतिहास के पन्नों को खंगाला जाय तो भारत प्राचीन काल के विश्व गुरु के रूप में दिखाई पड़ता है। प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था, व्यापार, राजनीति आदि की समृद्धि तो प्रसिद्ध थी ही, यहाँ के लोगों का ज्ञान और समझ भी इतनी व्यापक थी कि पूरब से लेकर पश्चिम तक सभी देश भारतीय ज्ञान से प्रभावित थे। अनेक विदेशी शासक और आक्रांता भारतीय साहित्य, गणित, कला, न्याय, दर्शन, स्थापत्य, मूर्तिकला, संगीत, योग, पाकशास्त्र, धातु विज्ञान, रसायनशास्त्र, खगोल, ज्योतिष, चिकित्सा और .षि आदि विविध क्षेत्रों में भारतीयों की समृद्ध एवं गौरवशाली ज्ञान परंपरा से भली–भांति परिचित थे। वे जानते थे कि इस ज्ञान के रहते भारतीयों को वास्तविक अर्थों में परतंत्र एवं परावलंबी नहीं बनाया जा सकता। इसलिए उन्होंने तमाम नीतियों एवं योजनाओं द्वारा पहले तो भारतीय ज्ञान के इन परंपरागत स्रोतों को नष्ट किया और फिर सुनियोजित तरीके से इन सबके प्रति भारतीयों में हीन भावना विकसित की। प्राचीन भारत में मानवता को सर्वोच्च माना जाता था। उनके अनुसार शिक्षा का परम लक्ष्य सांसारिक जीवन अथवा जीवन की तैयारी के रुप में ज्ञान प्राप्ति नहीं बल्कि पूर्ण आत्म–ज्ञान और मुक्ति का मार्ग है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 और स्कूली शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम रूपरेखा 2023 ने भारतीय ज्ञान परंपरा के इस पहलु को पुनः प्राप्त करने पर जोर दिया है । 21 वीं सदी की इस पीढ़ी को भारतीय ज्ञान परंपरा से जोड़ने की दिशा में शिक्षा मंत्रालय तथा यू.जी.सी. की सकारात्मक पहल इसी के अनुरूप जारी हैं। इसमें गणित के

* **सह आचार्य, शिक्षक प्रशिक्षण और अनौपचारिक शिक्षा विभाग (आई.ए.एस.ई.), शिक्षा संकाय, जामिया मिलिया इस्लामिया (केंद्रीय विश्वविद्यालय), नई दिल्ली**

साथ–साथ प्रत्येक विषय या कोर्स में अब भारतीय ज्ञान परंपरा से संबद्ध ऐसी विषय वस्तु को जोड़ा जा रहा है, जिनसे नई पीढ़ी में भारतीय होने का गौरवबोध हो, और सीखे ज्ञान के बल पर वें दुनिया में एक मौलिक एवं विशिष्ट पहचान बना सकें। ज्ञान की अन्य शाखाओं के समान ही गणितशास्त्र भी अपने मूलरूप में वैदिक संहिताओं में उपलब्ध है। विभिन्न प्रकार की संख्याओं तथा ज्यामितीय संरचनाओं, कैलकुलस, त्रिकोणमिति आदि से संबंधित ज्ञान का वर्णन इन ग्रंथों में होना गणित की उपस्थिति को सहज ही सिद्ध कर देता है। परन्तु हमें यह भी स्वीकारना होगा कि आधुनिक काल में उपलब्ध गणित का स्वरूप प्राचीनकाल के गणित से भिन्न था। इसका कारण अन्य विषयों की तरह गणित का वैदिक काल से आधुनिक काल तक के सहस्रों वर्षों के कालक्रम से गुजरना हो सकता है । विकासक्रम की इस प्रक्रिया में, गणितज्ञों ने अनेक सिद्धांतों को खोजा, विकसित किया, और प्रायोगिक उपयोग के लिए अनुकूल बनाया। इस प्रक्रिया ने सामाजिक, आर्थिक, और वैज्ञानिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया, जिससे मानव समाज का विकास सम्भव हुआ।

गणित शब्द की व्युत्पत्ति एवं महत्व

संस्कृत में गणित शब्द की व्युत्पत्ति 'गण्' धातु में 'क्त प्रत्यय के योग से निष्पादित होती है जहाँ 'गण्' धातु का सामान्य अर्थ होता है गिनना। अर्थात् कहा जा सकता है कि जिस शास्त्र में 'गणना' ही मूल कर्म है उसे 'गणितशास्त्र' कहते हैं। भारत में गिनती के लिए 'गणन' शब्द का प्रयोग होता है और इसी शब्द से भी 'गणित' की उत्पत्ति हुई हो। गणेश दैवज्ञ ने अपनी कृति बुद्धिविलासिनी में गणित को निम्नवत परिभाषित किया है– 'गण्यते संख्यायते तद्गणितम्। तत्प्रतिपादकत्वेन तत्संज्ञं शास्त्रं उच्यते'।। जिसका पर्याय है– जो परिकलन करता और गिनता है, वह गणित है। वास्तविकता में गणित ऐसी विधाओं का समूह है जो संख्याओं, मात्राओं, स्थानों, दिशाओं, परिमाणों, रूपों, गुणों, स्वभाव और उनके परस्पर सम्बंधों इत्यादि की व्याख्या एवं उपयोग करता है। गणित के महत्व को स्पष्ट करने के लिए याजुष ज्योतिषम का प्रचलित श्लोक– यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा। तद्वद् वेदांगशास्त्राणां गणितं मूर्धनि स्थितम्।। काफी हैं जिसका अर्थ हैं जैसे मोरों में शिखा और नागों में मणि सबसे ऊपर रहती है। वेदांग और शास्त्रों में गणित का ज्ञान सर्वोच्च शिखर पर माना गया है।

गणितशास्त्र की संकल्पना

एक शास्त्र के रूप में इस जगत् में गणित का उद्गम तथा विकास उतना ही प्राचीन है, जितना मानव–सभ्यता का इतिहास। प्रत्येक युग में गणित और गणितीय मनीषियों को मानव जाति में सम्मान की दृष्टि से देखा गया है। प्राचीन भारत में गणित विद्वान् के लिये संख्यावान् का प्रयोग प्रचलित हुआ। इसी के परिणाम स्वरुप ऐसे विलक्षण गणित शास्त्र का विकास हो सका जो सर्वथा अमूर्त संख्याओं से चराचर जगत् के मूर्त पदार्थों को अंकित करने का उपक्रम है। शास्त्र के रूप में गणित का प्राचीनतम प्रयोग 'लगध' ऋषि द्वारा रचित वेदांग ज्योतिष नामक ग्रंथ के एक श्लोक 'विद्वान् विपच्श्रिद् दोषज्ञः संख्यावान् पण्डितो जनः' से माना जा सकता है। वैदिक संहिताओं के साथ–साथ महान गणितज्ञ श्री महावीराचार्य ने अपनी पुस्तक 'गणितसार संग्रह' में गणित के महत्त्व को स्वीकार किया है उनका मत है कि इस शाश्वत जगत् में कोई वस्तु और गतिविधि ऐसी नहीं है, जिसके मूल में गणित न हो।

भारतीय गणितशास्त्र का ऐतिहासिक परिदृश्य

वैदिक काल से गणितशास्त्र के विकास की सतत् प्रक्रिया निरंतर गति से चल रही है। ऋग्वेद का यह मंत्र– 'द्वादशारं हि तज्जराय वर्वति चक्रं परिधामृतस्य' वैदिककाल में विभिन्न संख्याओं के प्रयोग को दर्शाता है। इसी प्रकार 'भिनद् वलस्य परिधीन इव त्रितः', मंत्र वृत की परिधि, व्यास आदि ज्यामितीय शब्दावली के वैदिक प्रयोग को पुष्ट करता है। 'शून्य', 'गणना' और 'दशमलव' जैसी

मूलभूत गणितीय खोजें भारत में हुई। शून्य और अनंत की खोज गणित की अमूल्य निधि है जिनके बिना गणित अस्तित्वहीन है। गणित और विज्ञान में शून्य और अनंत के उपयोग से इस ब्रह्मांड के कठिन से कठिन रहस्यों को जानने में सहायता मिली है। इन मूलभूत खोजों ने गणित को ऐसा आधार प्रदान किया है, जिसके आधार पर सभ्यताओं के विकास का क्रम निरंतर गति से आगे बढ़ रहा है।

आर्यभट्ट या जिन्हें आर्यभट्ट प्रथम भी कहा जाता है, पहले भारतीय गणितज्ञ और खगोलशास्त्री थे जिनका गणितीय योगदान सर्वोपरि है। गणित की सबसे पुरानी पुस्तक "कोडेक्स विजिलेन्स", जो स्पेन की राजधानी मेड्रिड के संग्रहालय में रखी है में उद्धृत है–''गणना के चिन्हों (अंकों) से हमें यह अनुभव होता है कि प्राचीन हिंदुओं की बुद्धि बड़ी तेज थी तथा अन्य देश गणना, ज्यामिति तथा अन्य विज्ञानों में भारतीयों से पीछे थे। यह उन नौ अंकों (1–9) से प्रमाणित हो जाता है, जिनकी सहायता से कोई भी संख्या लिखी जा सकती है।" इन नौ अंकों और शून्य के प्रयोग से अनंत गणनाएं करने के सामर्थ्य की चर्चा और दुनिया के वैज्ञानिक विकास में भारतीय गणितज्ञों की महत्वपूर्ण भूमिका की सराहाना, वर्तमान युग के वैज्ञानिकों एवं गणितज्ञों (जैसे – प्रो. डी. मोर्गन, प्रो. हटन, प्रो. जी. पी. हाल्स्टैंड, प्रो. गिंसबर्ग, लाप्लास तथा अल्बर्ट आईंस्टीन) ने उन्मुक्त स्वर से की है। दशगुणोत्तर, शतगुणोत्तर, कोटिगुणोत्तर आदि संख्याओं के संदर्भ विभूति भूषण दत्त और अवधेश नारायण सिंह द्वारा लिखित पुस्तक 'हिन्दू गणित शास्त्र का इतिहास' में सविस्तार दिए गए हैं। भारतीय अंकों की विश्व यात्रा का वर्णन विश्व के अनेक विद्वानों ने किया है, इनकी संक्षिप्त चर्चा पुरी के शंकराचार्य भारती . कृष्णतीर्थ जी ने अपनी गणितशास्त्र की पुस्तक ''वैदिक मैथेमेटिक्स" की प्रस्तावना में किया है। बी. बी. दत्ता के कथनानुसार, ''अरब से मिश्र तथा उत्तरी अरब होते हुए गणितीय अंक धीरे–धीरे पश्चिम में पहुंचे तथा ग्यारहवीं सदी में पूर्ण रूप से यूरोप पहुंच गए। यूरोपियों ने उन्हें अरबी अंक कहा, क्योंकि उन्हें अरब से मिले। किन्तु स्वयं अरबों ने एकमत से उन्हें हिन्दू अंक (अल–अरकान–अलहिन्द) कहा"। जैसे कि संस्कृत का एकं हिन्दी में एक हुआ, अरबी में वाहिद व ग्रीक में बदल कर 'वन' हुआ। इसी प्रकार संस्कृत में शून्य अरबी में सिफर हुआ, ग्रीक में जीफर और अंग्रेजी में जीरो हो गया। इस प्रकार भारतीय अंक विश्व के अन्य क्षेत्रो में अपनाए गए।

गणितज्ञ भास्कराचार्य ने 1150 ई. में 'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक कालजयी ग्रंथ लिखा। इस कालंजयी ग्रंथ के चार प्रमुख खंड हैं। (1) लीलावती (2) बीज गणित (3) गोलाध्याय (4) ग्रह गणित। 'सिद्धांत शिरोमणि' का प्रथम खण्ड 'लीलावती' गणित को भी आनंद के साथ मनोरंजन, जिज्ञासा आदि का सम्मिश्रण करते हुए कैसे पढ़ाया जा सकता है, दृष्टिगत करता है। लीलावती का एक उदाहरण– 'निर्मल कमलों के एक समूह के तृतीयांश, पंचमांश तथा षष्ठमांश से क्रमशः शिव, विष्णु और सूर्य की पूजा की, चतुर्थांश से पार्वती की और शेष छः कमलों से गुरु चरणों की पूजा की गई। अये, बाले लीलावती, शीघ्र बता कि उस कमल समूह में कुल कितने फूल थे?' उत्तर–120 कमल के फूल। वर्ग और घन को समझाते हुए भास्कराचार्य कहते हैं 'अये बाले, लीलावती, वर्गाकार क्षेत्र और उसका क्षेत्रफल वर्ग कहलाता है। दो समान संख्याओं का गुणन भी वर्ग कहलाता है। इसी प्रकार तीन समान संख्याओं का गुणनफल घन है और बारह कोष्ठों और समान भुजाओं वाला ठोस भी घन है। भास्कराचार्य की 'लीलावती' में यह भी बताया गया है कि किसी वृत्त में बने समचतुर्भुज, पंचभुज, षड्भुज, अष्टभुज आदि की एक भुजा उस वृत्त के व्यास के एक निश्चित अनुपात में होती है। (https://rb.gy/xnpn3)

सिद्धांत शिरोमणि' के द्वितीय खंड 'बीजगणित' में भास्कराचार्य ने शून्य और अनंत की चर्चा की है। इस खण्ड में 'बीजगणित' के अनुप्रयोगों पर विस्तृत चर्चा की गयी है। 'सिद्धांत शिरोमणि' का तृतीय

खंड गोलाध्याय है। गोलाध्याय का आधार ज्यामिति या रेखागणित है। किसी त्रिकोण के बराबर वर्ग खींचना, ऐसा वर्ग खींचना जो किसी वर्ग का द्विगुण, त्रिगुण अथवा एक तृतीयांश हो। ऐसा वृत्त बनाना, जिसका क्षेत्र उपस्थित वर्ग के क्षेत्र के बराबर हो। उपर्युक्त विधियां 'शुल्ब सूत्र' में भी बताई गई हैं। भारत में धनुष की चाप को ज्या कहते हैं। रेखागणित में इस शब्द का प्रयोग हमारे देश में ही हुआ। सिद्धांत शिरोमणि के चौथे खण्ड 'ग्रह–गणित' में किसी ग्रह की यथा गति निकालने के लिए अवकलन (डिफरेन्शिएशन) का प्रयोग किया गया है। गणित की यह शाखा केलकुलस आधुनिक विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का आधार है। वर्तमान में लाइबनिज तथा न्यूटन को केलकुलस का जनक माना जाता है। जबकि इन दोनों गणितज्ञों से पांच सौ वर्ष पूर्व भास्कराचार्य ने अवकलन गणनाओं का प्रयोग ग्रहों की गति निकालने के लिए किया था, जो गणित के क्षेत्र में प्राचीन भारतीय ज्ञान की श्रेष्ठता की पुष्टि करता है।

कल्पसूत्र ग्रंथों के अध्यायों में एक अध्याय 'शुल्ब सूत्र' का है। भारतीय परंपरा में वेदी (कर्मकांडीय अनुष्ठान के लिए एक निश्चित परिमाण की शास्त्रानुसार परिष्त भूमि) नापने की रस्सी को रज्जू अथवा शुल्ब कहते हैं। बिभूतिभूषण दत्ता की पुस्तक (1932) 'द साइंस ऑफ द शुल्वः अ स्टडी इन अर्ली इंडियन ज्योमेट्री' ने ज्यामिति को शुल्ब सूत्र के अन्तर्गत रखा है। इसी कारण ज्यामिति को शुल्ब या रज्जू गणित भी कहते है। 800 ईसा पूर्व लिखी गई शुल्ब सूत्र में विश्व में सबसे पहले 2 के वर्गमूल निकालने कि विधि का प्रयोग दिखता है– 'समस्य दिकरणी। प्रमाणं तृतीयेन वर्धयेत, तच्चतुर्थेनात्म चतुस्त्रिंशोनेन सविशेषतः'।

$$\sqrt{2} \approx 1 + \frac{1}{3} + \frac{1}{3 \cdot 4} - \frac{1}{3 \cdot 4 \cdot 34} = \frac{577}{408} \approx 1.414216.$$

बोधायन का 'बोधायन शुल्ब सूत्र' 1–12(बोधायन प्रमेय) – 'दीर्घचतुरस स्याक्ष्णया रज्जूः पार्श्वमानी तिर्यक्मानी च। यत्पृथग्भूते कुरुतस्तदुभयं करोति'।। जिसका अर्थ है, किसी आयात का कर्ण क्षेत्रफल में उतना ही होता है, जितना कि उसकी लम्बाई और चौड़ाई होती है। इस श्लोक को पढ़ते ही तुरंत समझ में आता है कि यदि किसी आयत का कर्ण ब स, लम्बाई अ ब तथा चौड़ाई अ स है तो बोधायन का प्रमेय ब स का वर्ग = अ ब का वर्ग. अ स का वर्ग बनता है।

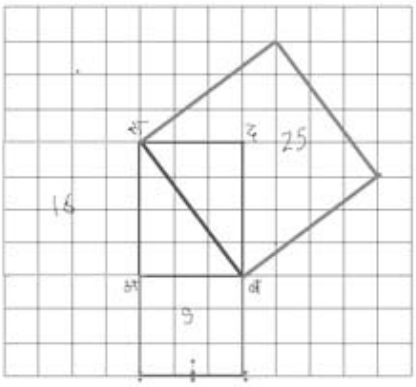

वर्तमान में इस प्रमेय को 'पाइथागोरस प्रमेय' नाम से भारतीय विद्यार्थियों को भी पढ़ाया जा रहा है, जबकि तथ्यात्मक रूप से यह सिद्ध है कि यूनानी गणितज्ञ पाइथागोरस से कम से कम एक हजार साल पहले बोधायन ने इस प्रमेय का वर्णन किया है। बोधायन ने उक्त प्रसिद्ध प्रमेय के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रमेय भी दिए हैं जैसे कि– किसी आयत का विकर्ण आयत को समद्विभाजित करता है। आयत के दो विकर्ण एक दूसरे को परस्पर समद्विभाजित करते हैं। समचतुर्भुज तथा वर्ग के विकर्ण एक दूसरे को समकोण पर विभाजित करते हैं इत्यादि। शुल्ब सूत्र में किसी त्रिकोण के क्षेत्रफल के बराबर क्षेत्रफल का वर्ग बनाना, वर्ग के क्षेत्रफल के बराबर का वृत्त बनाना, वर्ग के दोगुने, तीन गुने या एक तिहाई क्षेत्रफल के समान क्षेत्रफल का वृत्त बनाना आदि विधियां भी बताई गईं हैं।

पाई का मान बताने वाले प्रथम व्यक्ति आर्यभट्ट है। 'आईने अकबरी' के लेखक अबुल फजल अपनी इस पुस्तक में लिखते हैं कि इस तथ्य का ज्ञान भी यूनानियों को नहीं थी। इसके प्रेणता हिन्दू (भारतीय) ही थे'। आर्यभट्ट ने वृत्त की परिधि तथा उसके

व्यास के अनुपात को ध (पाई) कहा। उन्होनें ने शून्य से 900 के कोणों के मध्य विभिन्न कोणों के लिए ज्या (साइन) के मान निकाल कर उसकी सारिणी भी तैयार की। आर्यभट्ट ने ही त्रिभुज का क्षेत्रफल निकालने का सूत्र भी दिया जो इस प्रकार है– 'त्रिभुजस्य फलशरीरं समदल कोटी भुजार्धा संवर्ग' अर्थात् त्रिभुज का क्षेत्रफल उसके लम्ब तथा लम्ब के आधार वाली भुजा के आधे के गुणनफल के बराबर होता है। आर्यभट विश्व के पहले गणितज्ञ थे जिन्होंने घन निकालने के लिए भाग विधि का प्रयोग किया जिसका सूत्र है–

अघनाद भजेद द्वितीयात त्रिगुणेन घनस्य मूलवर्गेण ।
वर्ग स्त्रिपूर्व गुणितः षेाध्यः प्रथमाद धनस्य घनात् ।।

घनमूल = 327

ब्रह्मगुप्त पहले गणितज्ञ थे, जिन्होंने चक्रीय चतुर्भुज के क्षेत्रफल का सूत्र दिया था जिसकी भुजाएंः ंए इए ब और क हैंध् सूत्र था– भुजयोगार्धचितृष्टय भुजोनघातात् पदं सूक्ष्मम्।

चक्रीय चतुर्भुज का क्षेत्रफल

$= \sqrt{s\,(s-a)\,(s-b)\,(s-c)\,(s-d)}\}$;

जहाँ 2s = a+b+c+d

ब्रह्मगुप्त ने चक्रीय चतुर्भुज के विकर्णों की लंबाई ज्ञात करने का भी नियम दिया, सूत्र था– कर्णाश्रित भुजघातैक्यमुभयथा ऽन्यो ऽन्यत्र भाजितं गुणयेत। योगेन भुज प्रतिभुज वधयौः कर्णो पदे विषमे ।।

300 ईसा पूर्व लिखी गई बख्शाली पाण्डुलिपि में लिखे सूत्रों से समांतर श्रेणी के पदों, वर्ग पदों तथा घन पदों का योग निकाला जाता है (बक्षाली पोथीः सम्पादक– स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती तथा डॉ ऊषा ज्योतिष्मती–1979)। जिसे आधुनिक गणित भाषा में हम इस प्रकार लिख सकते हैं.

सैकपदध्नपदार्धमयैकाद्यकयुतिः किल संकिलताख्या ।
सा द्वियुतेन पदेन विनिघ्नी स्यात् त्रिहृता खलु संकलितैक्यम् ।।
द्विध्नपदं कुयुतं त्रिविभक्तं संकलितेन हतं .तियोगः ।
संकलितस्य .तेः सममेकाद्यंकघनैक्यमुदाहृतमाद्यैः ।।

गणितीय शब्दों में–

$$1+2+3+\text{-------}+n = \underline{n(n+1)}/2$$

$$1^2+2^2+3^2+\text{----}+n^2 = \underline{n(n+1)}\,(2n+1)/6$$

$$1^3+2^3+3^3+\text{------}+n^3 = [\underline{n(n+1)}]^2$$

बक्षाली अर्थात् बखशाली पोथी में ही वर्गमूल का सन्निकट मान निकालने की विधि का सुंदर प्रयोग मिलता है–

अकृते ष्लिश्ट .त्यूना षेशच्छेदो द्विसंगुणः ।
तदवर्ग दल संष्लिश्टः हृति षुद्धि कृति क्षयः ।।

गणितीय शब्दों में–

$$\sqrt{Q} = \sqrt{(A^2 + b)} = A + b/2A - (b/2A)^2/(2(A + b/2A))$$

जिसमे Q वो अंक है जिसका वर्गमूल निकालना है, A वो अंक है जिसका वर्ग (Square) Q के सबसे समीप है, b वो अंक है जो Q और A के वर्ग का अंतर है

हल : - $\sqrt{41} = \sqrt{36 + 5}$; यहाँ A = 6 तथा b = 5

$$(41)^{1/2} = 6 + \frac{5}{2 \times 6} - \frac{25}{144}\,(6 + 5)$$

$$= 6 + 0.41 - 0.013$$

$$= 6.397$$

शंकराचार्य भारती कृष्णतीर्थ जी ने आठ वर्ष की एकाग्र साधना से एक नवीन गणितीय पद्धति खोजी, जिसे उन्होंने अश्रुरहित (बिना आँसू) गणित कहा,

जो शुष्क, उदास और सतानेवाला नहीं अपितु सरल तथा आनंद देने वाला है। अपनी इस पद्धति को उन्होंने वैदिक गणित कहा क्योंकि इसका आधार वेद हैं। स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ जी महाराज ने वेदों के आधार पर गणितीय गणनाओं से सम्वन्धित 16 मुख्यसूत्र तथा 13 उपसूत्र दिए जिनका अभ्यास करने से कोई भी व्यक्ति अंकगणित, बीजगणित, रेखागणित, गोलीय त्रिकोणमिति, घन ज्यामिती, समाकलन, अवकलन इत्यादि से सम्बंधित गणितीय प्रश्न आसानी से हल कर सकता है। (वैदिक गणित या 'वेदों से सोलह सरल गणितीय सूत्र': सम्पादक– वी. एस. अग्रवाल, 1965) उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि वेद मात्र संहिता नहीं है, वरन् समस्त ज्ञान के स्रोत और असीमित कोष हैं। भारतीय प्रधानमंत्री ने शून्य के आविष्कार के कारण गणित के क्षेत्र में भारत के योगदान पर चर्चा की है, और अपने मासिक रेडियो संबोधन 'मन की बात' के 88वें एपिसोड के दौरान वैदिक गणित और उसके अनुप्रयोग के बारे में भी बात की।

विद्यालयी शिक्षा में समावेशन

भारतीय ज्ञान परंपरा, समावेशिता और सांस्कृतिक विरासत के लोकाचार निहित समाज में सार्थक योगदान देने के लिए आज भी प्रतिबद्ध दिखाई पड़ते हैं। जैसे–जैसे हम इसकी गहराई में जाते हैं, तो हम एक ऐसी व्यवस्थित प्रणाली देखते हैं जो पारंपरिक मूल्यों के साथ साथ अत्याधुनिक तकनीक और दूरदर्शी मानसिकता को एक साथ जोड़ने का प्रयास करती है। यह परंपरा व्यावहारिक अनुप्रयोग को प्राथमिकता देती है, करके सीखने और समस्या–समाधान कौशल को निखारने पर विशेष बल देती है। साथ ही यह अभ्यास और व्यवहार सिद्धांत के बीच की खाई को कम करती है, जिससे शिक्षार्थी पेशेवर परि.श्य की गतिशील चुनौतियों के लिए तैयार होते हैं। यह एक प्रबुद्ध मानसिकता विकसित करती है, जहां सैद्धांतिक अवधारणाओं को मूर्त अभिव्यक्ति मिलती है। रचनात्मकता और व्यावहारिक अंत.र्ष्टि के साथ वास्तविक दुनिया की समस्याओं को संबोधित करने में सक्षम शिक्षार्थियों की एक पीढ़ी को बढ़ावा मिलता है।

यदि हम गणित से सम्बंधित भारतीय ज्ञान परंपरा की विषय–वस्तु को पाठ्यक्रम का हिस्सा बनाये तो समाज निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। आज के शिक्षार्थियों को रामनुजन, पाणिनि, आर्यभट्ट, भास्करचार्य, ब्रह्मगुप्त जैसे महान भारतीय गणितज्ञों और भारतीय भाषाओं में लिखे गए उनके साहित्य और गणित के इतिहास में महत्वपूर्ण सफलताओं के बारे में पढ़ना जरूरी हो गया है । शिक्षार्थियों को गणितीय संप्रत्ययों और अपनी भाषा में उनके उपयोग के बारे में सोचने के लिए प्रोत्साहित करना, हमेशा एक अच्छा प्रयास माना जाता है। उन्हें गणितीय पहेलियों, ब्रेन टीजर, जादुई वर्ग, सुडोकू, कार्ड और शतरंज में प्रशिक्षित किया जाना चाहिए। ताकि उनकी तार्किक शक्ति और एकाग्रता में सुधार हो। गणितीय कौशल में गणितीय और तार्किक विश्लेषण और स्पष्ट रूप से उनका प्रस्तुतीकरण, उन्नत संख्यात्मक कौशल, वास्तविक दुनिया की समस्याओं को गणितीय समस्याओं में बदलना, डेटा का विश्लेषण करना, पैटर्न ढूंढना और समाधान निकालना आदि शामिल होंगे तो उनमें टीम वर्क, नेतृत्व और प्रस्तुति कौशल स्वतः विकसित हो पायेंगें । गणित सीखने का उपयोग राष्ट्र–निर्माण के लिए एक मजबूत आधार के रूप में किया जा सकता है क्योंकि बाल्यकाल से प्राप्त गणितीय कौशल ही एक राष्ट्र को वैश्विक, वैज्ञानिक और तकनीकी दिशा प्रदान करता है। एक उभरती हुई महाशक्ति के रूप में भारत की विकास गाथा में गणित निस्संदेह महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। यह विचार गणितज्ञों को उच्च स्तरीय गणितीय सिद्धांतों का अध्ययन करने और इसे अपने जीवन में उपयोग करने का एक अप्रीतम अवसर प्रदान कर सकता है।

गणित के इतिहास के महत्वपूर्ण पहलुओं, भारतीय गणितज्ञों के योगदान और उनकी जीवनी पर आधारित पौराणिक किस्से कहानियों को सरल रूप से समझने के लिए विशेष तकनीकी सहायक उपकरणों का उपयोग करते हुए, चलचित्र, डॉक्यूमेंट्री,

कार्टून्स आधारित ई– संसाधन विकसित किये जा सकते हैं। और इनके लिए समय सारणी में साप्ताहिक रूप से निश्चित दिन के कुछ कालांश निर्धारित किये जा सकते हैं। शिक्षार्थियों को गणित को सीधे रूप से जोड़कर समझने के लिए कुछ प्राचीन भारतीय गणितशास्त्र संबंधी गतिविधियां, जैसे– गणित प्रदर्शनी, मेला और विचार–विमर्श का आयोजन भी किया जा सकता है। इससे शिक्षार्थियों को भारतीय गणितशास्त्र सांदर्भिकता को समझने में मदद मिलेगी।

ज्ञातव्य हो कि भ्रमण अधिगम का एक प्रभावशाली स्रोत है। गणित विषय से सम्बंधित कुछ महत्वपूर्ण स्थानों को चयनित कर शिक्षार्थियों को गणितीय पर्यटन पर ले जाया जा सकता है। जंतर–मंतर, राम मंदिर, सूर्य घडी, बृहदेश्वर मंदिर, कोणार्क के मंदिर, खजुराहो मंदिर और एलोरा गुफाएं जैसे भारतीय स्मारक गणित से गहरे संबंध को दर्शाते हैं इसलिए वहाँ जाना सार्थक हो सकता है। (https://shorturl.at/aejrJ) इनके निर्माण की वास्तुकला में, गणना, संख्या पद्धति, समरूपता, ज्यामिति, त्रिकोणमिति और कैलकुलस आदि गणितीय सिद्धांतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। एलोरा की गुफाओं की मूर्तियां जटिल गणितीय सिद्धांतों को भी प्रदर्शित करती हैं। कोणार्क सूर्य मंदिर का डिजाइन उन्नत गणित की अवधारणाओं का सार्थक प्रयोग है, जिसमें इसकी रथ–आकारी संरचना में सटीकता से नक्काशी किए गए पहिये, प्रांगण आदि शामिल हैं। प्राचीन हिंदू मंदिर, किले, स्तूप, स्तंभ इत्यादि मे प्रमुख गणितीय अवधारणाएँ जैसे– पैटर्न, फ्रक्टल, ज्यामितीय आकृतियाँ, सममिति, समरूपता इत्यादि का समागम देखने को मिलता है।

गणित हितधारकों के लिए लेख की उपादेयता

अन्य विषयों के समान ही भारतीय गणितीय परंपरा, गणित हितधारकों के लिए एक मूल्यवान अवसर प्रदान करती है। इसमें प्राचीन एवं समृद्ध गणित, तार्किकता, और अन्य गणितीय सिद्धांतों का अध्ययन देखने को मिलता है। प्रस्तुत लेख गणित के सभी हितधारकों को भारतीयता की भावना के साथ जोड़ने में सहायक हो सकता है। वे भारतीय ग्रंथों में उपलब्ध ज्ञान और उनके अनुप्रयोग से परिचित होंगे। लेख से ब्रह्मगुप्त, आर्यभट्ट, भास्कराचार्य, रामानुजन आदि गणितज्ञों की उपलब्धियाँ, उनके जीवनवृत्त, बखशाली पाण्डुलिपि, वैदिक गणित, शुल्बसूत्र, वैदिक संदर्भ एवं इतिहास आदि की जानकारी उपलब्ध हो सकती है। गणित के अध्यापक यदि भारतीय गणितीय परंपरा से अवगत होंगे तो वे शिक्षार्थियों को इनसे सम्बंधित लिखित परियोजनाएँ, वक्र स्कैच या आलेखन आदि के रूप में दे कर उन्हें भारतीयता की भावना से जोड़ सकते हैं। यदि आवश्यक हो तो शिक्षकों को भारतीय ज्ञान परंपरा के सिद्धांतों और इससे संबन्धित गणित के प्रमुख अंशों का प्रशिक्षण भी प्रदान किया जा सकता है। गणित विकास की भारतीय परंपरा का यह विचार गणितजनों को भारतीय गणितीय सिद्धांतों का अध्ययन करने, समझ विकसित करने और इन्हें अपने जीवन में उपयोग करने का एक सुलभ अवसर प्रदान कर सकता है।

निष्कर्ष

भारतीय ज्ञान परंपरा का मार्ग आज भी इतना सार्थक, सटीक एवं विश्वसनीय है कि इसका ज्ञान विश्व कल्याण में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी व्यापक ज्ञान प्रणाली को पुनः प्राप्त करें और विश्व पटल पर गणितीय अनुप्रयोग का 'भारतीय तरीका' प्रदर्शित करें। इसके लिए वर्तमान युवा पीढ़ी को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता है जो विश्व को हमारी इस महान सभ्यता, संस्ति एवं अद्वितीय जीवन शैली को अपनाते हुए इस विषय में ज्ञान प्रदान कर उदाहरण प्रस्तुत कर सकें। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यक्रम रूपरेखा 2023 भी प्राचीन एवं शाश्वत भारतीय ज्ञान और विचार की इस समृद्ध विरासत को एक मार्गदर्शक सिद्धांत के रूप में मान्यता देती है। भारतीय ज्ञान परंपरा में गणित, विज्ञान, ज्योतिष, खगोलशास्त्र और दर्शन इत्यादि

शामिल हैं जो अनुभव, अवलोकन, प्रयोग, अनुप्रयोग और जटिल विश्लेषण से विकसित हुए हैं। भारतीय गणितीय सिद्धांतों का अध्ययन शिक्षार्थियों में गणितीय तथा तार्किक सोच को विकसित कर सकते हैं। इस परंपरा के उपयोग से शिक्षार्थी, शिक्षक एवं गणितज्ञ गणित की समस्याओं का नया किन्तु मूलभूत हल निकालने की कला में निपुण हो सकते है, और वे अपने–अपने कार्यक्षेत्र में नए आयाम स्थापित कर सकते हैं। इस अर्थ में, 'भारत का ज्ञान' मानव जीवन, उसकी सफलताएँ और चुनौतियों के सभी पक्षों से संबंधित होने के साथ–साथ भविष्य की आकांक्षाओं से पूर्ण होगा।

संदर्भ सूची

1. अग्रवाल, वी. एस. (सम्पादक) 1965. वैदिक गणित या 'वेदों से सोलह सरल गणितीय सूत्र' द्वारा स्वामी भारती कृष्ण तीर्थ जी महाराज ।
2. आर्यभटीयम् (परमेश्वर कृत संस्त टीका तथा उदयनारायण सिंह द्वारा कृत हिन्दी अनुवाद–1906) सहित. आर्यभट गणितपाद श्लोक 5।
3. तिवारी अभय के. 2017. बखशाली पाण्डुलिपिः भारतीय गणित का कोहिनूर. http://abhaykrt-blogspot-in/p/blog&page_25-html
4. बखशाली पाण्डुलिपि 1979. (सम्पादक– स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती तथा डॉ ऊषा ज्योतिष्मती) ।
5. बग ए.के. 1979. प्राचीन और मध्यकालीन भारत में गणित. चौखंभा ओरिएंटलिया, वाराणसी और दिल्ली।
6. बिभूतिभूषण दत्ता 1932. द साइंस ऑफ द शुल्वः अ स्टडी इन अर्ली इंडियन ज्योमेट्री। यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता ।
7. ब्रोंखोर्स्ट जे. 2001. पाणिनि एंड यूक्लिडः रेलेक्शंस ऑन इंडियन ज्योमेट्री. जर्नल ऑफ इंडियन फिलॉसफी, 29(1–2), 43–80।
8. मन की बात' 88वें एपिसोड. 24 अप्रैल 2022. https://newsonair-gov-in/Mann&ki-Baat-Scripts-asp.
9. मिश्रा वि. 2013. भारतीय गणितः एक वैज्ञानिक विरासत. प्रायोगिकी भारती 3 (1),19–20 ।
10. रा.शै.अ.प्र.प. 2005. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा. नई दिल्ली ।
11. रा.शै.अ.प्र.प. 2008. गणित शिक्षण' राष्ट्रीय फोकस समूह का आधार पत्र. नई दिल्ली ।
12. रा.शै.अ.प्र.प. 2023. स्कूली शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा. नई दिल्ली।
13. शंकर आर. भारतीय समृद्ध ज्ञान परम्परा की वाहक पुस्तकें http://surl-li/muidd ।
14. शर्मा रामस्वरूप.1966. ब्रह्मगुप्त का ब्रह्मस्फुटसिद्धांत खंड–1. भारतीय खगोलीय और संस्त अनुसंधान संस्थान।
15. शुक्ला, के.एस. और सरमा, के.वी. 1976. आर्यभट्ट के आर्यभटीय. भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, नई दिल्ली।
16. सरस्वती अम्मा. 1979. प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ज्यामिति. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
17. सुरेश एस. पाइथागोरस से पहले आर्यभट्ट, न्यूटन से पहले भास्कराचार्य. ब्लॉग– भारत का वैज्ञानिक चिन्तन https://vaigyanik-bharat.blogspot-com.
18. सेन एस.एन. और बैग ए.के. 1983. शुल्ब सूत्र. भारतीय राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी, नई दिल्ली ।

उपशास्त्रीय गायन शैली : ठुमरी गायन शैली

डॉ० अपर्णा शुक्ला*

सारांश

वर्तमान में उपशास्त्रीय संगीत का प्रचलन अत्यन्त लोकप्रिय है। शास्त्रीय संगीत की प्रस्तुति के पश्चात् उपशास्त्रीय विधाओं का प्रयोग परिपाटी की भाँति प्रचलित हो गया है। ऐसा उपशास्त्रीय संगीत के सुगम, भाव प्रधान, चपल ताल प्रयोग के कारण संभव होता है। उपशास्त्रीय संगीतात्मक विधाओं की समृद्धि इतनी विपुल है कि जहाँ एक ओर शास्त्रीय संगीत के रागों, राग प्रयोगों, रागेतर प्रयोगों, छोटी–छोटी तानों एवं बहलावे का प्रयोग होता है वहीं दूसरी ओर लोकसंगीत की सरलता, सहजता, हृदयग्राही संप्रेपणता एवं रस बरबस ही मन्त्र–मुग्ध कर देते हैं।

सभी शैलियों का अपना–अपना अलग सौन्दर्य है। ठुमरी का भी अपना विशिष्ट रंग है। इसमें एक ओर सागर–सी गंभीरता है, तो दूसरी ओर सरिता–सी चंचलता व कोमलता भी है। इसीलिए यह जहाँ एक ओर संगीत के प्रकांड विद्वानों को रसानुभूत करती है, तो दूसरी ओर सामान्य श्रोताओं का भी मनोरंजन करती है। ठुमरी की बन्दिशों में प्रेम, अनुराग, हर्ष, शोक, मान, उपालंभ, आशा–निराशा इत्यादि स्थायी भावों की अभिव्यक्ति पाई जाती है। इन स्थायी भावों अथवा मनोभावों में सुख अथवा दुःख की अनुभूति अन्तर्निहित होती है। ठुमरी का विषय श्रृंगारिक होने के कारण दुःख की अनुभूति में करूणा प्रकट हो तो वह अलौकिक होता है और जब सांसारिक हो तो लौकिक हो जाता है। इस प्रेम की अभिव्यक्ति नर एवं नारी को नायक एवं नायिका मान कर की जाती है।

ठुमरी की बंदिश बहुत संक्षिप्त होती है, शब्द अधिक नहीं होते परन्तु काव्य में विविध भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता होती है। इसलिए एक ही पंक्ति को विभिन्न भावों को दर्शाने हेतु विविध स्वरसंगतियों से सजाया जाता है और कलाकार की कल्पना की क्षमता इस क्रिया में परखी जाती है। यदि विभिन्न भावों को एक ही प्रकार से अभिव्यक्त किया जाय तो एकरसता आ जाती है और ठुमरी प्रभावित नहीं कर पाती। भावाभिव्यक्ति की सांगीतिक क्रिया में स्वरक्रम ही महत्त्वपूर्ण नहीं है बल्कि कैसे स्वरों को लिया जाता है यह अधिक महत्त्वपूर्ण है नाद की तीव्रता के विविध प्रयोग भावों को उत्पन्न करने में बहुत सहायक होते हैं। इस गायन शैली को कुशलता से प्रस्तुत करने के लिए कलाकार के कंठ की मधुरता के साथ उसमें भाव अभिव्यक्त करने की क्षमता बहुत आवश्यक है। स्वर लगाव इच्छित भावानुकूल हो इसके लिए आवाज को विशेष प्रकार से तैयार करना होता है।

की–वर्ड' उपशास्त्रीय, गायन शैली, ठुमरी, राग, संगीत

उपशास्त्रीय संगीत में शास्त्रीय पक्ष (राग शुद्धता) से अधिक भाव–सौन्दर्य एवं रस माधुर्य को प्रधानता दी जाती है। इसमें पद के साहित्यिक सौन्दर्य को आधार मानकर उसके भावपक्ष पर बल दिया जाता है। इन भावों को स्पष्ट करने का माध्यम स्वर ही है। ऐसे संगीत में श्रृंगारिक भावना अधिक होती है और शैली रसीली भी होती है। इसलिए इसका गान गम्भीर राग या ताल में नहीं किया जाता। कोई–कोई इसे चंचल प्रकृति का संगीत मानते हैं और वह इसलिए कि इसमें गम्भीरता का प्रभाव नहीं होता, किन्तु इसका गान सरल नहीं है, क्योंकि इन शैलियों में स्वर लगाव की चमत्कारिता पर अधिक बल दिया जाता है। अतः इन शैलियों हेतु विशेष अभ्यास की भी आवश्यकता होती है।

मध्यकालीन में शास्त्रीय संगीत अधिकतर राजाश्रय के संरक्षण में फलिभूत हुआ। राजाश्रय के अन्तर्गत रहने वाले संगीतज्ञ राजा के दरबार में ही अपनी कला का प्रदर्शन कर पाते थे। साधारण जनता उनके कला प्रदर्शन से लाभान्वित नहीं हो पाती थी। इस कारण साधारण जनता का शास्त्रीय संगीत से सम्पर्क यदा–कदा ही रहा फलस्वरूप सर्वसाधारण का शास्त्रीय संगीत के प्रति रुझान

असिस्टेन्ट प्रोफेसर, संगीत विभाग,श्री अग्रसेन कन्या पी0जी0 कॉलेज, वाराणसी

कम रहा। शास्त्रीय संगीत की नियमबद्धता ने उसे इतना जटिल रूप दे दिया कि वह सर्वसाधारण की समझ से परे हो गया। इसी की प्रतिक्रिया स्वरूप टप्पा एवं ठुमरी नामक अर्द्धशास्त्रीय गायन शैलियों का उद्‌भव हुआ।

उपशास्त्रीय संगीत का अभिप्राय उस संगीत से है जिसमें न तो शास्त्र की कड़ी नियमबद्धता है और न ही लोक–संगीत की अत्यधिक सरलता। ठुमरी, दादरा, सादरा, टप्पा, कजरी, चैती व होरी गायन शैलियाँ उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आती हैं। उपशास्त्रीय संगीत की विधाएँ लोक संगीत से उद्‌भूत हुई हैं, जिन्हें कालान्तर में शास्त्रीय कंठ ने अपनाया। शास्त्रीय गायकों ने इन लोकधुनों में अपनी गलेबाजी और कलात्मक ज्ञान का समावेश करके इन गीत–शैलियों को सजाया सँवारा। जैसे–जैसे इन गायन शैलियों में परिष्कार होता गया वैसे–वैसे इनकी प्रस्तुति की शैली में परिवर्तन आया। इस प्रकार लोक संगीत परिष्‍त होकर सीमाबद्ध हुआ और शास्त्रीय संगीत की परिधि में आ गया। अपने उन्मुक्त एवं रसिक स्वभाव के कारण ये सभी गायन शैलियाँ शास्त्र की नियमबद्धता में पूर्णतया न आ सकीं। इनमें संगीत के लोक और शास्त्रीय दोनों रूपों का समन्वय था अतः इन्हें शास्त्रीय और लोकसंगीत के बीच की कड़ी मानते हुए उपशास्त्रीय संगीत के रूप में वर्गीकृत किया गया।

ठुमरी का विषय नायिका के अन्तर की असंख्य भाव–लहरियों का चित्रण है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए कैशिकी वृत्ति का आश्रय लेकर जब स्वर, भाषा, ताल और मार्ग का प्रयोग किया जाता है तब ठुमरी नामक गीत की सृष्टि होती है। जब वादन के द्वारा यह गीत उपरंजित होता है और अभिनय के द्वारा इसे पूर्ण करके संगीत बना दिया जाता है तब राधा .ष्ण की प्रेम लीलाओं के भाव मूर्त होकर प्रकट हो जाते हैं।

ठुमरी में मावना का अलग–अलग गायक अपने–अपने ढंग से आर कुशलता से प्रकट करते हैं। भावनिर्मिति के लिए काकू प्रयोग का बड़े मार्मिकता के साथ उपयोग किया जाता है और इसी से भावनाओं की सूक्ष्मता तथा सुकुमारता प्रकट होती है। ठुमरी में शब्द और स्वरों के माध्यम से कभी विरह कभी श्रृंगार या कभी गुस्सा या छेडछाड इत्यादि भावनायें सूचित होती हैं। इस प्रकार ठुमरी में मनुष्य की स्वाभाविक भावनाओं का आविष्कार सहज होने के कारण वह मन को छू लेता है।

ठुमरी भाव प्रदर्शन के लिए उपयुक्त माध्यम है। ठुमरी गायक अपने कला कौशल एवं गले की बारीकियों को व्यक्त करता है। नृत्य के साथ ठुमरी गायन से श्रृव्य एवं .श्य दोनों की आनन्दानुभूति होती है। ठुमरी गाने अथवा भाव–प्रदर्शन के समय कलाकार के मन में उस विषय वस्तु की कल्पना होती है जो उसकी मुख मुद्रा, हाव–भाव अथवा गाने के अन्दाज से व्यक्त होती है। स्वरों एवं शब्दों के माध्यम से ठुमरी में भावाभिनय की विशेष क्षमता का प्रदर्शन प्रस्तोता द्वारा विशेष रूप से संभव है। गायक के ये गुण श्रोता को भावमय होकर सुनने के लिए विवश कर देते हैं तथा श्रोता सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त होकर अलौकिक आनन्द की अनुभूति करता है यही ठुमरी में सौन्दर्यानुभूति की अवस्था होती है।

ठुमरी भाव प्रधान गायकी है। वैसे तो सभी प्रकार की गायन–शैलियों में कलापक्ष के साथ–साथ भावपक्ष का होना बहुत आवश्यक है, परन्तु ठुमरी गायकी में अन्य गायकियों की तुलना में भावपक्ष की प्रबलता कुछ अधिक रहती है। ठुमरी में 'मिलन' और 'विरह' को समाविष्ट करने वाला 'प्रेम', 'वात्सल्यता', कोमलता और भक्ति भाव का समावेश होता है। ठुमरी गायन में 'बोल–बनाना' अथवा संगीत के द्वारा शब्दों का भावार्थ, विविध ढंगों के बहलावों के साथ किया जाता है और यह सब होता है श्रृंगार रस के असीम क्षेत्र के कारण। राधा और .ष्ण अथवा प्रियतम और प्रियतमा की कथाओं के चारों ओर काव्य–कल्पना गुंथी रहती है।

ठुमरी शब्द की उत्पत्ति

ठुमरी शब्द मूलतः हिन्दी भाषा का ही है, तथापि यह और इससे मिलते जुलते शब्द दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित है, जैसे हिन्दी पंजाबी और गुजराती में ठुमरी, नेपाली में ठुमरी तथा ठुंग्री सिंधी में ठुमिरी, मराठी में ठुमरी तथा ठुवरी और बांग्ला में ठुंग्री।

ठुमरी के शब्दों को अलग–अलग करके यदि इसका शाब्दिक रूप से अर्थ समझा जाए तो ठुमरी तीन अलग–अलग शब्दों के संयोग से मिलकर बनी है– ठु + म + री = ठुमरी।

ठुमरी का अर्थ प्रायः ठुमकने से माना जाता है यदि नृत्य में हम देखे तो ऐसा कह सकते है कि ठुमक शब्द एक हलचल की तरह ही है जिसमें लय ताल के साथ हरकत करके कलाकार झूमते हुए मग्न हो जाता है।

श्री सुनील कुमार बोस का विचार है कि ठुम और री इन दो शब्दों के योग से ठुमरी शब्द बना है, ठुम शब्द ठुमकत चाल अर्थात राधा जी की चाल और री शब्द 'रिझावत' अर्थात भगवान कृष्ण के मन को रिझाने की ओर इंगित करता है। अतः ठुमरी शब्द में राधा के ठुमक कर चलते हुए .ष्ण के मन को रिझाने की अभिव्यंजना है।

स्वर्गीय आचार्य कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति के मतानुसार ''ठुमरी शब्द के 'ठुम' और 'री' दो अंश है। ठुम ठुमकने का घोतक है, और री अंतरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का।''

सुप्रसिद्ध गायक स्व. गिरिजाशंकर का मत है कि ''ठुमकते हुए चलना, रिझाके चलना इन दो शब्दों के मिलन से ठुमरी शब्द व्यक्त होता है।''

पंद्रहवी शताब्दी में गुजराती .ष्ण भक्त कवि नरसिंह (नरसी) मेहता लिखित रामसहस्त्रपदी के पदों में ठम, ठमके, ठमकावे इन शब्दों का प्रयोग मिलता है। उन्होने ठुमरी के भावों को लोगो के सामने प्रदर्शित किया और वही से ये प्रथा चली।

संगीत शास्त्रज्ञ ठाकुर जयदेव सिंह का कथन है, कि ठुमरी नृत्य संगीत का एक प्रकार है जिसका अभिन्न अंग है अभिनय। नृत्य के आवश्यक अंग है ताल बद्ध अंग संचालन तथा भंगिमाएं, गीत एवं अभिनय। ठुमरी संगीत का एक प्रकार है तथा इसका प्रचार–प्रसार उत्तर प्रदेश तथा बिहार में था यहीं से इसका फैलाव सारे देश में हुआ। पिछले 200 वर्षों से ठुमरी का स्वरूप नृत्य और अभिनय से संबन्धित गीत रहा है। उस गीत प्रकार का प्रचार मुख्यतः वैश्याओं, नाचने वाली लड़कियों व भांड़ों में रहा। यह परंपरा अत्यंत प्राचीन है, इस प्रकार लखनऊ के वाजिद अली शाह के जमाने में इसका उद्‌भव हुआ ऐसा मानना गलत है, उन्होने ठुमरी के प्रचार–प्रसार में योगदान दिया और इसके विकास में योगदान दिया। ठुमरी का संबंध सदा नृत्य और अभिनय से रहा है। ठुमरी बोल प्रधान गायकी है–कंठ संगीत का वह प्रकार है जिसमें शब्दों का महत्व स्वरों से अधिक है। इस गान प्रकार में भाव प्रदर्शन हेतु स्वरों का प्रयोग भिन्न–भिन्न प्रकार से किया जाता है।

ठुमरी का विकास लगभग 18 वीं शताब्दी के आरंभ में अवध के नवाबों के दरबारों में हुआ। यह समय ठुमरी के लिए बहुत ही सुनहरा अवसर था। 18 वीं सदी के अन्त एवं 19 वीं शताब्दी के आरंभ में जब अवध के नवाब व मुगल राज्य स्वतंत्र हुए तब उन्होने अपने राज्य में बहुत सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की, परन्तु अधिकार शक्ति आ जाने के कारण उस शताब्दी के अंत में उनमें विलासिता बढ़ गई, वे विलासिता का जीवन बिताने लगे, मदिरा और स्त्री, नृत्य, संगीत, शतरंज और पांसे इन्ही सब में वे अपना समय व्यतीत करने लगे ख्याल शैली से उन्हे पूरी संतुष्टि नहीं मिलती थी। तत्कालीन स्थितियों में ख्याल एक ऐसी गायन शैली थी जिसमें असीम साधना तथा लयकारिता का अधिक प्रभाव होता था, जिसके कारण ख़्याल उनके हृदय पर असरकारक नहीं बन पड़ता था, साथ ही साथ ख्याल नृत्य के साथ गाया भी नहीं जा सकता था। चूंकि नृत्य की गति के अवसर न होने के कारण इसमें किया गया नृत्य प्रभावोत्पादक नहीं हो पाता था। इन नवाबों को ऐसी गायकी चाहिए थी जो

हल्की हो और मन को शीघ्र आकर्षित कर सके और नृत्य के साथ गाई भी जा सके, संभवतः उस समय ठुमरी ही एक सर्वोत्तम शैली होगी जो इन सब आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम लगी। यह श्रृंगारपूर्ण ललित भावनाओं को प्रकट करने और नृत्य के साथ गाए जाने में अनुकूल थी। यही मुख्य कारण था कि इस दौरान ठुमरी गायकी अपने उत्कर्ष पर रही होगी और नृत्य कि बात करें तो कथक नृत्य के विशेष अंग भाव बताना को भी इसने परिपूर्णता दिलाई।

यद्यपि यह भी कहा जाए कि ठुमरी कोमल भावनाओं व श्रृंगारिकता का प्रतीक है। ध्रुपद पौरुषेय शैली है तो ख्याल पौरुषेय और नारी सुलभ दोनों, किन्तु ठुमरी को यदि स्त्री प्रधान शैली कहा जाए तो ऐसा कहना अनुपयुक्त नहीं होगा।

ठुमरी के विकास को दो भागों में बाँटा गया है–

- पंजाब अंग
- पूरब अंग

पंजाब अंग

पंजाब अंग की ठुमरी आज से लगभग अस्सी वर्ष पहले, उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे दशक से लोकप्रिय हुई थी। प्रख्यात गायक अलीबख्श खाँ ने इस शैली को लोगों के सामने लाने का प्रयास किया जो लखनऊ के प्रसिद्ध नृत्यकार स्व० महाराज बिंदादीन व कालिका प्रसाद जी के सम्पर्क में आये। पंजाब अंग की ठुमरी को इन्हीं के बेटे प्रसिद्ध गायक स्व० बड़े गुलामअली खाँ तथा उनके छोटे भाई बरकत अली खाँ से प्रसिद्धि मिली है। इस शैली के आधार स्तम्भ माने जाने वाले उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ पटियाला घराने के प्रसिद्ध गायक रहे हैं। उनका कहना है कि, 'पंजाब अंग' की ठुमरी कभी भी भिन्न या पूरब अंग से अलग नहीं है। वह तो एक ही अंग है 'पूरब'। पूरब अंग की ठुमरी को अपने पंजाब शैली में प्रस्तुत करते हैं और इसे पंजाब अंग की ठुमरी से जाना जाने लगा।

उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ और बरकतअली खाँ ने अपनी कल्पनाशक्ति के अनुसार पंजाब की लोकधुनों और वैचित्र्यपूर्ण ढंग से स्वरों की गायकी में प्रविष्ट किया और अपनी प्रतिभा से उस गायकी में चार चाँद लगा दिये, चमकृति पैदा की गई। बोलबांट की ठुमरी और बोलबनाव की ठुमरी के काव्य में उसकी गीत–रचना में स्पष्ट रूप से भेद नजर आता है। परन्तु पूरब अंग की ठुमरी और पंजाब अंग की ठुमरी की गीत–रचना में कोई फर्क नहीं है। पर स्वरों के लगाव, छोटी–छोटी मुरकियों से उसमें भिन्नता मालूम पड़ती है। पूरब अंग की ठुमरी पंजाब अंग की ठुमरी की भाषा में तो समानता है ही, ब्रज भाषा, भोजपुर, अवधी इन्हीं बोली में बोलबनाव की ठुमरी गाते हैं और दादरा गीतों की रचना में पंजाब की हीर, महिया, टप्पा, मुलतानी, सिंधी, काफी, पहाड़ी आदि के लोकगीतों का समावेश होता है और उसे विशिष्ट प्रकार से गाते हैं। एक ही ठुमरी को गाते समय सिर्फ स्वरों के लगाव और गायकी के बर्ताव से पूरब अंग की ठुमरी या पंजाब अंग की ठुमरी दिखाई जा सकती है। पंजाब अंग की ठुमरी की विशेषताओं में कण, मुर्की, खटका, स्वर वैचिर्ष्य, टप्पा शैली की छोटी–छोटी खटकेदार तानों को व्यवहार में लाना इन सबका समावेश है।

पूरब अंग

उत्तर प्रदेश और बिहार में बोल–बनाव की ठुमरी का प्रचार बहुत ज्यादा होने की वजह से इसे 'पूरब अंग' या पूरबी ठुमरी कहा जाता है। पूरब अंग की बोलबनाव ठुमरी गाने का अंदाज सरल होते हुए बढ़त या विस्तार क्रम से हुआ करता है। जिस तरह से बंदिश का चलन रहता है, उसी प्रकार उसके बोल बनाव तथा मुख्य राग और उसके सौंदर्य को ध्यान में रखते हुए गाया जाता है। ठुमरी के मुख्य राग के साथ दूसरे रागों का भी मिश्रण खुबसूरती से हुआ करता है, जिसमे कलाकार का कला कौशल दिखाई देता है।

बोलबनाव की ठुमरी में 'माझ' या 'जिला' का प्रयोग विशेषरूप से होता है। ठुमरी पूरी गायकी के श्रृंगार के साथ गायी जाती है, जैसे मींड, खटका, जमजमा, गिटकरी मुर्की, कण, पुकार और चौनदारी ये सब इसके भाव को अभिव्यक्त करती है। ये सभी

विशेषताएँ पूरब अंग की ठुमरी में पाई जाती है। सुरीलेपन और बोलों के लगाव के लिए प्रसिद्ध है। पूरब अंग की ठुमरी मुख्य दो पद्धति से गायी जाती है–

- लखनवी शैली
- बनारस शैली

लखनवी शैली

लखनऊ के आस–पास के गाँवों में प्रचलित होने के कारण इसे लखनवी शैली की ठुमरी कहा गया है। इन ठुमरियों की रचना में ब्रज भाषा और आस–पास की भाषा उपयोग में लाई जाती है। लखनऊ तो खास उर्दू भाषिक प्रदेश होने की वजह से इन ठुमरियों में उर्दू शब्दों का प्रयोग भी बहुत होता है।

लखनऊ में बोलबनाव ठुमरी गायकी के एक विशेष प्रकार के ढंग का प्रसार हुआ। इन ठुमरियों में संगीत का कौशल तो है ही, साथ में बोलबनाव भी खूबसूरती से किया जाता है। लखनऊ क्षेत्र में टप्पा और ठुमरी इन दोनों गायकी का बहुत प्रचार होने के कारण यहाँ की ठुमरी पर इसकी झलक दिखाई देती है। लखनऊ उर्दू का खास क्षेत्र होने की वजह से यहाँ गाई जाने वाली ठुमरियों पर उर्दू का असर है, कुछ ठुमरियों में बीच–बीच में उर्दू शेर कहने का रिवाज भी है।

बोलबांट की ठुमरी

बोलबांट की ठुमरी को बंदिश की ठुमरी के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार की ठुमरी प्रायः लखनऊ के पश्चिम क्षेत्र जैसे फर्रुखाबाद, रामपुर, मथुरा, बरेली, दिल्ली इत्यादि स्थानों में अधिक गाई जाती है। पश्चिम क्षेत्र की होने की वजह से इसे पछाई ठुमरी भी कहा जाता है। बोलबांट की ठुमरी में रागसंगीत की प्रधानता ज्यादा है। इनमें कुछ ठुमरियाँ मध्यलय के ख्याल, तराने और सितार की गतों और नृत्य के अधिक पास है, इनमें ध्रुवपदगान जैसे दुगुन और आड, कुआड जैसे लयकारी के प्रकार भी दिखाई देते हैं।

बोलबांट की ठुमरियों पर ब्रज, बुंदेलखण्ड, उत्तर प्रदेश में गाए जाने वाले रसिया, होली, सावन, लेद इत्यादि लोकधुनों, लोकगीतों का प्रभाव दिखाई देता है। उसी के साथ शास्त्रीय संगीत के घराने वाले गायक सितारवादक और कथक नृत्यकारों का अधिक प्रभाव मालूम होता है। इसलिए बोलबांट की ठुमरी में विविधता दिखाई देती है। इसकी मुख्य भाषा ब्रज है जिसमें भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन है। इसी के साथ स्त्री–पुरुषों के प्रेमालाप का वर्णन हमें प्राप्त होता है। उन ठुमरियों में ज्यादातर श्रृंगार, संयोग और वियोग का वर्णन हमें मिलता है। ये ठुमरियाँ चंचल होने के कारण द्रुतलय में गाई जाती है।

बनारस शैली

बोलबनाव की ठुमरी का प्रचलन विशेषकर लखनऊ और उसके पूर्वी प्रदेशों अर्थात् पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार की ओर अधिक होने के कारण कालान्तर में उसे 'पूरब अंग की ठुमरी' कहा जाने लगा।

कालान्तर में धीरे–धीरे बनारस की ओर गायी जाने वाली ठुमरी को रचनाओं व शैली पर उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों की बोलियों, लोकगीतों व लोकधुनों का बहुत प्रभाव पड़ा। अतएव आगे चलकर बनारस में बोलबनाव की ठुमरी गायन के इस प्रकार के स्वरूप का विकास हुआ। बनारस और उसके आस–पास के क्षेत्र में यह शैली प्रचलित है जिसमें ब्रजभाषा और अवधी भाषा का योगदान है और गायकी शहद जैसी मधुर है। यह ब्रजभाषा के साथ–साथ भोजपुरी, मगही, पूर्वी बोलियों से प्रभावित है। इस शैली पर चौती, कजरी, पूरबी, झूमर इन लोकगीतों का प्रभाव है। यह बनारस शैली सादगी भरी होने के बावजूद बोलबनाव के भावपक्ष से अधिक प्रभावित है। बोलों का बनाव काव्य के बोलों में निहित भावों के अनुसार, एकदम सरल होता है। बोलों का अभिव्यक्त करते हुए दर्द, हुक का प्रयोग विशेषरूप से किया जाता है। इसीलिए बनारसी शैली की ठुमरी को बोलबनाव की ठुमरी कहते हैं,

यह बनारसी शैली की विशेष पहचान है जिसे समझाना अतिआवश्यक है।

बोलबनाव की ठुमरी

बोलबनाव की ठुमरी में गायकी को अधिक महत्व दिया जाता है। इसलिए इसे गायकी प्रधान ठुमरी कहते हैं। भावपूर्ण गायकी से ओतप्रोत यह शैली गीत के बोलों में निहित भाव को प्रदर्शित करती है। लोकधुनों और लोकगीतों से प्रभावित यह शैली गाढ़ा संवाद रखने वाले रागों में ज्यादातर गाई जाती है। जैसे– गारा, झिंझोटी, तिलककामोद, मांड, देस, काफी, तिलंग, सिंदूरा, पीलू, भैरवी इन रागों में ठुमरियों गाने का चलन है।

संदर्भ सूची

1. डॉ0 सहगल सुधा एवं डॉ0 मुक्ता. (2007). बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत. नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, पृ0 3
2. बृहस्पति आचार्य कैलाशचन्द्र देव. (1965). ठुमरी में सनातन सांगीतिक तत्व, कला भारती ठुमरी सम्मेलन पत्रिकाः प्रयागराजः हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पृ 1
3. तिवारी विदुषी, (2014). भारतीय संगीत में ठुमरी एक विश्लेषण. निवाई राजस्थानः नवजीवन पब्लिकेशन, पृ0 14
4. पोहनकर अंजली, (2009). सफर ठुमरी गायकी का. नई दिल्ली : कनिष्क पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर, पृ0 12
5. डॉ0 सहगल सुधा एवं डॉ0 मुक्ता. (2007). बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत. नई दिल्ली : राधा पब्लिकेशन्स, पृ0 4
6. लीला कारवाल, (2015). ठुमरी परिचय. इलाहाबादः संगीत सदन प्रकाशन, पृ0 5

कार्य संतोष पर शिक्षकों के स्वबोध का प्रभाव

प्रशांत भास्कर*

भूमिका :– मनोसामाजिक संदर्भ में नियमित व नियुक्त शिक्षक में कार्य संतुष्टि किस रूप में पायी जाती है, इसे देखने का एक सफल प्रयास किया गया हैं। शिक्षक अपने शिक्षण कार्य के आधार पर पारिश्रमिक के रूप में वेतन प्राप्त करते हैं, क्या वे जो उन्हें मिलता है उससे वे पूर्ण संतुष्ट होते है या नहीं, इसका अध्ययन किया जा रहा हैं।

कार्य संतोष कार्य से प्राप्त होने वाली एक संवेगात्मक अनुभूति हैं जो यह इंगित करती हैं कि व्यक्ति अपने कार्य से कितना संतुष्ट या असंतुष्ट है। यह एक मानसिक अनुभूति है जो उस व्यक्ति के आगे की कार्य शैली को निर्धारित करती हैं। आज जिस तरह से शिक्षक, शिक्षकेत्तर कर्मचारी, व्यावसायिक निर्देशन, निर्वाचन प्रशिक्षण स्थापना, पदोन्नति, स्थानान्तरण वर्गीकरण इत्यादि के निर्धारण में उनके व्यक्तिक विभिन्नताओं को भी ध्यान में रखा जाता हैं। उसी तरह से जो व्यक्ति जिस कार्य से संबंधित है उससे प्राप्त होने वाली संवेदात्मक अनुभूति को ध्यान में रखना आवश्यक प्रतीत होने लगा है। इसका दूरगामी प्रभाव देखा जा सकता हैं। हेनडरिक्टस 1977, सिम्बस्टि एवं जॉन 1976, पेस्टोलॉजी 1979, स्पेन्सर डेनियल एवं रिचार्ड 1981, बर्गर और ओलसन 1983 तथा राजेन्द्रन 1987 के द्वारा किये गये अध्ययन इस दिशा में काफी महत्वपूर्ण हैं।

आज इस वैज्ञानिक युग में मनोविज्ञान एवं शिक्षाशास्त्र अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है, अधिकांश कार्य क्षेत्रों में प्रबन्धको की दशा एवं दिशा वैसे ही दकियानुसी बनी हुई हैं। कर्मचारी भी मनुष्य होते है, उनके मन में भी भावनाएँ अंकुरित एवं प्रसफुटित होते हैं। वह अपने परिवार, समाज देश, काम तथा नौकरी से गौरव चाहता हैं, वह आत्म सम्मान, उत्तरदायित्व और काम करने की स्वतंत्रता चाहता हैं। ये सभी तत्व मिलकर कर्मचारी हो या शिक्षक अपने कार्य से संबंधित संतोष एवं असंतोष को निर्धारित करते है।

कार्य संतोष व्यक्तित्व की संरचना पर भी निर्भर करता है। अतः यह आवश्यक हैं कि कार्य संतोष से संबंधित जो भी व्यक्तिगत तत्व हो उसके विषय में जानकारी प्राप्त की जाए, इससे भलीभांति जानकर भी अनेको संस्थानों पर भी उन तत्वों पर नियंत्रण किया जा सकता हैं, ताकि कर्मचारियों की कार्य क्षमता एवं संस्थान की प्रगतिशीलता दोनों को प्रभावित होने से रोका जा सके।

व्यक्तित्व के स्वरूप का निर्धारण एवं इसके दूरगामी प्रभावों के संबंध में प्राचीन काल से ही विवाद चला आ रहा है। इसके सैद्धान्तिक, प्रयोगात्मक पक्षों में काफी भिन्नता बनी हुई है। एक लम्बें समय से व्यक्तित्व का वैज्ञानिक स्वरूप का निर्धारण नहीं हो सका है। व्यक्तित्व का व्यावहारिक आधार तथा गत्यात्मक आधार में प्रारंभ से ही विभेद रहा है। व्यक्तित्व का व्यावहारिक पक्ष को प्रधानता देने वाले मनोवैज्ञानिकों में वाट्सन 1941 प्रमुख रूप से कार्य किये है। इनकी मान्यता थी कि निरीक्षणों के द्वारा अध्ययन युक्त प्राणी के सभी व्यवहारों का योगफल ही व्यक्तित्व है।

अल्पोर्ट 1961 ने व्यक्तित्व के स्वरूप को निर्धारित करने के लिए 50 अर्थो में व्यवहित किया और अंत में इन्होंने सर्वांगीण परिभाषा निर्धारित की जिसके आधार पर उन्होंने व्यक्ति के मनोदैहिक गुणों का गत्यात्मक संगठन माना है जो व्यक्ति के वातावरण के साथ होने वाले अपूर्व अभियोजन को निर्धारित करता है।

शोधार्थी, शिक्षा संकाय, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

व्यक्तित्व वर्त्तमान अध्ययन के अर्न्तगत मेरा संबंध व्यक्तित्व के स्वबोध के बारे में अध्ययन करना है। आईजिंक एवं गिलसन 1976 में स्वबोध की व्याख्या की हैं। उन्होंने बतलाया कि ऐसे व्यक्ति में आत्म विश्वास अधिक पाया जाता हैं उसे अपनी क्षमता एवं योग्यताओं पर अधिक विश्वास है। ऐसा व्यक्ति अपने समाज के लिए आवश्यक माना जाता हैं एवं उसे विश्वास रहता है कि वह जो कुछ भी करता हैं उसे अन्य लोग भी मान्यता देते हैं। इन गुणों का जिसमें अभाव होता हैं उन्हें अपने बारे में हीन भावना होती हैं तथा अपने किये गये कार्यो के प्रति विश्वास एवं संतोष का अभाव पाया जाता हैं।

प्रकल्पना :– स्वबोध के संदर्भ में यह प्रकल्पना की जाती हैं कि उच्च स्वबोध के नियमित शिक्षकों में निम्न स्वबोध के नियुक्त शिक्षकों की अपेक्षा कार्य संतोष अधिक अनुकूल पायी जायेगी।

शोध विधि :– सर्वेक्षण शोध प्रणाली एक व्यवहार परख विज्ञान अनुशासन की अपनी विशिष्ट प्रणाली नहीं हैं बल्कि विविध अनुशासनों में इसका व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है। विविध अनुशासनों में व्यापक रूप से प्रयुक्त होने के कारण तथा अपने व्यापक स्वरूप के कारण ही व्यवहार परक विज्ञानों में विविध प्रकार के शोध उपकरणों के रूप में इसका बड़ा महत्व है। सर्वेक्षण शोध को किसी एक अनुशासन पर अविलंबित नहीं किया जा सकता। व्यवहार परक विज्ञान के हर क्षेत्र के विशेषज्ञों द्वारा अपने अनुशासन को आवश्यकतानुसार इस को एक शोध प्रणाली के रूप में अपनाया जा सकता है।

सर्वेक्षण अनुसंधान सामाजिक, वैज्ञानिक अन्वेंषण व्यापक अध्ययन शाखा हैं, जिसके अन्तर्गत व्यापक तथा कम आकार वाले जनसंख्याओं का अध्ययन उनमें से चयनित प्रतिदर्शों के अधार पर इस आशय से किया जाता हैं कि उनमें व्याप्त सामाजिक शैक्षणिक तथा मनोवैज्ञानिक चरों के घटनाक्रमों, वितरणों तथा पारस्परिक अंतर संबंधो का ज्ञान उपलब्ध हो सके।

व्यक्तित्व के स्वबोध मापने के लिए स्वबोध प्रश्नावली प्रसाद व ठाकुर 1977 का प्रयोग किया गया हैं, इस प्रश्नावली में कुल 30 प्रश्न हैं। यह मापणी दो भागों में विभक्त हैं– प्रथम भाग अपने द्वारा किये गये निर्णय पर आधारित हैं और दूसरा भाग अपने बारे में अन्य क्या सोचते हैं, इस पर निर्भर है। दोनों ही भागों के लिए अलग–अलग निर्देश दिये गये है। प्रथम भाग में दिया गया निर्देश इस प्रकार से हैः– इस प्रश्नावली में कुछ व्क्तव्य दिये गये हैः– आप इनमें से प्रत्येक को सावधानी से पढ़े, प्रत्येंक व्क्तव्य के सामने सात बिन्दओं में आपकें लिए संभावित संकेत दिये गये है। वह संकेत पूर्णतः सही या पूर्णतः गलत तक फैला हुआ हैं। उस व्क्तव्य से संबंधित जो भी अपने बारे में आपकी समझ में उपयुक्त लगें, इस पर निशान लगा दें।

द्वितीय भाग में इस प्रकार का निर्देश दिया गया है। इस बार भी आपको वही प्रश्नावली दी जा रही है। पहली बार आपने यह समझकर उत्तर दिया था कि आप स्वयं अपने बारे में क्या सोंचते हैं? इस बार यह ध्यान में रखकर उत्तर देना है कि आपको जानने वाले आपके बारे में क्या सोंचते है? प्रत्येक वक्तव्य को पढने के बाद एक आध मिनट सोंचे कि लोगों की आपकी उस वक्तव्य के बारे में क्या राय है? उसके बाद ही उत्तर दें।

प्रश्नावली के दोनों ही भागों के 30 प्रश्नों में से 17 स्वानुभूत और 13 समाजोनुभुत प्रश्न हैं। इन प्रश्नों में से स्वानुभूत प्रश्नों के प्रति सही उत्तर के लिए सात अंक तथा पूर्णतः गलत के लिए एक अंक एवम् बीच के अक्षरों के लिए तदनुकूल अंक निर्धारित है। समाजोनुभूत प्रश्नों के अंक ठीक विपरीत दिशा में निर्धारित होते है। जैसे पूर्णतः गलत के लिए सात अंक पूर्णतः सही के लिए एक अंक एवं मध्यवर्ती उत्तरों के लिए तदनुकूल अंक निर्धारित हैं जो प्रयोज्य प्रश्नावली के दोनों ही भागों के प्रति उत्तर देता है। उसे दो प्रकार के पुर्णांक होंगे।

1. **प्रथम स्वानुभूत स्वबोध**
2. **द्वितीय समाजोनुभूत स्वबोध**

स्पष्ट हैं कि यहाँ तीन प्रकार की सम्भावनाएँ हैः–

क) स्वानुभूत प्राप्तांक समाजोनुभूत प्राप्तांको से उच्च होंगे, ऐसी अवस्था में ऐसा व्यक्ति उच्च स्वबोध या धनात्मक स्वबोध का व्यक्ति कहा जाऐगा।

ख) समाजोनुभूत प्राप्तांक, स्वानोनुभूत प्राप्तांक से उच्च होगा।

ऐसी अवस्था में ऐसा व्यक्ति निम्न स्वबोध या ऋणात्मक स्वबोध का व्यक्ति कहा जाऐगा।

ग) दोनों ही भागों के प्राप्तांको में किसी प्रकार का अंतर नहीं होगा। इस प्रकार का व्यक्ति पूर्ण अभियोजित स्वबोध का व्यक्ति माना जाएगा।

उपकरण :– स्वबोध प्रश्नावली प्रसाद एवं ठाकुर 1976 !

प्रतिदर्श :– प्रस्तुत अध्ययन नियमित एवं नियुक्त शिक्षकों के 200 प्रतिदर्श पर अध्ययन किया गया हैं प्रत्येक समूह में प्रतिदर्श की संख्या 100 रखी गयी है।

परिणामः– 100 नियमित और 100 नियुक्त शिक्षकों के प्रतिदर्श से प्राप्त स्वबोध प्रप्तांक के प्रतिदर्श से प्राप्त स्वबोध प्राप्तांक के आधार पर दो समूह का निर्धारण किया गया और दोनों समूहों को क्रमशः उच्च स्वबोध तथा निम्न स्वबोध समूह माना गया दोनों ही समूहों में प्रयोज्यों की संख्या 200–200 निर्धारित हुई। इन दोनों की समूहों के पृथक–पृथक कार्य संतोष प्राप्तांकों का प्रसार तथा वितरण सारणी संख्या 1 तथा मध्यमान प्रमाणित विचलन एवं T अनुपात का तुलनात्मक विचलन सारणी संख्या 2 में वर्णित है। इन दोनो ही समूहों का कार्य संतोष प्राप्तांको का स्पष्ट उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन के अंर्तगत वर्णित इस प्रकार है।

सारणी संख्या–I

उच्च स्वबोध समुह का कार्य संतोष प्राप्तांक	निम्न स्वबोध समूह का कार्य संतोष प्राप्तांक
मध्यमानः– 5300	मध्यमान– 46.25
प्रमाणिक विचलन–9.65	प्रमाणिक विचलन–8.45

सारणी संख्या–II

नियमित और माध्यमिक नियुक्त शिक्षकों के कार्य संतोष के मध्यमान प्रमाणिक विचलन कार्य संतोष के मध्यमान प्रमाणिक विचलन तथा T अनुपात का तुलनात्मक विश्लेषण

	मध्यमान	प्रमाणिक विचलन	मध्यमानों की प्रमाणिक त्रुटि	मध्यमानों की अंतरो की प्रमाणिक त्रुटि	T अनुपात	सार्थकतास्त
उच्च स्वबोध समूह	53.00	9.65	1.22		4.29	
उच्च स्वबोध समूह	46.25	8.45	1.05	1.64		0.1

सारणी संख्या 2 में वर्णित तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि उच्च स्वबोध समुह के कार्य संतोषों प्राप्तांकों का मध्यमान 53.00 तथा निम्न स्वबोध समुह के प्राप्तांको का मध्यमान 46.25 दोनों ही समूहों के आधार पर प्राप्त T अनुपात 4.29 प्राप्त हुआ हैं जो .01 स्तर पर सार्थक स्थापित हो रहा हैं अतः निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता हैं कि तृतीय अध्याय में वर्णित प्रथम प्रकल्पना जिसमें उच्च स्वबोध समुह में उच्च कार्य संतोष तथा निम्न स्वबोध समूह में निम्न कार्य संतोष पाये जाने की प्रक्लपना की गई थी जो प्रस्तुत प्राप्त निष्कर्ष से स्त्यापित हो रही है।

स्वबोध प्राप्तांको सम्पूर्ण प्रतिदर्श संख्या 200 तथा दोनों ही निर्धारित समूह के बीच बिन्दु द्वियक्तिक सह संबंध जाँच का प्रयोग किया गया। इस जाँच के आधार पर दोनों चरों के बीच .94 सह संबंध गुणांक प्राप्त हुआ जो .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। यह सह संबंध गुणांक दोनों ही चरो के बीच घनिष्ट संबंध को प्रदर्शित करता है।

निष्कर्षः उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर प्रथम प्रकल्पना से सबंधित प्राप्त निष्कर्ष इस प्रकार है।

(क) व्यक्तित्व के सह बोध चर का जनसंख्या में सामान्य वितरण प्राप्त होता है।।

(ख) निम्न स्वबोध के नियुक्त समूह के शिक्षकों की अपेक्षा उच्च स्वबोध के नियमित शिक्षकों में कार्य संतोष अधिक पाया गया है।

(ग) स्वबोध तथा कार्य संतोष के बीच उच्च एवं सार्थक सह संबंध भी प्रमाणित होता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

- Agrawal, U.N. (1971) Job artis faction and general adjust – meant of Indian white collar workers. Indian journal of industrial relation 6, 4, 357, 367.
- All Port (1961) Patterns and growth in Personality, New Work, Host Rin Chart and Winston.
- Anand, Usha & Sohal, T.S. 1981- Relationship between some personal Traits and Job satisfaction and Job performance of Employees, Indian Journal of Applied Psychology, Vol. 18 (1) : 11 – 15.
- Anand, Usha & Sohal T.S. (1981)- Measuring Job Satisfaction of Scientist in an ICAR Institute, Asian Journal of Psychology and education, Vol. 9(4) 13-21. Andrisani, Paul, J (1978)- Job satisfaction among working women, Signs, Vol. 3 (3) : 588 – 607.
- Armstrong, T.B. (1974) Job content and context factors related to satisfaction for different occupational levels, Journal of Applied Psychology, 55 : 57 – 65.
- Bartol, K.M. (1974) Male versus Female Leaders, the effect of leader need for Dominance on follow Satisfaction, Academy of management Journal, Vol. 17 : 225- 233.
- Ben- Porat, A. (1980) Job environment Central life Interest and Job- Satisfaction, Psychological Report, Vol. 46 (2) : 507 – 512.
- Berger, Chris, Jolson- eraig, A. & Boudreau, John, W 1983 : - Effect of unions on Job satisfaction, The Rule of work Related Values and perceived Reward, Organisational Behaviour and human performance, Vol. 32 (3) : 289 – 324.
- Blum, M.L. (1956) Industrial Psychology and its Social Foundation, Harpur, New York.
- Blum, M.L. & Naylor. J.C. (1968) – Industrial Psychology, its Theoretical and Social foundation, Herper & Row, New York.
- Bourne, Bonnie (1982) – Effects of aging on work satisfaction performance and Motivation, Aging and work, Vol. 5 (1) : 37 – 47.
- Cattel, R.B. (1946) The description and measurement of personality, Yonkers, N.Y World Book Co.
- Cattel, R.B. & Ezber H.W. (1962) Manual for Sixteen Personality factor questionnaire, Institute for Personality & Ability Testing, Champaign Illionis.
- Chernik, Doris, A. & Phelan, Joseph, G (1964) Attitudes of Women in management & job satisfaction. A study of perceived need satisfaction as a function of job level, International Journal of Social Psychiatry, Vol. 20 (1 – 2) : 94 – 98.
- Clark, D.L. (1953) The Dissatisfied Teachers: one key to teacher shortage, New York State Education, 40 – 428.
- Costello, John, M. & Lee, Sang, M. (1974) Need Fulfilment & Job Satisfaction of professionals, public personnel. Management, Vol. 3 (5) : (454 – 461)
- Drexlor, John, A. & Lindell, Michael K. (1981) Training/ Job fit and worker Satisfaction. Human Relations, Vol. 34 (10) : 907 – 915.
- Drumond Robert, J Mointire, Walter, G. & skaggs (1977) -work values and job satisfaction of young Adult Males, Journal of Employment counselling, vol. 14 (1): 23.26
- Dubey B.L. Uppal, K.K Verma, S.K and Dwivedi padma (1983)- Job satisfaction and need Hierarchy among Bank-Officers, Indian journal of clinical psychology, vol. 10(1) 133-137.
- Eysenek, H.J. (1947) dimensions of personality London. Routledge Kegan Poul Limited.
- Eysenek, H.J, and Wilson G. (1975) know your own personality, penguin Books, Harmonds worth, Middlesex England.
- Farley, Jennie (1974) men-women and work satisfaction on campus, Cornell Journal of social Relation vol. 9(1): 13-33.
- Foa, U.G. (1987) Relation of worker's expectation to satisfaction with supervisor, Personal psychology 10: 161-168.
- Fried landander, F (1965) – comparative work value system, personnel psychology, 18:1-20.

हिन्दी की महिला पत्रकारिता : अतीत और आज

डॉ.समर विजय*

सारांश

पत्रकारिता के सामाजिक दायित्व एवं महत्त्व को इस बात से भी समझा जा सकता है कि इसे आधुनिक लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में समझा और जाना जाता है। पत्रकारिता के लगभग सवा दो सौ वर्षों के इतिहास को भारत के इतने ही वर्षों की यथाकथा कहा जा सकता हैद्य स्वतन्त्रतापूर्व पत्रकारिता की गाथा भारतीय नवजागरण, स्वतंत्रता आन्दोलन और राष्ट्रीयता की गाथा है। तत्कालीन समाज की स्थितियों और घटनाओं के चित्रण के साथ–साथ इसके प्रति तत्कालीन समाज की प्रतिक्रियाओं और कार्यवाहियों की स्पष्ट झलक इस काल की पत्रकारिता में परिलक्षित होता दिखाई पड़ता है। इस युग की पत्रकारिता ने सामाजिक चेतना को मात्र उभारने ही नहीं वरन उसे परिष्कृत और परिमार्जित करने के गुरुत्तर दायित्व का निर्वहन भी किया।

कीवर्ड: महिला पत्रकारिता, बालाबोधिनी, स्त्री दर्पण, रामेश्वरी नेहरु, वामा, सुगृहिणी, श्रीमती हेमंत कुमारी देवी

भारतीय पत्रकारिता के इतिहास में हिंदी पत्रिकाओं ने अपनी प्रगतिशील चेतना और राष्ट्र निर्माण के उल्लेखनीय योगदान से अपना एक विशिष्ट स्थान हासिल किया है। बंगाल और गुजरात प्रान्तों की पत्रकारिता से प्रेरणा लेकर शुरू हुई भारतीय नवजागरण काल की हिंदी पत्रकारिता ने अपने उद्भव काल में ही समाज को जागृत करने का एक आन्दोलन सा छेड़ दियाद्य भारत की पत्रकारिता के विकास के इतिहास पर अगर हम गौर करें तो हम पाते हैं कि इसका अंकुरण ही अपने विरोधी प्रवृत्ति के रूप में हुआ था। 29 जनवरी 1780 को जेम्स आगस्टस हिकी ने "बंगाल गजट ऑर केलकटा जनरल एडवर्टाइजर' जिसे 'हिकिज गजट' भी कहा जाता था का प्रकाशन किया। इस पत्र का मुख्य काम ही कंपनी के कर्मियों की निजी जिन्दगी का भंडाफोड़ करना था। जब उसने वारेन हेस्टिंगज और उसके अधिकारियों के विरुद्ध तीखे प्रहार किए तो उसे कंपनी द्वारा खड़े किये जाने वाली कई कठिनाईयों का सामना करना पड़ा और उसके प्रसारण पर रोक लगा दी गई थी। स्वतंत्रता आंदोलनकालीन कई हिंदी पत्रिकाओं को भी इसी विरोधी प्रवृत्ति के कारण बंद कर दिया गया था और कई संपादकों को तो कालापानी की सजा तक दी गयी थी। अपने इसी संघर्षात्मक प्रवृत्ति के कारण हिंदी पत्रकारिता भी नवजागरण काल में मात्र उपदेश प्राप्ति का साधन न रह सकी अपितु बहुत जल्द ही इसने राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वतंत्रता प्राप्ति के परिप्रेक्ष्य में समाज के जागरण और सुधार के उद्देश्य से कार्य करना शुरू कर दिया था। भारतेंदु मंडल ने अपनी सामाजिक संसर्गता, रूढ़ीवाद विरोधी मानसिकता और पत्रकारिता की महत्ता को समझते हुए एक तरह से आन्दोलन छेड़ रखा था। इस युग की पत्रकारिता ने लगभग सभी विषयों पर भारत के लिए और भारत के नजरिए से कार्य किया। अछूतोद्धार, हिन्दू–मुस्लिम संबंध, राजनैतिक भागीदारी, महिला उत्थान आदि मुद्दों पर तो उदन्त मार्तण्ड, कविवचन सुधा, बालाबोधिनी, प्रजा हितैषी, हिंदी प्रदीप, ब्राह्मण, आनंद कादंबिनी आदि पत्रिकाओं ने समाजोद्धार का बिगुल ही फूंक रखा था। यही कारण है कि बीसवीं सदी (पूर्वार्ध) के भारत को अपनी परंपरा में एक सशक्त माध्यम (पत्रकारिता) और एक सशक्त आधार प्राप्त हुआ। इस युग के पत्रकारिता को अपने विरासत में राष्ट्रीय जागरण से राष्ट्र आन्दोलन की प्रेरणा मिली थी।

*अतिथि प्राध्यापक (NCWEB), दिल्ली विश्वविद्यालय

बीसवीं सदी के आरंभ में ही सरस्वती पत्रिका (1900 ई.) की शुरुआत को एक महत्वपूर्ण घटना के रूप में देखा जा सकता है। इसने आधुनिक युग की पत्रकारिता को एक नया आयाम दिया। इसकी प्रेरणा और युगीन परिस्थितियों के मांग के कारण इस युग में पत्र– पत्रिकाओं की बाढ़ सी आ गई। पत्रकारिता अब जागरण की भूमिका से स्वतंत्रता आन्दोलन के वाहक की भूमिका में आ चुकी थी। पत्रकारिता की पहुँच पाठकों तक बढ़ चुकी थी और अब यह विचार सम्प्रेषण और उद्‌बोधन का मुख्य जरिया बन चुकी थी। यही कारण है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध की पत्रकारिता में जहाँ राष्ट्रीय चेतना का विकास और अंग्रेजों से मुक्ति का प्रयास दिखाई पड़ता है तो वही यह जातीयता, संकीर्णता, सांप्रदायिकता आदि अशुद्ध विचारों की वाहक भी बनती है। कारण कि इसी के माध्यम से आपसी मतभेद भी उभर कर सामने आ रहे थेद्य अतः अगर यह कहा जाए कि इस युग की वास्तविक यथा–स्थिति के पड़ताल का माध्यम इस युग की पत्रिकाएं हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। डॉ. जगदीश्वर चतुर्वेदी ने लिखा है "हिंदी पत्रकारिता का उदय औपनिवेश विरोधी चिंतन परंपरा के गर्भ से हुआ। राष्ट्र, राष्ट्रीयता एवं जातीय अस्मिता से जुड़े प्रश्नों को पत्र– पत्रिकाओं एवं साहित्यिक कृतियों में केन्द्रीय महत्व मिलाद्य स्वतंत्रता की आकांक्षा और नए समाज की परिकल्पना को पत्रकारिता ने वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में रुपायित कियाद्य उस समय पत्रकारिता एवं साहित्य में अंतर्क्रियाएं चल रही थीं। नए जनमाध्यम के रूप में प्रेस के उदय एवं विस्तार ने तीन सबसे अहम प्रश्नों को सबसे ज्यादा तरजीह दी। ये थे राष्ट्र, राष्ट्रीयता और स्त्री से जुड़े पहलू। नए राष्ट्र और नवोदित राष्ट्रीयताओं के विकास की धुरी था स्त्री की मुक्ति एवं विकास का मार्ग।"1

यह शोध आलेख इन्हीं सरोकारों और सन्दर्भों के केंद्र में महिला पत्रकारिता की वस्तुस्थिति एवं दशा– दिशा से सम्बंधित है। स्वाभाविक है कि 19वीं सदी में नवजागरण संबंधी आंदोलनों के प्रभाव के कारण हिंदी पत्रकारिता ने महिला सरोकारों को भी समेटा। महिला पत्रकारिता अपने पहले पड़ाव पर स्त्रियों की चेतना को जागृत करने का प्रयास करते दिखाई देती है, तमाम रूढ़ियाँ जिसने स्त्रियों के शरीर और आत्मा को जकड़ रखा है उससे आजाद कराने को संघर्ष करती हुई दिखती है। गौरतलब है कि स्त्रियों का संघर्ष, संघर्ष के भीतर का संघर्ष है। पहले स्तर पर तो राष्ट्र के स्वतंत्रता के लिया संघर्ष और दूसरे स्तर पर समाज में स्वयं की आजादी के लिए संघर्ष। आधुनिक हिंदी साहित्य के युग निर्माता एवं नवजागरण के आदि पुरुषों में से एक भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके मंडल के अन्य पुरोधाओं ने मिलकर स्त्री– जागरण की प्रक्रिया शुरू कर दी थी। स्त्री शिक्षा, स्त्री स्थिति, स्त्री अधिकारों और स्त्री भूमिका के सन्दर्भ में पत्रिकाओं के माध्यम से आम जनमानस को सचेत और जागृत किया जाने लगा। नवजागरण की इस महत्त्वपूर्ण इकाई की आवश्यकता एवं इसकी उपादेयता को ध्यान में रखकर ही भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 'बालाबोधिनी' नामक पत्रिका निकाली जो महिला सरोकारों से संबंधित पहली पूर्ण पत्रिका थी। श्री जगदीश प्रसाद चतुर्वेदी के शब्दों में "1 जनवरी 1874 को स्त्रियों के लिए 'बालाबोधिनी' प्रकाशित हुई। इसके संपादक, मुद्रक तथा प्रकाशन हरिश्चंद्र चन्द्रिका के ही थे और इसमें आठ से बारह पृष्ठ तक होते थे। हिन्दी की यह पहली महिलाओं की पत्रिका तो थी ही स्वभावतः देश की अन्य भाषाओं में भी पहली महिला पत्रिका थी।"2 हिंदी की अगली महिला पत्रिका के रूप में में 'सुगृहिणी' को देखा जा सकता है, जिसकी संपादिका श्रीमती हेमंतकुमारी देवी थी। सुगृहिणी के पहले अंक में स्त्री जाति को संबोधित करते हुए कहा गया है की "हे प्यारी बहनों! द्वार खोल देखो, तुम्हारे वहाँ कौन आई? तुम लोग क्या इसे पहचानती हो? यह भी तुम्हारी एक भगिनी है। इसका नाम सुगृहिणी है। तुम्हारे दुखों को देखकर तुम्हें अज्ञानता और पराधीनता में बंद देखकर तुम्हारी बहन तुम्हारे द्वार पर आई है।"3 इस कड़ी में अगला नाम 'स्त्री दर्पण' का जुड़ता है, जो बीसवीं सदी की महत्त्वपूर्ण और कालजयी पत्रिका थी जिसने स्त्री सरोकारों के

तमाम आयामों को स्पर्श किया। इसके पश्चात् इस कड़ी में अन्य महिला केन्द्रित पत्रिकाएं भी जुड़ती चली गयीं। इसका एक कारण महात्मा गाँधी द्वारा महिलाओं को स्वतंत्रता आन्दोलन में पुरुषों के साथ मिलकर सक्रिय भूमिका निभाने का आह्वान भी था। बीसवीं शताब्दी के शुरुआती दशकों में ही राजनीतिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि लगभग सभी क्षेत्रों में महिलाओं की सशक्त मौजूदगी दिखाई पड़ने लगी थीद्य इस युग में यह धारणा विकसित हो चुकी थी कि महिला उद्धार का रास्ता राष्ट्र उद्धार के माध्यम से ही होकर गुजरता है अथवा राष्ट्र निर्माण में सक्रिय भूमिका निभाकर ही महिला स्वयं के पृथक और स्वतंत्र अस्तित्व का निर्माण कर सकती है और इसी की परिणति बीसवीं सदी के पूर्वार्ध की पत्रिकाओं में स्पष्ट परिलक्षित होती है। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध की महिला केंद्रित एवं संपादित पत्रिकाओं ने महिलाओं से सम्बंधित कमोबेश समस्त सरोकारों को स्पर्श करने का प्रयास किया है। गौरतलब है कि औपनिवेशिक भारत में महिला पत्रकारिता के तीन चरण दिखाई पड़ते हैं, पहले चरण में वे पत्रिकाएँ थीं जिनकी मूल चिंता स्त्रियों का आचरण सुधार था ताकि वे आदर्श गृहिणी बन सकें। जैसे गृहलक्ष्मी जैसी पत्रिकाएँ। दूसरे चरण की पत्रिकाएं स्त्रियों के राजनीतिक– सामाजिक हितों की चिंता, उनके बौद्धिक क्षितिज के विस्तार, लैंगिक समानता और विश्व के अन्य देशों चल रहे स्त्री आन्दोलन की परख से संबंधित थी, जैसे स्त्री दर्पण। तीसरे चरण में 'चाँद' जैसी पत्रिकाएं देखी जा सकती हैं जो सामाजिक जीवन में स्त्रियों की भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयास कर रही थीं। गरिमा श्रीवास्तव लिखती हैं–"स्वतंत्रतापूर्व प्रकाशित होने वाली ये पत्रिकाएँ स्त्रियों के आधुनिकीकरण का प्रयास कर रही थीं, वे पढ़ी– लिखी स्त्रियों को उन्मुक्त वैचारिक और रचनात्मक अभिव्यक्ति का व्यापक फलक प्रदान कर रही थीं, लेकिन इनमें उच्च और मध्य वर्ग की स्त्रियों की भागीदारी ही थी। कहीं भी ये पत्रिकाएँ हाशिए की स्त्रियों के अधिकारों और उनकी अन्तश्चेतना के विस्तार की चर्चा करती नहीं दिखतीं। पहले दौर की पत्रिकाओं में स्त्रियों के आचरण, घर–गृहस्थी की साज–संभाल, यौन शुचिता और स्त्री–शिक्षा सम्बंधित लेख छपते थे, तो दूसरे दौर यानि 'स्त्री दर्पण' सरीखी पत्रिकाओं के लेखों और संपादकीयों में स्त्रियों को स्त्रियोचित भूमिकाओं तक सीमित रखने का विरोध किया गयाद्य तीसरे दौर में 'स्त्रीधर्म' और 'चाँद' सरीखी पत्रिकाओं में स्वाधीनता आन्दोलन में स्त्रियों को भागीदारी के लिए प्रेरित किया गया और 'चाँद' में तो स्त्री को बौद्धिक चेतनासंपन्न व्यक्ति मानकर पुरुषों के समकक्ष रखकर देखने की वकालत भी की गयी। इस वजह से इन पत्रिकाओं को व्यापक आलोचना का शिकार भी होना पड़ा।"4

रामेश्वरी नेहरु, यशोदा देवी, सूरज कुमारी देवी, रूपकुमारी वांचू, शारदा कुमारी देवी, शांति देवी आदि श्रेष्ठ महिला पत्रकार इसी युग की देन हैं। अबला हितकारक, स्त्री दर्पण, स्त्री धर्म शिक्षक, आर्य महिला, गृहलक्ष्मी, कन्या सर्वस्व, मनोरमा, सहेली, महिला सुधार, महिला दर्पण, महिला महत्त्व, दीदी, शांति आदि इस युग की प्रमुख महिला पत्रिकाएं थीं। यह पत्रिकाएं मात्र महिलाओं की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्थिति एवं उनकी कामनाओं की टोह लेने के लिए ही नहीं जानी जातीं अपितु महिलाओं द्वारा तत्कालीन समाज की स्थिति, गति, दशा–दिशा और स्वतंत्रता आन्दोलन से संबंधित सभी मतभेदों पर अपनी बेबाक टिप्पणी के लिए भी जानी जाती है।

15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारतीय नेता और जनता दोनों ही राष्ट्र निर्माण का स्वप्न देख रहे थे, भारतीय पत्रकारिता भी इसका अपवाद नहीं थी। राष्ट्र निर्माण के लिए हिंदी पत्रकारिता भी अपनी सकारात्मक भूमिका के लिए स्वयं को तैयार करने में लगी थी। श्री बाबूराव विष्णुराव पराड़कर ने पत्रकारिता के दायित्वों को रेखांकित करते हुए लिखा "स्वतंत्रता होने के साथ–साथ हमारे कन्धों पर जितना भारी उत्तरदायित्व आ गया है उसे हमें न भूलना चाहिए। हमारी लेशमात्र की असावधानी का परिणाम घातक हो सकता है। हम जरा सा चूके नहीं कि सर्वनाश हमारे सम्मुख उपस्थित है।"5

स्वतंत्रता के पश्चात हिन्दी पत्रकारिता में अनेक परिवर्तन हुए। हिन्दी पत्रकारिता में महिलाओं का योगदान स्वतंत्रापूर्व तो था ही, स्वातंर्त्योत्तर भारत में भी यह सहभागिता बराबर बनी रही, परन्तु जैसे ही संपूर्ण महिलाओं के लिए निकलने वाली पत्रिकाओं की बात होती है तो ये पत्रिकाएं आजादी के बाद या तो बंद हो गयीं या गुमराह हो गयीं। आज की महिला केन्द्रित पत्रिकाओं में अच्छी गंभीर सामग्री वाली पत्रिकाओं की कमी है, और जो आरम्भ भी होती हैं, उनके जीवन की सम्भावना बहुत क्षीण होती हैं, क्योंकि उनका मुकाबला सिनेमावाली पत्रिकाओं से होने लगता है जो हर फुटपाथ, सड़क पर बिखरी हुई हैं। साप्ताहिक हिंदुस्तान, वामा, मनोरमा जैसी स्थापित पत्रिकाएं बंद हो गयीं। मनोरमा के प्रकाशन के पश्चात उत्तर प्रदेश से कोई संपूर्ण महिला पत्रिका हिंदी में प्रकाशित नहीं हो रही। सरिता, मुक्ता, गृहलक्ष्मी, गृहशोभा, वनिता, मेरी सहेली जैसी लगभग सभी पत्रिकाएं दिल्ली और मुंबई छप रही हैं, परन्तु इनके स्तम्भ उपयोगी नहीं जान पड़ते। कुछ पत्रिकाओं को छोड़कर अधिकांश पत्रिकाएँ मेरा पहला प्यार, मेरी सुहागरात, हाय मैं शर्म से मर गयी जैसे अन्तरंग व्यक्तिगत क्षणों को उजागर करने वाले स्तंभों से भरे हैं। ये पत्रिकाएं स्त्रियों के जीवन को कुछ दे पायें, इसमें संदेह है। पति को कैसे रिझाएँ, विवाहेतर प्रेम सम्बन्ध आदि परम्पराओं को बढ़ावा देती ये पत्रिकाएँ भारतीय महिलाओं को रूढ़ियों– कुरीतियों से दूर करने का खोखला दावा पेश करती हैं। महिला पत्रिकाओं का वर्तमान रूप भ्रमित करने वाला है। सही मायनों में स्त्रीत्व की लड़ाई लड़ने वाली पत्रिकाएं की संख्या इक्का–दुक्की ही हैं, जिनकी पहुँच भी समाज में सीमित महिलाओं तक ही हैं। हिंदुस्तान की पूर्व संवाददाता सरिता सिंह ने अपने एक साक्षात्कार में आज की महिला पत्रिकाओं के विषय में कहा था कि "आज की महिला पत्रिकाओं ने अपना लक्ष्य भूला दिया है, वे ये भूल चुकी हैं कि पत्रिका का लक्ष्य बाजार है या महिलाएँ। ये पत्रिकाएँ महिलाओं के लिए निकल रही हैं कि उत्पाद के लिए। पत्रकारिता सामाजिक बदलाव का एक बहुत बड़ा औजार है और यह यह बहुत जरूरी है कि उसकी क्षमता उसका दृष्टिकोण क्या है। वह इन्सान को क्या दे सकता है? लम्बे समय तक अनिश्चित निरर्थक वस्तुएँ मनुष्य को नहीं दी जा सकती।"6

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि जिस महिला पत्रकारिता का बीजवपन भारतेंदु ने किया था वह तमाम पड़ावों को पार करता हुआ यहाँ तक पहुँचा है। स्वतन्त्रता से पूर्व भारतीय समाज में महिलाओं को मनुष्योचित स्थान दिलाने को संघर्षरत महिला पत्रिकाओं ने महिलाओं के जीवन से जुड़े जितने भी आयाम हो सकते हैं सबको स्पर्श एवं उजागर करने का प्रयास किया। स्त्री– शिक्षा, विधवा विवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा, सती प्रथा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि तमाम आयामों को महिला पत्रकारिता ने अपने कलेवर में समावेशित किया। आजादी के पश्चात महिला पत्रकारिता की विषय–वस्तु में परिवर्तन अवश्य दिखता है परन्तु आज भी कुछ पत्रिकाएं ऐसी हैं, जो अपने लक्ष्य के प्रति समर्पित हैं और स्त्री मुक्ति की लड़ाई लड़ रहीं हैं।

संदर्भ सूची

1. चतुर्वेदी जगदीश्वर (डॉ.), आजादी पूर्व की हिन्दी पत्रकारिता में स्त्री विमर्श, (सं.) डॉ. श्रीनिवास शर्मा, राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष और हिन्दी पत्रकारिता, प्रथम संस्करण 1999, छपते छपते प्रकाशन, 26– ब क्रीक रो, कलकत्ता, पृष्ठ 230
2. उद्धृत, कुमार अवधेश(डॉ.), हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता, प्रथम संस्करण 2004, के.के. पब्लिकेशन्स, जहांगीरपुरी, दिल्ली, पृष्ठ 103
3. उद्धृत, शुक्ला सुधा, महिला पत्रकारिता, प्रथम संस्करण 2012, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 149
4. श्रीवास्तव गरिमा (भूमिका एवं प्रस्तुति), स्त्री दर्पण ,संस्करण 2018, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 6
5. राय रामबहादुर, हिंदी पत्रकारिताः आचार और व्यवहार, श्रीधर विजयदत्त (सं.), समकालीन हिंदी पत्रकारिता, प्रथम संस्करण 2017, सामयिक प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, पृष्ठ 24
6. शुक्ला सुधा, महिला पत्रकारिता, प्रथम संस्करण 2012, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 236

बुन्देलखण्ड में गुप्तकालीन विरासत को उद्घाटित करने वाले पुरातात्त्विक अवशेष

सत्यम दुबे* एवं गोविन्द पाण्डेय**

शोधसार

चिरंतन कालावस्था से ही हमारा राष्ट्र भारत सामाजिक – धार्मिक दृष्टि से सम्पन्न रहा है । भारतभूमि का कण कण अपनी ऐतिहासिक समृद्ध विरासत की कहानी का बखान करता है । बुन्देलखण्ड भारतवर्ष का ह्रदयस्थल है तथा देश के इस मध्य भू–भाग में लगभग समान प्रकार का सांस्कृतिक परिवेश देखने को मिलता है । बुन्देलखण्ड में प्रागैतिहासिक मानव ने अपनी आवश्यताओं के पूर्ण करने के लिए विभिन्न प्रकार के क्रिया–कलाप किये, जिनमें पाषाण उपकरणों के आविष्कार से लेकर आग की खोज, पशुपालन आदि प्रयोग थे तथा प्राचीन मानव नें प्राकृतिक शक्तियों को दैवीय शक्ति के रुप में स्वीकार किया । इन्ही सामाजिक कार्यों तथा पारलौकिक शक्तियों के प्रति मानव ने स्वयं के प्रति कोई उत्तरदायित्त्व महसूस किया और इनकी पूजा–उपासना आरम्भ की। प्राचीन काल में मानव अपनी धार्मिक क्रिया–कलापों को सम्पन्न करने के लिए किसी एक निश्चित स्थान पर सामूहिक रुप से इकठ्ठा होकर एक वेदी के समीप खड़े होकर अपने आराध्य के प्रति अपनी आस्था समर्पण यज्ञ एवं हवन के रूप में प्रकट करते थे। कालान्तर में यही पूजनीय स्थल धीर–धीरे मन्दिरों के रुप में परिवर्तित हो गये । प्रारम्भ में खुले गर्भगृह वाले मन्दिरों की स्थापना की गयी,जिन्हें एडूक मन्दिर कहा गया जिसमें मन्दिरों की संरचना सीढ़ीनुमा होती थी, कालान्तर में जिसके शीर्ष पर मध्य भाग में प्रतिमा स्थापित की जाने लगी । मन्दिर निर्माण का सर्वप्रथम उल्लेख प्राचीन भारतीय साहित्यिक ग्रन्थ शतपथ ब्राह्मण में मिलता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में मन्दिरों के लिए देवालय, देवतुल्य, देवकुल इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। सांची का दो स्तम्भों वाला मण्डपनुमा मन्दिर गुप्तकाल में निर्मित मन्दिरों के प्रथम चरण का स्वीकार किया गया है । प्रस्तुत शोध पत्र के द्वारा बुन्देलखण्ड क्षेत्र में पड़ने वाले गुप्तकालीन मन्दिर के स्थापत्य अवशेषों का अध्ययन कर वैश्विक पुरातात्त्विक फलक पर समादृत करने का प्रयास किया जायेगा । इन्हीं पुरातात्त्विक अवशेषों से हमें बुन्देलखण्ड में गुप्तकालीन शासन व्यवस्था की जानकारी प्राप्त होती है । प्रस्तुत शोध पत्र में विभिन्न पुरातात्विक स्थलों का भ्रमण एवं अध्य्यन कर सर्वेक्षण शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है। विभिन्न पुरातात्विक साक्ष्यों एवं ग्रन्थों के अध्य्यन द्वारा ऐतिहासिक शोध प्रविधि का प्रयोग करते हुए निष्पक्ष निष्कर्ष प्राप्त करने का प्रयास किया गया है ।

प्रमुख शब्द– मन्दिर स्थापत्य, गुप्तकालीन शासन व्यवस्था, अभिलेख, शिलालेख, मुद्रायें ।

परिचय

बुन्देलखण्ड का भू–क्षेत्र , भारत के मध्य भू–भाग की भांति ही लगभग समान प्रकार का सांस्कृतिक परिवेश से समृद्ध है । इस भाग के निवासियों में भाषा, कला और संस्कृति का पिरोया हुआ एक सूत्र प्रतिबिम्बित होता है । बुन्देलखण्ड का अधिकतम विस्तार स्वीकार करने वाले विद्वान प्रायः इसे उत्तर में यमुना, दक्षिण में नर्मदा, पूर्व में टोंस तथा पश्चिम में चम्बल से आवृत्त मानते हैं । यह भाग उत्तरी अक्षांश 23045′ तथा 26050′ और पूर्वी देशान्तर 77052′ तथा 820 के मध्य स्थित है। इस भू भाग का 'बुन्देलखण्ड' नाम लगभग चौदहवीं शताब्दी ई. में पड़ा । इसके पूर्व यह क्षेत्र चेदि, जुझौति, जेजाकभुक्ति, विन्ध्येलखण्ड आदि नामों से अभिहित किया जाता रहा है ।

किसी विशेष कालावधि एवं किसी क्षेत्र विशेष के प्राचीन इतिहास के अन्वेषण के आधारभूत स्रोत उस क्षेत्र विशेष में किए गये सर्वेक्षण एवं उत्खनन कार्य में प्राप्त सामग्रियों जैसे प्राचीन दुर्ग, महल, मंदिर एवं भवनों के ध्वंसावशेष, मुद्रायें, मूर्तियां, मृद्भाण्ड, ईंटें, औजार, हथियार आदि प्राप्त होते हैं । क्षेत्र में उपलब्ध स्वतंत्र रुप से प्राप्त

*प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, म.प्र.
**शोधार्थी, इतिहास विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, म.प्र.

शिलालेख, मूर्तिलेख, स्तम्भलेख, ताम्रपत्र, दानपत्र आदि भी अन्य स्रोत हैं।

बुन्देलखण्ड में गुप्तकालीन शासन के अन्वेषण में इन्हीं उपलब्ध साधनों का समावेश किया गया है । बुन्देलखण्ड के सागर जिले में (अक्षांश 24 5′ उत्तर एवं देशान्तर 78^0 10′ पूर्व) बीना एवं रेवता नदी के संगम पर, मध्य रेलवे के बामोरा स्टेशन से लगभग 10 किमी. दूर 'एरण' नामक एक प्राचीन नगर स्थित है। गुप्तकालीन इस प्राचीन स्थल में सन् 1960–61 से सन् 1964–65 तक सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के विभागाध्यक्ष सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वेत्ता प्रो. कृष्णदत्त जी बाजपेयी एवं डॉ. उदयवीर सिंह जी के निर्देशन में उत्खनन कार्य किया गया था । इसके पश्चात सन् 1983–84 से 1987–1989 तक प्रो. सुधाकर पाण्डेय एवं डॉ. विवेकदत्त झा के निर्देशन में पुनः उत्खनन कार्य सम्पन्न किया गया था। उत्खनन में प्राप्त सामग्रियों का उल्लेख एवं विवरण यथा स्थान आलेख में प्रस्तुत किया गया है ।

मुद्राएँ (सिक्के)

एरण से बड़ी मात्रा में गुप्तकालीन शासक रामगुप्त की अनेक गोलाकार ताम्र मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं । सिक्कों के पुरोभाग पर गरुड़ध्वज अंकन तथा इसके चारों ओर राम, कहीं रामगुप्त तथा कुछ मुद्राओं पर रामगुप्त अंकित प्राप्त हुआ है । सिक्कों के पृष्ठभाग पर गरुड़ अंकित है । कुछ मुद्राओं पर एकमुखी गरुड़ का अंकन तथा कुछ मुद्राओं पर त्रिमुखी गरुड़ का उत्कीर्णन प्राप्त है । कुछ मुद्राओं पर पूँछ उठाये हुए सिंह का अंकन भी प्राप्त हुआ है । एरण में सर्वेक्षण के दौरान चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की भी मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं । इन मुद्राओं के पुरोभाग पर चन्द्र लेख के साथ एक अर्द्धचन्द्र बना प्राप्त होता है तथा पृष्ठ भाग पर बैठे हुए गरुड़ के साथ नीचे की ओर ब्राह्मी लिपि में गुप्त लेख अंकित है । एरण से गुप्तकालीन एक प्रावकस्य नामक अधिकारी की मुद्रा भी प्राप्त हुई है ।1

एरण से उत्खनन के दौरान सीसे का एक अर्धवृत्ताकार टुकड़ा प्राप्त हुआ है, जिसका प्रयोग अनुमानतः तौल के लिए किया जाता था । बांट के निचले समतल भाग के मध्य आयताकार हल्के गर्त में राजा का नाम अंकित है, 'रंयों इंद्रगुप्त' संस्कृत 'राज्ञः इंद्रगुप्त' । इस आयताकार ठप्पे में लेख के अतिरिक्त चन्द्रमेरु तथा वज्र के चिन्ह भी अंकित हैं जो धूमिल हो चुके हैं ।[2] मिट्टी की एक मुहर भी प्राप्त हुई है जिस पर गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित है । यह काले रंग की छोटी गोलाकार मुहर है जिसका पृष्ठ भाग कुछ खंडित है तथा ब्राह्मी लिपि में लेख अंकित है जो इस प्रकार है 'महादंडनायक सिंहनंदि' । यह अनुमानतः सिंहनंदि पुलिस विभाग का प्रमुख अधिकारी था ।[3] सागर से गुप्त शासकों के छः सोने के सिक्के प्राप्त हुए थे जो नागपुर संग्रहालय में संग्रहित हैं ।[4]

दमोह जिले के सकोर नामक ग्राम से सन् 1914 ई. में 24 सोने के सिक्के प्राप्त हुए थे, जिनमें से कुछ पर समुद्रगुप्त का नाम, कुछ पर चन्द्रगुप्त का नाम तथा एक सिकके पर स्कन्दगुप्त का नाम अंकित था । सिक्कों की प्राप्ति से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में सकोर एक महत्वपूर्ण स्थान रहा होगा।[5] गुना जिले में स्थित सिहोरा ग्राम से गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय के सोने के सिक्के एवं तुमैन से एक चौकोर सिक्का प्राप्त हुआ है जिसपर गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में 'सत्यगुप्त' उत्कीर्ण है।[6] मध्यप्रदेश स्थित विदिशा से, जो पूर्व में बुन्देलखण्ड भू–भाग में ही शामिल था, यहाँ से रामगुप्त तथा गुप्त शासक काँच के तांबे के सिक्के प्राप्त हुए है । रामगुप्त के सिक्कों पर नन्दी का अंकन प्राप्त हुआ है।[17]

शिलालेख

समुद्रगुप्त का एरण शिलालेख – अभिलेख का अधिकांश भाग समुद्रगुप्त की प्रशस्ति के रुप में ही है । लेख में वर्तमान समय में एरण नाम से प्रसिद्ध स्थान का प्राचीन नाम 'ऐरिकिण' अंकित है । बुधगुप्त का शिलालेख एरण से ही वाराह मंदिर एवं विष्णु मंदिर के मध्य एक स्तंभ पर प्राप्त हुआ है जिसपर बुध गुप्त का 484 ई. का लेख अंकित है, इसमें वर्णन मिलता है कि बुधगुप्त का सामंत सुरश्मिचन्द्र, जमुना एवं नर्मदा नदियों के बीच के क्षेत्र में शासन करता था। यह अभिलेख बुन्देलखण्ड भू–माग में गुप्त शासन होने का ठोस प्रमाण है ।[8]

भानुगुप्त का शिलालेख दृ यह अभिलेख गुप्त संवत (510 ई.) का है जो एक छोटे स्तंभ पर अंकित था जिसे बाद में शिवलिंग के स्वरुप में बदल दिया गया । इसमें गुप्त संवत 191 श्रावण कृष्ण सप्तमी तिथि अंकित है । सती स्तम्भ में गुप्त शासक भानुगुप्त के सेनापति गोपराज की पत्नी के सती होने का उल्लेख है ।[9]

एरण से ही लगभग पांचवीं शताब्दी ई. का वाराह मूर्ति लेख, जिसमें महेशदत्त तथा वराहदत्त के नाम उत्कीर्ण हैं।'' विदिशा स्थित उदयगिरि से गुप्तकालीन शिलालेख प्राप्त हुए हैं । जैसा कि पूर्व में ही उल्लेख किया जा चुका है कि गुप्त काल में विदिशा भी बुन्देलखण्ड भू–भाग के अन्तर्गत आता था । विदिशा से तीन तीर्थकरों की प्रतिमायें प्राप्त हुई हैं जिनपर लगभग चौथी शताब्दी ई. गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि के लेख उत्कीर्ण है, इन लेखों में महाराजाधिराज रामगुप्त के शासनकाल में प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा का उल्लेख है । एक शिलालेख में किसी तालाब का वर्णन है, जो अनेक वृक्ष आदि से सुशोभित था ।[10]

उदयगिरि (विदिशा)– चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल का गुप्त संवत 82 का गुफा लेख प्राप्त हुआ है जिसमें सनकानिक वंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय के सामंत छगलग के पौत्र विष्णुदास के पुत्र के दान का उल्लेख है । गुप्त सम्वत् 106 का जैन गुफालेख जिसमें गुप्त सम्राट कुमार गुप्त के शासन काल में शंकर द्वारा पार्श्वनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा का उल्लेख है । अमृत गुहा में में विक्रम संवत 1093 का स्तंभ लेख प्राप्त हुआ है जिसमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का उल्लेख है, लेख में कान्हा द्वारा विष्णु मंदिर के पुनर्निर्माण का उल्लेख है जो मूलतः चन्द्रगुप्त के शासन काल में निर्मित किया गया होगा ।[11] जबलपुर जिले में स्थित धनिया से गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण एक खंडित लेख है । गुना जिले में स्थित तुमैन में कुमारगुप्त के शासनकाल का गुप्त संवत 116 का शिलालेख है प्राप्त हुआ है जिसमें तुम्बवन के शासक घटोत्कच गुप्त का उल्लेख है ।

रायसेन जिले में स्थित सांची में गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल का गुप्त संवत 93 का शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसमें आम्रकार्दव नामक अधिकारी द्वारा काकनादबोट (अर्थात सांची) के महाविहार के आर्य संघ को दो दान देने का उल्लेख है । इसी आधार पर गुप्त संवत 131 का एक अन्य शिलालेख भी प्राप्त हुआ है ।[12] बाँदा जिले में स्थित कालिंजर दुर्ग में स्थित पाण्डुकुण्ड के पार्श्व में एक गुप्तकालीन लेख उत्कीर्ण है जिसके आधार पर ज्ञात होता है कि पांचवीं शताब्दी ई. के लगभग अंतिम चरण में कालंजर मण्डल पर हरि गुप्त का शासन था । मृगधारा में गुप्तकालीन ब्राहमी लिपि में अंकित लघु अभिलेख प्राप्त हुआ है जो तत्कालीन तीर्थ यात्रियों द्वारा उत्कीर्ण करवाये गए थे ।[13]

भूमरा (थारी पाथर) स्तंभ अभिलेख से सूचित होता है कि गुप्तकाल में गुप्त साम्राज्य और वाकाटक राज्य के मध्य में भूमरा गांव था ।14 ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ में भी एक गुप्तकालीन शिलालेख प्राप्त हुआ है। शिवपुरी जिले के सेसई नामक ग्राम से गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण स्मारक स्तंभ लेख प्राप्त हुआ है जिसमें कुछ ब्राह्मण युवकों का किसी युद्ध में मारे जाने का तथा उनकी माता द्वारा दुःख में जलकर मरने का उल्लेख है ।[15] मुरैना जिले के पढ़ावली में गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि के दो अस्पष्ट स्मारक स्तंभ लेख प्राप्त हुए हैं ।

गुप्तकालीन मंदिर

बुन्देलखण्ड में सभी सम्प्रदाय के प्राचीन धर्म–स्थल है । मंदिरों के निर्माण में तत्कालीन शासकों की धार्मिक सहिष्णुता तो प्रदर्शित होती ही है पर साथ ही साथ कुशल कलाकारों के हृदय में व्याप्त अप्रत्यक्ष कला का अनोखा सौन्दर्य भी स्पष्ट रूप से देखने को मिलता है। इतना ही नहीं इन मंदिरों के निर्माण में जहाँ एक ओर कलाप्रिय शासकों ने अपनी कलाप्रियता का प्रदर्शन किया है वहां दूसरी ओर उस काल की जनता ने भी अपने असीम धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन अनेक मंदिरों के निर्माण द्वारा कराया।

प्राचीन काल में निर्मित बुन्देलखण्ड स्थित गुप्तकालीन मंदिर तिगवां, देवगढ़, एरण, पवाया, भूमरा, नचना कुठरा, कुण्डलपुर (दमोह), परसोरा (विदिशा), पिपरिया (रायसेन),

सकोर (दमोह) में स्थित हैं। इन हिन्दू मन्दिरों के अतिरिक्त देवगढ़, चांदपुर–जहाजपुर, दुधई, मदनपुर, बानपुर, पावागिरि, सिरौन, सिरोनजी (सीरोन खुर्द), गिरार, ललितपुर, झाँसी, खजुराहो आदि स्थानों से जैन मन्दिर भी प्रकाश में आये है, जिनमें से अधिकांश मन्दिर वर्तमान में जीर्ण–शीर्ण अवस्था में हैं ।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट दृष्टिगत होता है कि बुन्देलखण्ड भू–भाग के विभिन्न अंचलों में गुप्तकालीन मुद्रायें, शिलालेख, मठ, मंदिर एवं मूर्तियों की उपलब्धता बुन्देलखण्ड पर गुप्त शासन होने के ठोस आधार है अतः बुन्देलखण्ड क्षेत्र पर गुप्तशासकों के शासन की पुष्टि करते है। बुन्देलखण्ड में देवगढ़ का दशावतार मंदिर गुप्तकालीन मंदिर वास्तुकला का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है, जो कलात्मक अभिव्यक्ति के साथ कार्यक्षमता के सम्मिश्रण को दर्शाता है। लेकिन श्री ए. कनिंघम की राय, जो इसे लगभग 600 ईस्वी का मानते हैं, मंदिर की शैली और शिखर की उपस्थिति के आधार पर अधिक तार्किक लगती है। मंदिर का महत्व इसकी वास्तुकला और कलात्मक विशेषताओं से परे है, क्योंकि यह गुप्त काल की धार्मिक और सांस्कृतिक प्रथाओं के बारे में बहुमूल्य जानकारी प्रदान करता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल का गुप्त संवत 82 का गुफा लेख प्राप्त हुआ है शोध पत्र बुन्देलखण्ज की सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने और बढ़ावा देने के महत्व पर प्रकाश डालता है, जो देश के समृद्ध इतिहास का एक मूल्यवान हिस्सा है। निष्कर्षतः यह शोध पत्र बुन्देलखण्ड में प्राप्त गुप्तकालीन मंदिरों, अभिलेखों एवं सिक्कों के आधार गुप्तकाल में इसके महत्व और भारतीय सांस्कृतिक विरासत में इसके स्थान का व्यापक विश्लेषण प्रदान करता है। समृद्ध भारत के वैभव को स्थापित करने में गुप्तकालीन पुरावशेष आज भी अपने आप में एक सक्षम प्रमाण उपलब्ध कराते हैं एवं भारतीय जनमानस को भारत की गौरवशाली परंपरा से परिचय करवाते हैं ।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. दुबे, डॉ. नागेश, चढ़ार, डॉ. मोहनलाल, एरण एक परिचय, मॉ नर्मदा संहिता सदन, अमरकंटक, म.प्र., 2016, पृ. 69
2. वही, पृष्ठ 71 दृ 72
3. वही, पृष्ठ 71 दृ 72
4. शर्मा, डॉ. राजकुमार, मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रन्थ, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, 1974, पृ. 447
5. दमोह जिला गजेटियर पृ. 466
6. शर्मा, डॉ. राजकुमार, मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रन्थ, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, 1974, पृ. 445, 446, 447
7. वही पृ. 446, 447
8. फ्लीट, जे. एफ., भारतीय अभिलेख संग्रह, खण्ड 3, अनुवादक मिश्र, गिरिजाशंकर प्रसाद, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1974, पृ. 117–119
9. वही पृ. 117–119
10. वही पृ. 119
11. वही पृ. 120
12. अल्तेकर ,ए. एस., दी क्वायनेज आफ दी गुप्ता एम्पायर, न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इंडिया, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, 1957, पृ. 319
13. जायसवाल, काशीप्रसाद, अंधकार युगीन भारत, नागरीप्रचारिणी सभा, वारांणसी, 1957, पृ. 401–402
14. शर्मा, डॉ. राजकुमार, मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रन्थ, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, प्रथम संस्करण, 1974, पृ. 175–174
15. वही, पृ. 175–174

मेवाती घरानों की रचनाओं के साहित्य का अवलोकन

सिद्धार्थ मिश्रा[*] एवं प्रो. कौमुदी क्षीरसागर बडे[**]

सारांश

भारतीय शास्त्रीय संगीत का वर्तमान स्वरुप परम्पराओं तथा घरानों के मूल में प्राप्त होता है । मध्यकाल से भारतीय शास्त्रीय संगीत के विकास एवं प्रचार प्रसार में विभिन्न घरानों तथा परम्पराओं का विशेष महत्व रहा है । इन घरानों में अनेक ऐसी विभूतियों ने जन्म लिया जिहोने संगीत कौशल क्षमता से संगीत को और सशक्त किया है । ऐसे ही विभिन्न घरानों में ही एक नाम है – मेवाती । मेवाती घराना गायन की अनूठी क्षमता तथा बंदिशों में रस तथा श्रृंगार के लिए जाना जाता है । वास्तव में इस घराने की रचनाओं ने समस्त संगीत जगत का ध्यान अपने तरफ खींचा है साथ ही यह घराना भी अपने आप में एक अध्ययन का विषय हैए जिसमें बंदिशों का अपार भण्डार एवं विभिन्नताएं संगीत को धनी बनाने में सहायक सिद्ध हुई हैं ।।

शब्द–सूचक : घराना, बंदिश, मेवाती, रचना, शास्त्रीय संगीत, साहित्य, पंडित जसराज ।

विषय प्रवेश

मेवाती घराना हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत के प्रमुख घरानों में से एक है, जो विशेष रूप से अपनी समृद्ध गायन परंपरा के लिए जाना जाता है । लगभग 19वीं सदी के अंत में स्थापित यह घराना अपने भावनात्मक अभिव्यक्ति और जटिल तथा मधुर रचनाओं के उपयोग के लिए पहचाना जाता है । मेवाती घराने ने कई प्रसिद्ध कलाकारों को जन्म दिया है, जिन्होंने हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत में महत्वपूर्ण योगदान दिया । संगीत मार्तंड पंडित जसराज (पद्म विभूषण) इस घराने के सबसे प्रमुख कलाकार के रूप में पहचाने जाते हैं । इस घराने के प्रवर्तक उस्ताद घग्घे नजीर खां थे तथा इनके पश्चात प्रमुख कलाकारों की श्रृंखला में पंडित नत्थू लाल, पंडित चिमन लाल, पंडित मोतीराम और पंडित ज्योतिराम, पंडित मणिराम, पंडित प्रताप नारायण, पंडित जसराज, पंडित मुकुंद लाठ, पंडित चंद्रशेखर स्वामी, पंडित गिरीश वाजलवार, आदरणीय दुर्गा जसराज (पंडित जसराज जी की सुपुत्री), पंडित शारंग देव (पंडित जसराज के सुपुत्र), पंडित रतन मोहन शर्मा , गार्गी सिद्धांत दत्ता, तृप्ति मुखर्जी, पंडित नीरज पारिख ,पंडित संजीव अभयंकर, अंकिता जोशी , स्वर शर्मा इत्यादि कलाकारो ने घराने का प्रचार प्रसार किया ।

मेवाती घराना अपने मधुर और चमत्कृत गायन शैली के साथ– साथ विभिन्न रचनाओं के भंडारण के कारण भी जाना जाता है। इस घराने की रचनाओं में साहित्य का समृद्ध स्वरुप देखने को मिलता है जो कि ऋतु परक, भक्ति परक, आदि सभी भावों को दर्शाने में सक्षम है । प्रस्तुत लेख में इस घराने से सम्बंधित ऐसी ही कुछ प्रमुख रचनाओं के साहित्य को दर्शाया गया है :–

रचनाएँ :–

1. मेरो अल्लाह मेहरबान
राग भैरव, तीन ताल

यह सुप्रसिद्ध रचना संगीत मार्तंड पंडित जसराज द्वारा १९६५ में रची गयी । जब पंडित जसराज जी मुंबई में सपरिवार रहने आये थे, तो कुछ कलाकार संध या समय उनके पास आया करते थे । उन्ही में किसी एक ने उनसे कहा की भैरव में धैवत वादी स्वर है लेकिन बंदिशों की रचनाओं का सम धैवत पे देखने को

शोध छात्र, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय
शोध निर्देशक, संत गाडगे बाबा अमरावती विश्वविद्यालय

नही मिलता । तब पंडित जी ने एक दिन का समय माँगा और अगले ही दिन तक एक नयी बंदिश बनाने के लिए अनजाने में ही दोनों हाथों को ऊपर उठाकर इश्वर से प्रार्थना की तब यह रचना बनी–

स्थायी

मेरो अल्लाह मेहरबान ,
कोई बिगाड़ सकत नही तेरो,
मन लीजे तू ठान ।

अंतरा

औलिया पीर पैगम्बर ध्यावे ,
अली नबी को रुतबो पावे ,
हसन हुसैन प्यारे जिनके,
मुझको दियो ईमान ।।

इस रचना को देख मित्र डॉ मुकुंफ लाठ जी ने स्थायी में ' मेरो ' के स्थान पर 'तेरो' रखने का सुझाव दिया और इस तरह इस बंदिश में ' कोई बिगाड़ सकत नहीं तेरो ' ही प्रयोग होता है । इस बंदिश को एडमंटन में गाते समय पंडित जसराज जी के कंठ से : अल्लाह ' और' ओउम ' एक ही स्वर पर निकले और यह धार्मिक एकता की एतिहासिक रचना बन गयी ।

2. तुम पर वारी जाऊं मई
राग रामकली, तीन ताल

सन 1949 में केवल 19 वर्ष की आयु में युवा पंडित जसराज कोलकाता की सड़कों पर चले जा रहे थे । सड़क किनारे एक रेस्टोरेंट में उस्ताद खान साहब का गया हुआ रिकॉर्ड बज रहा था, ख उस जमाने में रेस्टोरेंट में शास्त्रीय संगीत की रिकॉर्ड बजाए जाते थे, 'उन संग लागी –लागी मोरी अखियां जसराज जी अन्तरा सुनने के लिए रुके नहीं मुखड़ा ही सुन के वो अभिभूत हो चुके थे और यह रचना बन के सामने आई ।

स्थाई

तुम पर वारि जाऊं मैं,
श्याम सुंदर नंदलाल ।

अंतरा

मधुर मधुर मुरली बजाओ,
गोपियन संग रास रचाओ,
मथुरा ना जो गोपाल ।।

इस रचना को देखते हुए यह आभास होता है की अगर घराने के शीर्षस्थ कलाकार उस्ताद फैयाज खान साहेब के उभरते हुए जसराज जी के जीवन को कितना अधिक प्रभावित किया था ।

3. कोई नहीं है अपना
राग भटियार, तीन ताल

वैवाहिक जीवन में उतार,चढ़ाव सभी के घटते हैं पंडित जसराज और मधुरा जसराज जी ने भी अपने वैवाहिक जीवन में उतार चढ़ाव देखे हैं । विवाह के कुछ समय के पश्चात मधुरा जी के साथ मन मुटाव हो गया तब अपने एकाकीपन में उन्होंने इस बंदिश की रचना की और उसे रात भटियार में निबद्ध किया । राजकमल स्टूडियो के वार्षिक गणेश उत्सव के संगीत समारोह में डॉ व्ही शांताराम ख्मधुरा जी के पिता, की उपस्थिति में पंडित जसराज में पहली बार इस बंदिश को गाया । शांताराम जी ने इसे सुनकर बहुत जोरों से तालियां बजाई लेकिन बाद में पंडित जसराज जी को एक किनारे ले जाकर पूछा तुम्हारा मधुरा के साथ झगड़ा हुआ है क्या कि तुमने यह बंदिश लिखी ?

स्थाई

कोई नहीं है अपना
यह जगत रैन का सपना

अंतर

समझ बूझ मन मेरे जो चाहे तरना
नित हरी को भजना मेरे मना

4. गुरु चरनन में
राग बिलासखानी तोड़ी, तीन ताल

महामहोपाध्याय पंडित मणिराम ने अपने पिता पंडित मोतीराम की देहांत के पश्चात सब भाई

बहनों को पिता बनकर संभाला था । विशेष रूप से छोटे भाई जसराज को जो उसे समय केवल साढ़े चार वर्ष के थे । जसराज ने अपने गुरु , भाई, पिता समान पंडित मणिराम के प्रति एक विनम्र आदरांजलि के रूप में लिखी थी जसराज के मन में शब्द प्रस्तुत हुए गुरु चरणन में ध्यान लगाऊं और भी सोचते रहे कि यह शब्द मेरे मन में बार–बार क्यों आ रहे है इस रचना के कुछ महीनो के पश्चात 16 में 1985 को पंडित मणिराम का स्वर्गवास हो गया पंडित जसराज जी को इस भूमि का पूर्वाभास हो गया था ।

स्थाई

गुरु चरणन में ध्यान लगाऊं,
ऐसी यशूमती दे मेरे दाता ।

अंतरा

ममै अज्ञानी तिमिर बहुत है ,
खान ज्ञान की गुरु होत हैं ,
किस विधि दर्शन पाऊं दाता ।।

5. सैयां नई रतडिया
राग कुकुभ बिलावल , ताकल–तीन ताल

उस्ताद घग्घे नजीर खान साहेब द्वारा रचित राग कुकुभ बिलावल में बंदिश आज भी प्रचलन में है जिनके बोल हैं –

स्थाई

सैया नई रतडिया
घड़ियां जमाल दिया ।

अंतर

पावन मेहंदी चूड़न रतडिया
घड़ियां जमाल दिया ।।

6. पवन पूत हनुमान
राग हंसध्वनि, मध्य तीन ताल

पंडित मोतीराम (पिता पंडित जसराज) द्वारा रचित राज हंसध्वनि में बंदिश 'पवन पुत्र हनुमान तुम' बहुत ही प्रचलित बंदिश है जिसका पंडित जसराज जी द्वारा उनके पहले एल पी रिकॉर्ड में गया हुआ है–

स्थाई

पवन पुत्र हनुमान लला तुम
पूत पवन तुम दूत राम के ।

अन्तरा

अतुलित बल दायक
गायक नायक सदा सहायक राम के तुम ।।

7.अब थारे बिन कुण मोरी
राग पुरिया, झप ताल

विवाह के पश्चात पंडित जसराज जब कोलकाता से मुंबई आ गए तो वहां के संगीतकारों एवं सुनकारों सभी को बहुत आश्चर्य हुआ। जिज्ञासा थी कि युवा कलाकार शहर कैसे बदल सकता है। पंडित जसराज के लिए स्वयं को प्रमाणित करना आवश्यक था, ताकि मुंबई नगरी उनको स्वीकार करें मुंबई के संगीत प्रेमी उनकी योग्यता परखने के लिए ताक पर बैठे थे। विख्यात तबला वादक उस्ताद मुनीर खान की पुण्यतिथि पर मुंबई के लक्ष्मी बाग में आयोजित कार्यक्रम में वह अवसर आ गया। जब पंडित जसराज को स्वयं को सिद्ध करना था। श्रोताओं में 60–70 दिग्गज तबला वादक 20–25 गायक अनेक संगीत प्रेमी एवं आलोचक और जानकारी तथा सुदी श्रोता सम्मिलित थे यह सब लोग सांस रोक कर प्रतीक्षा कर रहे थे कि नया लड़का क्या गाता है । मंच पर पंडित जसराज के साथ तबले पर संगति के लिए विख्यात तबला वादक विराजमान थे, तब पंडित जसराज ने अपने पूर्वज तेज दादा जी को स्मरण करते हुए राग पूरिया में इस बंदिश को गाना प्रारंभ किया जो छपताल में निबद्ध है । बंदिश यूं तीन ताल में प्रतीत होती थी । अनेक बार स्वयं पंडित जी तथा फिर श्रोताओ द्वारा संकेत देने पर संगीतकार तबला वादक की समझ में आया की बंदिश तीनताल नहीं झपताल में है और तब वह ताल को पकड़ सके

जब गायन संपन्न हुआ तो तालिया की गड़गड़ाहट ने सिद्ध कर दिया की मुंबई शहर में युवा गायक जसराज को स्वीकार कर लिया ।

स्थाई

अब थारे बिन कुण मोरी राखे लाज
थे तो तेज महान कहाये तिमिर हरो महाराज

अंतरा

जिन जिन ध्याये तिन तिन पाए
मोपे विपदा बड़ी भारी
जस सवरत नहीं काज

8. लाज रखो बनवारी
राग सरस्वती, तीन ताल

यह रचना पंडित रतन मोहन शर्मा द्वारा रचित है । जब पंडित रतन मोहन शर्मा जी के पास उनकी माँ 'पद्मा बाई 'मुंबई आई थी, अचानक वो बीमार पड गयी थी यह देख रतन मोहन जी को बहुत दुःख हुआ और उन्हीने भगवान के सामने हाथ जोड़े और बिनती की तो उनके मुख से आया ' लाज रखो बनवारी ' इस प्रकार यह रचना बनी आज मेवाती घराने के नवोदित कलाकार बड़े शौख से गाते है ।

स्थाई

लाज रखो बनवारी ।
कृष्ण मुरारी तुम हो गिरिधारी ।।

अंतरा

कानन कुंडल मुकुट विराजे ।
शोभा अपरम हो बलिहारी ।।

9. रट नाम श्री गुरु
राग जोग, झप ताल

यह बंदिश अंकिता जोशी ख्यंडित जसराज शिष्या, अपने गुरु को समर्पित करते हुए बनाया ।

स्थायी

रट नाम श्री गुरु का
यही तेरो काज है ।

अन्तरा

बड़े भाग एसो गुरु पायो
जीवन सब विध दिखलायो
रहे तुम्हारो आशीष सदा
नित करत आस है ।।

10 गारे निश दिन राम नाम
राग यमन, तीन ताल

यह बमायना बंदिश प्रीतम भट्टाचार्य पंडित जसराज के शिष्य , ने बनायीं है । बमायना बंदिश वे होते है जिसमे हमारे स्वर और बंदिश के बोल दोनों एक ही होते है जैसे – बंदिश, ' गा रे निश दिन राम नाम ' में उसका स्वरलिपि 'गा रे नि सा ध नि रे मा नि मा' है ।

स्थायी

गा रे निशदिन राम नाम ,
पाप नाशन सिद्धि साधन,
रस नामें धरो सो नाम ।

अंतरा

साधे पूरे मन सो दीन श्याम,
नाम गुण सो पारे परम धाम ।।

निष्कर्ष :

उपर्युक्त लिखित कुछ बंदिशों से यह साफ दिखता है की ज्यादातर बंदिश समय,परिवेश,और स्वयं पर जैसा अनुभव होता गया ,बंदिश का निर्मद भी उसी तरह बनता गया । बंदिशे ज्यादातर अध्यात्मिक, आराधना तथा इस्वर को समर्पित करने जैसा दिखाई देता है । बंदिश बनाते समय यह विशेष देखने को मिलता है की राग क्या है, किस मूड का है, किस रस और भाव की रचना इसमें अच्छी लगेगी तथा इस तरीके से किया जाता है ताकि बंदिश के भाव को और अच्छा स्वरुप में लाया जा सके । अर्थात बंदिश भाव, राग भाव, और रचना भाव एवं लय और उसमे लयकारी सभी एक दुसरे से जुड़े हो तभी इस तरह की खुबसूरत बंदिश की रचना किया जा सकता है ।

सन्दर्भ सूची

1. बुद्धिराजा , सुनीता, रसराज पंडित जसराज , वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
2. पंडित जसराज – फिल्म प्रोडक्शन एंड डायरेक्टिव बॉय जेम्स वेबरिज, जामिया मिलिया इस्लामिक द्वारा प्रस्तुत ।
3. गोल्डन वाइस – गोल्डन इयर्स – म्यूजिक टुडे ।
4. साक्षात्कार –पंडित रतन मोहन शर्मा, प्रीतम भट्टाचार्य, अंकिता जोशी
5. वझलवर, गिरीश, संगीत सौरभ, मुम्बई ।

बिहार प्रांत में प्रचलित पारंपरिक लोकगीतों का विवेचनात्मक अध्ययन

अनंत शंकर*
डॉ. अरविन्द कुमार**

सूचक शब्द– बिहार, पारंपरिक, संस्कार, धार्मिक, लोकगीत।

भूमिका

लोक संगीत का मानव–जीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पौराणिक गाथाओं में लोकसंगीत का व्यवहार किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। भगवान शंकर का डमरू जो लोक वाद्यों की श्रेणी में आता है। भगवान श्रीकृष्ण के अधरौं पर बाँसुरी जिसे सुनकर ग्वाले, गोपियां एवं गाय सुरीले नाद में वशीभूत होकर स्वयं भगवान कृष्ण के पास दौड़ी आती थीं। श्री विष्णु भगवान के हाथ में शंख जिसे बजाकर उन्होने प्रथम नाद की निष्पत्ति की थी। रामायण काल में रावण को एक महान संगीतज्ञ माना गया है। यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, अप्सरायें आदि भी गायन–वादन तथा नृत्य में प्रवीण थे तभी उन्हें देवताओं के श्रेणी से सम्बद्ध माना जाता है।

लोक संगीत सामान्य जनजीवन के बीच गूँजने वाली बांसुरी की तान के समान है। वैसे तो समस्त लोकसंगीत तथा लोक–साहित्य को ही लोक जीवन की परम्परागत विरासत माना जाता है किन्तु मधुरता और प्रभावोत्पादकता के कारण लोकगीत अधिक प्रभावशाली होते हैं। किसी समुदाय, वर्ग अथवा जाति के संस्कारों, भावनाओं एवं आस्थाओं की समस्त जानकारी इन लोकगीतों में उजागर होती है। लोकगीत प्रकृति के महासंगीत के अंश हैं। लोकगीत की सृजन–प्रकिया सहज, स्वाभाविक एवं स्वयं स्फूर्त होती है।

बिहार की धरा पर प्राचीन समय से ही संगीत के प्रति विशेष लगाव, प्रेम तथा लोक संस्कृति को संगीत में समाविष्ट करने की परम्परा चली आ रही है। बिहार के लोकगीतों का सांगीतिक पक्ष अत्यन्त विशद् है। यहाँ के लोकगीतों में सांगीतिक तत्व स्वाभाविक रूप से विद्यमान है जिसमें स्वर, लय, ताल, रस–भाव प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ के लोकगीतों में भाव पक्ष की प्रधानता दिखाई देती है।

बिहार के लोकगीतों से प्राचीन तथा आधुनिक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं ऐतिहासिक संरचना तथा व्यवस्था की सम्पूर्ण जानकारी प्राप्त हो जाती है। लोकगीतों को सामूहिक गान प्रवत्ति का परिचायक माना जाता है यही कारण है कि लोकगीतों में जनसाधारण के अनुभव, मनोभाव, सादगी और सच्चे उद्‌गार परिलक्षित होते हैं। बिहार के लोकजीवन में जन्म से लेकर अंत्येष्टि संस्कार तक के विभिन्न अवसरों पर गाये जाने वाले लोकगीतों का विशिष्ट स्थान है। इन संस्कार गीतों में हर्ष, वेदना की अनुभूति होती है। प्रत्येक संस्कार में लोकगीतों का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाता है जिसमें पुत्र जन्म के अवसर गाया जाने वाले बधाई गीत, सोहर आदि है। विवाह के अवसर पर भी अनेक गीत गाये जाते हैं।

बिहार के लोकगीत यहां के जन–मन के सहज उद्‌गार हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी उत्पत्ति

* **शोध छात्र, संगीत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।**
** **शोध निर्देशक– संगीत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना।**

मानवीय भाषा के उद्‌भव के साथ ही हुई है। हृदय के भाव जब किसी प्रसंग, घटना या कल्पना को लेकर उद्‌घाटित होते है तब प्राकृतिक वातावरण में लोकगीत झरनों की भांति फूट पड़ते हैं। इसी कारण यहां के लोकगीतों में मानवीय भावनाओं का चित्रण स्पष्ट दिखाई देता है। बिहार की संगीत परम्परा में जहाँ एक ओर शास्त्रीय संगीत का विशिष्ट स्थान है वहीं दूसरी ओर यहाँ की लोक संगीत की परम्परा भी अत्यन्त समृद्धशाली मानी जाती है। लोकसंगीत वह संगीत होता है जो मानव के मन के भावों को सहज रूप में व्यक्त कर देता है जिससे मानव का हृदय उल्लास, उमंग और प्रसन्नता से भर जाता है। ऐसा माना जाता है कि मानव की उत्पत्ति के साथ ही लोकसंगीत की उत्पत्ति हुयी है, अर्थात् जब मानव का जन्म हुआ उसी के साथ ही लोकसंगीत का आविर्भाव हुआ है। बिहार के विभिन्न क्षेत्रों में हिन्दी, भोजपुरी, मैथिली, मगही एवं संथाली भाषा, बोलियों में लोकगीतों को गाया जाता है।

प्रायः लोक संगीत को तीन वर्गो में विभाजित किया गया है–

1. लोकगीत 2. लोक वाद्य 3. लोक नृत्य

लोकसंगीत का लोकजीवन व जन साधारण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हमें लोकगीतों के द्वारा जन–जीवन के समस्त पक्षों के दर्षन होते हैं, और उनके दर्पण में हम विशिष्ट जन समुदाय की भावनाओं को देख सकते हैं। लोकगीतों को समस्त मानव जीवन की अभिव्यंजना का गेय माध्यम कहा जा सकता है, इनमें गांव का जन–जीवन गाता है, रोता है, हंसता है, खिल्ली उड़ाता है, मुँह चिढ़ाता है, व्यंग करता है, प्रेम करता है, कटाक्ष करता है और रूप–दर्शन पर रीझता, ऋतु पर्वों पर आनन्द मनाता है, अपने दुखों की शिकायत करता है। साथ ही सामयिक समस्याओ, जातीय भावनाओं, जन–आन्दोलनों से उद्वेलित भी हो जाता है। लोकगीतों की व्यापकता ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र हो हुआ है।

'लोकसंगीत' शब्द की व्युत्पत्ति 'लोक और संगीत' इन दोनों शब्दों के संयोग से होती है। 'लोक' का अर्थ है– जन–साधारण और संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन व नृत्य इन तीनों विधाओं का समावेश रहता है। अर्थात् जन साधारण द्वारा गाया जाने वाला संगीत 'लोक संगीत' कहलाता है।

पं. ओंकार नाथ ठाकुर के अनुसार– लोकसंगीत के माध्यम से समूचे विश्व में मानवता, आत्मीयता और ऐक्य भाव की स्थापना की जा सकती है, क्योंकि संगीत एक ऐसा माध्यम है जो सभी प्रकार के विभेदों से अतीत है और यही अभेद तत्व भारतीय संगीत की आत्मा है।

लोक संगीत मानव के भावनात्मक तथा संवेदना से भरपूर हृदय के वे स्वभाविक उद्‌गार है जो संगीत के रूप में उठते हैं। कहा भी गया है हृदय के उद्रेक से युक्त कलापूर्ण संगीत को 'लोक संगीत' कहते हैं।कीरक बिहार के लोकगीत यहाँ की संस्कृति के चितेरे हैं। यहाँ के लोक गीतों में यहां के लोकजीवन की सभी सुघड़तायें अपने मूल रूप में प्रतिबिम्बित होती हैं, ये लोकगीत यहाँ की संस्कृति के दर्पण ही नही दिग्दर्शन भी हैं। बिहार में गाये जाने वाले लोकगीतों को निम्नलिखित वर्गो में वर्गोकृत किया जा सकता है– संस्कार सम्बन्धी गीत, धार्मिक गीत, ऋतु सम्बन्धी गीत, व्रत त्यौहार सम्बन्धी गीत, बालगीत तथा विविध गीत।

संस्कार सम्बन्धी गीत– भारतीय समाजिक परम्परा में संस्कारों का महत्वपूर्ण स्थान है। संस्कारों को शिक्षा का सर्वोत्तम माध्यम माना जाता है। यद्यपि केवल एक विद्यारंभ संस्कार ही शिक्षा से सम्बन्धित हैं इसके अतिरिक्त सभी संस्कार प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य को बौद्धिक परिपक्वता प्रदान करते हैं। संस्कारों के द्वारा मानव का जीवन अनुशासित होने के साथ ही बौद्धिक स्तर में वृद्धि एवं सांस्कृतिक स्तर भी सुदृढ़ होता हैं। बिहार की संस्कृति में जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक संस्कारों को करने का विधान है, जिन्हे पूर्ण करना अत्यंत आवश्यक माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि

मनुष्य की आत्मिक शुद्धि तथा जीवन को कष्टमुक्त करने के लिए संस्कारों को पूर्ण करना अत्यंत आवश्यक है। हिन्दू धर्म में ऐसा माना जाता है कि संस्कारों को पूर्ण करने से मनुष्य जीवन की अनेक बाधाओं से मुक्ति पा जाता है। संस्कार मुख्य रूप से मानव जीवन के विकास को दर्शाते हैं, संस्कारों का महत्व आध्यात्मिक दृष्टि से भी है। प्रत्येक संस्कार व्यक्ति के मन में इस धारणा को प्रबल करता है कि कोई आलौकिक दैवीय शक्ति उसकी सदैव कष्टों से रक्षा कर रही है। इन संस्कारों में गर्भाधान संस्कार, नामकरण संस्कार, पुंसवन संस्कार, सीमन्तोन्नयन संस्कार, जातकर्म संस्कार, निष्क्रमण संस्कार, अन्नप्राशन संस्कार, चूड़ाकर्म संस्कार, कर्णवेध संस्कार, अपनयन संस्कार, वेदारम्भ संस्कार, समावर्तन संस्कार, विवाह संस्कार, वानप्रस्थ संस्कार, सन्यास और अंतयेष्टि संस्कार है। इन सोलह संस्कारों में वर्तमान समय में कुछ ही संस्कारों को लोक में सम्पन्न किया जाता है। इन संस्कारों में पुत्र जन्म से सम्बन्धित लोकगीत, मुण्डन से सम्बन्धित लोकगीत, यज्ञोपवीत से सम्बन्धित लोकगीत, विवाह से सम्बन्धित लोकगीत, द्विरागमन से सम्बन्धित लोकगीत, और मष्त्यु से सम्बन्धित लोकगीतों का गायन बिहार के विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है।

मानव के लिए जन्म संस्कार बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। पुत्र जन्म के अवसर पर समाज में गीतो की बड़ी धूम मच जाती है। गर्भाधान के तीन–चार महीने बाद से ही गर्भवती स्त्री के स्वास्थ्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। पुत्र के जन्म के अवसर पर गाये जाने वाले गीतों को सोहर गीत कहा जाता है कहीं–कहीं इसे 'सोहिलो' भी कहते हैं। अन्य गीतों में सम्मरि, लग्न गीत, गर्भाधान के गीत, पुत्र जन्म के अवसर पर दान के गीत, खेलावना के गीत, जनेऊ के गीत, समदाउन, बटगमनी, उचिती, तिरहुति, सगुन के गीत, लगुन के गीत, चुमावन के गीत, उबटन के गीत, कलसा गीत, पैर पूजी, वर–पक्ष के गीत, वधु–पक्ष के गीत, तिलक, सगुन, देवीगीत, मंगल, बियाह, सुहाग, जोग, बन्ना–बन्नी, ब्याह–सहाना, उठान, गारी, नेवता, मटकोड़, मांडो, चाकी पूजन, हरदी, ओखली पूजन, बारात गमन, द्वार पूजा, इमली घोंटाई, लावा भुंजाई, डाल चढ़ावा, कन्यादान, भांवर, पहिरन के गीत, पोखरा खोदाई, नछहुआ–नहावन, मंझापराती, तागपट, सिन्दूर दान, गवना आदि गीत गाये जाते हैं।

धार्मिक गीत :– सामाजिक जीवन में धर्म का बहुत महत्व है, भारतीय समाज की धर्म के बिना कल्पना करना कठिन है। हमारे देश के लोगों के आचरण, सोच एवं धारणा में धार्मिक भावना को स्पष्ट देखा जा सकता है। देवी–देवताओं की आराधना से सम्बन्धित गीतों को धार्मिक गीत कहा जाता है। इन धार्मिक गीतो का बिहार की लोक संस्कृति एवं लोकजीवन के उन्नयन में बहुत महत्वपूर्ण योगदान है। इन गीतों का धार्मिक महत्व तो होता ही है साथ ही आध्यात्मिक एवं मांगलिक महत्व भी है। बिहार के धार्मिक गीतों में राम, कृष्ण, हनुमान, शिवजी, ब्रह्मा, गंगा माता, शीतला माता, छठ माता आदि देवी–देवताओं से सम्बन्धित गीत गाये जाते हैं।

बिहार में गाये जाने वाले धार्मिक गीतों में गोसाउनिक गीत किसी भी शुभ कार्य अवसर पर गाया जाता है जिसमें देवी की पूजा की जाती है। कीर्तनों में भगवान विष्णु, राम, हनुमान, कृष्ण आदि देवी–देवताओं की आराधना की जाती है। इन गीतों में सीता–राम विवाह की सुन्दर झांकी का वर्णन, राम भक्त हनुमान की वीरता का वर्णन, विघ्न विनाशक गणेश भगवान की आराधना की जाती है। सर्वाधिक कीर्तन राम सीता के प्रसंग से जुड़े होते हैं। इनमें हारमोनियम, ढ़ोलक तथा मंजीरों का प्रयोग किया जाता है। बिहार के धार्मिक गीतों में पराती बहुत लोकप्रिय है। यह गीत महिलाओं और पुरूषों द्वारा ब्रह्म मुहूर्त में गाया जाता है। इनमें पौराणिक कथाओं का वर्णन होता है। इसी प्रकार सायंकाल के समय गाये जाने वाले सांझ गीत को भी यहां के लोग गाते हैं। इसका गायन प्रायः मुण्डन, उपनयन, विवाह संस्कार के अवसर पर किया जाता है किन्तु नवरात्रो आदि शुभ अवसरों पर भी इसका गायन किया जाता है। नचारी तथा महेशवाणी भी बिहार के प्रचलित धार्मिक गीत हैं।

इनमें भगवान शंकर की आराधना की जाती है। भारतीय परम्परा में गंगा नदी को माता का स्थान दिया गया है। इस परम्परा को बिहार में भी अत्यंत भावपूर्ण तरीके ने निभाया जाता है। गंगा की महत्ता का बखान करने वाले अनेक गीतों को विभिन्न अवसरों पर बिहार में गाया जाता है। बिहार में ब्रह्म के गीतों का भी विशेष महत्व है। यहा पर ब्रह्म को ग्राम देवता के रूप में माना जाता है। ऐसा विश्वास है कि ब्रह्म देवता आधि–व्याधि तथा अनिष्टों से ग्राम वासियों की रक्षा करते हैं। विशेष मांगालिक अवसरों पर स्त्रियों द्वारा इन गीतों को गाया जाता है। शीतला माता के गीतों का प्रचलन भी बिहार के अनेक क्षेत्रों में है। शीतला माता के सम्बन्ध में बिहार में विशेष मान्यता है कि चेचक नामक रोग के बचाव के लिए शीतला माता की आराधना सम्बन्धी गीत गाये जाते हैं। गुरु के गीतों में गुरुओं को ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवजी आदि देवताओं के समतुल्य मानकर उनका गुणगान किया जाता है। बिहार के जनमानस में यह मान्यता है कि गुरु के मार्गदर्शन से ही ज्ञानार्जन होता है और गुरु ही ईश्वर प्राप्ति का मार्ग बताता है। निर्गुण गीतों को भी बिहार में गाया जाता है। बिहार मे छठ का पर्व बड़ी ही धूमधाम से मनाया जाता है। छठ का पर्व बिना छठ के गीतों के अधूरा माना जाता है। छठ के अवसर पर छठी भईया के गीत गाने की परम्परा अत्यंत प्राचीन मानी जाती है।

ऋतु सम्बन्धी गीत :– बिहार प्रदेश में विभिन्न ऋतुओं का अपना अलग महत्व है। यहाँ के ऋतु परिवर्तन का प्रभाव यहाँ के लोकमानस के हृदय में नई उमंग एवं स्फूर्ति का संचार कर देता है। जहाँ एक ओर फागुन मास बच्चों–बुजुर्गों में मस्ती और उल्लास भर देता है वहीं बसंत ऋतु मन में नई आशा और उमंग जगाती है। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में बादलों की गर्जना तथा सावन मास में फसल की हरियाली बिहार के लोक जीवन में नई स्फूर्ति पैदा करती है। बिहार के ऋतु सम्बन्धी गीतों में होली, चैती, बरसाती, बारहमासा, छैमासा, पावस, मल्हार, चैतावर, बसंत, मधुसांवनी, बरसाइत, आदि का प्रचलन है।

बारहमासा गाने का प्रारम्भ पहली वर्षा से होता है और यह जेठ तक गाया जाता है। अधिकांश बारह मांसो में बिरह का वर्णन होता है। छः मासा तथा चौमासा को भी बिहार में गाया जाता है। इनमें छः महीनों तथा चार महीनों की प्रकृति का विरहणी के मन पर प्रभाव का चित्रण किया जाता है। चौमासा बरसात के महीनों में गाया जाता है। चौमासे की तरह ही कजरी का गायन भी बरसात के समय में ही किया जाता है। विषय वस्तु की दृष्टि से इसे प्रेम गीत या विरह गीत कह सकते हैं। होली को फागुन के महीने में गाने की परम्परा है क्योंकि होली पर्व भी फागुन के महीने में ही मनाया जाता है। बिहार में होली या जोगीड़ा भी गाया जाता है। चैती भी बिहार की एक प्रसिद्ध लोक शैली मानी जाती है। चैती को चैत्र के महीने में गाया जाता है।

व्रत, त्यौहार सम्बन्धी गीत :– बिहार के पर्व गीतों में 'मधुश्रावणी' विधियों को करते समय स्त्रियों द्वारा जो गीत गाये जाते हैं उन्हें मधुश्रावणी गीत कहते हैं। बिहार में अविवाहित कन्यायें पूस की संक्रान्ति से माघ माह की संक्रान्ति तक तुसारी की पूजा करती है। पूजा करते समय इन गीतों को गाया जाता है। नागपंचमी पर्व पर गाये जाने वाले गीतों को नागपंचमी के गीत कहा जाता है। बरसाइत के गीत गाये जाने की परम्परा का प्रचलन भी बिहार में है। बरसाइत 'बटसावित्री' पर्व को कहा जाता है। बहुरा का व्रत भाद्रपद कृ0ष्ण पक्ष की चतुर्थी को किया जाता है। बहुरा के गीतों को इस व्रत को रखने वाली अविवाहित कन्याये और महिलायें गाती हैं। इसी प्रकार गोधन व्रत कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को मनाया जाता है। गोधन गोवर्धन का अपभ्रंश है। इस व्रत में गोधन के गीत गाये जाते हैं। इसी प्रकार पिड़िया का व्रत कुँवारी कन्या रखती है तथा गीत गाती हैं।

जाति सम्बन्धी गीतः– बिहार में कुछ विशेष जातियों के द्वारा भी लोकगीतों को गाया जाता है। बिहार में बिरहा शैली का एक अलग स्थान है। इस गीत की लोकप्रियता बिहार में बहुत है। बिरहा गीत को अहीर जाति के द्वारा गाया जाता है। बिरह के

गीतों को बिरहा कहा जाता है। बिहार में जाटवों के द्वारा भी गीत गाये जाते हैं। विवाह के समय कहारों द्वारा गीत गाये जाते है, जिन्हे कहारों के गीत कहते हैं। इसी प्रकार बिहार में गड़ेरियों के गीत, धोबियों के गीत, तेलियों के गीत, दुसाधों के गीत, गोंडो के गीत आदि जाति से सम्बन्धित गीतों को गाया है। बिहार में गाये जाने वाले अन्य गीतों में सोहनी के गीत, रोपनी के गीत, आल्हा, झूमर, पूरबी, अलचारी, खेलगीतों में गुल्ली–डंडा, चुप्पी, कबड्डी, आँख मुदौवन, जानवर, सम्बन्धी आदि गीतों का प्रचलन है।

निष्कर्ष– उपरोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि बिहार में लोकगीतों की परम्परा अत्यन्त समष्द्धशाली है। बिहार में लगभग प्रत्येक सामाजिक परम्परा–सम्बन्धी लोकगीतों को गाया जाता है। यहाँ के विभिन्न क्षेत्रों में बोलियों की विविधता होने के कारण यहाँ के लोकसंगीत में भी यह विविधता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इसी विविधता के फलस्वरुप यहाँ विविध प्रकार के लोकगीतों का प्रचलन है। स्थानीय विशेषता के प्रभावस्वरुप यहाँ के लोकगीतों में स्थानीय परम्परा, जनरुचि, जन स्वभाव तथा आचार विचारों का स्वरूप दिखाई देता है। बिहार के लोकगीतों में समाज के दैनिक क्रिया–कलापों, हर्ष–विषाद का सजीव चित्रण दिखाई देता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. डॉ. सत्येन्द्र, ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, द्वितीय संस्करण,1957 पृष्ठ–107
2. शास्त्री, डॉ. तेजनारायण लाल, मैथिली लोकगीतों का अध्ययन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा प्रथम संस्करण, 1962 पृष्ठ–99, 100
3. उपाध्याय, डॉ. कृष्णदेव, भोजपुरी लोकगीत, प्रथम भाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण 2011
4. ठाकुर, डॉ. ममता, मैथिली लोकगीतों में राम का स्वरूप, कला प्रकाशन, 2014, पृष्ठ–13,14
5. चौहान, विद्या, लोकगीतों की संस्कृतिक पृष्ठभूमि, प्रगति प्रकाषन, आगरा, प्रथम संस्करण, 1972, पृष्ठ–264
6. अर्याणी, डॉ. सम्पत्ति, मगही लोक साहित्य, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1965 पृष्ठ– 12,13
7. जैन, डॉ. शान्ति, लोकगीतों के सन्दर्भ और आयाम, विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1964 पृष्ठ– 35,36
8. सिंह, दुर्गाशंकर प्रसाद, भोजपुरी लोक–गीत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 1944 पृष्ठ–02
9. ठाकुर, पं. ओंकार नाथ, संगीत पत्रिका, लोकसंगीत अंक, संगीत कार्यालय हाथरस, जनवरी–1966, पृष्ठ–27
10. अनिल सन्तराम 'कनउजी लोकगीत, लखनउ विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन 1967, पृष्ठ–42

भारतीय संगीत मे कुछ निवडक संगीतज्ञों का स्वरलिपि में योगदान

डॉ. वृषाली र. देशमुख*

सारांश

अपने विचार एवं भाव प्रकट करने हेतु जिस प्रकार किसी भाषा की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार बंदिशों को स्थायित्व देने के लिये (रागबद्ध तालबद्ध गीतें धुन आदि) में स्वरलिपि का स्थान अत्यंत आवश्यक है। किसी भी गीत और उसके गायन का समय यह किस प्रकार गाये बजाए जाते थे। यह आने वाली पीढी को समझाने की दृष्टि से स्वरलिपि का एक महत्वपूर्ण स्थान है, एवं एक प्रभावी माध्यम है जो आने वाली कई पिढियों में संगीत शिक्षा ज्ञात करने का एक महत्वपूर्ण वरदान है।

स्वरलिपि से सामुहिक शिक्षा का आदान–प्रदान हो सकता है। किसी गीत का विस्मरण हो गया हो तो उसे पुनः प्राप्त करने में स्वरलिपि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिये स्वरलिपि का महत्व पीढी दर पीढी बढ़ता गया। किसी कलाकार के गायन में स्वरों के हर लगाव का स्वरलेखन करना संभव नहीं है, एवं दो स्वरों में आनेवाले अन्य स्वर मींड अंशस्वर आदि को स्वरलेखन पद्धति से स्पष्ट करना संभव नही लेकिन किसी भी बंदिश का मुल स्वरूप (सांचा) स्वरलिपि से आत्मसात किया जा सकता है। इस कलाको योग्य अधिकारी व्यक्ति स्वरलेखन का योग्य मार्गदर्शन कर सकता है।

इस प्रकार स्वरलेखन पद्धति की इस प्रकार महत्वपूर्ण उपयोगिता के कारण ज्ञानी व्यक्तिओं से उसका बाकायदा उद्‌गम हुआ एवं समय के साथ उसका विकास हुआ।

उद्देशः भारतीय शास्त्रीय संगीत के श्रद्धेय पं. विष्णु दिगम्बर पलुरकर एवं पं. विष्णु नारायण भातखंडे व्दारा बनायी गयी स्वरलिपियाँ आज भी उत्तर हिंदुस्तानी स्वरलिपि पद्धती में प्रचलित है। फिर भी इन महान संगीतज्ञों के साथ–साथ अन्य शास्त्रकारों के स्वरलिपि में कुछ साम्य–भेद दिखाई देते है, अतः इन महान संगीतोद्धारक एवं संगीत शास्त्रकारों के कार्य की तुलना करना मेरा अधिकार नही । आज हम स्वरलिपि के आधार पर ही संगीत का अमुल्य ज्ञान ले पा रहे है। इन संगीत तज्ञ के स्वर लिपी मे कुछ समानता एव भिन्नताई दिखाई देती है पंडित विष्णु दिगंबर पलूसकर व पंडित भातखंडेजी की स्वरलिपि सबको ज्ञात है पर ऐसे और भी संगीत तज्ञ है जिनका अपने संगीत मे स्वरलिपी का योगदान है। इस संशोधन पत्रिका मै यही कुछ संगीत तज्ञके स्वर लिपि का योगदान दिखाना चाहते है। यही मेरा उद्देश्य है

प्रस्तावना–भारतीय संगीत में स्वर लिपी पद्धती अतिप्राचीन है। संगीत के काल में इसमें विकास एवम् प्रगती हुई। सामगान यह उदात्त, अनुदात एवं स्वरित इन स्वरो पर आधारित था स्वर व्यक्त करने हेतू वेदकाल में आडी (–) और खडी (I) रेखाओं का उपयोग करते थे। इसके बाद जैसे–जैसे स्वरों की संख्या बढती गई वैसे विभिन्न चिन्हों का उपयोग होता गया। वेदकाल में कोमल, तीव्र स्वरों के लिए कोई चिन्ह नहीं थे। इस काल में गायको व्दारा किये गये स्वरलिपि के संकेत मिले। महर्षि पाणिनी के अष्टमाध्यायी में स्वर क्रिया का सविस्तर वर्णन किया है। इससे यही प्रतित होता है कि पाणिनी काल में स्वरलिपि का प्रचार था।

12 वी शताब्दी में शारंगदेव लिखित संगीत रत्नाकर में स्वरलिपि युक्त अनेक गीतों का समावेश है। इसके अलावा महर्षि भरतमुनी पं. सोमनाथ इन संगीतज्ञो के ग्रंथों में भी स्वरलिपि का उपयोग किया गया है। तालाध्यायों में मात्राओं के विभिन्न

* जे.डी.पाटील सांगुळदकर महाविद्यालय दर्यापूर, जि. अमरावती.

चिन्ह, ताल, की सशब्द एवं निःशब्द क्रिया आदि संम्बधी स्पष्ट विवेचन किया गया है।

19वी शताब्दी के पुर्वार्ध में पं. सोमनाथ के राग–विबोध के पाचवें अध्याय मे तत् वाद्यो के लिये तेईस चिन्हों का प्रयोग दर्शाया गया है। इसमें स्थिर, अवकाश एवं मृदू–मंद्रस्थान के चिन्हों का प्रयोग किया गया है। भैरव राग में इन चिन्हों का प्रयोग निम्नलिखित रूप से किया है।

13 वी शताब्दी से २० वी शताब्दी के प्रारंभ मे खाँ साहब मौलाबख्श के पूर्वकाल में संगीत कला ऐसे लोगो के हाथों में गई थी की जो पं. भरत, शारंगदेव इन महान शारत्रकारों के ग्रंथ ज्ञात करने में अथवा ग्रंथ निर्माण करने में समर्थ नहीं थे ।

इसी कारण इस काल में संगीत की प्रात्यक्षिक क्रिया स्पष्ट रूप से प्रचार में आ न सकी अपितु इन्ही लोगो के कारण स्वरलिपि का अपप्रचार हुआ। इन सब का परिणाम ऐसा हुआ के संगीत कला सिर्फ सीमित लोंगो तक ही पहुँच पायी इसलिए स्वरलिपि पद्धति का प्रयोग कुछ समय तक बंद पड गया। स्वरलिपि पद्धति को आगे बढाने मे खाँ साहब मौलाबख्श इनका नाम सर्वप्रथम लिया जाता है।

खाँ साहब मौलाबख्श

आधुनिक काल में बडौदा के खॉ साहब मौलाबख्श ने सर्वप्रथम स्वरलिपि का निर्माण किया। पाश्चात्य स्वरलिपि से प्रभावित होकर अपने देश में भी सामुहिक संगीत शिक्षा के लिये अत्यंत प्रभावी एवं उपयुक्त स्वरलिपि की जरूरत है इस हेतू इन्होने पाश्चात्य संगीत के कुछ चिन्ह एवं स्वयं निर्मित कुछ चिन्ह इनके संयोग से एक स्वतंत्र स्वरलिपि पद्धति का निर्माण किया। खाँ साहब के इस नये प्रयोग से शिक्षित वर्ग अति प्रभावित हुआ एवं संगीत शिक्षा के लिए स्वरलिपि –बद्ध पुस्तकों की आवश्यकता है ऐसा उन्होने प्रतिपादन किया। खाँ साहब की यह स्वरलेखन पद्धति सभीकों उपयुक्त लगने लगी।

संगीतोद्धारक पं. विष्णू दिगम्बर पलुस्कर ने संगीत कला में अभिरूचि रखने वाले सानान्य जनों के लिए संगीत संस्थाएँ खोलकर उनकी कला को निखारा और उनकी आशाओं को नई दिशा दी। भारतीय संगीत तथा अपनी संस्कृति की अमूल्य धरोहर सहेजकर रखने तथा उसमें संशोधन करके सामान्य जनों तक पहुंचाने के अथक परिश्रम पंडित विष्णु नारायण भातखंडे इन्होंने किया है। इन्होने सुगम, सरल, और सुलभ स्वरलिपि का अविष्कार किया जिससे संगीत–शिक्षा बहुत आसान हो गई।

पं. विष्णू दिगम्बर पलुस्कर तथा पं. विष्णु नारायण भातखंडे इन दो संगीतज्ञों ने शास्त्रीय संगीत की परिभाषा में अमूल्य परिवर्तन किया। इन दो सगीतोध्दारक शास्त्रकारों के कारण ही आज हम संगीत की शिक्षा इतने सुलभ रूप से ले पा रहे है। पं.विष्णू दिगम्बर पलुस्कर ने अपने घर परिवार की परवा न करते हुए पूरी लगन के साथ संगीत के लक्ष को ही अपना घर–परिवार समझा और उसी के साथ बंधे रहे।

आज उसी के फलस्वरूप हम सभी उनकी स्वरलिपि में अपनी संगीत शिक्षा प्राप्त कर रहे है। उसी प्रकार भातखंडे जी ने भारतीय संगीत की परंपरा मे प्राचीन ग्रंथ एव सामवेद मे समाविष्ट श्लोक आदी के आधार पर स्वर लिपि पद्धती की निर्मिती की पंडित जी ने प्राचीन परंपरा के साथ साथ आने वाली आधुनिक पिढी को ध्यान मे रखते हुए स्वर लिपी की रचना की ,क्रियात्मक संगीत को लिपिबद्ध करने के लिये एक नई स्वरलिपि की रचना की, जिसका प्रचार उत्तरी हिंदुस्तानी संगीत मे बहुत अधिक है। जिस समय भारत में रेडीयो नही था, उस समय भातखंडे जी ने संगीत के प्रचार हेतू संगीत सम्मेलन की कल्पना की। इन दोनों शास्त्रकारों के कारण शास्त्रीय संगीत का प्रचार प्रसार हुआ। सामान्य लोगोंकी संगीत के प्रति रूचि बढती गई, और स्वरलिपि के कारण उसे ग्रहण करना भी आसान हो गया। इसी के कारण कई संगीत सम्मेलन होने लगे। उसे सुनने वालों की संख्या में वृद्धि हुई।

पं. कृष्णराव शंकरराव पंडित

संगीत कला के प्रकांड पंडित श्रीकृष्णराव ग्वालियर के निवासी है। आपने अपना कार्य–क्षेत्र आरम्भ से ही ग्वालियर रखा है। 113 में महाराज सातास ने आपको शिक्षक के रूप में अपने वहाँ रखा, परन्तु एक वर्ष बाद ही आपने यह कार्य छोड़ दिया। इसके उपरांत महाराज ग्वालियर ने आपको पाँच वर्ष तक अपने दरबार में रखा। इस बीच आपने आधुनिक ग्वालियर नरेश (तत्कालीन युवराज) और उनकी बहन भी कमला राजा को संगीत–शिक्षा दी। परिस्थितियों से विवस होकर आपने दरबार छोड़ दिया और देशाटन के लिए निकल पड़े। तभी से आपके मनमें एक संगीत– विषयक अच्छी संस्था स्थापित करने की इच्छा उठी। फलतः सन् 1914 ई में आने श्गांधर्व महाविद्यालयश नाम से ग्वालियर में एक संस्था स्थापित की। सन् 1917 ई. में उक्त संस्था का नाम अपने पिता की स्मृति में शंकर ग ांधर्व विद्यालय रखा। यह संस्था तभी से संगीत–शिक्षण का कार्य कर रही है और प्रतिवर्ष अच्छे अच्छे कलाकार इस संस्था से निकलते रहे हैं। यह विद्यालय ग्वालियर में सबसे प्राचीन है। सन् 1926 31 ग्वालियर आलिया कौन्सिल द्वारा आपको तथा म. उमराव खाँ को दरबारी गायक नियुक्त किया गया। सन् 1947 ई में ग्वालियर महाराज (श्रीमन्त जयाजीराव शिविया) ने आपको स्थानीय माधव संगीत महाविद्यालय में सुपरवाईजर अलाउन्स देकर नियुक्त किया था। सन् १९४५ ई. में ग्वालियर में आप 'संगीत–रत्नालंकार' की उपाधि से सम्मानित हो चुके है। सन् 1959 ई. में आपको राष्ट्रपति पुरस्कार तथा सनद प्रदान किए गए। सन् 1962 ई में खैरागढ़ विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त हुई। 1973 में भारत– सरकार ने आपको श्पद्म भूषणश के अलंकार से विभूषित किया। पं. कृष्णराव पंडितजी ने अपने पिताश्री पं. शंकर पंडित की सांगितीक परंपरा को आगे बढ़ाते हुए उनकी स्वररचित बंदिशों को अपने स्वरचित स्वरलिपि से स्वरलिपिबद्ध किया तथा अनेक नयी बंदिशो को स्वरबद्ध किया।

पं. ओंकारनाथ ठाकुर

पं. ओंकारनाथ ठाकुर जी ने ग्वालीयर घराने के प्रख्यात विष्णु दिगम्बर पलुस्कर से उनकी गायकी आत्मसात करने के पश्चात् अपने गायन शैली को प्रस्तुत किया और उसे भरपूर सफलता एवं प्रतिसाद प्राप्त हुआ।

पं. ओंकारनाथ ठाकुर एक प्रख्यात गायक होने के साथ एक सफल उच्च श्रेणी के शिक्षक थे। लाहौर में पंडितजी ने 1916 से 1918 तक के सफलतापूर्वक कार्य करते हुए, असंख्य विद्यार्थियों को संगीत विद्या का दान किया। पं. ओंकार नाथ ठाकुर ने अपनी स्वतंत्र स्वरलिपि की रचना करके श्रेष्ठ रचनाकार के रूप में अतुलनीय ख्याति प्राप्त की थी।

स्वरलिपि का आविष्कार करने वाले संगीतज्ञों की स्वरलेखन पद्धतियाँ

सन् 1833 से 1896 मे निर्मित उस्ताद मौलाबख्श की स्वरलेखन पध्दति

१) शुद्ध स्वर – कोई चिन्ह नही

२) मंद्र स्वर – –

३) तार स्वर – •̲•

४) मध्य स्वर – चिन्ह नही

५) कोमल स्वर – अ

६) तिव्र मध्यम म.

ताल चिन्ह

१) सम – सा

२) काल – झ

निष्कर्ष– संगीतशास्त्र में मुद्रणकला का अविष्कार हुआ इसे पूर्णरूप से अविष्कृत करनेमें हमारे महान शास्त्रकार उस्ताद मौलाबख्श, पं.वि.दी. पलुस्कर, प.वि. ना. भातखंडे ओंकारनाथ ठाकूर, पं. कृष्णराव पंडीत आदी सगीतज्ञों का योगदान है ।

इस प्रकार भारतीय संगीत की विशाल परम्परा में इन महान संगीतज्ञो ने स्वरलिपि का आविष्कार करके संगीत का भविष्य उज्वल कर दिया। भारतीय संगीत में स्वरलिपि के आविष्कार ने संगीत का भविष्य प्रकाशमान किया है।

इन महान संगीतज्ञोंकी स्वरलेखन पद्धति तीव्र–कोमल स्वर तार–मंद्र स्वरों के चिन्ह में शास्त्रकारों के मतानुसार बदलाव होते गये ।

अतः इन श्रेष्ठ संगीतज्ञों ने स्वरलिपि की निर्मिती करके कुछ बंदीशे संग्रहीत करके जनसामान्य संगीत प्रेमीया ेतक पोहोचाने की एक सुविधा निर्माण की हैं

संदर्भ ग्रंथ सूची

1) हमारे संगीत रत्न लेखक– लक्ष्मीनारायण गर्ग
2) संगीतातील घराणी आणि चरित्रे लेखक –डॉ. नारायण मंगळूरकर
3) संगीतांजली लेखक –पंडित ओंकारनाथ ठाकूर
4) राग विज्ञान लेखक–पं.वि.दी. पलुस्कर
5) भारतीय संगीत के महान संगीतकार शंकर पंडित लेखक –तुषार पंडित

मर्यादा और भारतीय संस्कृति के प्रतीक राम

डॉ0 प्रीति राय*

भारतीय संस्कृति न तो हिन्दू संस्कृति का नाम है और न ही काल–गत रूप में केवल प्राचीन संस्कृति का ही नाम है। भारत सांस्कृतिक दृष्टि से एक बहुलतावादी राष्ट्र रहा है। यहां कई धार्मिक और गैर–धार्मिक समुदाय रहे हैं जिनकी अपनी संस्कृतियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका भारतीय संस्कृति के निर्माण में रही है। यहां हिन्दू हैं, तो मुसलमान भी, बौद्ध हैं तो जैन भी, दलित हैं तो आदिवासी भी। और भी कई धर्म और समुदायों को भारतीय संस्कृति के निर्माण में उनकी भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यहां यह भी ध्यान रखना चाहिये कि भारतीय संस्कृति अभिजन संस्कृति का ही नाम नहीं है, बल्कि वह लोक संस्कृति का भी नाम है। जो संस्कृति संख्या बल और व्यापकता के आधार पर बनी रही है वह भी भारतीय संस्कृति है और वे छोटी–छोटी और गौण संस्कृतियां भी भारतीय संस्कृति है जिनका कोई नोटिस नहीं लिया गया, या कि जो प्रधान संस्कृति के दबदबे के सामने चर्चा में न आने के लिये अभिशप्त हो गयी हैं। कोई प्रधान संस्कृति हो या छोटी छोटी संस्कृतियां सबके अपने जीने के तरीके हैं, अपने–अपने जीवन मूल्य हैं, परंपराएं हैं, नैतिकताएं हैं, अपने–अपने खान–पान हैं, रहन–सहन है, सोचने के अपने तरीके हैं और अपनी–अपनी जीवन दृष्टियां भी हैं। उनके यहां सकारात्मकताओं का एक ढांचा है तो नकारात्मकताओं का भी। उनके अपने ग्राह्य–अग्राह्य बोध भी हैं। इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिये कि इन तमाम संस्कृतिओं में बहुत कुछ मिलते–जुलते तत्व हैं, तो बहुत कुछ बेमेल भी है और साथ ही यह महत्त्वपूर्ण बात भी कि किसी भी संस्कृति के किसी सांस्कृतिक रूप की जब तक अपने समुदाय के उत्पीडन में कोई भूमिका न हो, तब तक उस सांस्कृतिक रूप की आलोचना नहीं की जानी चाहिये, केवल बेमेल जीवन बोध या मूल्य बोध के आधार पर किसी संस्कृति को हेय नहीं ठहराया जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति तभी भारतीय संस्कृति है जब इन बेशुमार वैविध्यों के प्रति हमारे मन में सम्मान हो। मुझे यह सब इसलिए कहना पड़ रहा है क्योंकि इधर हम सांस्कृतिक दृष्टि से असहिष्णु हुए हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के बी.ए. आनर्स पाठ्यक्रम से अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के दक्षिण भारतीय विद्वान ए. के. रामानुजन के ''तीन सौ रामायणैः पांच उदाहरण और अनुवाद पर तीन विचार'' शीर्षक लम्बे लेख को केवल इसलिये हटा दिया गया कि एक निश्चित मुद्दे पर कुछ व्यक्तियों की धार्मिक भावनाएं 'आहत' हो रही थीं। यह घटनाक्रम निश्चित रूप से साझा भारतीय संस्कृति का न केवल अगंभीर मूल्यांकन है, बल्कि उसका अपमान भी है।

भारतीय संस्कृति के स्वरूप का एक छोटा–मोटा ढांचा बन जाने के बाद अब हमारे सामने सवाल यह है कि भारतीय संस्कृति में राम की क्या स्थिति है, भारतीय संस्कृति के निर्माण में स्वयं राम, उनके आचरण, उनके जीवन की कैसी और कितनी भूमिका है, भारतीय जनमानस का राम के प्रति कैसा नजरिया है और यह भी कि जनमानस के जीवन में राम की कितनी व्याप्ति है, वह उनके जीवन को कितना नियंत्रित और संचालित कर रहा है? वे कौन से सामाजिक मूल्य हैं जिनको भारतीय जनमानस केवल राम के चलते स्वीकार किया हुआ है और उन्हें अपने पथ–प्रदर्शक के रूप में देखता है?

*सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ

साहित्य और दूसरे कला रूपों में संस्कृति दर्ज होती है जबकि जीवन में वह जिए जाने योग्य होती है। भारतीय जीवन में, विशेषकर हिन्दू जीवन में राम को जिया जाता है। भारतीय जनमानस में राम की जो पहली उति उभरती है वह पुराणों के किसी पात्र के रूप में नहीं, बल्कि भगवान के रूप में उभरती है। उनके ईश्वर रूप की छवि को लगभग हजार वर्ष होने को आए हैं, कहीं ये ब्रह्म के रूप में देखे जाते हैं, कहीं निर्गुण रूप में देखे जाते हैं तो कहीं सगुण रूप में। सगुण रूप में उन्हें विष्णु के अवतार के रूप में देखा जाता है। भक्तिकाल या मध्यकाल के जनमानस में राम के ये दोनों रूप केन्द्रीय बने रहे। राम का ईश रूप भारतीय जनमानस में अब भी व्याप्त है और रहेगा। भारतीय जनमानस में राम को जिए जाने के दो तरीके हमें नजर आते हैं–एक वह जिसमें लोग किसी न किसी कर्मकाण्ड के साथ राम के ईश रूप की वंदना करते हुये अपने दिन की शुरुआत करते हैं, तो दूसरा वह है जिसमें केवल नाम का स्मरण किया जाता है। आज भी लोग बिना किसी कर्मकाण्ड का आश्रय लिए, 'राम तु ही–राम तु ही (हे ईश्वर, सब कुछ तो तुम्हीं हो) का मानस जाप करते हुए अपने प्रातःकाल की शुरुआत करते हैं। इस तरह जनमानस में राम हमारे संस्कार बोध का अनिवार्य हिस्सा बन गए हैं। जनमानस में राम नाम न केवल पवित्र उच्चारण है, बल्कि इसके पीछे यह धारणा भी काम कर रही होती है कि राम नाम के इस पवित्र उच्चारण से हमारा पूरा दिन, पूरा जीवन अच्छा और श्रेष्ठ व्यतीत हो। जनमानस में राम' शब्द की व्याप्ति का एक और लोकप्रिय उदाहरण हम लेंगे। राम जिस विष्णु के अवतार कहे गए हैं स्वयं उन विष्णु' और इनके ही एक अन्य अवतार 'कृष्ण' की भी वो व्याप्ति दर्ज नहीं हो पायी है जो राम को मिली। किसी संकट के अचानक हमारे सामने उपस्थित हो आने की स्थिति में हमारे मुख से अनायास ही 'हे राम' फूट पड़ता है। ऐसे समय हमारा मुख कृष्ण नाम का उच्चारण नहीं करता। डा. राजबली पाण्डेय भी कुछ ऐसा ही मानते हैं। वे लिखते हैं– "आज भारत के प्रत्येक नागरिक की जिव्हा पर राम नाम व्यास है, चाहे वह किसी भी वर्ग, जाति या संप्रदाय का हो। जब दो व्यक्ति मिलते हैं तो एक–दूसरे का स्वागत राम–राम' कहकर करते हैं। बच्चों के नामों में 'राम' का सर्वाधिक प्रयोग भारत में हुआ है। मृत्युकाल और दाह–संस्कार पर राम का ही स्मरण होता है।''1 इन उदाहरणों से हम समझ सकते हैं कि हिन्दू जीवन में 'राम' कितने गहरे तक समाये हुये हैं। भक्त या कवि के रूप में हिन्दू मानस का कण्ठहार माने जाने बाले तुलसीदास के लिये रामरहित जीवन और व्यक्तित्व की कोई सार्थकता ही नहीं है–

''जरि जाइ सो जीवन जानकीनाथ।
जियह जग में तुम्हरो बिनु है।''

भारतीय संस्कृति को राम की सबसे बड़ी देन थी उनके द्वारा जिया गया जीवन–उनका आचरण, ऐसा आचरण जो जनमानस के लिए प्रेरणादायक बन गया। भारतीय संस्कृति को राम के आचरण ने जीवन के अत्यंत स्वस्थ और व्यावहारिक आदर्श दिए। राम के चरित्र को आधार बनाकर लिखे गए धार्मिक और गैर–धार्मिक सभी ग्रंथों में हिन्दू जनमानस पर संस्कृत में लिखित वाल्मीकीय 'रामायण' और अवधी भाषा में रचित 'रामचरित मानस के राम के जीवन और आचरण का ही ज्यादा प्रभाव पड़ा है। यह बात केवल उत्तर भारतीय संदर्भ में ही लागू होती है। यद्यपि राम कथा के न जाने कितने रूप हमारे देश में विद्यमान है। संस्कृत में भवभूति का 'उत्तर रामचरित है तो दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी रामकथा ग्रंथ है। 12वीं सदी में तमिल में कंबन महाकवि ने 'कंबनरामायण' लिखी। 'अध्यात्मरामायण है। बौद्धों और जैनों की अपनी रामायणे है। यहां तक कि लोक में भी रामकथा के अपने रूप है। रामकथा पर विशेष शोध करने वाले फादर कामिल बुल्के ने तीन सी रामायणी के प्रचलित होने की बात कही है।' पर हिन्दी भाषी जनता में शहरों से लेकर गांव तक तुलसीदास की रामचरित मानस ही लोकभाषा में रचित होने के चलते समाहित हो पायी। इस रचना के माध्यम से रामकथा घर–घर पड़ी और बांची जाने लगी।

'रामचरित मानस' में कैसा है राम का आदर्श जीवन, इसे बतलाते हुये विश्वनाथ त्रिपाठी जी लिखते हैं– ''तुलसी ने राम को सामाजिक, जागतिक और समकालीन नैतिक मूल्यों के आदर्श का प्रतीक बना दिया। तुलसी के राम उन समस्त गुणों के योग और प्रतीक हैं जो समाज को तब तक ज्ञात और मान्य थे। इन आदर्शों में सर्वाधिक प्रसिद्ध आदर्श था आचरण में मर्यादा का विशेष ध्यान रखना। तभी तो उन्हें 'मर्यादा पुरोषोत्तम' कहा जाता है" ।2 राम एक आदर्श पुत्र थे, पिता का वचन चाहे जितना कठोर हो, प्राण देकर भी उसका पालन करना जरूरी मानते थे। कैकेयी को पिता द्वारा दिये वचनों का पालन करने के लिए ही तो वे अपना भरा–पूरा पारिवारिक संसार छोड़कर 14 वर्षों तक वनवास भुगतने के लिए चले गए। वन के इतने लम्बे कठोर जीवन की कल्पना होने के बावजूद वे पुत्र की आदर्श भूमिका से जरा भी विचलित नहीं होते। आज भी लोग यह कहते मिल जाते हैं कि पुत्र तो राम जैसा ही हो, इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि राम का यह आचरण जनमानस में किस तरह समाहित है। राम सबसे बड़े थे, राज्य उन्हें ही मिलना था, इसके बावजूद राम यह त्याग करते हैं, केवल पिता के वचनों का पालन करने के लिए। यह पिता पुत्र संबंध में मौजूद मर्यादा भाव था जो जीवन के कठोर संकटों तक पर दबदबा बनाए रखता है। राम की मर्यादा का एक और रूप था। वे एक पत्नीवत थे। उन्होंने यह सामाजिक मूल्य अपनी वंशगत परंपरा के विरुद्ध जाकर निर्मित किया था। वे चाहते तो कई पत्रिया रख सकते थे, कई विवाह कर सकते थे, स्वयं उनके पिता ऐसा कर चुके थे। दशरथ की एक से अधिक रानिया थी, उसके बावजूद वे केवल एक विवाह का ही आदर्श रखते हैं। कथित लोक–मर्यादा का ध्यान रखते हुये वे एक विशेष संदर्भ में सीता का त्याग तक कर देते हैं, वे चाहते तो ऐसे समय पुनर्विवाह करके दूसरी पत्नी के स्वामी बन सकते थे पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। ए. के. रामानुज कहते हैं–

"भारतीय संस्कृति में राम की छवि एक लोकवादी व्यक्ति के तौर पर भी रही है। हिन्दी क्षेत्र की जनता में राम के इस रूप की व्याप्ति के लिए तुलसीदास की रामचरित मानस प्रमुख हेतु रही है। तुलसी के राम लोक–जीवन में घुले मिले हैं। वे अयोध्यावासियों के लिए अतिशय प्रिय हैं" ।3 यहां तक कि राम के साथ खेलने में, साथ रहने में बालकों तक को अपनी सहजता में कोई संकट नजर नहीं आता है। जनकपुर में उनके साथ घूमकर 'मटर गश्ती' तक करते हैं विश्वनाथ त्रिपाठी लिखते हैं– "यह भी ध्यान देने योग्य है कि राजा जनक और उनके भाईयों या सामंतों श्रेष्ठियों के भी पुत्र रहे होंगे, किंतु वे राम के साथ नहीं हैं। राम के साथ वे बालक हैं, जिन्हें अंग्रेजी में स्ट्रीट अर्चिन्स' कहा जाता है" ।4 सरल निष्कपट ग्रामीणों से उनकी निकटता है। यहां तक कि निषाद, शबरी और कोल–किरातों तक को वे सहजता का ही अनुभव कराते हैं। ये रामकथा के हिस्से हैं, 'मानस' के, लेकिन इन सारी घट्नाओं को पढकर या सुनकर कोई भी व्यक्ति यह जरूर सोचेगा कि तुलसी के राम, जो कि ब्रह्म हैं, ईश्वर का अवतार है, दिव्य पुरुष हैं, पर उन्हें अपने दिव्य होने का अहंकार छू तक नहीं गया है। वे मानवी रूप में मानव का सा जीवन उनके साथ जी रहे हैं।

ऐसी विचित्र स्थिति पैदा करने वाली कथा–घटना ही जनमानस को अपनी गिरत में लेकर अपने अनुसार डालती है। इसे तुलसीदास की मनोवैज्ञानिकता की बेहतरीन समझ के रूप में देखा जा सकता है।

ऐसा नहीं है कि ये उच्च आदर्श केवल तुलसीदास की लोकभाषा में रचित मानस में ही है, वाल्मीकीय रामायण में भी राम का ऐश्वर्य स्वरूप तथा चरित्र बहुत ही उच्च और आदर्श नैतिकता से भरपूर है। वे जीवलीक के रक्षक, सर्वलोकप्रिय, साधु भी हैं। क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमाशीलता में पृथ्वी के समान है।'' राम असहाय, निस्संबल, अभागे, गुणहीन, गरीब, पंगु, अंधे, भूखे,

निराधारी, दीनों के बंधु हैं। शील और संकोच की मूर्ति के रूप में वे ग्रंथों में ही जगह नहीं बनाए हुए हैं, साधारण जनता में भी उनकी वैसी ही छवि पैठी हुई है। हिन्दू संस्कृति में मनाये जाने वाला प्रसिद्ध पर्व 'रामनवमी' को असत्य पर सत्य की विजय के रूप में देखा जाता है, यहां यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि असत्य का प्रतीक कौन है और सत्य का कौन? राम–राज्य की अवधारणा और व्यंजना से कौन अपरिचित होगा, कौन है जो बेहतर राज–व्यवस्था के लिए इस पद का प्रयोग नहीं करता। ये सारे आदर्श, नैतिकताएं, जीने के नियम हिन्दू मानस में रचे–बसे हैं।

यह ध्यान देने वाली बात है कि रामकथा संस्कृत के बाद केवल हिन्दी या उसकी बोलियों में नहीं रची गई है, दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी रची गई है। ग्रंथी से इतर कुछ भिन्नताओं के साथ रामकथा के लोक प्रचलित रूप भी है। दक्षिण भारत में प्रचलित रामकथाओं में कुछ बड़े परिवर्तन भी नजर आते हैं। कन्नड भाषा में जो लोकरामायण है और जो पारम्परिक माटी द्वारा गाई जाती है, उसमे तो सीता का जन्म ही रावण की नाक से हुआ है। कन्नड भाषा में सीता शब्द का अर्थ ही होता है– 'उसने छींका। बौद्धों में 'दशरथ जातक' के रूप में रामकथा मौजूद है और इसके कई महत्वपूर्ण तथ्य वाल्मीकि और तुलसीदास की 'रामायणों से काफी भिन्न है। जैनों में भी विमल सूरि ने 'पउमचरिय' नाम से जैन रामायण लिखी। यहां राम का चरित्र और व्यक्तित्व भिन्न है। यद्यपि राम के स्थापित कई आदर्श यहां भी हैं। विमल सूरि के 'पउमचरिय' की रामकथा हिन्दू मूल्यों की वाहक नहीं है। जैन पाठ मानते हैं कि 'हिन्दुओं, विशेषतः ब्राह्मणों ने रावण को बदनाम किया है, उन्हें खलनायक बनाया है... गलत ढंग से सोचने वाले कुकवि और मूर्ख ये झूठ बोलते हैं। 'पउमचरिय' में राम के आदर्श व्यक्तित्व को और ज्यादा उच्चाइयां प्रदान की गई हैं। ये आदर्श संस्कृत और हिन्दी में प्रचलित रामायणों से एकदम अलग है। ए. के. रामानुजन बताते हैं कि "यहां राम रावण का वध नहीं करते, जैसा कि हिन्दू रामायणों में मिलता है। कारण यह है कि राम एक उन्नत जैन आत्मा है, जिन्होंने अपने आवेगों को जीत लिया है। यह उनका आखिरी जन्म है, इसलिए वे किसी को भी मारने के लिए अनिच्छुक हैं। शत्रुओं को मारने का काम लक्ष्मण पर छोड दिया गया है। उधर दक्षिण भारत में महाकवि कंबन की तमिल भाषा में रचित 'कंबनरामायण' में राम बुरी शक्तियों के विनाशक, शत्रुओं को बंध्या बनाने, अहिल्या उद्धारक के रूप में, उर्वरता के मेघ–श्यामल देवता के रूप में आते हैं। कबन के पूरे काव्य में राम एक तमिल नायक के रूप में उभरते हैं"5 कंबन के गुरु नम्मालवार तो यहां तक कहते हैं कि

राम के सिवा किसी चीज का ज्ञान
कोई क्यों अर्जित करें?

राम के संबंध में बतलाई गई उपरोक्त धारणाएं, उनका जीवन, उनके आदर्श भारतीय समाज के लिए एक दिशा, एक प्रेरणा का काम करते रहे हैं। कोई भी समाज नियम व्यवस्थाओं पर जीवित रहता है नियम स्वयं राम के आचरण में व्यक्त होती रही है और लोगों ने उन्हें अपना कण्ठहार बनाया है। पर राम के कुछ आदर्श ऐरी भी रहे हैं, जिनका नकारात्मक प्रभाव भी समाज पर पड़ा है। राम को भगवान का एक आदर्श मानकर समाज बिना किसी आलोचनात्मक विवेक के सब कुछ अपनाता गया है। राम के वर्ण–व्यवस्थागत आदर्श, शंबूक वध और लोकापवाद के तहत किए गए सीता का त्याग ऐसे ही आदर्शों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। यह सच है कि रामकथा पाठक या श्रोता पर अपना गहरा प्रभाव डालती है। रामकथा की इस शक्ति का उल्लेख करते हुए ए. के. रामानुजन ने लिखा है– "जब आप ध्यानपूर्वक इस अर्थगर्भित कथा को सुनते हैं तो क्या होता है। एक मूर्ख भी इसके प्रभाव से बच नहीं सकता है, वह आत्मविस्मृत हो जाता है और कथा के घटनाक्रम की गिरफ्त में आ जाता है। श्रोता तमाशबीन नहीं रह पाता, वह महाकाव्य के संसार में घुसने के लिए विवश हो जाता है किस्से और असलियत की बीच की रेखा

मिट जाती है" ।6 जाहिर सी बात है, इस प्रभाव में कुछ नकारात्मकताएं भी जनमानस में स्वीकार की गई। शंबूक का दोष केवल इतना सा था कि वह शूद था और साधना के जरिये देवलोक में स्थान पाना चाहता था। वर्णव्यवस्था की नजर में तो शूद्र का ऐसा कार्य घोर अपराध है। राम द्वारा शूद्र तपस्वी शंबूक का 'वध' कर दिया जाता है। अगर इस तपस्या द्वारा कोई ब्राह्मण–पुत्र मरणासन्न हो जाता तो इसमें शंबुक का क्या दोष है? राम द्वारा शंबुक का किया गया 'वध' शूद्रों को उनके बुनियादी मानवीय अधिकारों से वंचित करने का मामला है। दूसरा उदाहरण सीता का है। सीता रावण द्वारा अपहता थी। राम रावण को पराजित कर सीता को छुड़ा कर अयोध्या लाते हैं, लेकिन लोकपवाद के चलते सीता को उनके द्वारा निर्वासित कर दिया जाता है। किसी व्यक्ति को निर्मूल शंकाओं के सहारे ऐसी यातना नहीं दी जा सकती, जैसी राम ने सीता को दी है। कई लोग, जिनमें विद्वान लोग भी शामिल हैं यह कहते मिल जाते हैं कि हिन्दी जनता पर तो फला 'रामायण' का प्रभाव है, फलां रामायण या 'मानस' में तो ये प्रसंग ही नहीं है। महत्त्वपूर्ण सवाल यह नहीं है कि किस रामकथा में ये प्रसंग है अथवा नहीं, महत्त्वपूर्ण सवाल यह है कि जनता के एक हिस्से में इन प्रसंगों की व्याप्ति है या नहीं, जनता में इन घटनाओं का कोई नकारात्मक मूल्य–बोध बना है या नहीं। इस पर गहराई से सोचा जाना चाहिए। भारतीय संस्कृति को, निस्संदेह, राम की ये देन भी रही है– हम चाहे माने या न माने।

संदर्भ

1. डॉ. राजबली पाण्डेय, हिन्दू धर्म कोश, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, तृतीय संस्करण–2003, पृष्ठ 55
2. विश्वनाथ त्रिपाठी, लोकवादी तुलसीदास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति–1999, पृष्ठ–11
3. ए. के. रामानुज का आलेख, तीन सौ रामायणे पाच उदाहरण और अनुवाद पर तीन विचार (हिन्दी अनुवाद–डॉ. संजीव कुमार), नया पथ पत्रिका, अक्टूबर–दिसबर 2011 नई दिल्ली, सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, पृष्ठ–9
4. विश्वनाथ त्रिपाठी, लोकवादी तुलसीदास, राधा.ष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम आवृत्ति–1999, पृष्ठ–12
5. ए. के. रामानुज का आलेख, तीन सौ रामायणे पांच उदाहरण और अनुवाद पर तीन विचार (हिन्दी अनुवाद–डॉ. संजीव कुमार), नया पथ पत्रिका, अक्टूबर–दिसंबर 2011, नई दिल्ली, स. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, पृष्ठ–16
6. ए. के. रामानुज का आलेख, तीन सौ रामायणे. पाच उदाहरण और अनुवाद पर तीन विचार (हिन्दी अनुवाद डॉ. संजीव कुमार), नया पथ पत्रिका, अक्टूबर–दिसंबर 2011 नई दिल्ली, सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, पृष्ट–16
7. सुवीरा जायसवाल, वैष्णवधर्म का उद्भव और विकास, ग्रंथ शिल्पी, दिल्ली, तीसरा संस्करण–2005
8. पथ पत्रिका, अक्टूबर–दिसंबर 2011, नई दिल्ली, स. –मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
9. संजीव कुमार), नया पथ पत्रिका, अक्टूबर–दिसंबर 2011, नई दिल्ली, सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
10. पथ पत्रिका, अक्टूबर–दिसंबरः 2011, नई दिल्ली, सं. मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

ललित निबंध साहित्य में लोककलाएँ

डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज*

सारांश

ललित निबंध साहित्य में लोकसंस्कृति के विभिन्न आयामों, अंगों एवं तत्त्वों का विशद निरूपण मिलता है, जिनमें लोककलाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। ललित निबंधों में भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों की अवधारणाओं संबंधी लोककलाओं का वर्णन मिलता है, जिनका कैनवास वास्तु एवं स्थापत्य के साथ–साथ ललित एवं उपयोगी कलाओं के विविध रूपों तक फैला हुआ है। विद्वानों ने मानव सभ्यता के विकास के साथ ही लोककलाओं के विकास के तथ्य प्रस्तुत किए हैं जिनका अन्वेषण हिंदी के ललित निबंधकार पं. रामनारायण उपाध्याय, डॉ. कुबेरनाथ राय, डॉ. मालती शर्मा, डॉ. एन.ई. विश्वनाथ अय्यर, डॉ. श्रीराम परिहार, राजकिशन नैन आदि के ललित निबंधों में विभिन्न दृष्टिकोणों से किया गया है। लोककलाओं के कई सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं दार्शनिक संदर्भ हिंदी के ललित निबंधों में मिलते हैं। मधुबनी लोक चित्रकला, वारली आर्ट, लोकसंगीत, लोकवाद्य, मूर्तिकला आदि इन ललित निबंधों में लोककलाओं संबंधी अभिव्यक्ति का आश्रय रहे हैं। कसीदाकारी के साथ–साथ लोकनाट्य सांग का वर्णन डॉ. संतराम देशवाल, रंगोली का डॉ. शिव प्रसाद सिंह, मेहंदी डॉ. मालती शर्मा, लोकवाद्यों का डॉ. नर्मदा प्रसाद सिसोदिया, लोकसंगीत का डॉ. श्यामसुंदर दुबे वर्णन करते दिखाई देते हैं। अस्तु यह कहा जा सकता है कि ललित निबंधा साहित्य में विभिन्न दृश्य एवं प्रर्शनकारी कलाओं के साथ–साथ कई प्रकार की ललित कलाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया गया है। प्रस्तुत शोधपत्र में ललित निबंधों में अभिव्यक्त इन्हीं लोककलाओं के निरूपण का अध्ययन–विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तावना– ज्ञान–विज्ञान के ज्ञात साधनों–संसाधनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि आदिकाल से ही मनोभावों का चित्रण विभिन्न माध्यमों के द्वारा अभिव्यक्त होता रहा है। कला भी एक ऐसा ही माध्यम है जिसके द्वारा मनुष्य प्रसन्नता, विस्मय, भय, प्रेम, आश्चर्य आदि भावों को अभिव्यक्त करता रहा है। साहित्य के कई विद्वानों का मत रहा है कि मनुश्य ने श्रमकार्य के दौरान की जाने वाली गतिविधियों से ही प्रेरित होकर कला की प्रेरणा ग्रहण की होगी। यही कारण है कि पुरातत्व खुदाइयों में प्राप्त मृण्मयपात्र, भित्तिचित्र, बर्तन–भाण्डों पर उकेरी आकृतियाँ, खिलौने आदि इस परिकल्पना के प्रत्यक्ष साक्ष्य बनकर हमारे सामने आते रहते हैं। भीम–बेटिका के भित्तिचित्र, अजंता–ऐलोरा की गुफाएँ, ऐतिहासिक इमारतों की वास्तुकला, मूर्तियों के अलंकारों की विविधता, कपड़ों पर उकेरी गई जरी की कलाकृतियाँ, सुराहियों पर सोने के पानी की परत, हाथी दाँत पर नक्काशी, संगीत के वाद्ययंत्र, लकड़ी–मिट्टी या धातुओं पर की गई कलाकारियों में पशुओं से लड़ता मनुष्य, वनस्पतियों, जीव–जंतुओं आदि के चित्र, विग्रह, आदि मनुष्य को उसके जीवन–जगत् के कलात्मक इतिहास से अवगत कराते रहे हैं। ललित निबंध संग्रहों 'उत्तरकुरु' में डॉ. कुबेरनाथ राय, 'भय के बीच भरोसा' में डॉ. श्रीराम परिहार, 'लोक आलोक' में डॉ. संतराम देशवाल, 'सों–फिर, भादों गरजी' में डॉ. मालती शर्मा आदि ललित निबंधकार लोककलाओं पर विस्तार से चर्चा करते हैं, जिनमें त्योहारों पर लगाई जाने वाली मेंहदी से लेकर नवरात्रि में बनाई जाने वाली देवी की प्रतिमा तक कई लोककलाओं के विविध पक्षों पर विभिन्न संदर्भों के साथ विमर्श प्रस्तुत किया गया है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ललित निबंध

सहायक प्राचार्य हिंदी, मारवाड़ी महाविद्यालय, (ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय), दरभंगा, बिहार

साहित्य की रमणीयता में वृद्धिकारक तत्त्वों में लोककलाओं कर महत्त्वपूर्ण योग रहा है।

उपलब्ध साहित्य– ललित निबंध संग्रह 'उत्तरकुरु' (डॉ. कुबेरनाथ राय), 'भय के बीच भरोसा', 'रचनात्मकता और उत्तर परंपरा' (डॉ. श्रीराम परिहार), 'लोक आलोक' (डॉ. संतराम देशवाल), 'सोंकृफिर, भादों गरजी'(डॉ. मालती शर्मा), 'छापक पेड़ छिउलिया'(आद्याप्रसाद सिंह 'प्रदीप'), संदर्भ ग्रंथ 'भारत के लोकनृत्य' (प्रो. शरीफ मोहम्मद), 'लोक संस्कृति के विविध आयाम'(डॉ. अर्पणा बादल, डॉ. राहुल मिश्र), 'लोक मिथक मूल्य और सौंदर्य दृष्टि'(श्यामसुंदर दुबे) आदि।

प्रविधि–प्रस्तुत शोधपत्र लेखन हेतु तथ्याख्यान विश्लेषणात्मक शोध प्रविधि का प्रयोग किया गया है।

बीज शब्द– ललित–निबंध, ललित–कला, लोकनाट्य, रंगोली, मेंहदी, कसीदाकारी।

विमर्श– लोककला को भारत के प्रत्येक राज्य में निवास करने वाले लोगों की स्थानीय लोक–संस्कृतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। त्योहारों, व्रत–उपसास, मंगलोत्सवों या देवधामी से संबंधित चौक–चबूतरों पर धार्मिक अनुष्ठानों में आटे, चावल, हल्दी सिंदूर आदि से बनाए जाने वाली स्वास्तिक, ओम् कलश, गणेश आदि की आकृतियाँ, सांस्कृतिक कार्यक्रमों में बनाई जाने वाली रंगोली, जिरोती, महाराष्ट्र और बुंदेलखण्ड की वारली एवं मधुबनी के प्रसिद्ध लोकचित्र अरिपन, बांग्ला की अल्पना, आंध्र क्षेत्र की मुग्गु, तमिल एवं केरल क्षेत्र की कोलम, उत्तराखण्ड की ऐपण या ऐपन, राजस्थान के मांडना, श्रंगार के लिए बनाए जाने वाले आल्ता एवं महावर आदि सब लोककलाओं के विभिन्न रूप हैं। रंगोली लोककला का अत्यंत प्राचीन रूप है जिसके कई नाम और कई रूप प्रचलित हैं। माना जाता है कि ''रंगोली' शब्द संस्कृत शब्द 'रंगावल्ली' से बना है, जिसका अर्थ है रंगों की पंक्तियाँ।''1 इसी अर्थ के अनुरूप रंगोली अधिकांशतः विभिन्न क्रमों में बनाई जाने वाली बिंदुओं को संयोजित करने वाली रेखाओं से सजाकर बनाई जाती है। लोककला की अध्येता शिखा गोयल लिखती हैं ''कई अलग–अलग अनुष्ठानों का पालन भारत में शुभ संकेतों के रूप में किया जाता है जैसे दीपावली में दीपक जलाना, घर के सामने में तुलसी वृक्ष का रोपण करना आदि. उनमें से एक रंगोली भी है। यह एक लोक–कला है और भारतीय संस्कृति को दर्शाती है।''2

डॉ. शिव प्रसाद सिंह अपने ललित निबंध 'रंगोली' में रंग–संधान, रंग–मिश्रण, रंग–भ्रांति, रंग–परिवर्तन, रंग–व्यंजना रंगबाजी की दार्शनिक व्याख्या करते हुए वैज्ञानिक दृष्टि से पूरक, साम्यसूचक तथा विरोधी रंगों की विविधता के मर्म का गहन चिंतन प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं ''रंगों के आधार पर काव्य के अंदर अद्‌भुत–अद्‌भुत कार्य होते हैं। आपसे पूछा जाए वयः संधि किसे कहते हैं, यौवन और बुढ़ापा की पहचान क्या है। मुग्धा और गर्भवती के रंग कैसे हैं? आप चकरा जाइयेगा। पर जरा–सा भी कुशल कवि रंगों की रंगबाजी से, अपनी तूलिका की हलकी कारीगरी से इन सभी अवस्थाओं को आपके सामने ला उपस्थित करेगा। आपमें जरा–सा रंग की पहचान हो, कवि के द्वारा रंग–स्पर्श से सजीव सौंदर्य को देखकर आप बच्चे–सा बोल उठियेगा। नारी, पुरुष, वीर, डरपोक, हँसोड़, मुग्धा, नवोढ़ा, वृद्धा, गर्भवती आदि सबके अलग रंग–भेद होते हैं।''3 डॉ. श्यामसुंदर दुबे ललित निबंधकार होने के साथ–साथ लोकसाहित्य व लोक संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान भी हैं वे मानते हैं कि ''लोक की कला–दृष्टि हमारे विभिन्न कला–आयोजनों में ताजगी भरने वाली रही है। विभिन्न लोकांचलों में अपनी छटा बिखेरने वाली लोक–कलाओं में भारतीयता के अंतर्सूत्रों की तलाश की जा सकती है। लोक कलाओं का संवादी स्वर जीवन की व्यापक मनोभूमियों

की उदात्त चेतना का संधारक है।''4 इस मतानुसार लोककलाएँ श्रम को हरकर मनुष्य को आह्लाद एवं आनंद की स्फूर्ति से भर देने की क्षमता रखती हैं। संभवतः यही कारण है कि विभिन्न प्रांतों में श्रमिकों के द्वारा लोकसंगीत, लोकनाट्य या कला के अन्य माध्यमों का बहुत अधिक प्रचलन रहता है। लोककला के साधक धर्म, संप्रदाय, वर्ग, जाति से ऊपर उठकर मानवता की भावभूमि पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं और हमें राष्ट्रीय एकता का संस्कार दे जाते हैं।

डॉ. श्यामसुंदर दुबे प्रदर्शनकारी लोककलाओं पर विमर्श प्रस्तुत करते हुए कहते हैं ''पचास–साठ वर्ष पूर्व प्रदर्शनकारी कलाओं में नाटक, रामलीला, रासलीला, नौटंकी, विदेशिया, तमाशा, नाचा–माच आदि के घुमंतू प्रदर्शन पर्याप्त मात्रा में होते थे। इनकी कथा, इनका संगीत और इनकी अदायगी का प्रभाव गाँव के अन्य कला–रूपों पर पड़ता था। इस तरह गाँव की कला–रुचियों में एक आंतरिक परिवर्तन का माहौल निर्मित होता रहता था और स्थानीयता में भी अनेक रँगतें अनायास घुलती–मिलती रहती थीं। रासलीला, रामलीला या नौटंकी की धुनों ने प्रायः लोक की एकांतिक धुनों को प्रभावित किया है।''5 आधुनिकता और विज्ञान के तकनीकी विकास को सकारात्मक अर्थ में ग्रहण करते हुए डॉ. दुबे लोककलाओं के विकास में जनसंचार के माध्यमों के योगदान को महत्त्वपूर्ण मानते हैं, तो बाजारीकरण को लोककलाओं की उत्कृष्टता के लिए हानिकारक भी सिद्ध करते हैं। डॉ. दुबे अपने बालपन के संस्मरण को याद करते हुए एक ओर राई लोकनृत्य जैसी प्रदर्शनकारी लोककलाओं के प्रति उच्चवर्गीय समाज की उपेक्षा दृष्टि से होने वाली क्षति को रेखांकित किया है तो दूसरी ओर लोककलाओं को जीवंत बनाए रखने में समाज के अन्य वर्ग के सदस्यों के योगदान का अंकन भी किया है। वे लिखते हैं– ''लोक–कलाएँ यदि अपना अस्तित्व गाँवों में बचाए रखने में कामयाब रही हैं, तो केवल अंत्याज एवं दलित–वर्ग के कारण ही।''6

भारत के कई हिंदी प्रदेशों में प्रदर्शनकारी एवं अन्य लोक कलाओं के कई उदाहरण सँजा, थापा, जिरोती आदि के रूप में मिल जाते हैं। लोक के विशाल गर्भ में निमाड़ क्षेत्र में गड़ब्या, बुंदेली क्षेत्र में सुरैती, बघेली क्षेत्र में नागभित्ति, मालवा में चित्रावण आदि प्रर्वोत्सवों पर घर–द्वार के चौखट–चौबारों या विवाहादि अवसरों पर कोहबर अथवा गुसाईंघरों की दीवारों पर बनाई जाने वाली कलाकृतियों का लोककलाओं में समावेश कर लिया जाता है। जनजातीय बहुल क्षेत्रों झारखण्ड, मध्यप्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़ आदि में लोककलाओं को प्रश्रय दिए जाने के कारण यहाँ वनोपजों से निर्मित की जाने वाली प्रसाधनपरक या उपयोगी वस्तुओं या लोकशिल्प के रूप में प्राप्त लोक कलारूपों यथा का पर्याप्त विकास दिखाई देता है। इन जनजातीय समुदायों में प्रचलित करमा नृत्य, सैला नृत्य, सुआनृत्य के साथ–साथ अन्य ग्रामीण अँचलों में प्रचलित राईनृत्य, अहीरनृत्य, गेड़ीनृत्य आदि प्रदर्शनकारी लोककलाओं में प्रमुख माने जाते हैं। इनको लेकर प्रो. शरीफ मोहम्मद कहते हैं ''भारतीय लोकनृत्य, हमारी लोक–संस्कृति की अद्वितीय शक्ति हैं। ये लोकनृत्य इतने वैभवशाली सक्षम और सशक्त होते हैं कि विशाल जन–समूह को पूरी–पूरी रात बाँधे रहते हैं। यदि यह कहा जाए कि लोकनृत्य त्रुटि–हीन लोककला के रूप में है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। लोकनृत्यों का एक मात्र उद्देश्य जन–जन को आनंद प्रदान करना होता है। वे अपनी इस मूल प्रवृत्ति के धनी होते हैं। उन्हें न तो किसी समीक्षक की आवश्यकता होती है और न ही किसी समालोचक की। वेशभूषा, अलंकरण, आभूषण, परिधान, भाव–भंगिमाएँ, कथा–वस्तु, लोकगीत, लोकवाद्य, नाट्य और अभिनय आदि का जीवंत समावेश होने के कारण लोक नृत्य अपनी मनोरंजनकारी शक्ति के धनी होते हैं।''7

ललित–निबंधकार डॉ. परिहार इन लोकनृत्यों के संबंध में लिखते हैं कि– ''छत्तीसगढ़ का पंडवानी सुआ नृत्य गीत, ददरिया, बघेलखण्ड का सरमन कथा, गोपीचंद कथा, बुंदेलखण्ड का आल्हा, राई गीत, मालवा का इन्द्रीराजा काजल का गीत, निमाड़ की सरवन कथा, कबीर कथा, प्रह्लाद कथा, मथवाड़, हलूर कलगी–तुर्रा, पार्वती विवाह, रासलीला गाथा, लावणी, गणगौर, राजस्थानी का ढोला–मारू, तेजाजी की कथा, पाबूजी का पेड़, मैथिली की कजली, बरसाती, बारहमासा, भोजपुरी का फगुआ, चेता, कजली, अवधी का हिंडोला गीत, चड़ता, विरहा, ब्रज की होली, कहरवा, मल्हार, पंजाब का राजा रसालू ते चाँदनी, रानी कोकलाँ, ईसा बाणिया, मुग्गा पीर इत्यादि लोकगीतों के अतिरिक्त अन्य सभी भाशा बोली और क्षेत्रों के लोकगीत वाचिक परंपरा के संख्य–असंख्य द्वीप हैं, जो लोक मानस के आँगन में प्रकाश बिखेरते हैं। ये लिखित साहित्य की प्रेरणा स्रोत भी हैं और सामाजिक समरसता स्थापित करने के अमिट हस्ताक्षर भी। लोक साहित्य की अक्षरता तो लोक वाचिक परंपरा में ही है।''8 डॉ. परिहार पाश्चात्य विद्वान प्लेटो से लेकर भारतीय विद्वान तुलसीदास तक कला की दार्शनिक व्याख्या करते हुए लोककलाओं को उद्भावना चैतन्य की अनुभूति और सौन्दर्य की उद्भावना का प्रतिफलन मानते हैं। वे लिखते हैं ''चर–अचर सभी में सौन्दर्य की उद्भावना और चैतन्य की अनुभूति के फलस्वरूप ही साहित्य, संगीत, वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला एवं अन्य ललित कलाओं का प्रतिफलन हुआ है।''9 कला को शिव तत्त्व से जोड़कर देखते हुए डॉ. परिहार कहते हैं कि कला समय विशेष में घटी घटनाओं के तल से अनुभव–मूल्य निचोड़कर निकालते हुए समय की गति के साथ छेड़छाड़ करने की सामर्थ्य रखती है। उनके ललित निबंध 'चिदम्बरम् में नटराज' में भी लोककला के संदर्भ प्रस्तुत हुए हैं।

पूर्वी एवं पश्चिमी निमाड़ में सँजा, गड़ब्या, जिरोती एवं मांडना बहुप्रचलित लोककलाएँ हैं, जिन्हें लोकपर्वोत्सवों, त्योहारों या मांगलिक अवसरों पर प्रस्तुत किया जाता है। इनके रंग–बिरंगे स्वरूप से डॉ. खासे प्रभावित दिखाई देते हैं। उनके ललित निबंध संग्रह 'भय के बीच भरोसा' में भुवाणा अँचल में प्रचलित 'गड़ब्या' की निर्मिति का व्यापक वर्णन मिलता है। जिसमें वे डांडिया रास समाप्त होने के बाद वापस लौटते हुए अपनी बाल्यावस्था के एक संस्मरण का उल्लेख करते हुए बताते हैं कि उनके गाँव की गलियों में अविवाहित कन्याओं द्वारा बनाए गए गड़ब्या को क्रमशः घर के चौगान फिर गली के चौक में रखकर उसके आसपास ताली बजा–बजाकर नृत्य किया जाता है। वे इस संस्मरण के दौरान उन कन्याओं द्वारा गाए जाने वाले गीत एवं गड़ब्या से निकलने वाले प्रकाश से अभिभूत हो जाते हैं। वे गीत का स्मरण करते हुए लिखते हैं ''भाई कुम्हारया रे, म्हारो गड़ब्यो सँभाळ, म्हारा गड़ब्या खऽ, रूड़ो दिवलो पूराऽऽजे।..यह गड़ब्या माटी का छोटा घड़ा है। उसमें चारों ओर छेद कर दिये हैं। उसमें माटी का दीया जल रहा है। छिद्रों से प्रकाश फैल रहा है, जैसे बादल खण्ड के द्वारा सूर्य को ढँक लेने पर किरणें उसके चारों ओर से और कुछ किरणें उसे फोड़कर निकल रही हों। उन्होंने गीत के अनुसार कुम्हार से घड़ा और दीपक, तेली से तेल, पिंजारे से रुई लेकर गड़ब्या बनाया है। यह उत्सव दशहरा से लेकर षरद् पूर्णिमा तक पाँच दिन चल रहा है। पूरे गाँव की सहभागिता घट, दीपक, रूई, तेल और अनाज के द्वारा ही हो रही है। शरद् पूर्णिमा के दिन पाँच दिन में प्राप्त अनाज का भोजन बन रहा है। सारी लड़कियाँ भोजन कर रहीं हैं। गड़ब्या को नदी में उसकी किनारे पर सिरा दिया है। उत्सव पूरा होता है। सूनी आँखें नव–जीवन के सपने लेकर लौटती हैं। पशुपालन और ग्राम्य–संस्कृति का यह उत्सव लोक ने अपनी परंपरा में स्वीकार लिया।''10

मूर्तिकला, प्रस्तरकला एवं मृण्मय कला तो लोककलाओं का महत्त्वपूर्ण हिस्सा तो हैं ही, लोक ने इनको और अधिक विस्तार देते हुए गोबरगणेश, दीयों से घिरे मिट्टी के छोटे से हाथी पर विराजित लक्ष्मीनारायण की मूर्ति, लकड़ी के घुल्ले आदि को भी लोककलाओं के परिवार में शामिल कर दिया है। गोबरगणेश का एक संदर्भ डॉ. श्रीराम परिहार के ललित निबंध 'भय के बीच भरोसा' में मिलता है जहाँ वे लिखते हैं कि ''लोक के पास गोबर के पावन और अनूठे संदर्भ हैं। गोबर से गणेष की मूर्तियाँ तो बनती ही थी, दूसरी प्रतिमाएँ भी बनाई जाती थीं। किशोर लड़कियाँ नवरत में गौरा–पार्वती, नंदी और उनका घर गोबर का ही बनाती थीं। माँ दषहरे के दिन दषहरा उठाने का अनुष्ठान गोबर की प्रतिमाएँ बनाकर उनकी पूजा अर्चना कर पूर्ण करती है। बंगाल में आज भी तरह–तरह की मूर्तियाँ गोबर से ही बनायी जाती हैं। बच्चे को पहले–पहल जब घर से बाहर ले जाया जाता है, तो उसे गोबर का तिलक लगाया जाता है, ताकि उसे नजर न लगे और वह गोरोचन और गोरज पूरित संस्कृति में रच बस जाये। मतलब यह कि गोबर मनुष्य से लेकर देवताओं तक के जीवन और स्वरूप को अभिव्यक्त करता रहा है। जिस गृहलक्ष्मी के हाथ गोबर से सने होते थे, वह सौभाग्यशाली और समृद्धषाली मानी जाती थी। उसी गृहलक्ष्मी की बेटी को आज रंगोली बनाने के पूर्व लीपने के लिए थोड़ा–सा गोबर नहीं मिल पा रहा है। यह विधि की विडम्बना नहीं, मनुष्य का ही किया धरा है। लेकिन बिटिया है कि गोबर लाकर ही रहेगी, क्योंकि उसे कुंकुम–कलश हेतु चौक पूरना है।''11 लोक चित्रकला का लोककला में अद्वितीय स्थान है। भारत के विभिन्न भागों में लोक चित्रकलाओं के विभिन्न रूप प्रचलित हैं। जिनमें पटचित्र एवं भित्तिचित्र मधुबनी लोकचित्रकला या मधुबनी पेंटिंग के नाम से अत्यंत प्रसिद्ध हैं। ललित निबंधकार डॉ. कुबेरनाथ राय लोकचित्रकला के महत्त्व को रेखांकित करते हुए लोकचित्रकलाओं में मोर को सुंदरता का प्रतीक मानते हुए 'उत्तरकुरु' में लिखते हैं कि ''भारतीय लोक–संस्कृति में भी मोर को परम मर्यादा दी गयी है एक भावनात्मक प्रतीक और मंगल–चिन्ह के रूप में। यह एक सगुन पक्षी माना जाता है। उत्तर भारत में दीवारों पर मंगल–चित्र यानी 'कोहबर' रंगते हुए झूल सजे हाथी और मंगल घट के साथ–साथ साँप चुगते हुए अथवा पंख फैलाकर नाचते हुए मयूर को अंकित करना भी आवश्यक माना जाता है। लोक चित्रकला का यह एक अत्यंत लोकप्रिय 'विशय'(मोटिफ) है।''12

अविवाहित लड़कियों के बीच मांगलिक अवसरों पर मेंहदी एवं महावर का श्रषंगार सौन्दर्य को प्रत्यक्षतः परिभाषित करता है। इसे लोककला के रूप में ग्रहण करते हुए महिला ललित निबंधकार डॉ मालती शर्मा अपने ललित निबंध 'प्रेम साधना का रंगः मेंहदी' में बताती हैं कि– ''ब्रज और बुंदेलखण्ड मेंहदी के लिये उपजाऊ हैं पर मेंहदी के कलात्मक रूपों के लिये राजस्थान जैसे उर्वर नहीं मध्यप्रदेश में मालवा का वैशिष्ट्य अवश्य है।.. मेंहदी लगाने के पाँच–छह प्रकार प्रचलित हैं– (1) ल्हेसा– पूरी हथेली पर पतली मेंहदी लेप जी जाती है पीछे की ओर आड़ खींच कर नाखून रचा हथेली की थप्पी पर पीछे टिपकी रखी जाती है। (2) मुठिया– अधखुली मुट्ठी में हथेली उँगलियों के बीच सावधानी से थोड़ी मेंहदी रखते हैं फिर हौले से मुट्ठी बाँध लेते हैं। जाहिर है कि मोड़ वाले हिस्से सफेद रह जायेंगे बाकी के लाल होंगे। इन्हें ''मच्छियाँ पड़ना'' कहते हैं। हथेली के पीछे उसी तरह आड़ खींचकर बुँदकी लगाई जाती है। मुठिया के लिये कड़ी मेंहदी चाहिए। पतली मेंहदी बहकर मुठिया की मच्छियाँ बिगाड़ देगी। (3) व (4) घेवल लहरिया– श्रावणी तीज और सनूने पर घेवर लहरिया काढ़े जाते हैं, लेकिन काफी मोटी–मोटी और अनसधी रेखाओं से।

मेंहदी में लम्बा और बारीक तार उठाने की विधि ज्ञात भी नहीं है और प्रचलित भी नहीं है। हाँ राजस्थान–मालवा से सटे भू–भाग और प्रवासी वैश्य समाज इसका अपवाद हैं। (5) छाप–छल्लनु की मेंहदी– मेंहदी रचना का यह प्रकार अब लुप्त होता सा है। इसमें उँगलियों और अँगूठों में गोल–गोल छल्ले बनाये जाते थे। पूरी हथेली पर मेंहदी लेप ली जाती थी। हथेली के पीछे आड़ें खींच कर सिर्फ टिपकी लगाई जाती थी। (6) पाँ पछेटे– बुंदेलखण्ड की बालाएँ एक तरह की मेंहदी और लगाती हैं इसमें बीच हथेली में एक बड़ी टिपकी रख हथेली के चारों कोनों पर भी बीच वाली से कुछ छोटी टिपकियाँ रख लेती हैं। इसे ''पाँच–पचेटे'' या ''पाँच–पछेटों'' की मेंहदी कहा जाता है। अब तो इस भू–भाग में भी मेंहदी अंकन के कितने ही प्रकार मिल जायेंगे पर वे आयातित हैं, परंपरा पोशित नहीं।''13

हरियाणा प्रदर्शनकारी लोककलाओं जैसे लोकनाट्य सांग, लोकसंगीत, लोकवाद्यों आदि के लिए अत्यंत प्रसिद्ध रहा है। यहाँ स्त्रियों के बीच 'चूंदड़ी' की फुलकारी एवं 'ओढ़नी' आदि पर की जाने वाली कसीदाकारी, कढ़ाई, बुनाई आदि अत्यंत प्रसिद्ध हैं। इसमें बैलों के पालों–मखेरणों की कसीदाकारी एवं 'सोपली' पर की गई कसीदाकारी अत्यंत पसंद की जाती हैं जिसमें काँच आदि के टुकडों की सहायता से मोर–पपीहा आदि की सुंदर एवं जीवंत आकृतियाँ बनाकर उसपर कढ़ाई, बुनाई, टंकाई भी की जाती है। हरियाणवी लोककला के रूप में प्रसिद्ध इस लोककला के संबंध में डॉ. संतराम देशवाल के ललित लोक निबंध संग्रह 'लोक आलोक' के लोककला खण्ड में विस्तापूर्वक वर्णन किया गया है। वे कसीदाकारी लोककला की लोकप्रियता के शीर्षकाल को याद करते हुए ललित–निबंध 'चुन्दड़ी तेरा जुल्म कसीदा' में लिखते हैं कि ''सिलाई, कढ़ाई, बुनाई, टंकाई को उन दिनों महिलाओं में हुनर ही नहीं, सभ्यता का भी लक्षण माना जाता था। इन रात–रातभर चलने वाली महिला महफिलों में चरखा चलाकर सूत भी काता जाता था। चरखे की चूँ–चूँ चर–चर, घर–घर, धूँ–धूँ के चर्राटे, धूँ्राटे, घग्गाटे के सुर में सुर मिलाकर गाँव की ये गोरियाँ अपने कोकिल–कंठों से निकले सुमधुर गीतों से वातावरण को गुंजाती थीं।''14

डॉ. देशवाल बताते हैं कि कसीदाकारी आज भी बहुत पसंग किया जाने वाला कलात्मक कार्य है, जिसमें संलग्न महिला कारीगरों या कलाकारों की दक्षता का वर्णन करते हुए डॉ. देशवाल कहते हैं कि ''सभी आयु–वर्गों की महिलाएँ अपने–अपने हुनर के अनुसार कोई न कोई सिलाई–कढ़ाई, बुनाई–टंकाई आदि के कार्य करने में दक्षचित्त है। कोई मोजों की रंगीन नलियों में 'बंदनवार' बना रही है तो कोई 'फुलझड़ी' बना रही है। कोई 'ओढ़नी' पर 'किरोशिए' से मोर–पपीहा उकेर रही है तो कोई शीशे जड़ रही है। इन ग्रामीण महिलाओं के हाथ बुनाई–कढ़ाई में ऐसे चल रहे हैं, जैसे एक कुषल शिल्पी के सधे हुए हाथ चलते हैं। अनुपयोगी एवं बेकार समझकर फेंकी जाने वाली दियासलाई, बिजली के बल्ब, बोतल आदि अपनी घरेलू चीजों का ही बड़ी समझ–बूझ से सदुपयोग कर रहीं हैं ये सुघड़ ग्रामीणाएँ।''15 हरियाणवी लोक संस्कृति के अध्येता डॉ. संतराम देशवाल एवं सत्यवीर नाहड़िया अपने ललित निबंधों में कई प्रदर्शनकारी एवं ललित कलाओं का वर्णन करते हुए लोकनाट्य सांग, सांझी की कलाकृतियों आदि पर विस्तार से चर्चा करते हैं। डॉ. नर्मदा प्रसाद सिसोदिया अपने ललित निबंध 'ओ! भाव भरी ध्वनियाँ' में जिरोती लोककला का वर्णन करते हुए लोकसंगीत की लोकधुनों एवं सरगम के साथ–साथ ढोलक, झाँझ, मंजीरे, हारमोनियम आदि लोकवाद्यों की व्याख्या प्रस्तुत करते चलते हैं।

उपसंहार– ललित–कलाओं के सामान्यतः पाँच रूप काश्ठकला, मृण्मयकला, वास्तुकला, चित्रकला और संगीतकला अत्यंत प्रचलित हैं इनका उपयोग

करके गणेश, दुर्गा, काली, राधा–कृष्ण, शिव–शक्ति, लक्ष्मीनारायण, सरस्वती, सीताराम आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती हैं। मृण्मय पात्रों में मटकी, सुराही, खिलौने, गुल्लक, कुल्हड़ आदि बनाए जाते हैं, जिनके लोकमहत्त्व का रेखांकन डॉ. श्यामसुंदर दुबे के ललित निबंधों 'मन 'लावनी के लुप्त होते रंग', 'नाट्यगृह में अनाज के बोरे', 'शेरों का नाच', 'ओरछा में तीजन' आदि में मिलता है। लोक–कलाओं को मानवीय चेतना के विकास की सहज स्फूर्त चेष्टाएँ बताने वाले ललित निबंधकार डॉ. ष्यामसुदंर दुबे लोककलाओं की सृष्टि के साथ ही मानव सभ्यता के विकास का सूत्रपात स्वीकार करते हैं। डॉ. एन.ई. विश्वनाथ अय्यर का ललित निबंध संग्रह 'आ जा रे परदेशी' में वास्तुकला एवं स्थापत्य कला की ऐतिहासिक विरासतों के रूप में प्राप्त लोककलाओं पर प्रकाष डालते हैं। विष्वनाथ प्रसाद के ललित निबंध संग्रह 'चौरे का दीया' के ललित निबंध 'नटराज' में लोककलाओं के धार्मिक एवं अध्यात्मिक प्रतीकों का वर्णन मिलता है। ललित निबंधों का अध्ययन करते हुए ज्ञात होता है कि बीसवीं सदी में तो लोककलाओं को ललित निबंधों के महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में आश्रय मिला। राजकिशन नैन के ललित निबंध संग्रह 'लोक में ऋतु' के ललित निबंध 'लो आई देखो रितु वसंत' सिद्ध करते हैं कि इक्कीसवीं सदी की नई पीढ़ी के ललित निबंधकारों द्वारा भी लोककलाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हुए उसके विविध रूपों का रमणीय वर्णन किया है।

संदर्भ

1- https://indianculture.gov.in/hi/snippets/rangaolai

2. गोयल शिखा, 'क्षेत्रों के अनुसार रंगोली के विभिन्न नाम और उनके महत्व', अक्टूबर 14, 2017, जागरण जोश, https:/ /www-jagranjosh-com/general-1knowledge/regional&classification .of.rangoli.and. its-importance.in.hindi.1507981156&2

3. सिंह शिवप्रसाद, 'मानसी गंगा', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986, पष्–74

4. दुबे श्यामसुंदर, 'लोक मिथक+ मूल्य और सौंदर्य दृष्टि', विजया बुक्स, दिल्ली, 2022, पृ.–7–8

5. दुबे श्यामसुंदर, 'लोक मिथकः मूल्य और सौंदर्य दृष्टि', विजया बुक्स, दिल्ली, 2022, पृ.–126

6. दुबे श्यामसुंदर, 'लोक मिथकः मूल्य और सौंदर्य दृष्टि', विजया बुक्स, दिल्ली, 2022, पृ.–128

7. मोहम्मद शरीफ 'भारत के लोकनृत्य', म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 2003, प्रस्तावना से

8. परिहार श्रीराम, 'रचनात्मकता और उत्तर परंपरा', आस्था प्रकाशन, 2000, पृ.–21

9. परिहार श्रीराम, 'भूमंडलीकरण का बाज और साहित्य–संस्कृति की चिरैया', राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, भारत, 2020, पृ.–77

10. परिहार श्रीराम, 'भय के बीच भरोसा', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2010, पृ.–69

11. परिहार श्रीराम, 'भय के बीच भरोसा', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 2010, पृ.–33

12. राय कुबेरनाथ, 'उत्तरकुरु', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1996, पृ.–34

13. शर्मा मालती, 'सोंकृफिर, भादों गरजी', नीरज प्रकाशन, पूना, 1989, पृ.–111–112

14. देशवाल संतराम, 'लोक आलोक', गोयल इन्टरप्राइजेज, दिल्ली, 2005, पृ.–148

15. देशवाल संतराम, 'लोक आलोक', गोयल इन्टरप्राइजेज, दिल्ली, 2005, पृ.–147

विद्यार्थियों के जीवन कौशल का आत्म विश्वास पर पड़ने वाले प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन

कृष्ण कुमार पाण्डेय*
डॉ. प्रमोद कुमार नायक**

सारांश– जीवन कौशलः प्रत्यय जीवन कौशल उन अंतरवैयिक्तक व मनोसामाजिक क्षमताओं को कहते है जो व्यक्ति को उत्तरदायी, सफल, आत्मनियंत्रित बनाती है। प्रस्तुत शोध में कला एंव विज्ञान वर्ग के स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के जीवन कौशल का उनके आत्म विश्वास पर पड़ने वाले प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। न्यादर्श के रुप में 800 विद्यार्थियों का चयन किया है। ऑकड़ों के संकलन हेतु अंजुम अहमद और सबा परवीन – जीवन कौशल मापनी। और रेखा गुप्ता द्वारा निर्मित सेल्फ कॉन्फिडेन्स इन्वेन्टरी। प्रमाणीकृत उपकरण का उपयोग किया गया है। परिकल्पनाओं के प्रकलन के पश्चात् यह पाया गया कि स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के जीवन कौशल का कला वर्ग के विद्यार्थियों की अपेक्षा विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों के आत्म विश्वास पर अधिक प्रभाव पड़ता हैं।

प्रस्तावना

शिक्षा मानव जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग है। शिक्षा के बिना मनुष्य के एक कुशल सामाजिक प्राणी होने की बात स्वीकार करना अनुचित होगा। शिक्षा के माध्यम से मनुष्य में सोचने, समझने एवं कुछ करने की क्षमता उत्पन्न होती है। समाज और अपने चारों ओर फैले अद्‌भुत वातावरण से मानव जाति सदैव कुछ न कुछ सीखती ही रहती है।

शिक्षक को शैक्षणिक विचार, विषयवस्तु और अर्थपूर्ण शिक्षा को स्वतंत्र रूप से निभाने के व्यावहारिक कौशल से युक्त दृष्टा होना चाहिए। वस्तुतः शिक्षण व्यवसाय को पेशेवर की प्रतिष्ठा देने के लिए आवश्यक है कि इस व्यवसाय में वही व्यक्ति शामिल हो जिसने इस व्यवसाय को चुना है न कि संयोगवश इस पेशे में है।

जीवन कौशलः प्रत्यय जीवन कौशल उन अंतरवैयिक्तक व मनोसामाजिक क्षमताओं को कहते है जो व्यक्ति को उत्तरदायी, सफल, आत्मनियंत्रित बनाती है। ये कौशल स्वयं–परिवार–समाज में सकारात्मक अनुकूलन में सहायक होते है। सामान्यतः सफल जीवन जीने के लिए व्यवसाय कौशल विशेषता को प्रथम वरीयता दी जाती है प्रत्येक माता–पिता व बालक इस दबाव में होता है कि उच्च जीवन स्तर के लिए उच्च व्यावसायिक कौशल आवश्यक है किंतु यह संपूर्ण सत्य नही है, व्यावसायिक दाता, दान के साथ–साथ व्यक्ति मानव मूल्य संवेदना, संप्रेषण कौशल, समस्या समाधान, नेतृत्व क्षमता होना भी अत्यंत आवश्यक है इन्ही क्षमताओं का विकास, जीवन कौशल विकास में सम्मिलित है। जीवन कौशल विकास एक आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है जो व्यक्ति के परिपक्व होने में सहायक

*पीएच. डी. शोधार्थी (शिक्षा–शास्त्र), आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग
**कुलपति, आईसेक्ट विश्वविद्यालय, हजारीबाग (झारखण्ड)

होती है। अमेरिकन एसोसिएशन ऑन इंटेलेक्चुअल एंड डेवलपमेंटल डिसेबिलिटीज (ए.ए.आई.डी.डी.) ने अनुकूल व्यवहार को वैचारिक, सामाजिक, व्यावहारिक कौशल संग्रह के रूप में परिभाषित किया है जिनका व्यक्ति को अपने दैनिक जीवन में कार्य करने हेतु आवश्यकता होती है।

जीवन कौशलः वर्गीकरण अनेक संस्थाओं ने जीवन कौशलों के अलग–अलग श्रेणियों में वर्गीकरण किए है किंतु विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा दिए गए जीवन कौशल सामान्यतः सवर्मान्य है। विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 10 आधारभूत जीवन कौशल बताए है– आत्म जागरूकता, सहानुभूति, आलोचनात्मक सोच, सृजनात्मक सोच, निणर्य क्षमता, समस्या समाधान, प्रभावी संप्रेषण, अंतवैयिक्तक संबंध, तनाव प्रबंधन तथा भावना प्रबंधन। आत्म जागरूकता में स्वयं को, अपने चरित्र, शक्ति और विकास के स्रोत्रों, प्राथमिकताओं, मान्यताओं और मूल्यों को पहचानना सम्मिलित है। सहानुभूति में अन्य वैयिक्तक आवश्यकता, संवेदना, इच्छा को समझना व उसे महत्व प्रदान करना सम्मिलित है। आलोचनात्मक सोच में अनुभववान का सम्यक आकलन किया जाता है तथा किसी कारक के कारण और प्रभाव का विश्लेषण किया जाता है सृजनात्मक सोच, मौलिकता–प्रवाह–नमनीयता तथा अभिव्यिक्त से निर्मित होती है । जीवन मे आने वाली सामान्य अथवा विशिष्ट परिस्थतियों में लिए जाने वाले निर्णय तथा उनके प्रभाव से संबंधित है समस्या समाधान, कौशल समस्याओं के आयामों के अध्ययन तथा चुनौती पूर्ण तरीके से उनके उपयुक्त निस्तारण से संबंधित है प्रभावी संप्रेषण, किशोरों या व्यक्ति की अभिव्यिक्त से संबंधित है जो कि शाब्दिक अथवा अशाब्दिक दोनों हो सकती है अथार्त किशोरों में यह गुण विकसित किया जाए कि आवश्यकता के समय वह अपने विचारों को निडरता और समता के साथ व्यक्त कर सकती। अंतवैयिक्तक संबंध, परिवार, समाज तथा मित्र समूह में सकारात्मक उपिस्थति एवं समायोजन तथा सांस्तिक मेल जोल हेतु आवश्यक होते है। तनाव प्रबंधन, व्यक्तिगत अथवा व्यवसाय समस्याओं के कारण उत्पन्न तनाव के समुचित निष्पादन हेतु आवश्यक है इसमें तनाव के स्रोत तथा प्रभाव के विश्लेषण पर बल दिया जाता है।

जहां, जीवन कौशल का संबंध "क्या करना है और कैसे करना है" से है, वहीं जीवन कौशल शिक्षा इस को यथार्थ रूप प्रदान करके युवाओं को स्वस्थ, प्रसन्नचित्त उत्तरदायी, ईमानदार, आत्मनिभर्र, विचारशील व्यिक्त तथा राष्ट्रीय उपयोगी नागरिक में विकसित करती है। जीवन कौशल के विषय में बेंजामिन फ्रेकलीन का यह कथन बहुत है समीचीन प्रतीत होता है–"मुझे सिखाओ मैं भूल जाऊंगा, मुझे दिखाओ शायद मुझे याद रहे मुझे शामिल करो और में सीख लूंगा।"

आत्म विश्वास एक प्रकार का Attitude है। जो स्वयं की हुनर और योग्यताओं पर भरोसा दिलाता है। self - confidence (आत्म विश्वास) व्यक्ति को स्वयं पर विश्वास और भरोसा दिलाता है। जिससे व्यक्ति का अपने जीवन पर पूरा control होता है। व्यक्ति अपने क्षमताओं और कमजोरियों को बखुबी जानता है और स्वयं को सकारात्मक नजरिये से देखता है। जिसका असर उसके जीवन में पड़ता है और वह अपने Goal communication skill और सकारात्मक परिणाम पर पूरा control कर पाता है। और इसके विपरीत, low self confidence, व्यक्ति को स्वयं पर संदेह करवाता है। वह स्वयं को तुच्छ, अप्रिय समझता है। कभी–कभी व्यक्ति अपने आत्मविश्वास का level high महसूस करता है।

और कभी–कभी उसके विपरीत। अर्थात आत्मविश्वास का स्तर बहुत कम हो जाता है।

"आत्मविश्वास साहस और योग्यता का वह समन्वय है, जिसमें व्यक्ति अपनी क्षमता का उचित एवं अधिकतम उपयोग कर किसी भी कार्य को सफल बनाने मे अहम भूमिका निभाता है।"

विद्यार्थियों के जीवन कौशल का आत्म विश्वास पर प्रभाव का अध्ययन के महत्व को देखते हुए शोधार्थी की इनके परस्पर सम्बन्ध एवं परस्पर पड़ने वाले प्रभाव को जानने में रुचि उत्पन्न हुई अतः शोधार्थी द्वारा शोध के विषय का चयन किया गया।

समस्या कथन

विद्यार्थियों के जीवन कौशल का आत्म विश्वास पर पड़ने वाले प्रभाव का तुलनात्मक अध्ययन।

अध्ययन का औचित्य

अपने घर के अतिरिक्त विद्यालय ही एक मात्र ऐसा स्थान है जहाँ विद्यार्थियों सबसे अधिक समय व्यतीत करता है। वही विद्यार्थियों अपने ज्ञान तथा कौशल का विकास करता है। विद्यार्थियों के जीवन कौशल जागरुकता का आत्म विष्वास पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। वास्तव में जीवन कौशल बहुत आवश्यक है।

विद्यार्थियों में वे सभी आवश्यक गुण निहित होने चाहिए जिससे विद्यार्थियों के अनुकूल वातावरण पठन–पाठन सम्भव हो सके। शिक्षक अपने आप को उस विद्यालय के दिषा–निर्देषों के अनुकूल ढाल सके तथा अपने पेशे के कार्य को उच्च कोटि तक ले जाने में समर्थ हो सके।

प्रस्तुत पदों की कियात्मक परिभाषा

1. जीवन कौशल

अनुकूल व्यवहार को वैचारिक, सामाजिक, व्यावहारिक कौशल संग्रह के रूप में परिभाषित किया है जिनका व्यक्ति को अपने दैनिक जीवन में कार्य करने हेतु आवश्यकता होती है।

2. आत्मविश्वास

एक प्रकार का Attitude है। जो स्वयं की हुनर और योग्यताओं पर भरोसा दिलाता है। self confidence (आत्म विश्वास) व्यक्ति को स्वयं पर विश्वास और भरोसा दिलाता है।

अध्ययन का उद्देश्य

कला एवं विज्ञान वर्ग के औसत जीवन कौषल वाले विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन करना।

अध्ययन की परिकल्पनाएँ

Ho 1. कला एवं विज्ञान वर्ग के औसत जीवन कौशल वाले स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के आत्मविश्वास पर पड़ने वाले प्रभाव में सार्थक अन्तर नही पाया जायेगा।

अनुसंधान प्रविधि

शोध विधि

किसी भी अनुसंधान में सत्य की प्राप्ति के लिए एक शोध विधि को निश्चित करना होता है। वर्तमान में प्रस्तुत शोध अध्ययन में सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया जाएगा। इसे वर्णानात्मक अनुसंधान के नाम से भी जाना जाता है। वर्णनात्मक अनुसंधान वह प्रक्रिया है जिसके अंर्तगत परिस्थितियों का वर्णन और विश्लेशण किया जाता है।

जनसंख्या एवं न्यादर्श

''जनसंख्या का अर्थ इकाईयों के समूह से होता हैं अर्थात इकाईयों के पूर्ण समूह को जिसके लिए

चर का मान निकालना अभीष्ट हैं, जनसंख्या कहलाता हैं।'' प्रस्तुत अध्ययन बिलासपुर जिले के स्नातक स्तर के विद्यार्थियों को जनसंख्या के रुप में लिया जायेगा। प्रस्तुत शोध में शोधार्थी ने अपने अध्ययन के लिए बिलासपुर जिले के स्नातक स्तर के विद्यार्थियों का चयन किया जायेगा। न्यादर्श हेतु शोधार्थी ने ''यादृच्छित न्यादर्श विधि'' (Randam Sampling Method) का प्रयोग किया है।

प्रस्तुत अध्ययन में स्नातक स्तर के ग्रामीण एवं शहरी विद्यार्थियों के जीवन कौशल जागरुकता का आत्मविश्वास एवं नैतिक मूल्य पर प्रभाव के अध्ययन हेतु बिलासपुर जिले का चयन किया गया है। जिसमें कुल न्यादर्श संख्या 800 है, जिसमें 400 छात्र तथा 400 छात्राएँ चयनित की गयी है।

अध्ययन में प्रयुक्त उपकरण

किसी समस्या के अध्ययन हेतु प्रदत्तों प्राप्ति व्याख्या विश्लेषण के लिए उपकरण की आवश्यकता होती है।

उपकरण के नाम

प्रस्तुत शोध में आकड़ों के संकलन हेतु निम्नांकित उपकरणों का प्रयोग किया जायेगा –

1. अंजुम अहमद और सबा परवीन – जीवन कौशल मापनी।
2. रेखा गुप्ता द्वारा निर्मित Self Confidence Inventory मापनी।

अध्ययन के चर

प्रस्तुत शोध अध्ययन में निम्नलिखित चर है –

स्वतंत्र चर – जीवन कौशल।

आश्रित चर – आत्म विश्वास।

प्रयुक्त सांख्यिकीय विधियॉ :–

1. Mean (माध्य)
2. Standard Deviation (मानक विचलन)
3. Standard Error Deviation (मानक त्रुटि विचलन

तालिका क.–1
कला एवं विज्ञान वर्ग के औसत जीवन कौशल वाले स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के आत्मविष्वास पर पड़ने वाले प्रभाव की तुलना

स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के जीवन कौशल	आत्म विश्वास की तुलना					परिणाम
	N	M	SD	SED	CR	0.05
औसत कला वर्ग	400	24.71	8.78	0.88	2.44	सार्थक
औसत विज्ञान वर्ग	400	26.86	8.96			

4. CR (सी.आर.–परीक्षण)

आंकड़ो का विश्लेशण एवं व्याख्या

व्याख्या एवं निष्कर्ष

उपरोक्त तालिका के आधार पर स्नातक स्तर के कला एवं विज्ञान वर्ग के औसत जीवन कौशल विद्यार्थियों का मध्यमान क्रमशः 24.71 और 26.86 तथा प्रमाणिक विचलन क्रमशः 8.78 और 8.76 है तथा तथा इन दोनों का सी.आर. मूल्य 2.44 एवं प्रमाणिक त्रुटि 0.88 है। जिसका 798 के लिए सारणीगत मान 0.05 पर सार्थक पाया गया है। अतः यहाँ पर प्राप्त गणना द्वारा मान ज्यादा और सारणीगत मान कम है अतः इनके मध्य सार्थक अंतर पाया गया और हमारी परिकल्पना अस्वीकृत है।

निष्कर्ष

विद्यार्थियों का जीवन कौशल जितना अधिक प्रभावशाली व विद्यार्थियों के अनुकूल होगा, उसका उनके आत्मविश्वास और नैतिक मूल्यों का विकास उतना अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से होगा। जीवन कौशल विकसित होने की दशा में विद्यार्थियों के आत्मविश्वास अत्यन्त उच्च पर होगा।

अतः स्नातक स्तर के विद्यार्थियों के जीवन कौशल का कला वर्ग के विद्यार्थियों की अपेक्षा विज्ञान वर्ग के विद्यार्थियों के आत्म विश्वास पर अधिक प्रभाव पड़ता हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, जे. सी. (1972) विद्यालय प्रशासन, आर्य बुक डिपो करोलबाग, नई दिल्ली।

2- Karakaya (2004), A comparative study: English and Turkish teachers conception of their professional responsibility. In Psychological Abstracts, 91, 33037.

3. Goyat, Anju. (2012). A study of Adjustment Level Among Primary School Teachers in Jhajjar District. International Journal of Transformation in Business Management, 1,6. Available on www.ijtbm.com.

4- जैन, किशनचन्द्र, (1976) शैक्षिक संगठन, प्रशासन एवं पर्यवेक्षण, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर।

5- www-iosrjournals-org

6- CBSE Teacher*s manual for Life skill Education and CCE of IX&X-cbse-nic-in

7- WH, 1986, The Otavacharter for Health promotion]UN

8- WHO, 1997, Geneva Life Skills Education For Children And Adolescents In Schools] Introduction and Guidelines to Facilitate the Development and Implementation of Life Skills Programmes.

9- WHO,1999, Geneva]Partners in Life Skills Education &Conclusions From A United Nations Inter&agency Meeting] Department of Mental Health social Change And Mental Health Cluster-

10. नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क–2005 राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद नई दिल्ली

11. ncert-nic-in

12. Tripathy, A-2016-a beautiful life life skill Education, New Delhi, Global publications

13. www-ibe-unesco-org

14. शर्मा, आर० ए०, (2011) अध्यापक – शिक्षा, एवं प्रशिक्षण

तकनीकी आर० लाल० बुक डिपो, मेरठ।

15. शर्मा, आर. ए. (2002) शिक्षा प्रबन्धन–सूर्या पब्लिकेषन मेरठ ।

16. Sharma, T.C. (2005), Teaching Learning Theory and Teacher's Education, Sarup and Sons, ISBN-B: 9788176255707.

17-Singh, R.P. (2011), Teacher Education Today, Shipra Publication, New Delhi, ISBN No: 978817541531.

18. सिंह, अरूण कुमार (2008), शिक्षा मनोविज्ञान, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद ।

19. सुखिया, एस.पी (2006) विद्यालय प्रशासन संगठन एवं विनोद पुस्तक आगरा।

20. http://www.irphouse.com/

21. http/IJARP/v3-i1/2102

22. https://www.researchgate.net/publication/316548126

23. http/ijetmr.v6.i5.2019.384

संगीत संचार में संप्रेषण माध्यम का महत्व

प्रसेक राज[*] एवं डॉ. चंद्र नाथ मिश्र[**]

शोध सार – भारतीय परम्परा में संचार काम के पुरूषार्थ में निहित है। संचार शब्द एवं ध्वनि दोनों रूपों से समाज के रचना का आधार अथवा नींव है। संचार जीवन का जीवन्त सजीव रूप है। यह नियंत्रण और अधिकार रखता है। संदेशों के जाने और आने के द्वारा एकता की भावना को गति प्रदान करना है। संचार एवं मानव की स्थिति में आना लगभग एक साथ ही हुआ होगा। मनुष्य इस धरती के साथ चलने वाले यात्री हैं और संचार मानव–समाज का आधार है। एक दूसरे से अपनी भावनाओं के आदान–प्रदान का माध्यम संचार है। संगीत में भी ऐसे अनेकों माध्यम एवं अवसर हैं। शरीर के हाव–भाव, संकेत और बोलने के माध्यम से खबरों का आदान–प्रदान संचार के अंतर्गत आता है। समाज और संचार दोनों निरन्तर परिवर्तित हुए हैं तथा विकसित हुए है। प्रत्येक कालखण्ड तथा युग में मनुष्य एवं मानव समाज संचार–प्रक्रिया के प्रति सजग रहा है। मानवीय समाज के संचालन की समस्त प्रक्रिया संचार पर आधारित है।

शब्द कुंजी– परंपरा ,संचार ,संगीत ,माध्यम ,ध्वनि

संचार की परिभाषा में अनेक विद्वानों ने अपने–अपने विचारों से अनेकता में एकता को प्रदर्शित किया है। इसमें मानव शरीर के विविध–अंग एक साथ या अलग–अलग रूप में अपनी–अपनी भूमिका निभाते है। हाथ, चेहरा, मुँह तथा शरीर के सभी अंग सूचना–प्रवाह और सूचना ग्रहण को संभव बनाते है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संचार–माध्यम, संचार–सम्पादन और खबरों के नियंत्रण से हर–पल मानव का व्यवहार प्रभावित होता है। संचार का रूप कभी, व्यक्त तो कभी अव्यक्त रहता है। संचार से सूचना सम्प्रेषित होती है। अनुभवों, सूचनाओं और संदेशों की इस भागीदारी से सामाजिक समझ का विकास होता है। किर्सी भी देश का विकास उसके संचार–माध्यम से है।

संचार को निम्नवत परिभाषित किया जा सकता है –

1. सूचना विचारों और अभिव्यक्ति को एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सम्प्रेषित करने की कला का नाम संचार है। – एडविन एमरी.फिलिप एक आल्ट एवं डब्ल्यु के एगी
2. एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को सूचना और संस्ति तत्व सम्प्रेषित किए जाते हैं , संचार की यही प्रक्रिया है। –ए.एल.वरट्रेण्ड

शोध छात्र ,ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय ,दरभंगा
अध्यक्ष ,संगीत विभाग ,एम .एल. एस. एम कॉलेज ,दरभंगा

3.८ यक्तियों के सम्पर्क के साथ संचार–प्रक्रिया प्रारंभ होती है, पर सम्पर्क ही संचार नहीं है। अर्थों के प्रेषण के लिए संचार का होना जरूरी है। – लुण्डवर्ग, श्रेय, लारसन – जान्डेन

मानव–संचार को प्रतिकात्मक क्रिया द्वारा अर्थों के कार्य व्यापार की सर्पित या कुण्डलीदार प्रक्रिया के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इसमें लिखित, मौखिक एवं शब्द–रहित संदेशों को भेजने तथा प्राप्त करने से जुड़े सभी तत्व शामिल हैं।''

संचार की प्रकृति या प्रभावशाली बनाने वाली घटक

संचार का उद्देश्य सूचनाओं के अनुभव को परस्पर बांटना है। विचारों की अभिव्यक्ति जिज्ञासा का समाधान, प्रोत्साहन और परिवर्तन है। संचार की विशेषता जटिल संचार, प्रतीकात्मक, समस्यायुक्त एवं विरोधभासी प्रक्रिया का हो सकता है। सामान्य रूप में संचार–प्रक्रिया तब व्यवहृत होती है जब कोई–न–कोई संदेश सम्प्रेषित किया जाता है। अतः सम्प्रेषण एवं संदेश लेने के लिए संचार का उद्देश्यपूर्ण होना अति आवश्यक है।

संचार की प्रक्रिया

संचार लगातार चलने वाली प्रक्रिया है, यह भेजनेवाला (प्रेषक), प्राप्त करनेवाला (प्राप्त कर्ता) और संदेश के बीच सामंजस्य स्थापित करने की प्रक्रिया है।

संचार–प्रक्रिया के तत्व

मुख्य रूप से संचार–प्रक्रिया निम्नलिखित है –

1. संदेश पहुँचाने वाला (सम्प्रेषक) या कोई और विधि ।
2. संदेश (Message of content)।
3. संदेश–माध्यम या संचार–सारणी ।
4. संकेतीकरण (Encoding) विचारों या भावों को संकेत रूप में बदलकर करने की रचनात्मक विधि।
5. संचार प्राप्त कर्त्ता (Receiver) ।
6. प्राप्त कर्ता से संतोषपूर्वक वापस करना।

संचार के विस्तार क्षेत्र

संचार के कुछ प्रमुख क्षेत्र इस प्रकार है–

1. संचार मनुष्य के आन्तरिक (Internal) या सूचना–कार्यविधि है। उसका सम्बन्ध मनुष्य के अन्तःकरण से है। सूचना भेजनेवाला कार्याविधि में आदमी का आंतरिक मुख्य भूमिका निभाता है। संचार का उद्देश्य भी आदमी के अन्दर की कार्यविधि को समझना है। शिक्षा, परीक्षा, बौद्धिक परीक्षण आदि अन्दर संचार कार्यविधि को जानने या समझने का माध्यम है।
2. संचार में दो मनुष्यों के बीच सम्पन्न होने वाली सूचना भेजनेवाली कार्यविधि को पूरी तरह मिलाया जाता है। संदेश–प्रेषण, उत्तर–प्रत्युत्तर संचालन, प्रभावी सभी व्यक्ति, प्रक्रिया, साक्षात्कार आदि अन्दर संचार कार्यविधि को जानने के माध्यम है।
3. संचार में अनेक माध्यमों के लिए आदेश का संग्रह, लेखन और प्रेषण का भी अध्ययन किया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि पत्रकारिता संचार के अध्ययन क्षेत्र में पूरी तरह मिला हुआ है।

4. संचार के अध्ययन में संचार–माध्यमों की व्यवस्था तथा इसके अनेक संगठनों की रूप रेखा, कार्य, उद्देश्य आदि का मूल्यांकन किया जाता है। इसमें समय–अन्तराल पर हो रहे परिवर्तन को भी विचार–विमर्श में रखा जाता है।

संचार का महत्व

आज संचार प्रत्येक समुदाय की आवश्यकता बन चुका है। संचार के काम ही उसकी कार्यक्षमता और महत्व को उजागर करता है। अपनी जानकारी के आदान–प्रदान के लिए सेना, बैंक, राजनैतिक दल, कम्पनियाँ, विश्वविद्यालय के शोध–संस्थान प्रत्येक समय जानकारियों का आदान प्रदान करते है। संचार पर ही राजनैतिक और आर्थिक विकास की धूरी टिकी हुई है। और इन दो बिन्दुओं पर ही समाज और समुदाय विकसित होती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जनसंचार आज के जीवन की अनिवार्य शर्त है। आधुनिक, जनजीवन और सांस्. तिक, आर्थिक, सामाजिक–व्यवस्था का ताना बाना जनसंचार साधनों द्वारा सुव्यवस्थित है। जनसंचार–साधन समाज का शुद्धिकरण करते हैं, समाज में जो व्याप्त कुरीतियाँ, विषमता, अंधविश्वास, ढोंग .त्रिमता को समाप्त करने में बहुत विश्वसनीय योगदान देते है। एक कुशल संदेशवाहक (संप्रेषक) बनने की प्रक्रिया तथा संप्रेषण अथवा संप्रेषित सूचनाओं के श्रोतों से भी मनुष्य अवगत होता है। उसकी दृष्टि विकसित होती है तथा स्वस्थ्य समाज के विकास में उसका महत्व बढ़ता है।

व्यवहारिक स्तर पर संचार आवश्यक एवं उपयोगी है– एक उद्योग के रूप में आज संचार कार्य विधि विकसित हो गई है। संचार प्रक्रिया से संबद्ध बहुत प्रकार के व्यवसाय तथा रोजगार विश्व स्तर पर दिखाई देते हैं। लोकसेवा लोक–नियोजन सरकारी नीतियों के विस्तार तथा संप्रभुता के नियम में संचार की महत्वपूर्ण भूमिका है।

संचार के संघटक

1. चयनित सूचना (Selective news)
2. संदेश (Message)
3. संचार मार्ग (Channel)
4. श्रोता (Audience)
5. संचार माध्यम (Medium)

चयनित सूचना– व्यक्ति अथवा संस्थाएँ प्रतिदिन भारी मात्रा में सूचनाएँ व्यवस्थित करती है। इनमें से महत्वपूर्ण सूचनाओं का चयन होता है। इस चयन के सामाजिक आधार सामाजिक महत्ता, नवीनता, ओडियंस समूह का भी ध्यान रखा जाता है। सूचना प्रेषण में चयन का प्रमुख आधार सामाजिक उपयोगिता है।

संदेश–सामाजिक सूचनाओं का मिश्रण है, संवाद या संदेश जिसमें नयापन होना आवश्यक है। संदेशों की लगातार बाधित होने पर संचार प्रवाह भी रूक जाती है। जिस प्रकार व्यापार–वाणिज्य मुद्रा के प्रसार पर आधारित होते है उसी प्रकार संदेश पर संचार का सारा कार्य व्यापार निर्भर होता है। संदेश संचार के प्रत्येक चरण में पूरी तरह से मिले हुए होते हैं। संचारक चयनित संदेशों का संप्रेषण करता है। संचार–साधन और माध्यम संदेश आगे संप्रेषित करते हैं। श्रोता संदेश ग्रहण कर अन्य लोगों को पहुँचाते हैं या संप्रेषित करते हैं। संदेशों के प्रकार भी होते हैं– राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, मनोरंजक, शैक्षणिक आदि। मूलरूप उनकी बात जनसाधारण के लिए उपयोगी

होता है।

संचार मार्ग या साधन – जो संदेश को संचारक से श्रोता तक ले जाता है संचार मार्ग कहलाता है। बोले हुए शब्द लेखन, चित्र, चलचित्र, पोस्टर सभी संदेशों के साधन है। जिससे वो पूरी तरह अंगीकार कर सके और अपनी उपयुक्ति प्रक्रिया भी दे सके। अंग–संचालन, चेहरे का हाव–भाव संचारक के संवाहक हैं। स्पर्श ध्वनि, श्रवण, .ष्टि आदि अनेक माध्यमों से संचार संचारित होता है। संचार मार्गों को संचार प्रवाह में पूरक माना जा सकता है। संचार मार्ग के अनेक रूप होते हैं। (i) प्रत्यक्ष (ii) परोक्ष (iii) बहुसंचारी– कक्षा में शिक्षक और–शिष्य के बीच का संवाद प्रत्यक्ष संचार का उदाहरण है। अप्रत्यक्ष या परोक्ष संचालन अध्यापक के लिखे नोट्स से होता है। उसी कक्षा में यदि स्लाइड्स प्रोजेक्ट के सहारे .श्य और श्रव्य प्रणाली से अध्यापन किया जाय तो वह बहुसंचारी मार्ग होगा।

श्रोता या प्राप्तकर्त्ता संग्राहक – किसी भी संचार का अंतिम छोर होता है जिसे हम श्रोता या प्रापक कहते है। यह एक आदमी हो सकता है या समुदाय भी या सर्वग्य भी। धैर्यपूर्वक सुनने वाला या अधीर श्रोता हो सकता है। संचार कार्यविधि में वह संचारक के समान ही महत्वपूर्ण है। ज्ञान, मनोवृति, सामाजिक स्तर, जिस प्रकार संचारक की संचार करने की क्षमता को प्रभावित करते हैं उतनी ही प्रापक या श्रोता भी ग्रहण करते हैं। सफल संचारक के लिए आवश्यक है कि प्राप्त करने वाला या श्रोता की पूरी जानकारी रखी जाय। उसकी अपेक्षाओं, रूचियों आवश्यकताओं, परमपराओं, रीति–रिवाजों, आयु, मानसिक स्तर, मान्यताओं, भाषा, राजनैतिक, सामाजिक परिवेश को समझना जरूरी है। तभी संदेश पर अनुरूप प्रतिक्रिया मिलेगी और उसे अंगीकार किया जा सकता है।

संचार–माध्यम – संचार–माध्यम संचार के दो प्रापक को जोड़ने वाला घटक है। संचार भेजने वाला या संप्रेषक और श्रोता या प्राप्तकर्त्ता माध्यम के द्वारा ही जुड़ते हैं। हेराल्ड लासवेल के अनुसार संचार माध्यम का प्रमुख कार्य– (i) सूचना संग्रह (ii) सूचना प्रसार (iii) सूचना विश्लेषण (iv) सामाजिक मूल्यों या ज्ञान का संप्रेषण तथा (v) मनोरंजन है। संचार माध्यम अनादि काल से महत्वपूर्ण रहे है। क्योंकि वे संचारक और श्रोता के मध्य सेतु का काम करते हैं। आपसी बातचीत, समाचार पत्र, अखबार, किताबें, दूरदर्शन, दूरभाष, रेड्डियों, गीत, नृत्य, नाटक, कीर्त्तन आदि संचार के अनेक, माध्यम है। ये सभी अपनी स्थिति में पूर्ण उपयोगी हैं।

संचार माध्यम उपकरण एवं विकास

संचार माध्यम में अनेक उपकरणों की चर्चा कुछ इसप्रकार निम्नलिखित हैं– समाचारपत्र, पुस्तकें, पत्रिकाएँ, दूरदर्शन, केवल टी.वी. और रेडियो है। मुख्य रूप से इन्हें दो भागों में बांट सकने की निश्चिता है। पहला–मुद्रित माध्यम और दूसरा–इलेक्ट्रॉनिक माध्यम। मुद्रित माध्यम आज से लगभग 500 वर्ष पुराना माध्यम है, जिसे आज भी प्रकाशमय देखा जा जा है। दूसरा इलेक्ट्रॉनिक माध्यम–जो 20वीं सदी का देन है।

इलेक्ट्रॉनिक माध्यम के साथ ही संचार के क्षेत्र में एक नई, अभूतपूर्व और साराहनीय बदलाव की गति आई।

मुद्रित माध्यम

मुद्रण का आविष्कार मात्र से ही साक्षर मनुष्यों, समुदायों के लिए संचार वरदान बन गया। जिसका

आविष्कार जर्मनी में जॉन गुटेनवर्ग के द्वारा समझा जाता है। विकसित देशों में समाचार पत्र जीवन के अनिवार्य जरूरतों का हिस्सा सा हो गया। अमेरिका में 95 प्रतिशत लोग समाचार पत्र के अनुयायी है। इसके बाद रूसी लोगों में प्रेमियों की गणना होने लगी। भारत में 18वीं सदी के अन्त में अखबार आया। आज के समय में देश के प्रत्येक क्षेत्र में प्रान्तों में और भाषा में दैनिक, सप्ताहिक और मासिक पत्र–पत्रिकाओं का प्रकाशन तेजी से होने लगा है। उनकी संचार प्रक्रिया में तेजी से विकास हो रहा है। बहुसंख्यकीय सांध्य, संस्करणीय, प्रकाशन, बिजली संसाधनां के साथ विकास निरन्तर बढ़ते ही गए।

साज–सज्जा और उत्तम मुद्रण के कारण लोगों का आकर्षण इनके पक्ष में बढ़ता चला गया। अधिक जानकारी हासिल करने के लिए उद्देश्य से समाचारपत्र हर वर्ग के लिए उनके इच्छाओं के अनुरूप सामग्री मुद्रित कर रहे है। खेल, कला, भाव, फिल्म एवं राजनैतिक जीवन के प्रत्येक हिस्से से संबंन्धित समाचार, समाचार पत्रों के द्वारा प्रदान किए जाते है।

समाचारपत्रों में मुद्रित प्रकाशित विज्ञापन भी संचार का अंग है। जो अभी विभिन्न उत्पादों के संबन्ध में जानकारियाँ देते है। स्पष्ट रूप से विज्ञापन समाजिक घातक रोगों से बचाव, सामाजिक प्रदूषणों के परिहार एवं शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता का संदेश देते है, जैसे–धुम्रपान, दवाइयाँ जो नशीली होती है। टीकाकरण, स्वच्छ पेयजल अपनाने की जानकारी आदि सामाजिक विज्ञापनों के उदाहरण है।

देश के स्वतंत्रता–संग्राम में समाचारपत्रों का योगदान पूर्ण रूपेण स्मरणीय एवं सराहनीय है। प्रत्येक समाज–सुधारक की हर लड़ाई समाचारपत्रों को अपना प्रवक्ता बनाता है।

फिर भी प्रत्येक उपकरण की अपनी सीमाएँ है इसका संदेश केवल साक्षर लोगों के लिए ही उपयुक्त है, निरक्षर, व्यक्ति तक समाचार नहीं पहुँच पाता है। संदेश का पूर्ण संचारण अभी भी दूरदराज के गांवों तक मुश्किल से पहुँच पाता है। रेडियो अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम बना है जो इलेक्ट्रॉनिक संचार माध्यम के रूप में है। यूँ कहे कि इलेक्ट्रॉनिक माध्यम में चुम्बकीय विद्युत के कारण संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रेषित होता है। प्रसारण क्षेत्र में इस माध्यम के विशेष सराहनीय ख्याति प्राप्त है, जैसे–सूचना, शिक्षा, मनोरंजन (संगीत) विज्ञापन आदि है। कुछ विद्वानों (जावरीमल पारिख) के अनुसार 'रेडियों निरक्षरों के लिए वरदान है। जिसके द्वारा सिर्फ सुनकर अधिकाधिक मनोरंजन, ज्ञान, सूचना आदि हासिल कर सकते है। आज भी कुछ जगहों में टेलीविजन के प्रसार के बावजूद रेडियो का महत्व कायम है।

दूरदर्शन

अब लोगों में सुनने के साथ देखने की इच्छा जागृत हुई, फलस्वरूप 1890 ई. में तस्वीरों को प्रसारित करने की जागरूकता को एक विशेष प्रकार की यंत्र तैयार करने के लिए 1906 में ली.डी. फारेस्ट ने शीशे की नली से बिजली निकालकर एक नवीन प्रयोग किया तथा फलेमिंग द्वारा 'वायरलेस' टेलीग्राफ को पेटेंट करवाया गया। सन् 1926 को स्काटलैण्ड के जॉन लोगी वयर्ड ने टेलीविजन का सफल प्रदर्शन किया।

मारकोनी कम्पनी के इलेक्ट्रॉनिक केमरा और रिसीविंग ट्युब के विकास ने इसकी यांत्रिक समस्याओं को तो दूर किया ही तस्वीर और ध्वनि की गुणवत्ता

में भी आपेक्षित सुधार किया। उस ध्वनि दूरदर्शन का पहला प्रसारण (सार्वजनिक) ब्रिटेन में सन् 1930 में हुआ और धीरे–धीरे दूरदर्शन चलनेवाली तस्वीर दुनिया में तेजी से फैलने लगा। 1938 में व्यवसायिक प्रसारणों की शुरूआत हुई। लेकिन द्वितीय विश्य के दौरान यूरोप में दूरदर्शन प्रसारण आकस्मिक रूप से बन्द कर दिया गया। ये एक ऐसी जनसंचार थी जो रूक नहीं पाई, पुनः युद्धोपरान्त दूरदर्शन की सेवाएँ शुरू हुई। 1953 में संयुक्त राज्य अमेरिका में सर्वप्रथम नियमित रंगीन दूरदर्शन प्रसारण प्रारम्भ किया। दिन–प्रतिदिन सेवा में नए–नए क्रान्तिकारी परिवर्तन होने लगे। 11 जुलाई 1962 से उपग्रह प्रसारण की शुरूआत हुई। उपग्रह के द्वारा पहले जीवन्त (स्पअम) कार्यक्रम का आदान–प्रदान यूरोप तथा अमेरिका के बीच हुआ और फिर यूरोविजन ने व्यापक स्तर पर पूर्वी यूरोपियन नेटवर्क इन्टर विजन के साथ कार्यक्रमों का आदान–प्रदान शुरू कर दिया।

सामान्य रूप से इस संपूर्ण कार्यविधि को निष्पादित करने वाले संसाधनों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. दूरदर्शन कार्यक्रम के बाह्य प्रभाग।
2. दूरदर्शन कार्यक्रम के आन्तरिक प्रभाग।

दूरदर्शन के बाह्य प्रभाग

दूरदर्शन के कार्यक्रम बनाते समय स्थूल रूप से प्रयोग किया जाता है। इन संसाधनों का विशेष महत्व है क्योंकि इनकी जानकारी के बिना दूरदर्शन के पटकथा पर कार्य करना असम्भव होता है।

(अ) स्टुडियो – उस जगह पर प्रसारण से संबंधित सभी कार्यक्रर्मों को संचालित किया जाता है। कार्यं के आधार पर इन्हें कुछ इस तरह विभाजित किया गया है।

1. आडियो स्टूडियो–यह संवाद, संगीत, उद्घोषणाएँ आदि टेपांकित करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है और इसमें माइक्रोफोन आदि की आवश्यकता होती है।

2. वीडियो स्टूडियो – इसका प्रयोग आन्तरिक .श्य बंधीकरण, तथा चलते प्रकाशीय व्यवस्था से परिपूर्ण होता है। कैमरे के माध्यम से दृश्य बंध ीकरण पूरा किया जाता है। इसके लिए प्रकाशीय व्यवस्था का होना अनिवार्य है।

3. मिक्सिंग स्टूडियों– उसे 'मिक्सिंग टेबल' के नाम से जाना जाता है। दृश्यों को एक के बाद एक कर संपादित किया जाता है।

इन सभी कार्यविधियों से बिना समय लगे हर तरह के संगीत के कार्यक्रम दूर तक प्रसारित संचारित होते रहते हैं और ये दूरदर्शन ऐसी व्यवस्था है जिसमें (Live) भी कर और देख सकते है।

वीडियो

संचार–माध्यम एवं कम्प्यूटर

कम्प्यूटर शब्द का सही उच्चारण, वर्तनी की शुद्धियों और अशुद्धियों में अंतर बताकर उचित सम्प्रेषण करता है। कम्प्यूटर एक ऐसा यंत्र है जो इंसान की दिमाग के तरह काम करता है, लेकिन कम्प्यूटर आदमी से कई गुणा अधिक तेज काम करता है। गणितीय गणनाओं को और विभिन्न आकड़ों का विश्लेषण करने के साथ–साथ उन्हें अपने दिमाग रूपी स्मृति में रख सकता है। इसका कार्य आदेश देना, आदेशों को कार्यक्रम के रूप में इकट्ठा करना, उसका क्रियान्वयन करना परिणाम संचित करना और आदेशानुसार परिणामों को सामने रखना है। आवृतियों को बारम्बार निर्विहन इसकी विशेषता है विकास संरचना एवं तकनीक दृष्टि से कम्प्यूटर के विकास का

इतिहास लगभग छः दशक पुराना है। इस विकास को अन्तरालों में अलग–अलग किया गया है, माइक्रोप्रोसर सिलिकन चिप्स क्रमशः तीसरी और चौथी पीढ़ी कहलाई, प्रकाश और लेसर प्रकाशों आधारित पीढ़ी पाँचवी कहलाई। उसके समकक्ष मध्य विकसित और आगे विशेषीकृत सुपर कम्प्यूटर ने विशेष सफलता प्राप्त की।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह, ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 सं0–1।
2. मिश्र, डॉ. चंद्रप्रकाश, संचार और संचार माध्यम, पृष्ठ–104
3. शर्मा, डॉ0 अनिता, भारतीय संगीत में वैज्ञानिक उपकरणों का योगदान, पृ० सं०–161
4. शर्मा, डॉ0 राधिका, भारतीय संगीत को मीडिया और संस्थाओं का योगदान, पृ0 सं0–144
5. यू0 जी0 सी0 नेट संगीत बुक (पूजा शर्मा, संजीव कुमार, आशीष कुमार झा) अरिहन्त प्रकाशन, 2019, पृ0 सं0582

शिक्षा के विकास में संगीत की भूमिका

डॉ .चंद्रिका कुमारी*

शोध सार

शिक्षा का परम्परागत .ष्किोण रहा है कि सामाजिक और नैतिक जागृति के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता और ध्येय को देखा जाये, जीवन को सुन्दरता और मर्यादा दी जाये, और एक शिक्षा अच्छी सामाजिक व नैतिक व्यवस्था की संहिता तैयार की जाये। गांधी जी के शिक्षा दर्शन में चरित्र निर्माण मुख्य सूत्र है। हम दार्शनिकों की रचनाओं में जो एक अन्य लक्षण देखते है वह यह है कि शिक्षा हमें उचित और आधुनिक गुण व अवगुण के बीच सकारात्मक भेद करने की शक्ति प्रदान करती है। जो ज्ञान मस्तिष्क और हृदय को शुद्ध करता है वही सच्चा ज्ञान है, बाकी सब कुछ ज्ञान का नकार है।

कुंजी .शिक्षा , चरित्र, दर्शन, नैतिक, कल्पना

शिक्षा का परम्परागत दृष्किोण रहा है कि सामाजिक और नैतिक जागृति के सन्दर्भ में इसकी उपयोगिता और ध्येय को देखा जाये, जीवन को सुन्दरता और मर्यादा दी जाये, और एक शिक्षा अच्छी सामाजिक व नैतिक व्यवस्था की संहिता तैयार की जाये। गांधी जी के शिक्षा दर्शन में चरित्र निर्माण मुख्य सूत्र है। हम दार्शनिकों की रचनाओं में जो एक अन्य लक्षण देखते है वह यह है कि शिक्षा हमें उचित और आधुनिक गुण व अवगुण के बीच सकारात्मक भेद करने की शक्ति प्रदान करती है। जो ज्ञान मस्तिष्क और हृदय को शुद्ध करता है वही सच्चा ज्ञान है, बाकी सब कुछ ज्ञान का नकार है। राम.ष्ण परमहंस ने कहा है, ''शिक्षा का ध्येय भीतरी विकास है। ''प्लेटो के अनुसार, ''शिक्षा का उद्देश्य व्यक्तित्व का समग्र विकास है।'' हरबर्ट स्पेन्सर के अनुसार, ''शिक्षा का उद्देश्य सम्पूर्ण व सफल जीवन व्यतीत करने योग्य बनाना है।'' यही विचार महान जर्मन शिक्षा शास्त्री जान फ्रेडरिक हरबर्ट के दर्शन में है जिसने कहा, ''शिक्षा का एकमात्र और समस्त उद्देश्य नैतिकता की धारणा में समाहित किया जा सकता है।'' इसी सन्दर्भ में हमारे पूर्व राष्ट्रपति डा0 राधाकृष्णन ने कहा कि ''भारत सहित सारी दुनिया की परेशानी का कारण यह है कि शिक्षा नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों का अर्जन नहीं बल्कि मात्र बौद्धिक क्रिया बन गई है।''

लैटिन भाषा के 'एडूकेटम' शब्द का अर्थ है शिक्षित करना। 'ए' का अर्थ है अन्दर से तथा 'डूको' का अर्थ है आगे बढ़ना अथवा विकास अर्थात अन्दर से विकास।अब प्रश्न यह उठता है कि अन्दर से विकास का अर्थ क्या है ? इस प्रश्न का सरल उत्तर यह है कि प्रत्येक बालक के अन्दर जन्म से ही कुछ जन्मजात प्रवृतियां होती है।जैसे–जैसे बालक वातावरण के संपर्क में आता जाता है, वैसे–वैसे उसकी जन्मजात शक्तियों को अन्दर से बाहर की ओर विकसित करना,अन्दर को ठूंसना नहीं। एडुकेटम के अतिरिक्त उक्त दोनों शब्दों – एडूसीयर तथा एडूकेयर का अर्थ भी यही है।एडूसीयर का अर्थ है. निकालना तथा एडूकेयर का अर्थ है– आगे बढ़ना,बाहर निकालना अथवा विकसित करना। इस प्रकार शिक्षा शब्द का अर्थ है जन्मजात शक्तियों का सर्वांगीण विकास है।

शिक्षा का सामान्य कार्य निम्नलिखित है।.

(1) जन्मजात शक्तियों का प्रगतिशील विकासः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रत्येक बालक में प्रेम,जिज्ञासा,कल्पना तर्क तथा आत्मसम्मान आदि जन्मजात शक्तियां होती है।लगभग सभी

पूर्व शोध छात्र ,ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय ,दरभंगा

जन्मजात शक्तियां होती है।लगभग सभी शिक्षाशास्त्रियों का मत है कि बालक की इन सभी जन्मजात शक्तियों को विकसित करना शिक्षा का प्रथम कार्य है। प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री पेस्टालॉजी ने शिक्षा के इसी महत्वपूर्ण कार्य पर प्रकाश डालते हुए शिक्षा को इन शब्दों में परिभाषित किया है . "शिक्षा मनुष्य की जन्मजात शक्तियों का स्वाभाविक, सामंजस्यपूर्ण तथा प्रगतिशील विकास है"

(2) व्यक्ति सर्वांगीण विकासः शिक्षा का दूसरा कार्य व्यक्ति का सम्पूर्ण तथा सर्वांगीण विकास करना है,जिससे बालक को ब्रह्माण्ड का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाये तथा वह एक सफल नागरिक के रूप में सत्यम,शिवम् एवं सुन्दरम का अनुभव करके आत्म–साक्षात्कार कर सके। व्यक्ति के अन्तर्गत शारीरिक,मानसिक,सामाजिक,संवेगात्मक तथा आध्यात्मिक आदि सभी पहलू सम्मिलित है। यदि इनमें से किसी एक पहलू का भी विकास न किया गया तो बालक अपने भावी जीवन के अनेक क्षेत्रों में भटकता फिरेगा।

(3) चरित्र–निर्माण तथा नैतिक विकासः शिक्षा का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य बालक के चरित्र का निर्माण तथा नैतिक विकास करना है। वस्तुस्थिति यह है कि मनुष्य के चरित्र–निर्माण का आधार उसकी मूल–प्रवृतियों की होती है। यह मूल–प्रवृतियों जन्म से न अच्छी होती है और न बुरी। इनकी अच्छाई अथवा बुराई इनके शोधन पर निर्भर करती है। यदि बालक की मूल–प्रवृतियों को अनियंत्रित स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई तो वह अन्य पशुओं की भांति बर्बरतापूर्ण व्यवहार करने लगेगा। इसके विपरीत यदि उसकी मूल–प्रवृतियों पर नियंत्रण रखते हुए उचित दिशा में मोड़ दिया जाये तो बालक का व्यवहार स्वयं उसके तथा समाज के अन्य सभी व्यक्तियों के लिए प्रशंसनीय एवं लाभप्रद होगा। यदि बालक को चरित्रवान बनना है तो उसकी मूल–प्रवृतियों को नियंत्रित करते हुए उचित दिशा में मोड़ना होगा। यह कार्य केवल शिक्षा ही कर सकती है। अतः शिक्षा का चौथा कार्य यह है कि बालक को अपनी मूल–प्रवृतियों पर नियंत्रण रखना सिखाये तथा मर्गान्तिकरण और शोधन द्वारा उसे उच्च कार्यों में लगाकर सचित्र बनायें एवं उसमें सत्य, प्रेम, भक्ति, त्याग तथा उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करके उसका नैतिक विकास करें। हरबार्ट के अनुसार भी शिक्षा के सम्पूर्ण कार्य को एक ही शब्द में प्रकट किया है और वह शब्द है नैतिकता।

(4) प्रौढ़ जीवन के लिए तैयारीः आज का बालक कल का नागरिक है। इसका अर्थ यह है कि जो बालक जन्म के समय असहाय होता है वह कल को अर्थात भविष्य में प्रौढ़ बनकर समाज का उत्तरदायी नागरिक बनेगा। अतः शिक्षा का पांचवां कार्य यह है कि वह बालक को प्रौढ़ जीवन के लिए तैयार करे। दूसरे शब्दों में शिक्षा बालक के अन्दर ऐसी क्षमता तथा योग्यता पैदा करे कि वह भावी जीवन में प्रौढ़ नागरिक बनकर अपने कर्तव्यों तथा अधिकारों का पालन करते हुए पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनीतिक हर प्रकार की समस्या को सुलझाकर सफल जीवन व्यतीत कर सके। प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने भी आशय की पुष्टि करते हुए लिखा है "मैं उसको पूर्ण शिक्षा कहता हूँ जो मनुष्य को शांति तथा युद्ध के समय व्यक्तिगत तथा सार्वजानिक दोनों प्रकार के सभी कार्यों को उचित रूप में करने योग्य बनती है।

(5) सामाजिक भावना का विकासः व्यक्ति का समाज से गहरा सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि वह समाज में ही रहते हुए अपनी भी उन्नति कर सकता है तथा अन्य व्यक्तियों की भलाई भी।

बिना समाज के उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस .ष्टि से व्यक्ति में सामाजिक भावना का विकसित होना परम आवश्यक है। इस महान कार्य को शिक्षा के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। इस कार्य की शिक्षा स्कूल की सहायता से सरलतापूर्वक पूरा कर सकती है। स्कूल के सामाजिक वातावरण से रहते हुए बालक नाना प्रकार की सामाजिक क्रियाओं में भाग लेता है जिससे उसमें सामाजिक भावना की जागृति के साथ–साथ प्रेम, दया, सहनशीलता, सहानुभूति, सहयोग तथा परोपकार आदि ऐसे अनेक सामाजिक गुण सहज में ही विकसित हो जाते हैं जिनसे सुसज्जित होकर वह अपने भावी जीवन में समाज हित के कार्यों को करते हुए समाज की भलाई को ही अपना भलाई समझने लगता है।

(6) उत्तम नागरिकों का निर्माणः किसी भी राज्य को उत्तम राज्य उसी समय कहा जा सकता है जब वहाँ के नागरिक भी उत्तम हो। इसीलिये प्रत्येक शासक सदैव इस बात का प्रयास करता है कि उसके सभी नागरिक उत्तम बनें। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि उत्तम नागरिक का क्या अर्थ है? उत्तर में सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि किसी भी नागरिक को उत्तम नागरिक उसी समय कहा जा सकता है जब उसमें सत्यता, देश–भक्ति, ईमानदारी, कर्तव्यपरायणता तथा नेतृत्व आदि गुण पाये जाते हों। इन गुणों को केवल शिक्षा के द्वारा ही विकसित किया जा सकता है।अतरू शिक्षा का सातवाँ कार्य है कि वह बालकों में उत्तम गुण का विकास करे।

(7) संस्कृति एवं सभ्यता का संरक्षणः प्रत्येक समाज के रीति –रिवाज, परम्परायें, नैतिक तथा धर्म अदि सब अलग–अलग होते हैं। इन सबको प्रत्येक समाज ने अति प्राचीन काल से लेकर आज तक अर्जित किया है। वस्तु स्थिति यह है कि प्रत्येक समाज को अपनी–अपनी संस्कृति तथा सभ्यता पर इतना गर्व होता है कि वह इसको किसी भी मूल्य पर नष्ट नहीं होने देता। अतः शिक्षा का आठवाँ कार्य यह है कि वह प्रत्येक समाज की संस्कृति तथा सभ्यता को विभिन्न साधनों के द्वारा सुरक्षित रखे, प्रगति करे तथा उसमें नवीनता लाये।

(8) सामाजिक सुधारः शिक्षा का नवां कार्य सामाजिक सुधार एवं उन्नति करना भी है। अनुभव की बात है कि कोई भी समाज शिक्षा की व्यवस्था केवल इसलिए ही नहीं करता कि बालक समाज के प्रचलित नियमों, सिद्धांतों तथा रूढ़ियों से केवल अनुकूल ही प्राप्त कर सके अपितु वह यह भी चाहता है कि शिक्षित होकर वह (बालक) उसमें आवश्यकतानुसार सुधार भी कर सके जिससे समाज उचित दिशा की ओर विकसित होता रहे।

(9) राष्ट्रीय सुरक्षाः किसी भी राष्ट्र की सुरक्षा को ज्यों का त्यों बनाये रखने का दायित्व वहाँ की शिक्षा के उपर ही निर्भर होता है।इसलिए शिक्षा का दसवां महत्वपूर्ण कार्य प्रत्येक व्यक्ति को राष्ट्र की रक्षा करने के लिए तैयार करना है। भारतवर्ष अब स्वतंत्र अवश्य है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ के नागरिक अब आँख मींच कर बैठ जायें। चूँकि चीन और पाकिस्तान से भारत को निरन्तर भय बना रहता है, इसलिए हम सब के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा का कार्य और भी अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में जहाँ शिक्षा का कार्य उत्तम गुणों से सुसज्जित नागरिकों का निर्माण करना है वहाँ उनमें ऐसी भावनाओं को भी विकसित करना है कि वे अपने देश की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति देने में भी न हिचकिचायें। एच० मैन ने ठीक लिखा है। "केवल शिक्षा से ही हमारी राजनीतिक

सुरक्षा सम्भव है"।

ललित कलाओं के अध्ययन के समावेश की आवश्यकता सौन्दर्य के प्रति अनुराग मनुष्य की विशेषता मानी जाती है। इसके विकास से व्यक्ति अभिरुचि सम्पन्न हो जाता है। इस दिशा में संगीत तथा अन्य ललित कलाओं का शिक्षा में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। सुशिक्षित व्यक्ति सुसंस्कृत हो यह अपेक्षा करना शिक्षा के उद्देश्य को ध्यान रखते हुए बिल्कुल स्वाभाविक है। इस अपेक्षा की पूर्ति तभी सम्भव है जब ललित कलाओं को शिक्षा में समुचित स्थान दिया जाये जिससे संगीत और संगीतकारों को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हो। संगीत की शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का सम्पूर्ण विकास तथा सुप्त गुणों की अभिव्यक्ति है। केवल बौद्धिक क्षमता बढ़ने से व्यक्ति का विकास अधूरा रह जायेगा। बौद्धिक विकास के साथ मानवी व्यवहार का जो क्रियात्मक तथा रागात्मक अंग है उनके विकास की तरफ भी ध्यान देना आवश्यक है। रागात्मक नियंत्रण तथा अनुशासन प्राप्त करने के लिये ललित कलाओं का प्रत्यक्ष तथा उनके रस ग्रहण के लिये उपयुक्त संवेदनशीलता प्राप्ति अच्छी शिक्षा में बहुत आवश्यक है। शास्त्रीय परिपूर्णता तथा भावात्मक अभिव्यक्ति का समन्वय कला को श्रेष्ठ रूप प्रदान करता है। परम्परा की रक्षा एवं बदलती परिस्थितियों के अनुकूल उसका कलात्मक विकास यह शिक्षा का उद्देश्य होना चाहिये। शास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए रसनिर्मिती के अनुकूल वैयक्तिक शैलिका निर्माण संगीत की उच्च शिक्षा से हो सकता है। कला चाहे कितनी ही आत्मनिष्ठ हो लेकिन उसकी शिक्षा जितनी अधिक वस्तुनिष्ठ तथा संयमपूर्ण होगी उतनी ही वह अधिक प्रभावी बनेगी। तकनीकी शुद्धता तथा कलात्मकता दोनों ही मूल्यों के प्रति सजग रहना संगीत की शिक्षा को प्रभावी परिणाम देंगे। आज संगीत का संस्थाओं में प्रवेश हो जाने से इसकी शिक्षण पद्धति बिल्कुल बदल गई है। यद्यपि प्राचीन कालीन संगीत शिक्षण पद्धति का कुछ अंश आज भी जैसे– घरानेदार संगीत शिक्षण, विशेष संगीत विद्यालयों में विशेष संगीत आदि के रूप में प्राप्त होता है, तथापि परिस्थितियां (सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक आदि) के परिवर्तन के साथ संगीत का दृष्टिकोण भी बदल गया है। यदि ऐसा कहा जाए कि दो सौ वर्ष पहले के संगीत और आज के संगीत में बड़ा अंतर है तो शायद गलत न होगा। उस समय गुरू छात्रों की कक्षा में संगीत की शिक्षा नहीं देते थे, परन्तु आज संगीत का प्रचार अपेक्षाकृत अधिक हुआ है।

आज साहित्य, संगीत व कला के बिना कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। आज हमारी सरकार के शिक्षा विभाग ने संगीत–क्षेत्र में एक नया मोड़ ला दिया है। पांचवें दशक तक शास्त्रीय संगीत की शिक्षा इतनी लोकप्रिय नहीं थी जितनी आज है। छोटे–बड़े सभी शहरों के स्कूलों, महाविद्यालयों में संगीत शिक्षा किसी न किसी रूप में चल रही है। आजकल शास्त्रीय संगीत के जितने समारोह होते रहते हैं या जितने विद्यालयों–विश्वविद्यालयों और संगीत संस्थाओं में संगीत शिक्षा दी जा रही है, समूचे इतिहास में इसका उदाहरण नहीं मिलता, आज संगीत शिक्षा लेनी आसान हो गई है। एक निश्चित शुल्क देकर, निश्चित स्थान पर, निश्चित समय में संगीत शिक्षा ली जा सकती है। जबकि पुराने संगीत शिक्षकों से शिक्षा लेना आसान काम नहीं था। बड़ा ही कठिन परिश्रम, त्याग तथा बलिदान करना पड़ता था। आज समस्त संगीत हमारी अँगुलियों के इशारे पर है, यानि रेडियो, टेलिविजन, चलचित्र, टेप या कैसेट, वीडियो रिकार्ड प्लेयर आदि। स्वतंत्रता के पश्चात अन्य कलाओं

की भांति ही संगीत का हित सुरक्षित करने हेतु केन्द्रीय सरकार ने संगीत नाटक अकादमी की तथा दिल्ली में भारतीय कला केन्द्र की स्थापना कर उसमें विभिन्न शैलियों के शीर्ष घरानेदार मान्य संगीतज्ञों को, छात्रों को शिक्षित करने के हेतु वेतन भोगी बनाकर रखा गया, जबकि पहले यह घरानेदार संगीतज्ञ साधारण छात्रों को सुलभ नहीं होते थे। आज वर्तमान संगीत शिक्षा पद्धति में सामान्यतः एक ही विद्यालय, महाविद्यालय, संकाय अथवा विश्वविद्यालय में शिष्य को शिक्षाकाल में विभिन्न घरानों में संबंधित विभिन्न संगीत शिक्षकों से शिक्षा–लाभ मिल सकता है। एक वर्ष एक के पास सीखने के बाद दूसरे वर्ष अन्य गुणी से मार्ग–दर्शन मिलता है या एक ही कक्षा में एक से अधिक (अलग–अलग पीरियड में) गुरुजनों से निर्देश मिल सकते हैं और जब चाहे किसी गुणीजन के गायन वादन को सुन सकते हैं। संगीत स्कूल–कालेजों में बहुत से शिक्षण विषयों में से एक है और जिसे परीक्षा में उत्तीर्ण होने के उद्देश्य से सीखा–सिखाया जाता है, परीक्षा की .ष्टि से कुछ सांगीतिक व्याकरण का शिक्षण होता है और एक निश्चित रूप–रेखा में रटी–रटाई जाती है और जहां प्रायः राग के आरोह–अवरोह, पकड़, जाति, थाट, वर्जय स्वर, शुद्ध–विकृत स्वर, स्थाई–अन्तरा, मुखड़ा, ताल की मात्राओं, सम, खाली, ताली आदि व्याकरण तक ही सीमित होता है। आज यद्यपि संगीत शिक्षा के विकास के लिए नये–नये साधन अपनाए गए है, इसका बहुत प्रसार व प्रचार किया गया है। विद्यालयों, विश्वविद्यालयों में इसको स्वतंत्र विषय के रूप में चलाया गया है, संगीत के शास्त्रीय पक्ष पर शोध–ग्रंथ तैयार किए गए हैं, विविध प्रकार के सरकारी अनुदान की व्यवस्था है, स्थान–स्थान पर संगीत विद्यालय चल रहे हैं और उनमें प्रत्येक वर्ष संगीत के विभिन्न विषयों में प्रतियोगिताओं का आयोजन भी किया जाता हैं। ये सब इसकी उन्नति के लक्षण अवश्य है परन्तु इतने पर भी यह शिक्षण संस्थाएं अच्छे और प्रभावशाली मंचीय कलाकारों की जन्मभूमि नहीं बन पा रही है। आज नामी गायक वादकों को अंगुलियों पर गिना जा सकता है। मध्य काल या उसके आसपास जिस कला ने उन्नति की चरम सीमा को पार किया आज उसकी यह स्थिति है कि यदि कोई प्रतिभा अपवाद–स्वरूप इनमें विश्वास कर भी जाती है, तब भी उसका स्तर मध्यम कोटि से ऊपर नहीं उठ पाता–ऐसा भी नहीं है कि अच्छे कलाकारों का सम्बन्ध इन संस्थाओं से रहता ही न हो। बल्कि कुछ ऐसे प्रतिभाशाली और लोकप्रिय व्यक्ति भी है जिन्होंने स्वयं संगीत की प्राइवेट संस्थाओं या विश्वविद्यालयों में शिक्षा पाई है। इन कलाकारों ने अपनी सूझ–बूझ और साधना के बल पर अथवा किसी साधारण शिक्षक के मार्गदर्शन के पश्चात् स्वयं ही अपना पथ प्रशस्त करने में समर्थ हुए हैं, लेकिन इस समर्थता के बाद भी उन्हें किसी नामी 'उस्ताद' की शरण में जाकर उससे गंडा बांधकर और उसके शिष्य बन जाने पर अपनी पूर्णता महसूस हुई। इसका मुख्य कारण यह ही है कि शिक्षक अभी गुरु परम्परा के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हो पाया। संगीत के अतिरिक्त दूसरे विषयों में डिग्री प्राप्त करने के बाद कोई इस बात पर जोर नहीं देता कि आपने अंग्रेजी किस गुरु से सीखी है या अर्थशास्त्र किस उस्ताद से पढ़ा है किन्तु संगीत में तो संगीत प्रदर्शक तथा अच्छे से अच्छे संगीत शिक्षक भी अपने को किसी न किसी घरानेदार व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ने में अपना मान समझता है। हमें यह मानना पड़ेगा कि व्यक्ति के भीतर का कलाकार हमेशा इस परम्परागत ढ़ंग की शिक्षा और रियाज का आभारी रहा है क्योंकि डिग्री

देने वाली संस्थाओं ने इन्हें कलाकार नहीं बनाया। आज संगीत के नाम पर व्यर्थ का दिखावा अधिक है जो इसकी गिरावट का कारण है। आज संगीत सिमट कर विद्यालयों और विश्वविद्यालयों के कक्षों में पहुँच गया है, जहां चालीस–पैतालीस मिनट के समय में संगीत के सुरों की थोड़ी– बहुत शिक्षा दी जा सकती है, गायकी की बारीकियां नहीं दिखाई जा सकती हैं। इस कला की जानकारी के लिए जब तक अलग से किसी योग्य गुरु से लगातार कई वर्षों तक सामने बैठकर इसके 'गुर' न सीखें जाएं, आवाज की तैयारी न की जाए, तब तक घरानेदार गायकी के कायदे रीतियाँ और विभिन्न स्वर संगतियों को शिष्य के गले में नहीं उतारा जा सकता। आज हमारे पास पूज्य पं0 भातखण्डे जी के सत्प्रयत्नों से संगीत की घराने–दार गायकी और बन्दिशों की बहुत कुछ सामग्री लिखित रूप में मिलती है– स्वरलिपि पद्धति शिक्षा को आसान तो बनाती है परन्तु इनमें छिपे हुए, संगीत के विभिन्न अंदाजों और स्वरों की महीन अदाकारी को बिना योग्य गुरु के हासिल नहीं किया जा सकता, इसमें गुरु का सही निरीक्षण–परीक्षण नितान्त आवश्यक है।

संदर्भ

1. जौहरी सीमा, सङ्गीतायन, राधा पब्लिकेशन्स, पृष्ठ –53
2. स्मिथ, जे. (2020) ''माध्यमिक विद्यालय के छात्रों के शैक्षणिक प्रदर्शन पर संगीत शिक्षा का प्रभाव'' जर्नल ऑफ म्यूजिक एजुकेशन, 45(2), 123–140
3. कुमार, ए. (2019) ''पारंपरिक बिहारी संगीत को माध्यमिक शिक्षा में एकीकृत करनाः एक केस स्टडी'' इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशन एंड म्यूजिक स्टडीज, 7(3), 65–78
4. शर्मा, आर., और सिंह, एम. (2018) ''बिहार के माध्यमिक विद्यालयों में छात्रों के संज्ञानात्मक कौशल पर संगीत–आधारित पाठ्यक्रम का प्रभाव'' शैक्षिक मनोविज्ञान समीक्षा, 30(4), 489–506
5. पटेल, एस. (2021) ''माध्यमिक शिक्षा में सामाजिक समावेशन के लिए एक उपकरण के रूप में संगीतः बिहार में स्कूलों का एक अध्ययन'' जर्नल ऑफ आर्ट्स एंड एजुकेशन, 12(1), 32–45
6. दास, पी., और गुप्ता, एन. (2017) ''सांस्कृतिक संरक्षण और पहचानः बिहार के माध्यमिक विद्यालयों में संगीत शिक्षा की भूमिका'' इंटरनेशनल जर्नल ऑफ कल्चरल स्टडीज, 5(2), 189–204

शिक्षा में संगीत का महत्व

डॉ.पुष्पवाणी*

सारांशः बच्चों में आत्मविश्वास, मौलिक चिन्तन एवं कल्पना शक्ति का विकास होता है। शिक्षक भी प्रसन्न मन और उमंग से भरे रहते हैं। बच्चों के पढ़ना–लिखना सीख सकने में गीतों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। किसी गीत में पिरोये वर्णों और षब्दों से बच्चे खेलते हैं, जीते हैं और उनसे अपनेपन का एक रिश्ता जोड़ लेते हैं। अगर भाषायी कौशलों सुनना, बोलना, पढ़ना, लिखना के विकास की बात करें तो गीत सहायक सिद्ध होते हैं। पढ़ना बल्कि यह कहें कि सीखने की पूरी प्रक्रिया बच्चों के लिए नीरस, थकाऊ और कष्टदायी न होकर रोचक, सरस और आनन्ददायी हो जाती है। आज आवश्यकता इस बात की है कि हम बच्चों के मन, उसकी इच्छा–आकांक्षा,सपनों, भावनाओं को समझें। गुरुकुल में वैदिक ऋचाओं का पाठ,वेद, पुराण, गीता, भारतीय संस्कृति का ज्ञान गेय शैली में संगीत के माध्यम से ही दिया जाता रहा। छोटे–छोटे बच्चों को शिक्षा गीत, संगीत , कविताओं के माध्यम से देना ज्यादा प्रभावी है। गद्य की अपेक्षा पद्य,पद्य में भी कविता के स्थान पर गीत और गीतों में संगीत ज्यादा प्रभावशाली होते हैं। "हम होंगे कामयाब" गीत ने बच्चों की मनरूस्थिति को काफी प्रभावित किया है।

शब्द कुंजी – गीत, संगीत, शिक्षक, शिक्षण, कौशल

सामाजिक जीवन एवं लोक व्यवहार में गीत रचे–बसे हैं।गीत बेजान नहीं होते, उनमें समय का स्पन्दन होता है। वे किसी जीवन्त समाज के परिचायक हैं। गीत सबको पसन्द होते हैं। सुर,लय,ताल,आरोह–अवरोह और गीत बोलने की एक विशेष शैली हर व्यक्ति को अपनी ओर खींचती है। गीतों के माध्यम से किसी विषय – वस्तु को सरलता से न केवल अभिव्यक्त किया जा सकता है बल्कि कहीं अधिक बोधगम्य भी बनाया जा सकता है। गीत वातावरण की नीरसता,एकरसता, ऊब और भारीपन को दूर कर सरसता, समरसता, उमंग और उत्साही परिवेश का निर्माण करते हैं। सीखने–सिखाने की प्रक्रिया को गीत रोचक और ऊर्जावान बना देते हैं। गीत केवल शब्दों का कोरा समुच्चय भर नहीं हैं, इनमें माटी की महक है, लोक की गमक है और सामाजिक प्रवाह का कलरव भी। ये समकालीन संस्ति की धड़कन हैं, समाज और राष्ट्र की अमूल्य धरोहर हैं।

शिक्षण एवं प्रशिक्षण कार्यक्रमों में गीतों का महत्त्व निर्विवाद स्वीकार्य है। यह देखने में आया है कि विद्यालयों का गम्भीर और अरुचिकर वातावरण बच्चों को न केवल शिथिल एवं थका देता है बल्कि उन्हें निस्तेज भी करता है। प्रातः विद्यालय में प्रवेश करते हुए उत्साह–उल्लास से भरे पूरे हँसते–खिलखिलाते फूल–से सुकोमल चेहरे घर जाते समय मुरझाये और निर्जीव–से दिखाई पडते हैं। इन 6–7 घण्टों में बच्चे विद्यालय में घुटन और पीड़ा का संत्रास झेलने को विवश होते हैं। वे समय–सारिणी के अनुकूल जीने को मजबूर होते हैं। घण्टी बजती है, घण्टे बदलते हैं ,विषय बदलते हैं, शिक्षक बदलते हैं लेकिन नहीं बदलता तो वह बच्चों को मुँह चिढ़ाता डरावना बोझिल वातावरण और पारम्परिक शिक्षण का तरीका। परिणाम बच्चे निष्क्रिय रहते हैं और उनका सीखना बाधित होता है। बालमन के पारखी कुशल शिक्षक कक्षा शिक्षण के दौरान माहौल को रुचिपूर्ण एवं आनन्ददायी

पूर्व शोध छात्र ,ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय ,दरभंगा

बनाने के लिए बीच–बीच में प्रेरक चेतना गीतों का प्रयोग करके न केवल बच्चों का मन जीत लेते हैं बल्कि प्रस्तुत विषय वस्तु को उनके लिए सहज ग्राह्य बना देते हैं।

हम होंगे कामयाब, हम होंगे कामयाब एक दिन यह एक गीत किस प्रकार बालमनों में आशा और विश्वास का संचार करता है, किसी से छिपा नहीं है। इसी प्रकार प्रशिक्षण कार्यक्रमों में भी सत्रों के बीच–बीच में प्रशिक्षक द्वारा समूह गीतों का प्रयोग करके प्रशिक्षण को जीवंत और सक्रिय बनाया जा सकता है। एक अच्छा प्रशिक्षक सम्बंधित विषय की भूमिका के रूप में उसी भाव एवं विचारों से ओतप्रोत गीत का सामूहिक गायन कर न केवल वातावरण तैयार कर लेता है बल्कि प्रतिभागियों का ध्यान आ. ष्ट करते हुए अपना प्रभाव भी जमा लेता है। यदि बच्चों की पढ़ाई, विद्यालय रखरखाव और अन्य क्रियाकलापों के सम्बन्ध में शिक्षकों, अभिभावकों या विद्यालय प्रबन्ध समिति की बैठक आयोजित करें तो संवाद से पूर्व गीत का सामूहिक गायन वैचारिक वातावरण का निर्माण कर देता है।

गुरुकुल में वैदिक ऋचाओं का पाठ,वेद, पुराण, गीता, भारतीय संस्ति का ज्ञान गेय शैली में संगीत के माध्यम से ही दिया जाता रहा। डॉ अर्चना मेहता ने कहा कि संगीत का महत्व शिक्षा के साथ साथ जीवन में भी है। मानसिक रोगों में, डिप्रेशन में इसका सफल प्रयोग हो रहा है।9माह का शिशु भी संगीत को समझ सकता है। संगीत से मन को आत्मा को सुकून व शांति मिलती है। जीवन ही संगीत है और संगीत ही जीवन है। श्रीमती शशिप्रभा दवे ने कहा कि संगीत से आत्मा का विकास होता है। प्रत्येक व्यक्ति को संगीतमय जीवन जीना चाहिए। श्रीमती हंसमुखी चतुर्वेदी ने कहा कि संगीत की शिक्षा से आत्मविश्वास बढ़ता है। संगीतमय तरीके से योग करने के फायदे दसगुना बढ़ जाते हैं।

संगीत मानव जीवन का प्राण है। संस्कृति की धड़कन है। संगीत के माध्यम से सीखने–सिखाने की प्रक्रिया अत्यंत रोचक और ऊर्जावान है। प्रियंवद की असाध्य वीणा,तानसेन का दीपक राग,मेघमल्हार के रागों द्वारा वर्षा ऋतु के आनन्द का श्रेय भारतीय संगीतकारों को ही जाता है।सुर– लय – ताल के मिलन से फाग, होरी, चौती, बिरहा के गीत, सावनी,कजरी, दिवारी के गीतों की गमक उन्माद संगीत से ही सीखते हैं ।संगीत आत्मिक उत्कर्ष को प्राप्त कराने वाला उत्ष्ट सोपान है।समाज और राष्ट्र की अमूल्य धरोहर है। श्रीमती शोभा सराफ ने कहा कि सुव्यवस्थित ध्वनि जो रस की सृष्टि करे संगीत कहलाती है। संगीत की परम्परा वैदिक काल से पूर्व से है। सामवेद के मंत्रों का उच्चारण सस्वर होता था। संगीत हमारे जीवन व सम्पूर्ण प्र.ति में समाया हुआ है। बच्चे संगीत के माध यम से खुशी–खुशी पढ़ लेते हैं उनका सर्वांगीण विकास होता है।

वेदों का हस्तांतरण पीढ़ी दर पीढ़ी संगीत व गायन से ही आया। यदि संस्त भाषा के श्लोक सीखने के लिए लगातार सुनकर और गाकर सीखा जा सकता है। शिक्षा में संगीत को समाहित करके हम बच्चों का सर्वांगीण विकास कर सकते हैं। श्रीमती आराधना रावत ने कहा कि प्राथमिक शिक्षा से ही संगीत विषय की शिक्षा की अनिवार्यता होनी चाहिए।डॉ अनूपी समैया ने कहा कि परिवार में गर्भावस्था से ही संगीत की शिक्षा प्रारंभ हो जाती है। संयुक्त परिवार में बच्चे के जन्म के पहले घर में संगीतमय वातावरण निर्मित किया जाता है। संगीत के माध्यम से एकाग्रता आती है सभी प्रकार की समस्यायों का समाधान भी सम्भव है। श्रीमती वीणा

पण्डया ने कहा कि हम यदि बच्चों को संगीत के माध्यम से तो उन्हें पढ़ाई बोझ नहीं लगेगी। बच्चे पढ़ाई में रुचि लेंगे।

जीवन में संगीत और शिक्षा दोनों का महत्व है।दिव्या मेहता ने संगीत के माध्यम से अपने अनुभवगम्य स्वास्थ्य लाभ की बात कही।हम अपने घर–परिवार में सभी के स्वास्थ्य के लिए संगीत का उपयोग करें। मानसिक रुप से परेशान व तनावग्रस्त जीवन में संगीत से सुखमय जीवन बनाया जा सकता है

संगीत से शिक्षा सरल एवं सुगम बना सकते हैं। संगीतमय वातावरण से बच्चों को याद भी जल्दी हो जाता है तथा बच्चे जागरूक एवं तनावरहित महसूस करते हैं। संगीत एक साधना है जिसमें समाहित हो कर व्यक्ति अपना आत्मिक एवं सात्त्विक विकास करता है।

भारत में संगीत शिक्षा के पहलू पर विचार करते समय एक तथ्य सामने आता है कि यहां धर्म, अध्यात्म, भक्ति तथा अन्य प्रकार की उपदेशात्मक शिक्षा या प्रेरणा संगीत से दी जाती रही है। संगीत शिक्षा उत्तम नागरिक अर्थात सुसंस्त व्यक्ति निर्माण में सहायक मानी जाती रही है।भारत की सामाजिक व्यवस्था में प्राचीन काल में वर्णाश्रम व्यवस्था के अंतर्गत शिक्षा का अधिकार वर्ण विशेष को प्राप्त था जो सामाजिक स्तर पर सुसंस्त नागरिक को बनाने में सहायक होते थे। यद्यपि मध्य युग के आते –आते वर्णाश्रम व्यवस्था कमजोर पड़ गई, परंतु तब भी सभ्य नागरिक के निर्माण में संगीत को आधार माना गया। इसका एक कारण यह भी है कि संगीत का उद्देश्य ही मानव का आत्मिक विकास है। जीवनोपयोगी यदि 64 कलाएं हैं तो ललित कलाओं की संख्या मात्र 5 हैं, उनमें से भी संगीत कला आदर्श कला है, क्योंकि श्रवण के साथ –साथ यह भारत के योग विज्ञान पर भी आधारित है।

भारतीय संगीत के इतिहास में कई नरेशों ने और संतों ने भी संगीत की सेवा की, ऐसा उल्लेख मिलता है, परंतु ये सभी संगीतानुरागी या तो समाज के आश्रयदाता, सत्ताधारी थे, या ऐसे संत थे जिन्हें सामान्य जनजीवन से कोई तात्पर्य नहीं था। वह केवल आनंद या उपासना हेतु संगीत साधना करते थे। ऐसे नरेशों में सुलतान हुसैन शाह शर्की, मानसिंह तोमर, रामपुर दरबार के नवाब, ग्वालियर के सिंधिया वंश तथा संतों में स्वामी हरिदास, अष्टछाप के कवि आदि थे। इनके संगीतज्ञों नवाबों, राजाओं को समाज में पर्याप्त सम्मान था ।

मध्य काल में संगीत यद्यपि शिक्षा के क्षेत्र में सहायक रूप में इतना प्रचलित नहीं था, तथापि संगीत को मनोरंजन का साधन मानकर तथा उसका केवल कलात्मक रूप मानकर उसे पारंपरिक रूप से प्रवाहित करने के लिए संगीत की शिक्षा को विशेष महत्व प्राप्त हुआ। संगीत में निहित सौंदर्य तत्वों की वृद्धि करना, उनमें विविधता लाने की दृष्टि से विचार हुआ और अपनी परंपरागत गायन –वादन शैली तथा उसके वैशिष्ट्य का संरक्षण –संवर्धन करने हेतु गुरु –शिष्य परंपरा और घरानेदार गायकी तथा वादन शैली का जन्म हुआ।

संगीत की बढ़ती हुई महत्ता को ध्यान में रखकर और उसके गुणों की पहचान कर ही शिक्षाविदों ने संगीत शिक्षा का महत्व समझा। संगीत के कुछ अनुरागी तथा विद्वानों ने, जिन्हें शिक्षित तथा सभ्य समाज में सम्मान प्राप्त हुआ था, संगीत के शास्त्र तथा विद्या को जन –जन तक पहुंचाने हेतु संगीत शिक्षा का प्रचार –प्रसार किया और संगीत संस्थाएं

खोलकर सामूहिक रूप से शिक्षा देना प्रारंभ किया। तथापि इन सभी प्रक्रियाओं में कई वर्ष लगे।

संगीत शिक्षा की इस समस्या को पं. दिगंबर जी ने समझा था वैसे ही बड़ौदा के उ . मौलाबख्श ने तथा मुंबई के विष्णु नारायण भातखंडे जी ने भी इस समस्या पर चिंतन –मनन कर इसका निराकरण करने का निश्चय किया। संगीत –शिक्षा के तत्कालीन स्वरूप में तथा संगीत के भिन्न क्षेत्रों से पनपते मतभेदों को मिटाया एवं संगीत का एक आदर्श स्वरूप हो और उसी की एक विशिष्ट पद्धति से शिक्षा हो, जिससे सभी समस्याओं का समाधान हो सके, इन बातों पर सोचने –विचारने के लिए प्रेरित किया। पं. भातखंडे स्वयं एक जाने माने वकील थे, परंतु अपनी बाल्यावस्था से ही संगीत के प्रति लगाव होने के कारण घर के लोगों से छिपकर संगीत सीखते रहे। भातखंडे जी के वकालत करने के समय ही ई. 1890 से पूर्व मुंबई में 'गायन उत्तेजक मंडली' नाम से एक संगीत संस्था का प्रारंभ हो चुका था। इस संस्था में अच्छे नामांकित गुणी गायक वादकों के कार्यक्रम आयोजित किए जाते थे। इसी संस्था में संगीत सीखने की इच्छा रखने वालों के लिए संगीत –शिक्षक की भी व्यवस्था की गई थी।

संगीत शिक्षक के महान उद्देश्य को ध्यान में रखकर भातखंडे संगीत के क्रियात्मक एवं सैद्धांतिक पक्ष का अध्ययन करते रहे। संगीत के विभिन्न ग्रन्थों का अध्ययन तथा परंपरागत रागदारी और बंदिशों का संग्रह करते रहे। यद्यपि भातखंडे जी को ऐसा संग्रह करने में अनेक कठिनाइयां आईं। कई बार किसी उस्ताद को वेतन देकर भी उनसे बंदिशें प्राप्त करनी पड़ीं, तो कई बार छल –कपट से भी बंदिशें निकलवानी पड़ीं।इसके बाद उन्होंने अपनी संग्रहित बंदिशों तथा उनके नियमों के आधार पर राग के लक्षण गीतों की रचनाएं की, जिसमें राग के सामान्य नियमों का वर्णन उन्हीं राग के गीतों के द्वारा स्पष्ट होता है।

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध का समय सामूहिक शिक्षण संस्थाओं की नींव मजबूत करने और समाज के अंतर्गत संगीत –शिक्षा के प्रति जागृत होने, संगीत की प्रतिष्ठा बढ़ाने, संगीतकारों को उचित सम्मान प्राप्त कराने के लिए योग्य सिद्ध हो रहा था। संपूर्ण देश में संगीत की इस शिक्षा क्रांति तथा प्रतिष्ठा का मजबूत जाल बुनना आरंभ हो गया था।

भिन्न –भिन्न संगीत शिक्षा –संस्थाएं, विद्यालयों के रूप में उभरने लगी। इस पद्धति से एक ही समय एक ही घंटे में, एक ही शिक्षक से अनेक विद्यार्थी संगीत सीखने लगे। वर्तमान युग में हिंदुस्तानी संगीत की आधुनिक शिक्षा पद्धति गत साठ–सत्तर वर्षों से ही प्रचलित हुई है। इन साठ –सत्तर वर्षों में हिंदुस्तानी संगीत में अनेक परिवर्तन हुए।

पं . भातखंडे, संगीत शिक्षा को विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम का सम्मान दिलाना चाहते थे। किसी भी विद्या की उन्नति के लिए जिस बुनियादी साहित्य की आवश्यकता होती है, वह सब उन्होंने संगीत के लिए उपलब्ध करा दिया था।

संगीत शिक्षा को प्राप्त कर विद्यार्थी केवल गायक ही नहीं अपितु, अच्छा गायक, अच्छा शिक्षक, प्रशासक तथा शास्त्रकार बने यह पं . भातखंडे जी की कामना थी और इसी .ष्टि से वे प्रयत्नशील भी रहे।उनके पश्चात उनसे प्रभावित संगीत प्रेमी भी इस दिशा में प्रयत्नशील रहे। उनके अनंत परिश्रमों तथा उत्कट इच्छा के फलस्वरूप ही भारत में सर्वप्रथम बड़ौदा विश्वविद्यालय में संगीत का समावेश हुआ।इसके बाद सन 1956 में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय में पं . ओंकारनाथ ठाकुर ने अत्यधिक

प्रयत्नों से कॉलेज आफ म्यूजिक एंड फाइन आटर्स विभाग शुरू किया और उसे स्थायी रूप प्रदान किया। इस प्रकार से भारत के दो विश्वविद्यालय में अन्य विषयों की भांति ही संगीत की शिक्षा का प्रारंभ हुई।

संगीत शिक्षा के उद्देश्य

वर्तमान युग में संगीत शिक्षा के प्रसार एवं प्रचार से संगीत की एवं संगीतज्ञों की महत्ता बढ़ी है। छात्रों को संगीत शिक्षा अत्यंत सुलभता से प्राप्त होने लगी है। संगीत का ज्ञान और उपाधि दोनों ही बातें उन्हें विश्वविद्यालयीन शिक्षा द्वारा सरलता से उपलब्ध होने लगी है, इसी कारण उन्हें अन्य शिक्षित, उपाधिधारी व्यक्तियों के समान ही नियुक्तियां, वेतनमान और प्रतिष्ठा मिलने लगी।

वास्तव में संगीत एक ऐसा विषय है जिसमें राग के स्वरूप को समझने की आवश्यकता होती है। राग की प्र.ति को समझकर उसे गाना केवल पाठ्यक्रम पूर्ण करने से ही संभव नहीं हो पाता। शिक्षक या गुरु के सन्मुख बैठकर बार –बार सुनने समझने तथा अन्य भी अनेकों कलाकारों का गायन –वादन सतत रूप से सुनते रहने से ही विद्यार्थी राग की प्र.ति की विविध छटाएं समझ सकता है। कलाकार प्रवृत्ति का शिक्षक नित्य नई सृजनाओं से प्रेरित रहता है। अपनी नई परिकल्पनाओं को वह अपने छात्रों में ढालना चाहता है। परंतु अधिकांशतया उसे योग्य विद्यार्थियों के संबंध में निराश होना पड़ता है। कमजोर विद्यार्थियों को सिखाने में उसे इतनी मेहनत करनी पड़ती है कि नई कल्पना तो छोड़ ही दें, उस शिक्षक का रहा–सहा संगीत ज्ञान भी कुंठित हो जाता है। ज्ञान का आदान–प्रदान शिक्षक और विद्यार्थी की क्षमता पर निर्भर करता है। इस आदान–प्रदान की गति ही नई कल्पनाओं को जन्म देती है और ये नई कल्पनाएं आपस में मिल जुलकर ही सृजन का रूप लेती हैं।

शिक्षा एक सीखने एवम सिखाने की प्रक्रिया हैं। संगीत शिक्षा का अर्थ हैं कि शिक्षक, पुस्तक या अन्य ऐसे साघन जिससे ज्ञान प्राप्त हो सके 'से शिक्षार्थी को स्वर, लय ताल के विषय में विस्तृत ज्ञान प्राप्त होऔर शिक्षार्थी अपने क्षमतानुसार संगीत की योग्यता प्राप्त कर सके।

संगीत की शिक्षा–प्रणाली प्रमुख रूप से दो प्रकार की रही है। "एक व्यक्तिगत पद्धति जिसे गुरूकुल पद्धति के रूप में जाना जाता है और दूसरी संस्थागत संगीत शिक्षण या विद्यालयीन शिक्ष्ण प्रणाली"। प्राचीन काल में भारत में गुरूकुल पद्धति प्रचलित थी,गुरु गृह में विद्यार्थी रहते और वर्षो वर्ष गुरु की सेवा कर घ्यान प्राप्त करते ,समय बदला हमारे देश में विद्यालयीन शिक्ष्ण प्रणाली का आगमन हुआ,इस तरह की शिक्षण प्रणाली से विद्या अर्जन करना सहज और सुलभ हो गया। ब्रिटिश काल में भारतीय संगीत जगत में दो ऐसे गुनीजनो विद्वानों का जन्म हुआ जिनके प्रयत्नों ने भारतीय संगीत को अत्यन्त उचाईयो पर पंहुचा दिया,ये दो देवदूत, मसीहा थे पंडित विष्णु दिगंबर पलुस्कर और पंडित विष्णु नारायण भातखंडे।

पंडित भातखंडे एवं पंडित पलुस्कर के अथक प्रयासों से भारतीय संगीत की विद्यालयीन शिक्षण प्रणाली सुप्रच्लित व् सुप्रचलित हुई,इससे संगीत शिक्षण को उच्च दर्जा मिला,एवं जो विद्यार्थी गुरु गृह में रह कर भी वर्षो तक अच्छी शिक्षा से वंचित रह जाते थे,उन्हें सरलता से संगीत शिक्षण प्राप्त होने लगा।

तब से लेकर आज तक संगीत संस्थानों के विकास की एक लम्बी यात्रा हुई है। भारतीय

संगीत के इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ा , सैकडों पुस्तकों और ग्रंथों का निर्माण हुआ। कई विश्वविद्यालयों, निजी संस्थाओं और स्कूल–कॉलेजों में संगीत के प्रशिक्षण की व्यवस्था हुई।

इन संस्थाओं में संगीत प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य रहा है विद्यार्थी के अंदर संगीत के प्रति गहरी समझ पैदा करना, उसके अंदर एक विश्लेषक की .ष्टि और एक अध्येता के गुण स्थापित करना। स्वाभाविक तौर पर इन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिये उसके अंदर स्वर और ताल की अच्छी समझ पैदा होनी चाहिये।परन्तु वर्तमान समय में संगीत शिक्षण के उद्देश्य में अन्तर आ रहा हैं ,गुरु शिष्य परम्परा में जहा लक्ष्य संगीतकार का निर्माण होता था, वहा विद्यालयीन संगीत पध्धति में लक्ष्य संगीत की समझ रखने वाले रसिक श्रोता निर्माण करना हो गया, "ऐसा नही है की विद्यालयो की स्थापना के पीछे मात्र इतना ही उद्देश्य था,विद्यालयीन संगीत शिक्षण पद्दति की स्थापना के समय भी विद्यालयो के द्वारा गुनि कलाकारो,गुरुओ एवं जानकारों की निर्मिती का ही उद्देश्य था,परन्तु जैसे जैसे संगीत की शिक्षण पद्धति में बदलाव आया वैसे वैसे ही विद्यालयो में दी जाने वाली संगीत की शिक्षा के स्तर,शिक्षण ग्रहण करने वाले विद्यार्थियों के ग्राह्यता के स्तर एवं इस शिक्षण के प्रति लोगो की रूचि में अन्तर आने लगा,है और इसी कारण संगीत कला को अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये लगातार जूझना पड़ा रहा है। आज विश्व में कम्प्यूटर और इंटरनेट के कारण लोगों की समझ बहुत तीक्ष्ण और तार्किक हो चुकी है। दुनियाँ का कोई संगीत ऐसा नहीं है जिसे इसके माध्यम से सुना न जा सके। अस्तु, आज जब किसी संगीतज्ञ (जीवित या मृत) की बात की जाती है तो तुरंत उसका गायन या वादन 'यूट्यूब' में सुना जा सकता है। ऐसी स्थिति में संस्थाओं की जिम्मेदारी कितनी बढ़ जाती है इसका अंदाजा सहज ही लगाया जा सकता है। अभी भी अनेक ऐसे कार्य हैं जिनका संगीत शिक्षण के सुधार के लिये लागू होना बाकी है।

संदर्भ

1. रॉय, अनुपमा. 'संगीत और सामाजिक सामंजस्यः बिहार में भोजपुरी संगीत का एक अध्ययन।' इंडियन जर्नल ऑफ सोशल वर्क, वॉल्यूम। 78, क्रमांक 2, 2017.
2. कुमारी, श्वेता. 'बिहार में महिलाओं को सशक्त बनाने में शिक्षा की भूमिका।' साउथ एशियन जर्नल ऑफ सोशल साइंसेज एंड ह्यूमैनिटीज, वॉल्यूम। 3, क्रमांक 2, 2017.
3. कुमार, ए. (2020)। सामाजिक परिवर्तन के लिए संगीत शिक्षाः बिहार में एक केस स्टडी। जर्नल ऑफ आर्ट्स एंड एजुकेशन, 8(2), 45–60।
4. शर्मा, एम. (2018)। सांस्कृतिक संरक्षण में संगीत शिक्षा की भूमिकाः बिहार में एक केस स्टडी। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ म्यूजिक एजुकेशन, 25(3), 123–145
5. सिंह, आर.के., और गुप्ता, एस. (2020)। संगीत के माध्यम से शिक्षा को बढ़ानारू बिहार की शिक्षा प्रणाली का एक अध्ययन। जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च एंड प्रैक्टिस, 10(2), 78–94।
6. रॉय, ए., और मिश्रा, एस. (2019)। बिहार में भोजपुरी संगीत का सामाजिक–सांस:तिक महत्वरू एक गुणात्मक अध्ययन। जर्नल ऑफ म्यूजिक एंड सोसाइटी, 12(3), 45–62
7. गुप्ता, पी., और कुमार, एस. (2017)। बिहार में संगीत शिक्षा और संज्ञानात्मक विकासरू एक तुलनात्मक अध्ययन। इंटरनेशनल जर्नल ऑफ आर्ट्स एंड ह्यूमैनिटीज, 5(2), 89–102।
8. वर्मा, आर., और देवी, एम. (2018)। शिक्षा और सशक्तिकरणः बिहार में महिलाओं का एक केस स्टडी। जर्नल ऑफ जेंडर स्टडीज, 15(4), 176–195।

मध्य प्रदेश में महिला सशक्तिकरण की दिशा में किए गए प्रयास

वरुण कुमार सिंह*
प्रो0 (डॉ.) शैलजा दुबे**

सारांशः मध्य प्रदेश में महिला सशक्तिकरण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से कई महत्वपूर्ण प्रयास और योजनाएं लागू की गई हैं। राज्य सरकार ,कानूनों और गैर–सरकारी संगठनों ने महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षणिक रूप से सशक्त बनाने के उद्देश्य से विभिन्न पहलें की हैं। इन प्रयासों का उद्देश्य महिलाओं को आत्मनिर्भर और सशक्त बनाना, उनकी शिक्षा और स्वास्थ्य में सुधार करना, और समाज में उनकी स्थिति को सुदृढ़ करना है,जिससे वे राष्ट्र निर्माण में लगातार अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर सके।

मुख्य शब्दः शासन, प्रशासन,महिला सशक्तिकरण,योजना,प्रयास आदि।

उद्देश्य

1 महिला सशक्तिकरण की दिशा में किए गए प्रयास की वास्तविक स्थिति को जानना।

2 महिलाओं की स्थिति में आए परिवर्तन को देखना।

3 आगे और क्या सुधार किया जाए महिलाओं को सशक्त बनाने में।

अध्ययन विधि

साक्षात्कार और अवलोकन विधि का प्रयोग किया।

1. महिला सशक्तिकरण के लिए सरकारी योजनाएं

मध्य प्रदेश सरकार ने महिलाओं के उत्थान के लिए अनेक योजनाओं को लागू किया है, जिनका उद्देश्य उनके जीवन स्तर को सुधारना और समाज में उनकी सहभागिता को सुनिश्चित करना है।

1.1 लाड़ली लक्ष्मी योजना

लाड़ली लक्ष्मी योजना की शुरुआत 2007 में की गई। इस योजना का उद्देश्य लड़कियों के जन्म को प्रोत्साहित करना, उनकी शिक्षा दीक्षा को बढ़ावा देना और उन्हें आत्मनिर्भर बनाना है। इस योजना के तहत, बच्ची के जन्म से लेकर उसकी शिक्षा तक आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है।

1.2 मुख्यमंत्री कन्या विवाह योजना

इस योजना के तहत आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों की बेटियों के विवाह में सहायता प्रदान की जाती है। इस योजना का उद्देश्य बाल विवाह को रोकना और समाज में बेटियों के महत्व को बढ़ावा देना है।

1.3 उज्ज्वला योजना

ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में महिलाओं को स्वच्छ

* शोधार्थी, उच्च माध्यमिक शिक्षक, समाजशास्त्र विभाग, बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल, (मध्य प्रदेश)।
* शोध निर्देशिका, विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र और समाजकार्य विभाग, उच्च शिक्षा उत्कृष्टता संस्थान, भोपाल, (मध्य प्रदेश)

ऊर्जा प्रदान करने के उद्देश्य से उज्ज्वला योजना लागू की गई। इस योजना के तहत गरीब परिवारों की महिलाओं को मुफ्त एलपीजी कनेक्शन प्रदान किया जाता है, जिससे उनके स्वास्थ्य और समय की बचत होती है।

1.4 तेजस्विनी योजना

तेजस्विनी योजना का उद्देश्य महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना है। इसके तहत महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर दिए जाते हैं और उनके लिए विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं जिससे वे स्वाबलंबी बन सके।

1.5 प्रधानमंत्री महिला शक्ति केंद्र

यह योजना महिलाओं को सशक्त बनाने और उन्हें जानकारी उपलब्ध कराने और शिक्षा, और स्वास्थ्य सेवाओं तक पहुंच प्रदान करने के लिए शुरू की गई हैं।

2. महिला शिक्षा के लिए प्रयास

महिला सशक्तिकरण का आधार शिक्षा है। मध्य प्रदेश सरकार ने महिलाओं की शिक्षा में सुधार के लिए कई कदम उठाए हैं–

- शिक्षा का अधिकार अधिनियम (RTE)'' के तहत लड़कियों को मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा प्रदान की जाती है।
- अटल बालिका शिक्षा योजना'' के तहत लड़कियों के लिए विशेष छात्रवृत्तियां और सुविधाएं दी जाती हैं।
- ग्रामीण और पिछड़े क्षेत्रों में कन्या शिक्षा परिसर खोले गए हैं।
- बालिकाओं के लिए स्कूलों में शौचालय निर्माण और सेनेटरी पैड उपलब्ध कराने पर जोर दिया गया है, जिससे उनकी स्कूल में उपस्थिति सुनिश्चित हो सके।

3. स्वास्थ्य और पोषण संबंधी योजनाएं

महिलाओं के स्वास्थ्य और पोषण में सुधार करना महिला सशक्तिकरण का एक प्रमुख हिस्सा है।

3.1 प्रधानमंत्री मातृ वंदना योजना

गर्भवती महिलाओं को उचित पोषण और स्वास्थ्य देखभाल प्रदान करने के लिए इस योजना को लागू किया गया। गर्भवती महिलाओं को आर्थिक सहायता दी जाती है ताकि वे अपनी और अपने बच्चे की देखभाल उचित ढंग से कर सकें।

3.2 आंगनवाड़ी सेवाए

आंगनवाड़ी केंद्रों के माध्यम से महिलाओं और बच्चों को स्वास्थ्य सेवाएं, पोषण आहार और टीकाकरण की सुविधा दी जाती है।

3.3 जननी सुरक्षा योजना

इस योजना के तहत गर्भवती महिलाओं को संस्थागत प्रसव के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। यह योजना मातृ मृत्यु दर और शिशु मृत्यु दर को कम करने में सहायक सिद्ध हुई है।

4. आर्थिक सशक्तिकरण''

महिलाओं को आर्थिक रूप से सक्षम और आत्मनिर्भर बनाने के लिए कई योजनाएं और कार्यक्रम चलाए जा रहे हैं।

- स्व–सहायता समूहों (SHG) को बढ़ावा दिया गया है। इन समूहों के माध्यम से महिलाओं को स्वरोजगार के अवसर दिए जा रहे हैं।

– बैंक ऋण योजनाओं'' के तहत महिलाओं को छोटे व्यापार और उद्योग स्थापित करने के लिए किफायती दरों पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है।

– कौशल विकास कार्यक्रम'' के तहत महिलाओं को सिलाई, कढ़ाई, कंप्यूटर, और अन्य तकनीकी प्रशिक्षण दिए जाते हैं। अभी हाल ही में पचमढ़ी के अमलतास होटल में समस्त जिम्मेदारी का निर्वहन महिलाएं ही कर रही है।

5. महिलाओं के लिए कानूनी और सामाजिक सुरक्षा''

महिलाओं को कानूनी और सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए कई पहल की गई हैं।

– **महिला हेल्पलाइन 181:** महिलाओं के खिलाफ हिंसा और उत्पीड़न के मामलों की रिपोर्ट के लिए एक टोल–फ्री नंबर।

– **वन स्टॉप सेंटर (सखी केंद्र):** यह केंद्र महिलाओं को चिकित्सा, कानूनी, और मनोवैज्ञानिक सहायता प्रदान करता है।

– दहेज और घरेलू हिंसा विरोधी कानूनों को सख्ती से लागू किया गया है।

. अभी हाल ही में मध्य प्रदेश सरकार ने सरकारी नौकरियों में महिलाओं का आरक्षण 33% से बढ़ाकर 35% किया है जो महिला सशक्तिकरण की दिशा में एक मील का पत्थर साबित होगा।

6. महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी

मध्य प्रदेश में महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी को बढ़ावा देने के लिए पंचायत और नगर निकायों में 50% आरक्षण प्रदान किया गया है। इससे महिलाओं को स्थानीय स्वशासन में शामिल होने का अवसर मिला है और वे अपने समुदाय के विकास में सक्रिय भूमिका निभा रही हैं।

7. गैर–सरकारी संगठनों की भूमिका

मध्य प्रदेश में कई गैर–सरकारी संगठन (NGOs) महिलाओं के उत्थान के लिए काम कर रहे हैं। ये संगठन महिलाओं को शिक्षा, स्वास्थ्य, और रोजगार के क्षेत्रों में सहयोग प्रदान करते हैं। मध्य प्रदेश की बैगा जनजाति समुदाय से ताल्लुक रखने वाली लहरी बाई इसका जीवंत उदाहरण हैं जो मिलेट भोजन को प्रोत्साहित कर रही हैं।

8. चुनौतियां और समाधान

हालांकि शासन और प्रशासन द्वारा कई प्रयास किए गए हैं, लेकिन अभी भी महिला सशक्तिकरण कि दिशा बहुत कुछ करना बाकी है, क्षेत्र में कई चुनौतियां हैं–

– सामाजिक कुरीतियां जैसे दहेज प्रथा, बाल विवाह, और लैंगिक भेदभाव अभी भी कुछ क्षेत्रों में काफी है गुना जिले की बमौरी तहसील में आज भी शहरिया जनजाति के लोगों द्वारा बाल विवाह किया जाता है हालांकि शासन और प्रशासन द्वारा इसे रोकने का भरपूर प्रयास जारी है।

– ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं की शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं तक सीमित पहुंच इसके पीछे मुख्य कारण आवागमन का सुलभ मार्ग न होना है।

– महिलाओं के प्रति बढ़ती हिंसक घटनाएं।

समाधान

– जागरूकता अभियान चलाना।

– ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा और स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार करना।

– महिलाओं की सुरक्षा के लिए सख्त कानून और उनका कड़ाई से पालन किया जाना।

निष्कर्ष

महिला सशक्तिकरण कि दिशा में मध्य प्रदेश सरकार ने कई महत्वपूर्ण प्रयास किए हैं और ये प्रयास निरंतर जारी हैं लेकिन इसे पूर्ण रूप से हासिल करने के लिए सामूहिक प्रयासों की आवश्यकता है। सरकार, समाज और व्यक्तिगत स्तर पर एकजुट होकर काम करने से महिलाओं को एक समान और सशक्त भविष्य प्रदान किया जा सकता है जिससे समाज में उनकी महत्वपूर्ण सहभागिता सुनिश्चित हो सके।

संदर्भ सूची

1. मध्य प्रदेश शासन की आधिकारिक वेबसाइट "www.mp.gov.in (अद्यतन जानकारी और राज्य की सरकारी नीतियाँ)।
2. मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी –ज्ञान संपदा, प्रकाशकः मध्य प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।
3. मध्य प्रदेश जनसंपर्क विभाग की आधिकारिक वेबसाइट www.dprmp.org (विभिन्न सरकारी योजनाओं और जनकल्याण कार्यक्रमों के विवरण)।
4. 'मध्य प्रदेश – एक सामान्य अध्ययन', TMH पब्लिकेशन।

आतंकवाद और अहिंसा : एक दृष्टिकोण (गाँधी की नजर में).

डॉ. खुश्बू कुमारी*

सारांश

21वीं सदी में दुनिया जिस अत्यधिक हिंसा का सामना कर रही है, वह कुछ अलग प्रकार की है। आज की दुनिया इसे 9/11 की घटना के बाद के संदर्भ में आतंकी हिंसा कहती है। एक तरह से देखा जाए तो हिंसा, हिंसा ही होती है, चाहे उसे किसी भी नाम से पुकारा जाए। बीसवीं सदी तक युद्ध आक्रामक आक्रमणों का प्रतीक थे, जहाँ एक देश दूसरे देश पर या एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर आक्रमण करता था। हालाँकि, आतंकी हिंसा में दो विशेषताएँ हैं, एक, यह सीधा युद्ध नहीं है (और न ही यह छापामार युद्ध है) और दूसरी, यह अधिकतर प्रतिक्रियात्मक हिंसा है।

हाल के दिनों में नक्सलियों या माओवादियों द्वारा किए गए आतंकवादी हमलों की तीव्रता ने पूरे देश को झकझोर कर रख दिया है। इसी तरह, पाकिस्तान में जिहादियों द्वारा की जा रही निर्ममता भी अत्यधिक चिंताजनक है। पिछले शुक्रवार, अर्थात 28 मई को लाहौर में अहमदी मस्जिदों पर हमला, जिसमें 70 लोग जो अंदर नमाज पढ़ रहे थे, मारे गए, ने मानवता के विवेक को झकझोर दिया।

भारत ने पिछली सदी में महात्मा गांधी के रूप में अहिंसा के पुजारी को जन्म दिया, जिन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद से भारत को अहिंसक साधनों के माध्यम से मुक्त कराया। लेकिन जब निर्दोष नागरिकों पर ऐसे आतंकवादी हमले होते हैं, तो कई लोग यह सवाल उठाने लगते हैं कि क्या हमारे युग में गांधीजी की अहिंसा की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है? क्या गांधी केवल उनके जन्मदिन या बलिदान दिवस पर श्रद्धांजलि देने के लिए ही उपयुक्त हैं और उससे आगे कुछ नहीं?

मुख्य शब्दः अहिंसा, सत्याग्रह, सत्य, न्याय, स्वराज, चरखा, शांति, आत्म–शुद्धि, रचनात्मक कार्यक्रम, आत्म–चिंतन

गांधीवादः आज भी एक प्रकाश स्तंभ

महात्मा गांधी का दर्शन, जिसे हम गांधीवाद के नाम से जानते हैं, आज भी शांति, अहिंसा और सत्य का प्रतीक है। यह केवल एक ऐतिहासिक विचारधारा नहीं, बल्कि एक जीवनशैली है जो व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। गांधीजी ने अपने सिद्धांतों को केवल उपदेश तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उन्हें अपने व्यवहार में उतारा और पूरे विश्व को प्रेरित किया। आज के युग में, जब हिंसा, आतंकवाद और सांप्रदायिक तनाव बढ़ रहे हैं, गांधीजी के सिद्धांत पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक हो गए हैं। हालाँकि, यह चिंता का विषय है कि क्या आधुनिक गांधीवादी इन मूल्यों का पालन करते हैं।

1980 के दशक में जब गुजरात में जातीय और सांप्रदायिक हिंसा भड़की, तब गांधीवादियों की निष्क्रियता ने कई प्रश्न खड़े किए। अहमदाबाद, जहाँ साबरमती आश्रम स्थित है, वहाँ एक भी ऐसा गांधीवादी नहीं मिला जो सांप्रदायिकता के खिलाफ खड़ा हो सके या अनिश्चितकालीन उपवास कर सके। गांधीजी के अनुसार, उपवास अहिंसा का सबसे प्रभावशाली साधन था, जिसे सांप्रदायिक उन्माद को रोकने के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था। इसी प्रकार, 2002 के दंगों के दौरान,

* **पीएच. डी, जे.आर.एफ, (गांधीयन थॉट)**

साबरमती आश्रम ने शांति कार्यकर्ताओं जैसे मेधा पाटकर और अन्य लोगों को अपने परिसर में शांति सभा आयोजित करने की अनुमति नहीं दी। ऐसा इसलिए किया गया क्योंकि आश्रम प्रशासन को डर था कि राज्य सरकार उनकी अनुदान राशि रोक सकती है। यह घटना दर्शाती है कि जब गांधीवादी संस्थाएँ अपने सिद्धांतों से समझौता करती हैं, तो गांधीवाद की मूल भावना कमजोर पड़ जाती है।

गांधीजी के दर्शन के दो प्रमुख स्तंभ सत्य और अहिंसा हैं। उन्होंने कहा था, 'ईश्वर सत्य है' और बाद में इसे सुधार कर कहा, 'सत्य ही ईश्वर है।' इस कथन का अर्थ यह है कि सत्य में कोई जबरदस्ती नहीं होनी चाहिए। सत्य गहरी आस्था और ईमानदारी पर आधारित होना चाहिए। इसके विपरीत, हिंसा दबाव और भय के माध्यम से अपनी इच्छाएँ थोपने का प्रयास करती है। इस प्रकार, सत्य और हिंसा एक–दूसरे के विरोधी हैं। अहिंसा केवल शारीरिक हिंसा के अभाव को नहीं दर्शाती, बल्कि यह मानसिक और भावनात्मक स्तर पर भी शुद्धता का प्रतीक है। गांधीजी ने अहिंसा को आत्मा की स्वतंत्रता से जोड़ा और कहा कि किसी भी व्यवहार में सच्ची आस्था, ईमानदारी और आत्मा की स्वतंत्रता होनी चाहिए।

गांधीजी के अनुसार, अहिंसा का पालन केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, बल्कि सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर भी किया जाना चाहिए। सत्याग्रह, जिसे उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक विरोध का साधन बनाया, इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। सत्याग्रह का अर्थ है सत्य पर आग्रह। यह अहिंसा के माध्यम से अन्याय का विरोध करने का एक तरीका है, जिसमें हिंसा का सहारा लिए बिना अपने उद्देश्य की पूर्ति की जाती है। सत्याग्रह की इस अवधारणा ने स्वतंत्रता संग्राम में एक मजबूत भूमिका निभाई और भारत को ब्रिटिश शासन से आजाद कराने में मदद की।

गांधीजी के अनुसार, हिंसा केवल शारीरिक रूप में ही नहीं होती, बल्कि यह तीन प्रकार की हो सकती है–शारीरिक हिंसा, शब्दों द्वारा हिंसा और नैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों का उल्लंघन। शारीरिक हिंसा में चोट पहुँचाना या हत्या करना शामिल है। शब्दों द्वारा हिंसा में अपमानजनक भाषा या धमकी का प्रयोग होता है। नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों का उल्लंघन व्यक्तिगत और सामाजिक मूल्यों को तोड़ता है। गांधीजी का मानना था कि इन सभी प्रकार की हिंसा को रोकने के लिए हमें अपने व्यवहार और दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना होगा।

आज के युग में, जब आतंकवाद, जातीय हिंसा और सांप्रदायिक तनाव बढ़ रहे हैं, गांधीजी के अहिंसा के सिद्धांत पहले से अधिक प्रासंगिक हो गए हैं। इन सिद्धांतों को अपनाकर ही हम एक समावेशी, शांतिपूर्ण और न्यायसंगत समाज का निर्माण कर सकते हैं। गांधीजी ने हमें सिखाया कि कोई भी परिवर्तन सत्य और अहिंसा के मार्ग से ही संभव है। उनके सिद्धांतों ने यह साबित किया कि बिना हिंसा के भी सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन लाया जा सकता है।

महात्मा गांधी के सिद्धांत आज भी एक प्रकाश स्तंभ की तरह मार्गदर्शन करते हैं। हालाँकि, हमें यह स्वीकार करना होगा कि आधुनिक समाज में इन आदर्शों को अपनाने और व्यावहारिक रूप से लागू करने की आवश्यकता है। गांधीवाद केवल अतीत की धरोहर नहीं है, बल्कि यह एक जीवंत विचारधारा है, जो शांति, सत्य और अहिंसा की ओर ले जाती है। हमें इसे केवल श्रद्धांजलि तक सीमित नहीं रखना चाहिए, बल्कि इसे अपने जीवन और समाज में लागू करना चाहिए। यदि हम गांध

ीजी के सिद्धांतों को व्यवहार में लाएँ, तो हम न केवल हिंसा और आतंकवाद को रोक सकते हैं, बल्कि एक ऐसा समाज भी बना सकते हैं, जो स्वतंत्रता, न्याय और समानता पर आधारित हो।

आंतरिक संवादः आत्म–ज्ञान और आत्म–परिवर्तन का स्रोत

व्यवहार में प्रामाणिकता केवल तब संभव है जब व्यक्ति या कोई समूह–चाहे वह राष्ट्र हो, धार्मिक समुदाय हो, या सांस्कृतिक समूह–अपने आंतरिक आत्म से निरंतर संवाद बनाए रखे। यह संवाद नैतिक मानदंडों और सभ्यतागत मूल्यों के प्रति जागरूकता को बढ़ाता है। ऐसा आंतरिक संवाद प्रामाणिक आचरण के लिए अत्यंत आवश्यक (sine qua non) है।

अमेरिकी जेसुइट और गांधीवादी जॉन मर्टन ने इस आंतरिक संवाद को 'एकांत के साथ मुठभेड़' कहा है। उनका मानना है कि व्यक्ति अपने आप से गहरे स्तर पर तभी संवाद कर सकता है, जब वह पूर्ण एकांत में बाहरी दुनिया से प्रभावित हुए बिना अपनी आंतरिक आत्मा पर ध्यान केंद्रित करता है। यही कारण है कि ऋषियों, संतों और पैगंबरों ने आत्म–चिंतन और आत्म–संवाद को कभी नहीं छोड़ा। उन्होंने इसी प्रक्रिया के माध्यम से सत्य की खोज की।

आत्म–चिंतन और संवाद के ये रूप दो श्रेणियों में विभाजित किए जा सकते हैं। पहली श्रेणी में वे लोग आते हैं, जो केवल आत्म–ज्ञान की तलाश में होते हैं और दुनिया के साथ संवाद करना या उसे बदलना नहीं चाहते। दूसरी श्रेणी में वे लोग आते हैं, जो न केवल अपने अंदर झाँकते हैं, बल्कि दुनिया के साथ संवाद करना चाहते हैं और समाज को बदलने के लिए सक्रिय प्रयास करते हैं।

गांधीः सत्य की खोज और सामाजिक परिवर्तन के वाहक

महात्मा गांधी दूसरी श्रेणी में आते हैं। वे केवल सत्य की खोज में ही नहीं लगे रहे, बल्कि उन्होंने सत्य को कार्यरूप में देखने की इच्छा भी रखी। गांधीजी मूलतः एक कार्यकर्ता थे, जिनके लिए न्याय और स्वतंत्रता केवल आत्म–कल्याण तक सीमित नहीं थे, बल्कि पूरे समाज और राष्ट्र के लिए भी महत्वपूर्ण थे।

ऐसे व्यक्तियों के लिए आत्म–परिवर्तन केवल एक प्रारंभिक चरण होता है। उनका मानना है कि व्यक्तिगत परिवर्तन तब तक अधूरा है, जब तक कि वे दुनिया को भी बदलने का प्रयास न करें। यही वह मार्ग है, जिस पर चलते हुए गांधीजी ने दक्षिण अफ्रीका और भारत दोनों जगहों पर सामाजिक और राजनीतिक क्रांति की शुरुआत की।

गांधीजी ने आत्म–संवाद और सत्याग्रह के माध यम से न केवल अपने भीतर के सत्य को पहचाना, बल्कि उसे समाज में लागू करने के लिए संघर्ष किया। उनकी अहिंसा और सत्य की नीति ने यह साबित किया कि व्यक्तिगत और सामाजिक परिवर्तन का मार्ग आत्म–ज्ञान और आत्म–संवाद से ही निकलता है। उनका जीवन इस बात का प्रमाण है कि यदि कोई व्यक्ति अपने भीतर के सत्य को खोज ले और उसे व्यवहार में लागू करे, तो वह समाज में भी व्यापक बदलाव ला सकता है।

गांधीजी के दर्शन में यह विश्वास था कि आत्मा की शुद्धता और आंतरिक संवाद से न केवल व्यक्ति बल्कि पूरी मानवता का कल्याण संभव है। उनका जीवन हमें सिखाता है कि सत्य और अहिंसा के मार्ग पर चलकर हम अपने जीवन और समाज दोनों में बदलाव ला सकते हैं।

गांधीवादः अहिंसा की ओर एक नया दृष्टिकोण

महात्मा गांधी का दर्शन आज भी मानवता के लिए एक मार्गदर्शक है। उन्होंने अहिंसा, सत्य और न्याय के सिद्धांतों को न केवल प्रचारित किया बल्कि इन्हें अपने जीवन में व्यावहारिक रूप से लागू भी किया। हालाँकि, आज की दुनिया में हिंसा का स्वरूप अधिक जटिल और विनाशकारी हो गया है। अत्याधुनिक हथियारों और तकनीकों ने हिंसा को और अधिक खतरनाक बना दिया है, जिससे निर्दोष नागरिकों को भी भारी नुकसान उठाना पड़ता है। ऐसे समय में गांधीजी का अहिंसा का सिद्धांत पहले से अधिक प्रासंगिक हो गया है।

गांधीजी का मानना था कि अहिंसा केवल बाहरी संघर्ष का समाधान नहीं है, बल्कि यह आंतरिक शांति और आत्म–संवाद का परिणाम है। अहिंसा की सफलता के लिए सत्य, न्याय और स्वतंत्रता की उपस्थिति अनिवार्य है। वर्तमान विश्व में इन मूल्यों की कमी के कारण हिंसा व्यापक हो गई है, चाहे वह किसी राष्ट्र द्वारा आक्रामक युद्ध हो या किसी समूह द्वारा प्रतिरोध के रूप में किया गया आतंकवादी हमला।

गांधीजी ने अपने सत्याग्रह आंदोलन के माध्यम से यह सिद्ध किया कि अहिंसा का पालन केवल आदर्शवाद नहीं है, बल्कि यह व्यावहारिक और प्रभावी तरीका भी है। उन्होंने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान इस विचार को सफलतापूर्वक लागू किया और यह दर्शाया कि अहिंसा न केवल राजनीतिक परिवर्तन बल्कि सामाजिक और आर्थिक सुधारों का भी माध्यम बन सकती है।

गांधीवादी आंदोलनः आदर्श से संस्था तक का सफर

गांधीवादी आंदोलन ने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान देश को एकजुट किया और भारत को आजादी दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। हालाँकि, यह आंदोलन धीरे–धीरे अपनी मूल आत्मा से दूर होता चला गया। गांधीजी के जीवनकाल में ही यह आंदोलन व्यावहारिक संघर्ष से अधिक एक प्रतीक बनता गया। स्वतंत्रता के बाद, गांधीजी के विचारों की प्रासंगिकता कम होती गई क्योंकि लोगों का ध्यान मूल्यों से हटकर सत्ता प्राप्त करने पर केंद्रित हो गया।

गांधीवादी विचारधारा, जो मूल रूप से एक गतिशील और क्रांतिकारी आंदोलन थी, धीरे–धीरे एक रूढ़िवादी व्यवस्था में परिवर्तित हो गई। आश्रमों और संस्थाओं के निर्माण ने इसे एक औपचारिक और संपत्ति आधारित ढाँचा बना दिया। खादी और चरखा जैसे प्रतीक, जो कभी आर्थिक आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान के प्रतीक थे, नए आर्थिक यथार्थ में अपनी प्रासंगिकता खोने लगे।

गांधीवादी आंदोलन का यह रूपांतर यह दर्शाता है कि किसी भी विचारधारा का प्रभाव तभी तक रहता है जब तक उसमें रचनात्मकता और व्यवहारिकता बनी रहती है। जब यह विचारधारा केवल अनुष्ठानिक प्रतीकों तक सीमित हो जाती है, तब इसका मूल उद्देश्य कमजोर हो जाता है। इसी कारण गांधीवादी आंदोलन को एक नई दिशा और ऊर्जा देने की आवश्यकता है, जिससे यह बदलते समय की चुनौतियों का सामना कर सके।

आधुनिक युग में अहिंसाः भविष्य की राह

आज की दुनिया में हिंसा के बढ़ते स्तरों और विनाशकारी तकनीकों के कारण अहिंसा का महत्व और भी बढ़ गया है। हालाँकि, यह विचार उठता है कि क्या एक हिंसा–मुक्त दुनिया केवल एक सपना है? इस प्रश्न का उत्तर गांधीजी के दर्शन में मिलता है। उन्होंने सिद्ध किया कि अहिंसा का पालन एक

मजबूत संकल्प और रचनात्मक सोच के माध्यम से संभव है।

अहिंसा के लिए हमें सामूहिक और मूल्य–आधारित सोच को अपनाने की आवश्यकता है। हमें शिक्षा प्रणाली को इस प्रकार पुनर्गठित करना होगा कि यह केवल प्रतिस्पर्धा पर आधारित न होकर सहयोग और न्याय को बढ़ावा दे। शिक्षा को गरीबों के लिए सुलभ और व्यवहारिक बनाना होगा, जिससे समाज में समानता और न्याय स्थापित किया जा सके।

गांधीवादी आर्थिक सिद्धांत भी इस दिशा में मार्गदर्शन कर सकते हैं। गांधीजी का मानना था कि अर्थव्यवस्था आवश्यकता आधारित होनी चाहिए, न कि लालच और प्रतिस्पर्धा पर केंद्रित। आधुनिक प्रौद्योगिकी का रचनात्मक उपयोग करके हमें एक ऐसी अर्थव्यवस्था बनानी होगी, जो न्यायसंगत और टिकाऊ हो।

इसके अतिरिक्त, अहिंसा को व्यावहारिक रूप से लागू करने के लिए हमें सामाजिक और राजनीतिक आंदोलन चलाने होंगे, जो मानवाधिकारों, पर्यावरण संरक्षण और वैश्विक शांति को बढ़ावा दें। यह आंदोलन केवल एक व्यक्ति के नेतृत्व पर निर्भर नहीं हो सकता। हमें गांधीजी के सिद्धांतों को सामूहिक रूप से अपनाना होगा और सामाजिक परिवर्तन के लिए सक्रिय रूप से कार्य करना होगा।

गांधीजी के अनुसार, अहिंसा केवल एक आदर्श नहीं है, बल्कि यह एक व्यावहारिक उपकरण है, जिसे सही ढंग से लागू किया जाए तो यह सामाजिक और राजनीतिक सुधारों के लिए एक प्रभावशाली माध्यम बन सकता है।

निष्कर्षः गांधीवादी दर्शन की पुर्नस्थापना की आवश्यकता

महात्मा गांधी का दर्शन आज भी शांति, न्याय और अहिंसा का सबसे सशक्त माध्यम है। हालाँकि, इसे फिर से जीवंत करने के लिए हमें अपनी सोच और व्यवस्था में परिवर्तन लाना होगा। हिंसा–मुक्त दुनिया केवल एक सपना नहीं है, बल्कि यह एक ऐसा लक्ष्य है जिसे सामूहिक प्रयासों और रचनात्मक सोच से प्राप्त किया जा सकता है।

गांधीजी ने हमें सिखाया कि आत्म–चिंतन और आत्म–संवाद के माध्यम से हम अपने भीतर की सच्चाई को समझ सकते हैं और इसे समाज में लागू कर सकते हैं। उनकी विचारधारा केवल अतीत की धरोहर नहीं है, बल्कि यह भविष्य के लिए एक दिशा है।

आज के समय में जब हिंसा, आतंकवाद और असमानता अपने चरम पर हैं, गांधीजी के सिद्धांत पहले से अधिक प्रासंगिक हो गए हैं। हमें केवल प्रतीकों और अनुष्ठानों तक सीमित न रहकर गांधीवाद की मूल भावना को पुनर्जीवित करना होगा।

शिक्षा और अर्थव्यवस्था को नए सिरे से तैयार करना, जो सहयोग, समानता और न्याय को बढ़ावा दे, गांधीवाद की ओर पहला कदम हो सकता है। यह कार्य किसी एक व्यक्ति के नेतृत्व पर निर्भर नहीं रह सकता, बल्कि इसके लिए एक सामूहिक प्रयास की आवश्यकता है।

हमें एक बार फिर गांधीजी के आदर्शों से प्रेरणा लेकर अहिंसा को न केवल सिद्धांत के रूप में बल्कि एक व्यावहारिक साधन के रूप में अपनाना होगा। तभी हम एक ऐसे समाज का निर्माण कर पाएँगे, जो न्याय, समानता और शांति पर आधारित हो।

संदर्भ सूची

1. गांधी, एम. के. (1927). सत्य के साथ मेरे प्रयोगः आत्मकथा। नवजीवन प्रकाशन गृह। पृष्ठ 1–455।

2. गांधी, एम. के. (1948). रचनात्मक कार्यक्रमः इसका अर्थ और स्थान। नवजीवन ट्रस्ट। पृष्ठरू 1–78।

3. फिशर, लुईस (1950). महात्मा गांधी का जीवन। हार्पर एंड ब्रदर्स। पृष्ठ 1–528।

4. बॉन्डुरंट, जोन वी. (1958). हिंसा पर विजयरू गांधीवादी संघर्ष का दर्शन। प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 1–276।

5. पारेख, भिक्खू (1997). गांधीः एक संक्षिप्त परिचय। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 1–144।

6. शार्प, जीन (1973). अहिंसक कार्रवाई की राजनीति। पोर्टर सार्जेंट पब्लिशर्स। पृष्ठ 1–902।

7. परेल, ए. जे. (2006). गांधी का दर्शन और सद्भाव की खोज। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 1–252।

8. ब्राउन, जुडिथ एम. (1972). गांधी और सविनय अवज्ञाः भारतीय राजनीति में महात्मा (1928–34)। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 1–314।

9. डल्टन, डेनिस (1996). महात्मा गांधीः अहिंसक शक्ति का कार्यान्वयन। कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 1–280।

10. नंदा, बी. आर. (1985). महात्मा गांधीः एक जीवनी। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 1–434।

11. चटर्जी, मार्कण्डेय (1983). गांधी के धार्मिक विचार। यूनिवर्सिटी ऑफ नोट्रे डेम प्रेस। पृष्ठ 1–232।

12. मर्टन, थॉमस (1965). अहिंसा पर गांधी के विचार। न्यू डायरेक्शन्स पब्लिशिंग। पृष्ठ 1–144।

13. अय्यर, रघुवीर (1973). महात्मा गांधी का नैतिक और राजनीतिक विचार। ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठ 1–368।

14. वेबर, थॉमस (1996). गांधी की शांति सेनाः शांति सेना और अहिंसक शांति स्थापना। सिरैक्यूज यूनिवर्सिटी प्रेस। पृष्ठः 1–258।

15. कृपलानी, जे. बी. (1951). गांधीः उनका जीवन और विचार। सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार। पृष्ठ 1–384।

भारत–बांग्लादेश संबंधः चुनौतियाँ और अवसर

डॉ मनीष कुमार साव*

सारांशः भारत और बांग्लादेश के बीच के संबंध ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक निकटता के आधार पर निर्मित हुए हैं। 1971 के बांग्लादेश मुक्ति संग्राम ने इस साझेदारी की नींव रखी, जब भारत ने बांग्लादेश को स्वतंत्रता के लिए महत्त्वपूर्ण सैन्य और सामग्री सहायता प्रदान की। इसके बाद दोनों देशों ने आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक संबंधों को बढ़ावा दिया। हालाँकि 1970 के दशक के मध्य में सीमा विवादों, जल संसाधन बंटवारे, और उग्रवाद जैसे मुद्दों ने संबंधों में तनाव उत्पन्न किया। 2009 से शेख हसीना के नेतृत्व में दोनों देशों के संबंधों में एक नया मोड़ आया। उनके कार्यकाल में आतंकवादी समूहों का सफाया हुआ और आर्थिक तथा सांस्तिक साझेदारी बढ़ी।

भारत के लिए इन संबंधों की निरंतरता बनाए रखना क्षेत्रीय स्थिरता और आर्थिक लाभ के लिए महत्त्वपूर्ण है। व्यापारिक संबंधों को बनाए रखना और क्षेत्रीय सहयोग के लिए दोनों देशों के बीच संपर्क को और मजबूत करना आवश्यक होगा। भारत को अपनी कूटनीति में लचीलापन बनाए रखते हुए बांग्लादेश के नए नेतृत्व के साथ सकारात्मक संबंध बनाए रखने की दिशा में प्रयास करने होंगे।

भारत–बांग्लादेश के ऐतिहासिक संबंध

1971 के ऐतिहासिक बांग्लादेश मुक्ति संग्राम ने भारत और बांग्लादेश के बीच संबंधों की नींव रखी। भारत ने पाकिस्तान से स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए बांग्लादेश को महत्त्वपूर्ण सैन्य और सामग्री सहायता दी, जिसने दोनों देशों के बीच एक गहरी और स्थायी मित्रता को जन्म दिया। इस सहयोग ने न केवल बांग्लादेश को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में स्थापित किया, बल्कि इसने भारत को उसके निकटतम सहयोगी के रूप में भी स्थापित किया। 'बंगबंधु' शेख मुजीबुर्रहमान ने भारत के इस योगदान को स्वीकार करते हुए इसे बांग्लादेश की विदेश नीति का आधार बताया।

हालांकि 1970 के दशक के मध्य में, दोनों देशों के संबंधों में कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुईं। इन समस्याओं में सीमा विवाद, जल संसाधन बंटवारा, और उग्रवाद जैसी चुनौतियाँ शामिल थीं। इन मुद्दों ने संबंधों में तनाव उत्पन्न किया, लेकिन दोनों देशों ने समय के साथ इनका समाधान खोजने के प्रयास किए। 1974 के भूमि सीमा समझौते जैसे उपायों से सीमा विवादों के समाधान की दिशा में प्रगति हुई। इसके अलावा, कूटनीतिक वार्ताओं और समझौतों के माध्यम से, जल बंटवारे जैसे मुद्दों पर भी समझ बनाई गई।

भारत और बांग्लादेश के बीच साझा इतिहास और सांस्तिक विरासत दोनों देशों के रिश्तों को गहरा करते हैं। दोनों देशों की सांस्तिक और भाषाई समानताएँ आपसी संबंधों में और भी मजबूती लाती हैं। सांस्तिक और धार्मिक समानताओं के आधार पर दोनों देशों के बीच पारिवारिक और सामाजिक स्तर पर भी गहरा संबंध है। बांग्लादेश की स्वतंत्रता के बाद, भारत और बांग्लादेश ने कूटनीतिक संबंधों को बढ़ावा दिया और दोनों देशों के बीच सहयोग को मजबूत किया।

वर्तमान समय में भी, यह साझा इतिहास और सहयोग दोनों देशों के बीच विश्वास और सहयोग

शासकीय एम एम आर स्नातकोतर महाविद्यालय चांपा, छत्तीसगढ़।।

के आधारभूत स्तंभ के रूप में बना हुआ है। भारत और बांग्लादेश ने समय–समय पर आर्थिक, सांस्. तिक और सुरक्षा मामलों में आपसी सहयोग को बढ़ाने के लिए कदम उठाए हैं। इन संबंधों को बनाए रखना और आगे बढ़ाना दोनों देशों के लिए क्षेत्रीय स्थिरता और आर्थिक प्रगति के लिए महत्त्वपूर्ण है।

भारत–बांग्लादेश के ऐतिहासिक संबंध केवल 1971 के संघर्ष तक सीमित नहीं हैं। यह एक ऐसी साझेदारी है जो समय के साथ चुनौतियों और अवसरों के बीच विकसित हुई है। आपसी विश्वास और सहयोग की भावना ने इन संबंधों को मजबूत किया है, जो भविष्य में भी दोनों देशों के बीच घनिष्ठता और सहयोग को बनाए रखने में सहायक रहेगा।

द्विपक्षीय व्यापार का महत्व

भारत और बांग्लादेश के बीच द्विपक्षीय व्यापार दोनों देशों के आर्थिक विकास और समृद्धि के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्तंभ है। यह व्यापारिक सहयोग न केवल आर्थिक .ष्टिकोण से लाभकारी है, बल्कि दोनों देशों के बीच आपसी समझ और कूटनीतिक संबंधों को भी सु.ढ़ करता है।

भारत से बांग्लादेश को निर्यातित प्रमुख वस्तुओं में कपास प्रमुख है, जो भारत के कुल कपास निर्यात का लगभग 34.9ः हिस्सा है। कपास उद्योग में यह योगदान न केवल बांग्लादेश के वस्त्र उद्योग को बढ़ावा देता है, बल्कि भारत के किसानों और कपड़ा उद्योग के लिए भी एक महत्त्वपूर्ण बाजार बनाता है। इसके अलावा, पेट्रोलियम उत्पाद और अनाज भी भारत से बांग्लादेश को निर्यातित प्रमुख वस्तुएँ हैं, जो बांग्लादेश की ऊर्जा और खाद्य सुरक्षा में योगदान देती हैं। यह दिखाता है कि भारत अपने पड़ोसी देश की आवश्यकताओं की पूर्ति में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

बांग्लादेश का वस्त्र उद्योग विश्व स्तर पर प्रसिद्ध है और भारत के कपड़ा व्यापार में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह आयात न केवल भारत की वस्त्र व्यापारिक जरूरतों को पूरा करता है, बल्कि बांग्लादेश के वस्त्र उद्योग को भी आर्थिक प्रोत्साहन देता है।

यह परस्पर व्यापारिक संबंध दोनों देशों की अर्थव्यवस्थाओं को जोड़ता है और आपसी निर्भरता को दर्शाता है। इन व्यापारिक गतिविधियों से दोनों देशों को आर्थिक लाभ होता है, जिससे दोनों ही देशों में रोजगार सृजन और आर्थिक स्थिरता को बढ़ावा मिलता है। व्यापारिक साझेदारी से कूटनीतिक संबंध भी मजबूत होते हैं, क्योंकि व्यापारिक संबंधों में सुधार और विकास से दोनों देशों के बीच विश्वास और सहयोग की भावना बढ़ती है।

भारत और बांग्लादेश के बीच का यह व्यापारिक रिश्ता अन्य क्षेत्रों में भी विस्तार का अवसर प्रदान करता है। यह सहयोग आधारभूत संरचना विकास, परिवहन संपर्क और सीमा पार व्यापार सुविधाओं में भी योगदान कर सकता है। दोनों देशों के लिए यह आवश्यक है कि वे इन संबंधों को बनाए रखें और उन्हें और अधिक प्रगाढ़ करें, ताकि आर्थिक प्रगति और स्थिरता के साथ–साथ क्षेत्रीय स्थिरता और समृद्धि को भी बढ़ावा मिले।

संक्षेप में, भारत–बांग्लादेश का द्विपक्षीय व्यापार न केवल आर्थिक दृष्टिकोण से बल्कि कूटनीतिक और सामाजिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस व्यापार से प्राप्त आर्थिक लाभ और सहयोग भविष्य में दोनों देशों के संबंधों को और मजबूत

करने में सहायक होंगे।

सीमा विवाद और क्षेत्रीय चुनौतियाँ

भारत और बांग्लादेश के बीच सीमा विवाद एक दीर्घकालिक मुद्दा रहा है जिसने दोनों देशों के संबंधों को प्रभावित किया है। 1974 के सीमा समझौते के बावजूद, सीमावर्ती क्षेत्रों में अवैध घुसपैठ, तस्करी और हिंसा जैसी समस्याएँ बनी रहीं। ये समस्याएँ न केवल सीमा सुरक्षा के लिए चुनौतीपूर्ण हैं, बल्कि सीमावर्ती समुदायों के लिए भी मुश्किलें बढ़ाती हैं। दोनों देशों के बीच शांति और स्थिरता बनाए रखने के लिए सीमा प्रबंधन में सुधार आवश्यक है। इसके लिए संयुक्त गश्त और निगरानी जैसे उपायों को अपनाना महत्त्वपूर्ण है।

जल संसाधन बंटवारा भी एक अन्य प्रमुख मुद्दा है। गंगा जल संधि के तहत जल संसाधनों के बंटवारे को लेकर दोनों देशों में असहमति देखी गई है। जल विवादों का समाधान दोनों देशों की आर्थिक और सामाजिक स्थिरता के लिए आवश्यक है। साझा जल संसाधनों के प्रबंधन में पारदर्शिता और सहयोग से ही इस समस्या का हल निकल सकता है।

बढ़ते विरोध–प्रदर्शन और अस्थिरता ने सीमा सुरक्षा को और अधिक सतर्कता की मांग की। भारत को इस अस्थिरता से उत्पन्न संभावित प्रभावों का सामना करने के लिए अपनी सुरक्षा नीतियों को मजबूत करना पड़ा।

इन चुनौतियों का समाधान केवल आपसी विश्वास और संवाद से संभव है। भारत और बांग्लादेश को एक साथ मिलकर इन मुद्दों पर काम करना होगा ताकि सीमा विवाद और जल बंटवारे के मुद्दों का समाधान हो सके। इससे न केवल सीमा पर शांति बनी रहेगी, बल्कि दोनों देशों के बीच कूटनीतिक और आर्थिक संबंधों में भी मजबूती आएगी।

शेख हसीना का योगदान और प्रभाव

शेख हसीना ने 2009 में प्रधानमंत्री बनने के बाद भारत–बांग्लादेश संबंधों को नई ऊँचाइयों पर पहुँचाया। उनके नेतृत्व में दोनों देशों के बीच जल संसाधन बंटवारे और सीमा प्रबंधन जैसे कई महत्त्वपूर्ण समझौते हुए। उन्होंने बांग्लादेश में स्थित भारत विरोधी आतंकवादी समूहों के खिलाफ कठोर कार्रवाई की, जिससे क्षेत्रीय शांति और सुरक्षा में सुधार हुआ। यह कदम भारत के लिए विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण रहा, क्योंकि इससे सीमावर्ती क्षेत्रों में तनाव कम हुआ और आपसी विश्वास बढ़ा।

हसीना के कार्यकाल में दोनों देशों के बीच आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध भी मजबूत हुए। बांग्लादेश में उन्होंने व्यापक आर्थिक सुधार लागू किए, जिससे देश की आर्थिक वृद्धि तेज हुई और भारत के साथ व्यापारिक संबंध और भी गहरे हुए। सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी, दोनों देशों के बीच साझा विरासत और सांस्कृतिक कार्यक्रमों ने लोगों के बीच संपर्क को बढ़ावा दिया। उनके शासन में बांग्लादेश की विदेश नीति में भारत के साथ सहयोग को प्राथमिकता दी गई, जिससे दोनों देशों के संबंधों में स्थिरता और विश्वसनीयता आई।

यह देखा जाना बाकी है कि नया नेतृत्व इन्हीं नीतियों को जारी रखेगा या इसमें बदलाव होगा। यह बदलाव भारत–बांग्लादेश संबंधों के भविष्य के लिए महत्त्वपूर्ण हो सकता है, क्योंकि हसीना के नेतृत्व में जो द्विपक्षीय प्रगति हुई, उसका संरक्षण और विस्तार भविष्य की नीतियों पर निर्भर करेगा।

शेख हसीना का योगदान भारत–बांग्लादेश संबंधों

के लिए एक मजबूत आधार बना चुका है और उनका शासन दोनों देशों के बीच सहयोग और विकास के लिए एक महत्त्वपूर्ण युग के रूप में याद किया जाएगा।

हालिया व्यापारिक आँकड़े और निर्यात–आयात

भारत और बांग्लादेश के बीच हालिया व्यापारिक आँकड़े यह दर्शाते हैं कि दोनों देशों के बीच आर्थिक सहयोग में कितनी प्रगति हुई है। भारत से बांग्लादेश को निर्यात में कपास प्रमुख है, जो कुल कपास निर्यात का 34.9% है। इसके अलावा, पेट्रोलियम उत्पाद और अनाज का भी निर्यात महत्त्वपूर्ण रहा।

बांग्लादेश से भारत के आयात में तैयार कपड़े सबसे प्रमुख हैं, जिनकी कुल कीमत +391 मिलियन रही। यह व्यापारिक संबंध दोनों देशों के लिए आर्थिक दृष्टिकोण से लाभकारी हैं। हालांकि, शेख हसीना के इस्तीफे के बाद यह देखना होगा कि भविष्य में इन व्यापारिक संबंधों पर कैसा प्रभाव पड़ता है।

भारत–बांग्लादेश आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध

भारत और बांग्लादेश के बीच आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध गहरे हैं और साझा इतिहास, भाषा और सांस्कृतिक विरासत से प्रेरित हैं। दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक आदान–प्रदान और कला, संगीत और साहित्यिक संबंधों ने आपसी समझ और सहयोग को और मजबूत किया है। दोनों देशों में मनाए जाने वाले सांस्कृतिक त्योहार और मेलों ने भी इस संबंध को प्रगाढ़ बनाने में भूमिका निभाई है।

आर्थिक दृष्टिकोण से भारत और बांग्लादेश के बीच व्यापारिक और निवेश संबंधों में समय के साथ वृद्धि हुई है। विशेष रूप से सीमा पार व्यापार और आपसी निवेश के क्षेत्रों में दोनों देशों ने सहयोग बढ़ाया है। बांग्लादेश की अर्थव्यवस्था में भारत का योगदान और निवेश विशेष रूप से आधारभूत संरचना और छोटे उद्योगों के विकास में महत्त्वपूर्ण रहा है।

सामाजिक दृष्टिकोण से दोनों देशों के बीच शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सहयोग ने स्थानीय समुदायों में आपसी विश्वास और संबंधों को बढ़ावा दिया है। इस प्रकार के संबंध क्षेत्रीय स्थिरता को भी प्रोत्साहित करते हैं और दोनों देशों के बीच दीर्घकालिक शांति और सहयोग की नींव रखते हैं।

क्षेत्रीय स्थिरता और सहयोग की संभावनाएँ

भारत और बांग्लादेश के संबंधों में क्षेत्रीय स्थिरता और सहयोग महत्त्वपूर्ण कारक हैं। दोनों देशों के बीच रेल और सड़क मार्गों का विकास जैसी संयोजकता परियोजनाएँ आर्थिक और सामाजिक सहयोग को बढ़ावा देती हैं। यह न केवल व्यापारिक गतिविधियों को बढ़ाता है बल्कि सीमावर्ती क्षेत्रों के विकास में भी मदद करता है।

भारत ने बांग्लादेश को सड़क, रेल, और बंदरगाह आधारभूत संरचना के विकास के लिए +8 बिलियन की ऋण श्रृंखला भी दी है। इससे दोनों देशों के बीच संचार और परिवहन के साधनों में सुधार हुआ है। हालांकि, बांग्लादेश की राजनीतिक अस्थिरता से इन परियोजनाओं की निरंतरता प्रभावित हो सकती है।

इन संयोजकता परियोजनाओं से न केवल आर्थिक वृद्धि होती है, बल्कि यह क्षेत्रीय स्थिरता को भी

प्रोत्साहित करती है। भारत के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि वह इन परियोजनाओं को जारी रखे और उन्हें सहयोग के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत करे। इससे न केवल दोनों देशों के संबंध मजबूत होंगे बल्कि पूरे क्षेत्र में स्थिरता और विकास भी सुनिश्चित होगा।

नई चुनौतियाँ और कूटनीतिक रणनीतियाँ

बांग्लादेश में उभरते विरोध–प्रदर्शन, आर्थिक संकट और बढ़ते उग्रवाद के प्रभाव से भारत के सामने नई चुनौतियाँ खड़ी हो सकती हैं। इन चुनौतियों से निपटने के लिए भारत को अपनी कूटनीतिक रणनीतियों को सुधारना होगा। भारत को इस स्थिति का विश्लेषण करना होगा कि किस प्रकार यह बांग्लादेश में स्थिरता बनाए रखते हुए अपने हितों की रक्षा कर सकता है।

बांग्लादेश की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन के साथ, भारत को अपने दीर्घकालिक लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए नई रणनीतियों को अपनाना होगा। यह जरूरी है कि भारत बांग्लादेश के नए नेतृत्व के साथ सकारात्मक वार्ता और सहयोग बनाए रखे ताकि द्विपक्षीय संबंधों में स्थिरता बनी रहे। इसके अलावा आतंकवाद, उग्रवाद, और सीमावर्ती सुरक्षा से संबंधित मुद्दों पर भी भारत को सावधानी बरतनी होगी और आवश्यकतानुसार कदम उठाने होंगे।

भविष्य की विदेश नीति का संभावित मार्ग

भविष्य में भारत और बांग्लादेश के बीच संबंधों को मजबूत करने के लिए भारत को अपनी विदेश नीति में नए दृष्टिकोण अपनाने होंगे। भारत को बांग्लादेश की नई राजनीतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपनी नीतियों को लचीला और प्रभावी बनाना होगा। इसके लिए भारत को क्षेत्रीय स्थिरता, आर्थिक विकास और आपसी विश्वास को बनाए रखने की दिशा में काम करना होगा।

यह भी आवश्यक है कि भारत और बांग्लादेश दोनों ही वैश्विक और क्षेत्रीय मंचों पर एक–दूसरे के सहयोगी बने रहें। इससे न केवल आर्थिक और राजनीतिक संबंध मजबूत होंगे, बल्कि पूरे क्षेत्र में विकास और स्थिरता को भी बढ़ावा मिलेगा।

निष्कर्ष

भारत–बांग्लादेश संबंधों का भविष्य उन घटनाओं पर निर्भर करता है जो वर्तमान में बांग्लादेश में हो रही हैं। शेख हसीना के इस्तीफे के बाद उत्पन्न राजनीतिक अस्थिरता भारत के लिए एक महत्त्वपूर्ण मोड़ साबित हो सकती है। भारत को इस बदलते परि.श्य में न केवल अपने आर्थिक और व्यापारिक हितों की सुरक्षा करनी होगी बल्कि क्षेत्रीय स्थिरता को भी सुनिश्चित करना होगा। भारत और बांग्लादेश के बीच साझेदारी ने अतीत में दोनों देशों के लिए अनेक लाभ प्रदान किए हैं, जिसमें आर्थिक सहयोग, सांस्.तिक आदान–प्रदान और क्षेत्रीय स्थिरता शामिल हैं। भारत को इन संबंधों को बनाए रखने और आगे बढ़ाने के लिए नई कूटनीतिक रणनीतियों को अपनाना होगा। इसमें न केवल व्यापार और निवेश को बढ़ावा देना शामिल है, बल्कि सीमा सुरक्षा और आतंकवाद जैसे मुद्दों पर भी ध्यान देना होगा।

भारत को बांग्लादेश के भीतर की राजनीतिक स्थितियों का गहराई से विश्लेषण करते हुए अपनी कूटनीति को लचीला और प्रभावी बनाना होगा। नए नेतृत्व के साथ सकारात्मक संबंध बनाए रखने और आपसी सहयोग को बढ़ाने के प्रयास करना आवश्यक है। इससे न केवल दोनों देशों के द्विपक्षीय संबंध मजबूत होंगे, बल्कि पूरे क्षेत्र में विकास और स्थिरता

का मार्ग भी प्रशस्त होगा। अंततः, भारत और बांग्लादेश के बीच मजबूत सहयोग दोनों देशों के दीर्घकालिक विकास और शांति के लिए आवश्यक है। भारत को अपनी विदेश नीति को इस तरह तैयार करना होगा कि वह बांग्लादेश के साथ साझेदारी के नए अवसरों को अपनाए और संभावित चुनौतियों का समाधान करे। इसके साथ ही, दोनों देशों को क्षेत्रीय और वैश्विक मंचों पर एक–दूसरे का समर्थन करना चाहिए ताकि समग्र विकास और स्थिरता सुनिश्चित हो सके।

संदर्भ सूची

1. गुप्ता, ए. (2004). भारत–बांग्लादेश संबंधः ऐतिहासिक और समकालीन परिप्रेक्ष्य. नई दिल्लीः ओमेगा पब्लिकेशन्स.
2. मिश्रा, आर. (2005). बांग्लादेश के साथ जल संसाधन विवाद और भारतीय कूटनीति. भारतीय अंतरराष्ट्रीय अध्ययन पत्रिका, 42(3), 123–145.
3. कुमार, एस. (2006). भारत–बांग्लादेश के व्यापारिक संबंधः संभावनाएँ और बाधाएँ. भारतीय आर्थिक समीक्षा, 51(2), 78–95.
4. सिंह, पी. (2007). भारत–बांग्लादेश सीमा सुरक्षाः चुनौतियाँ और नीतियाँ. एशियाई सुरक्षा अध्ययन, 29(4), 189–212.
5. शर्मा, डी. (2008). गंगा जल समझौता और भारत–बांग्लादेश संबंध. कोलकाताः पब्लिकेशन हाउस.
6. वर्मा, के. (2009). अवैध प्रवास और भारत–बांग्लादेश के सामाजिक संबंध. सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका, 44(1), 67–89.
7. पटेल, जे. (2010). भारत–बांग्लादेश सीमा प्रबंधन और सुरक्षा उपाय. राष्ट्रीय सुरक्षा पत्रिका, 32(3), 145–168.
8. चतुर्वेदी, एम. (2011). भारत और बांग्लादेश के ऊर्जा सहयोग की चुनौतियाँ. ऊर्जा और विकास शोधपत्र, 28(2), 90–115.
9. जोशी, आर. (2012). सांस्कृतिक सहयोगः भारत और बांग्लादेश के संबंधों का एक पहलू. सांस्कृतिक अध्ययन पत्रिका, 19(5), 120–140.
10. मेहता, ए. (2013). भारत–बांग्लादेश के व्यापार समझौते और उनके प्रभाव. अंतरराष्ट्रीय व्यापार और विकास पत्रिका, 41(3), 99–122.
11. श्रीवास्तव, के. (2014). भारत–बांग्लादेश संबंधों में तीस्ता नदी विवाद का प्रभाव. जल और कूटनीति पत्रिका, 22(4), 88–110.
12. चौधरी, पी. (2015). बांग्लादेश की आंतरिक राजनीति और भारत के साथ उसके संबंध. दक्षिण एशियाई अध्ययन पत्रिका, 39(2), 145–167.
13. सक्सेना, एन. (2015). भारत और बांग्लादेशः सीमा विवाद और उनके समाधान. सीमा अध्ययन शोध पत्रिका, 33(1), 67–89.
14. वर्मा, आर. (2016). भारत–बांग्लादेश संबंधों में नागरिकता और प्रवासन के मुद्दे. सामाजिक और राजनीतिक अध्ययन पत्रिका, 25(3), 110–135.
15. ठाकुर, एस. (2016). बांग्लादेश के साथ भारत के संबंधः अवसर और चुनौतियाँ. अंतरराष्ट्रीय संबंध शोध पत्रिका, 48(2), 90–115.

मध्यकाल में भारतीय संगीत

डॉ. पंकज शर्मा*

सारांश – भारतीय संगीत के विकास एवं विस्तार में मध्यकाल का समय बहुत ही महत्वपूर्ण रूप में देखा जाता है। मध्यकाल में भारतीय संगीत में हिंदू और इस्लामी सांस्कृतिक प्रभावों का संगम हुआ। खिलजी, तुगलक तथा लोदी काल में भारतीय संगीत में अनेक परिवर्तन हुए, परन्तु बाबर से प्रारम्भ मुग़ल काल में सर्वाधिक परिवतन एवं नवीन शैलियाँ स्थापित हुई जो वर्तमान तक यहाँ के संगीत की समृद्ध धरोहर के रूप में वैवित्यमान है। अकबर के कालखंड को भारतीय संगीत तथा कलाकारों के लिए स्वर्णिम युग भी माना जाता है। वर्तमान उत्तर भारतीय संगीत का जो सुन्दर और आत्मीय स्वरुप आज हम लोगों के समक्ष प्राप्त है, निश्चित ही उसमें मध्यकाल के सांगीतिक गतिविधियों और प्रभावों की अहम भूमिका प्रतीत होती है।

शब्द सूचक : राग, संगीत, भारतीय संगीत, ग्रन्थ, मध्यकाल, मुग़ल काल, मुसलमानी संगीत

उद्देश्य : भारतीय शास्त्रीय संगीत तथा उत्तर भारतीय संगीत के विकास में मध्यकालीन घटनाओं का प्रभाव तथा मुग़ल काल में संगीत के विकास पर अध्ययन करना ही प्रस्तुत शोध पत्र का प्रमुख उद्देश्य है।

विषय प्रवेश

भारत में मध्यकाल (लगभग 12वीं से 18वीं सदी तक) का संगीत बहुत ही विविध और समृद्ध था। इस काल में विभिन्न संगीत शैलियाँ और विचारधाराएँ प्रचलित थीं, जिनका विकास और विस्तार कई सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभावों से हुआ। हालाँकि पूर्व मध्यकाल तथा मध्यकाल के बाद भी यदि देखा जाए तो यहाँ के संगीत पर तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक प्रभावों को देखा जा सकता है, क्योंकि तत्कालीन परिवेश तथा परिस्थितियों के ईर्द–गिर्द ही सभी कलाओं या संस्कृति का स्वरुप निर्मित तथा विकसित होता है। भारतीय संगीत भी मध्यकालीन घटनाओं तथा गतिविधियों से ही प्रभावित हुआ, जिसका प्रमुख कारण भारतीय संस्कृति में मुग़ल सभ्यता का समागम तथा प्रभाव प्रमुख था।

भारतीय संगीत तथा मध्यकाल में इस्लामी सांस्कृतिक प्रभावों से नई शैलिओं का विकास भी हुआ। मध्यकाल के पूर्व यहाँ का संगीत मुख्य रूप से मार्ग और देशी संगीत के रूप में प्राप्त था तथा इसके क्रमोत्तर विकास के रूप में गान्धर्व गान, जाति गान, ध्रुवा, प्रबंध तथा ध्रुपद इत्यादि शैलियाँ प्रचलित थी। मध्यकाल की सबसे प्रमुख देन राग रागिनी अथवा राग गायन का विकास होना था, जो कि अब तक भारतीय शास्त्रीय संगीत की आत्मा का रूप धारण किये हुए है। मध्यकाल में विदेशी संगीतकारों के प्रभाव में भारतीय संगीत में मूलभूत परिवर्तन हुए, उनमे प्रमुख रूप में मूर्छना पद्धति के स्थान पर मेल पद्धति, षड्ज और पंचम स्वर के अचलता के साथ ईरानी संगीत के 12 मुकाम के आधार पर 12 स्वरों का प्रयोग और पद रचनाओं में श्रृंगारिकता का अधिक समावेश आदि हैं। राग गायन के प्रचार का माध्यम ध्रुपद या धमार शैली (भारतीय संगीत की मूल शैली) थी। मुग़ल संगीत के अंतर्गत नात ए शरीफ़ (मुसलमानी संगीत की एक शैली) सूफ़ी संगीत, कव्वाली और ग़ज़ल आदि का विकास हुआ। बढ़ते मुग़ल सल्तनत के प्रभाव के साथ भारतीय शास्त्रीय संगीत की परंपराएँ भी जीवित रहीं, जिससे दोनों संस्कृतियों के बीच संगीत का आदान–प्रदान हुआ और भारतीय संगीत की नवीन विचारधारा के

*वाराणसी

साथ अन्य नवीन शैलियों का विकास हुआ।

भारत में मध्यकालीन मुग़ल संगीत की कतिपय गायन शैलियाँ प्रचलित थी जिनका वर्णन यहाँ करने का प्रयास किया गया है :–

नात ए शरीफ़

यह एक प्रकार के इस्लामिक धार्मिक गीत होते हैं, जो पैगंबर मोहम्मद की प्रशंसा में गाए जाते हैं । नात विशेष रूप से पैगंबर की महिमा और उनके कार्यों को सम्मानित करने के लिए गाए जाते हैं तथा शरीफ़ में इस्लामिक धार्मिक विषय होते हैं, लेकिन इसमें आमतौर पर अधिक कविता और शास्त्रीय संगीत का मिश्रण होता है।

क़व्वाली

कव्वाली की शुरुआत सूफी धर्म से हुई थी, जो इस्लाम के एक रहस्यमय पहलू को व्यक्त करता है । इसे सूफी संतों द्वारा ईश्वर के प्रेम और आत्मा के मुक्ति के संदेश को फैलाने के लिए विकसित किया गया। समय के साथ, कव्वाली में भारतीय, फारसी, और अरबी संगीत का मिश्रण हुआ, जिसने इसे और भी समृद्ध और विविध बनाया।

सूफी संगीतः

सूफी संगीत एक विशेष प्रकार का धार्मिक और आध्यात्मिक संगीत है, जो सूफीवाद (Islamic mysticism) से उत्पन्न हुआ है। यह संगीत आमतौर पर आत्मिक उन्नति, ईश्वर से जुड़ाव, प्रेम और ध्यान पर आधारित होता है। सूफी संगीत का उद्देश्य व्यक्ति को ईश्वर के नजदीक लाना और आध्यात्मिक शांति प्राप्त करने में मदद करना है। यह संगीत जीवन के गहरे रहस्यों को व्यक्त करता है और श्रोता को आत्मिक अनुभूति और मानसिक शांति की ओर मार्गदर्शन करता है।

कौल कल्बना

एक अरबी शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है "हमारे दिल की बात" या "हमारे दिल की घोषणा"। इस शब्द का उपयोग अक्सर इस्लामिक साहित्य में भावनाओं और आत्मिक भावनाओं को व्यक्त करने के संदर्भ में किया जाता है । यह शब्द कभी–कभी धार्मिक शायरी, काव्य, या सूफी गीतों में भी उपयोग हो सकता है, जहां कवि या भक्त अपने दिल की गहरी भावनाओं को प्रेम, भक्ति, और आध्यात्मिकता के विषयों पर व्यक्त करते हैं।

शास्त्रीय संगीत में विकास

मध्यकाल में भारतीय शास्त्रीय संगीत में शैलीगत विकास के साथ साथ नए नए रागों का भी विकास हुआ। मुगल काल के समय में संगीत का एक नया रूप विकसित हो रहा था। मुग़ल दरबारों में संगीत और नृत्य की महत्ता प्रोत्साहन और आश्रय प्राप्त हुआ । अलाउद्दीन खिलजी (12–13 वीं शताब्दी) के दरबार में आमीर खुसरो वहां के दरबारी गायक (फारसी कवि) थे । इनके द्वारा अनेक नए राग जैसे साजगिरी, सरपरदा, यमन कल्याण तथा फरदोस्त, पश्तो, सवारी, झुमरा जैसी तालों का आविष्कार हुआ। ऐसा माना जाता है कि खुसरो भारतीय संगीत के प्रसिद्द कलावंत गोपाल नायक से बहुत प्रभावित थे तथा गोपाल नायक के गायन से ही प्रभावित होकर उन्होंने तराना तथा कव्वाली नामक गायन शैली बनाये। खुसरो ने अनेक नए वाद्यों का निर्माण किया। दो प्रमुख ग्रन्थ संगीत रत्नाकर तथा गीत गोविन्द भी इसी काल में लिखे गए जो कि भारतीय संगीत के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ माने जाते हैं।

तुगलक काल (13–14 वीं शताब्दी) में संगीत के विकास पर बहुत तथ्य प्राप्त नहीं हो पाते । गयासुद्दीन तुगलक के पुत्र मो. तुगलक ने संगीत के प्रचार प्रसार में योगदान दिया परन्तु संगीत का विस्तार बहुत न हो पाया।

लोदी काल (14–15 वीं शताब्दी) में ख़याल गायन का सर्वाधिक प्रचार हुआ । जौनपुर के शासक सुलतान हुसैन शाह शर्की भारतीय संगीत के कलावन्तों तथा अन्य कलाकारों के साथ मिलकर ख्याल गायन को प्रोत्साहित किया । सुलतान शर्की ने स्वयं कई नई रागों का निर्माण किया जिसमे राग जौनपुरी बहुत ही प्रसिद्द राग है। मध्यकाल के इसी भाग में ध्रुपद, कव्वाली, कौल, नुस्क, गुल, तराना, आदि शैलियों का भी प्रचार तथा प्रचलन बढ़ा, जिनसे भारतीय संगीत की समृद्धि में बढ़ावा हुआ।

लोदी काल के पश्चात मुग़ल काल का प्रारम्भ हुआ। मुग़ल शासन भारत में लगभग 15–16 वीं शताब्दी से 18 वीं शताब्दी तक माना जाता है, जिसका प्रारम्भ बाबर द्वारा किया गया तथा अंतिम शासक के रूप में बहादुर शाह जफर को माना जाता है। मुग़ल काल का प्रारम्भिक समय भी भारतीय संगीत में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है । एक तरफ दरबारी संगीत का प्रचलन बढ़ रहा था । साहित्य में श्रृंगारिक पदों का समावेश अधिक होने लगा तथा संगीत का उद्देश्य मात्र मनोरंजन होते जा रहा था। दूसरी तरफ समाज में भक्ति आन्दोलन भी बढ़ने लगा । भक्त कवियों द्वारा रगों में अध्यात्मिक पद गाये जाने लगे । जगद्गुरु वल्लभाचार्य जी द्वारा पुष्टिमार्गीय परंपरा का प्रतिपादन किया गया, जिसमे राग सेवा के माध्यम से भारतीय संगीत के पारंपरिक स्वरुप को भी संरक्षण प्राप्त हुआ । कबीर, रामानंद, चैतन्य महाप्रभु आदि भक्त कवियों ने भी इसी काल में जन जागरण का कार्य किया, जिसके फल स्वरुप भजन –कीर्तन का भी प्रचार अधिक हुआ ।

हुमायूँ काल में भी संगीत का प्रचार प्रसार बहुतायत रूप में हुआ । इस काल में सूफी विचार धारा का जन्म हुआ और सूफी संगीत का विकास एवं प्रचार भी हुआ। इसी काल में रामामात्य द्वारा स्वरमेल कलानिधि ग्रन्थ की रचना हुई, जो कि भारतीय संगीत के महत्वपूर्ण ग्रंथों में गिना जाता है ।

इसी काल के उत्तरोत्तर क्रम में एक प्रमुख नाम आता है राजा मानसिंह तोमर। ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर स्वयं एक कुशल संगीत विद्वान थे। इनके द्वारा संकलित प्रमुख ग्रन्थ मान . कोतुहल बहुत ही प्रसिद्द ग्रन्थ है, जिसका फारसी अनुवाद राग दर्पण नामक ग्रन्थ के रूप में प्राप्त होता है । मानसिंह के समय ध्रुपद शैली का बहुत प्रचार हुआ। स्वामी हरिदास के शिष्य बैजू ने इन्ही के समय ध्रुपद में अनेक पदों की रचना की । महिलाओं के संगीत शिक्षण की आजादी और प्रचलन भी इसी काल की देन मानी जाती है ।

अकबर का काल संगीत एवं कला के लिये स्वर्णिम युग कहा जा सकता है । इस काल में संगीतकारों को उचित सम्मान तथा राजकीय संरक्षण प्राप्त हुआ। अकबर नवरत्नों में प्रसिद्द संगीतकार तानसेन भी सम्मिलित थे। उत्तर भारतीय संगीत में ईरान तथा अरबी के मिश्रित प्रभाव से अद्भुत स्वरूप बना। इस काल का महत्वपूर्ण ग्रन्थ आइन ए अकबरी (अबुल फज़ल द्वारा रचित) में अकबरी दरबार के 36 संगीतज्ञों के बारे में वर्णन मिलता है, जिससे अकबर का संगीत कला और कलाकारों के प्रति उदारवादी स्वभाव का होना सिद्ध होता है । इन 36 संगीत कलावन्तों में स्वामी हरिदास, लाल खां, ब्रिजचन्द्र, बैजू, तानसेन, विलास खां आदि नाम सम्मिलित हैं । इसी कालखंड में सूरदास, कबीरदास, तुलसीदास, मीरां आदि भक्त कवि भी हुए । रामचरित मानस, सूरसागर, सूरसारावली, राग माला, राग मंजरी, सद्राग चंद्रोदय, नर्तक निर्णय, ह्रदय कौतुक तथा ह्रदय प्रकाश जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना भी इसी काल में हुई ।

जहाँगीर काल में भी संगीत का बहुत विस्तार एवं प्रचार हुआ । इनके दरबार में विलास खां, परवेज़दाद, छत्तर खां, आदि प्रमुख गायक थे । इस काल में राग विबोध नामक ग्रन्थ की रचना हुई ।

औरंगजेब काल में चतुर्दंडी प्रकाशिका, अनूप संगीत रत्नाकर, अनूप संगीत विलास, अनुपान्कुश जैसे ग्रन्थ लिखे गए। तथा वाजिद अली शाह ने ठुमरी शैली का आविष्कार कर उसका प्रचार किया ।

मुहम्मद शाह रंगीले को राजाश्रय देने वाले मुग़ल शासकों के रूप में अंतिम शासक माना जाता है । इनके दरबार में सदारंग, अदारंग, गुलाम रसूल, मक्खन खां, मिठ्ठू खां, छज्जू खां, प्यारे खां, आदि प्रसिद्द कलाकार हुए । ख्याल गायन की नई अनेक रचनाएँ तथा टप्पा गायन शैली का विकास भी इस काल में बहुतायत में हुआ । इनके साथ त्रिवट, तराना, रेखता, कौल, गुलनक्स आदि शैलियों का विकास भी इस काल में बहुत हुआ ।

ख्याल गायन का विकास द्रुपद गायन की कठोरता से अधिक लचीले और भावनात्मक रूप में हुआ । मुग़ल दरबार और तानसेन जैसे संगीतज्ञों ने इस शैली के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । ख्याल में रागों का गहन अन्वेषण, गायन की स्वतंत्रता और भावनाओं की अभिव्यक्ति इसे भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक प्रमुख रूप बनाती है।

निष्कर्ष

भारत के मध्यकाल में संगीत का इतिहास बहुत ही समृद्ध और विविधतापूर्ण था। इसमें हिंदू और इस्लामी संस्कृति का संगम, शास्त्रीय संगीत की जटिलता और लोक संगीत की सरलता, तथा भक्ति और दरबारी संगीत का मिश्रण देखने को मिला। इस समय में संगीत ने न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम किया, बल्कि समाज की विभिन्न परंपराओं और विचारधाराओं को भी आपस में जोड़ने का कार्य किया। हालाँकि मध्यकाल में भारतीय संगीत में विविध विधाओं में गायन, वादन, नृत्य सम्बन्धी अनेक परिवर्तन तथा नवीनीकरण हुए । इन सब का एक पत्र में वर्णन कर पाना शायद मेरे लिए कम संभव है और बहुत सी ऐसी अनेक जानकारियां जिनसे मैं अनभिज्ञ हूँ, उनका वर्णन भी इसमें न हो पाया हो, फिर भी मैंने अपने प्रयासों और अल्प ज्ञान से इस शोध पत्र में विषय वस्तुओं को संकलित करने का प्रयास किया है, आशा है कि संगीत जिज्ञासु वर्ग इससे निश्चित ही लाभान्वित होंगे,

सन्दर्भ

1 संगीत मासिक पत्रिका मुसलमान और भारतीय संगीत अंक, जनवरी 2013, संगीत कार्यालय हाथरस

2 मुसलमान और भारतीय संगीत, आचार्य कैलाश चन्द्र बृहस्पति, राजकमल प्रकाशन 1982, नई दिल्ली

3 भारतीय संगीत का इतिहास ठाकुर जयदेव सिंह विश्वविद्यालय प्रकाशन 2016, वाराणसी

4 भारतीय संगीत का इतिहास शरतचंद्र श्रीधर परांजपे, चौखम्भा भवन 1969, वाराणसी

भारतीय शास्त्रीय संगीत में बांसुरी का योगदान

ब्रजेश कुमार छाया* एवं डॉ0 किरण सिंह**

शोध–सारः प्राचीन समय में बांसुरी वाद्य मुख्यतः संगत वाद्य के रूप में प्रयोग किया जाता था। जैसे–जैसे समय बीतता गया वैसे–वैसे परिवर्तन आता गया और वर्तमान समय में बांसुरी वाद्य को एकल वादन की मान्यता प्राप्त है। वैसे तो सुषिर वाद्यों में शहनाई, हारमोनियम तथा सुंदरी वाद्यों पर भी शास्त्रीय संगीत का वादन किया जाता है परन्तु बांसुरी वाद्य इन सभी वाद्यों में अपनी अलग पहचान बनाए हुए है। यह पहचान इस वाद्य की मधुर ध्वनि के आकर्षण के कारण है। इन सुषिर वाद्यों पर 'बन्दिश' एवं 'गत' दोनों का वादन किया जाता है। बंदिश का वादन करने के लिए वादक लोग गायन शैली का अनुसरण करते हैं तथा गत के वादन हेतु गतकारी शैली का अनुसरण करते हैं।

शब्दकुंजी : शास्त्रीय संगीत, सितार, शहनाई, हारमोनियम तथा बांसुरी आदि

भूमिका

बांसुरी वाद्य पर शास्त्रीय वादन अर्थात् गतकारी शैली का अनुसरण या प्रस्तुतिकरण करने के उद्देश्य से वंशीवादकों द्वारा सर्वप्रथम राग का विस्तृत आलाप प्रस्तुत किया जाता है। इसके पश्चात् जोड़ आलाप तथा जोड़ झाले की प्रस्तुति की जाती है। जिसमें ताल वाद्य की संगति नहीं की जाती।

इसके पश्चात् प्रस्तुत किए जा रहे राग विशेष की विलम्बित गत का प्रारम्भ होता है। तथा ताल वाद्य (तबला) की संगति प्रारम्भ हो जाती है। क्रमानुसार स्थाई तथा अन्तरे का वादन करने के पश्चात् उसी राग की तानों व तोड़ों का वादन किया जाता है। ये विभिन्न लयकारी में निबध होते हैं। विलम्बित गत के वादन के पश्चात् उसी राग की द्रुत गत का वादन किया जाता है। जिसमें विभिन्न लयकारी युक्त तानों का वादन करने के पश्चात् अन्त में द्रुतगत में झाले का वादन जाता है। इस तरह अन्त में तिहाई लगाकर या चकदार तिहाई लगाकर वादन का समापन किया जाता है।1

परन्तु भारतीय संगीत में लगभग शास्त्रीय संगीत की दो या तीन धाराएं बहती थीं (1) उत्तरी भारतीय (2) दक्षिण भारतीय (3) रविन्द्र संगीत पद्धति। मुख्य रूप से संगीत की दो धाराएं हैं। उत्तरी भारतीय तथा दक्षिण भारतीय। दक्षिण भारतीय संगीत पद्धति पर थोड़ा सा प्रकाश डालते हुए हिन्दुस्तानी या उत्तरी भारतीय पद्धति पर चर्चा करेंगे।2 मध्यकाल में शास्त्रीय संगीत की दो धाराएं प्रवाहित होने लगीं।

बांसुरी के एकल वादन की पद्धतियाँ

1. उत्तरी भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति
2. दक्षिण भारतीय शास्त्रीय संगीत पद्धति

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत पद्धति के प्रचार में बांसुरी का बहुत योगदान है। इसके अतिरिक्त शहनाई वाद्य का भी उल्लेख मिलता है कि यह भी प्रयोग किया जाता था। इस काल में सुषिर वादकों के दो प्रकार थे अर्थात् बांसुरी वाद्य के वादक दो प्रकार के थे। पहले भाग वाले वादक गाई जाने

शोधार्थी, स्नातकोत्तर संगीत विभाग, ति0 मां0 भा0 वि0 वि0 भागलपुर
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत विभाग, ति0 मां0 भा0 वि0 वि0 भागलपुर

वाली चीजों का अनुकरण करते थे तथा दूसरे वर्ग के वादक सितार के गतकारी अंग से प्रभावित होकर अपने वाद्यों पर शब्दों से रहित गतों का वादन करते थे। इसके अतिरिक्त कर्नाटकीय संगीत में दक्षिणात्य वंशी के साथ–साथ 'नाद स्वर' का भी प्रयोग होने लगा था। आधुनिक काल में हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति के अन्तर्गत वादन किए जाने वाले वाद्यों में बांसुरी के अतिरिक्त शहनाई, कलानेंट, सुन्दरी, हारमोनियम इत्यादि वाद्यों का विशेष प्रचलन है। इस काल में शास्त्रीय संगीत के वादन हेतु (स्वतंत्र वादन), बांसुरी, सुन्दरी, शहनाई आदि वाद्यों का प्रयोग होता है।3 इन वाद्यों पर गत व बंदिश दोनों का ही प्रयोग किया जाता है। बांसुरी पर बंदिशों का वादन करने के लिए गतकारी शैली के वादक लोग 'गायकी' शैली का तथा 'गत' का वादन करने के लिए गतकारी शैली का अलम्बन लेते हैं। गतकारी शैली का वादन करते समय, इसके अन्तर्गत बांसुरीवादक या शहनाई वादक, सर्वप्रथम विस्तृत रूप से राग का मुक्त आलाप बजाते हैं। इसके बाद जोड़ तथा जोड़ झाले का भी वादन करते हैं। इस वाद्य के साथ किसी चर्म वाद्य की संगति नहीं होती बल्कि मन व बुद्धि में एक लय रखकर जोड़ व झाला किया जाता है। तत्पश्चात् द्रुत में अतिद्रुत लय में वादन किया जाता है। फिर थोड़ी देर अतिद्रुत लय में तानों का वादन किया जाता है फिर झाले का वादन तथा अन्त में तिहाई बजाकर राग की समाप्ति की जाती है।

इसके अतिरिक्त 'गायकी' शैली का अनुकरण करने के लिए बांसुरी वादक सर्वप्रथम 3–4 मिनट के लिए राग के मुक्त आलप का वादन करते हैं जो कि बहुत संक्षिप्त होता है। इसके पश्चात् वे विलम्बित ख्याल की बंदिश बजाना प्रारम्भ कर देते हैं। यह प्रायः एक ताल, तीन ताल, झूमरा ताल, आदि में निबन्ध होती है। इनमें बंदिश के मुखड़े के पश्चात सम में तबला वादक अपने तबले पर लय की संगति प्रारम्भ करते हैं। सम्पूर्ण बंदिश का वादन कर लेने के पश्चात् सुषिर वाद्यों के वादक पुनः उस राग का विस्तार करते हैं तथ तबले पर संगति होती रहती है।4

तत्पश्चात् लय को थोड़ा तेज करके तानों का वादन प्रारम्भ होता है इसके बाद मध्यलय में उसी राग की छोटे ख्याल की बंदिश का वादन किया जाता है। यह बंदिश प्रायः तीनताल, रूपक ताल, एकताल या झप ताल में निबंध रहती है। छोटे ख्याल को सम्पूर्ण बंदिश के वादन के पश्चात तानों का वादन किया जाता है। तदन्तर लय की गति में वृद्धि करके झाले का वादन किया जाता है। अन्त में साधारण या चक्रधार तिहाई लेकर बांसुरी वादन का समापन किया जाता है। उदाहरण के लिए राग बसंत में निबंधन एक मध्य लय में एक ख्याल दिया जाता है। जिसे बांसुरी वादक या शहनाई के द्वारा अक्सर बजाया जाता है।5

भारतीय शास्त्रीय संगीत में बांसुरी का योगदान

भारतीय शास्त्रीय संगीत का प्रचार करने में जितना योगदान सितार, सरोद, शहनाई आदि वाद्यों का है उतना ही योगदान श्री कृष्ण की प्रिय मन मोहिनी बांसुरी का है। उपरोक्त आदि वाद्यों की जिस प्रकार एकल वादन करने के लिए मान्यता प्राप्त है, उसी प्रकार बांसुरी वाद्य को भी राग प्रस्तुत करने की मान्यता प्राप्त है। पिछले कुछ दशकों में उठी हुई यह धारणा ''बांसुरी'' वादन से फेफड़ों में रोग हो जाते हैं। गलत सिद्ध हो चुकी है अब काफी संख्या में संगीत प्रेमी लोग बांसुरी वादन सीख रहे हैं तथा कुछ इस वाद्य का तथा शास्त्रीय संगीत का प्रचार इस देश में ही नहीं बल्कि विदेशों

में भी कर रहे हैं। कुछ वंशी वादकों के नाम जैसे पं० हरिप्रसाद चौरसिया, पं० राजेन्द्र प्रसन्ना, रोणु मजूमदार, माइस्त्रो शशंक, राजेश प्रसन्ना, रिषभ प्रसन्ना, हरिदत्त आदि।6

विद्वानों का मत है कि यह वाद्य भगवान श्री .ष्ण के द्वारा वादन के लिए चुना गया था। जब वे बांसुरी वादन करते थे तो स्त्री पुरुष, जवान, वृद्ध आदि सभी लोग खुशी से झूम उठते थे। बांसुरी सुनकर उनके मन में एक खुशी की लहर दौड़ जाती थी। यहाँ तक कि पशु–पक्षी भी खुशी से चहचहाने व इधर–उधर मस्ती में भागने लगते थे। कहने का भाव यह है कि इस वाद्य की ध्वनि में एक अनूठा सा आकर्षण है जो सुनने वालों को और करीब खींचता था। इसी कारण बांसुरी वादन की प्रस्तुति को सभी श्रोतागण ध्यान व उत्सुक्तता से सुनते हैं। प्राचीनकाल से ही यह वाद्य श्रोताओं पर अधिक तेजी से गहरा प्रभाव डालता आ रहा है। यह वाद्य विष्णुवतार भगवान श्री .ष्ण के अधरों से लगकर अमर हो गया। इसीलिए आज भी इसका प्रचार हो रहा है। सुगम संगीत में भी इस वाद्य ने अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाया हुआ है।

संगीत की गहरी अभिव्यक्ति बांसुरी की आवाज में अनंत भावनाओं की गहराई और अभिव्यक्ति होती है। एक कुशल बांसुरी वादक, जैसे कि भारतीय शास्त्री, बांसुरी के माध्यम से संगीत में शांति, प्रेम, रहस्य, और दुख की गहराई को व्यक्त कर सकते हैं। उनकी बांसुरी से निकलने वाली ध्वनि विभिन्न रसों (भावनाओं) को जीवित करती है, जिससे श्रोताओं को एक आत्मिक अनुभव होता है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत का योगदान बांसुरी को भारतीय शास्त्रीय संगीत में एक महत्वपूर्ण स्थान दिलाने में रहा है। उनकी कला ने बांसुरी को केवल एक लोक संगीत वाद्ययंत्र से ऊपर उठाकर उसे मुख्य मंच पर रखा, जहां अब यह सितार, सरोद, और तबला जैसे वाद्ययंत्रों के साथ सम्मिलित होकर प्रस्तुत किया जाता है।

बांसुरी वादन के क्षेत्र में भारतीय शास्त्रीय ने नए रागों और बंदिशों की रचना की, जिससे बांसुरी की ध्वनि और भी समृद्ध और विविध हो गई। वह अक्सर अपनी बांसुरी के साथ रागों की गहराई और अद्वितीयता को महसूस कराते हैं, जैसे भैरव, यमन, भंपतंअप, और अन्य रागों में।

बांसुरी वादन में सुधार के लिए उन्होंने नए शास्त्रीय और लोकप्रिय तकनीकों को अपनाया। उनकी बांसुरी के सुर में सूक्ष्मता, संतुलन, और गहराई देखने को मिलती है। यह शास्त्रीय संगीत के पारंपरिक रागों की भावनाओं को सजीव रूप से प्रस्तुत करता है।

बांसुरी का भारतीय संस्:ति और आध्यात्मिकता से गहरा संबंध है। यह श्री .ष्ण के साथ जुड़ा हुआ है, जिनके बारे में माना जाता है कि वह बांसुरी बजाकर अपने भक्तों को मोहित करते थे। भारतीय शास्त्रीय संगीत ने इस आध्यात्मिक और सांस्:तिक धरोहर को अपने वादन से जीवित रखा है, जिससे उनकी बांसुरी की ध्वनि एक दिव्य अनुभव प्रदान करती है।

आधुनिक समय में, भारतीय शास्त्रीय संगीत ने बांसुरी में कुछ नए तकनीकी सुधार और नवाचार किए हैं, जिससे बांसुरी का स्वर और भी विविध और आकर्षक हुआ है। उन्होंने पारंपरिक रागों और बंदिशों के साथ–साथ नए रचनात्मक रूपों को भी अपनाया, जो समकालीन श्रोताओं के लिए आनंदजनक रहे।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय

शास्त्रीय संगीत में बांसुरी का योगदान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। उन्होंने इस यंत्र को न केवल शास्त्रीय संगीत में, बल्कि भारतीय सांस्तिक धरोहर में भी एक विशिष्ट स्थान दिलवाया है। उनके योगदान ने बांसुरी वादन को और भी समृद्ध किया और इस अद्भुत वाद्ययंत्र की लोकप्रियता को बढ़ाया।

संदर्भ–सूची

1. नाट्य शास्त्र, 27वां अध्याय, स्वराध्याय, आचार्य बृहस्पति, पृ0 सं0 7
2. भारतीय संगीत के वाद्यवृंद, अध्याय 4. पृ0 सं0 74
3. सुभाष ठाकुर के साथ साक्षात्कार, डी–144, दुग्गल कालोनी, दिल्ली
4. संगीत के विभिन्न क्षेत्रों में बांसुरी, शवनम शर्मा, अध्याय–1
5. भारतीय सुषिर वाद्यों का इतिहास, डॉ राधेश्याम जायसवाल, पृ0 सं0 80
6. संगीत के विभिन्न क्षेत्रों में बांसुरी का महत्व, शवनम शर्मा, पृ0 सं0 1–5.
7. संगीत के विभिन्न क्षेत्रों में बांसुरी, शवनम शर्मा, अध्याय–1

,,,,

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता

पूनम देवी, डॉ प्रियंका**

सारांश : स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता केवल एक व्यक्तिगत अधिकार नहीं हैं, बल्कि ये सामाजिक परिवर्तन की आवष्यकता हैं। महिलाएँ यदि स्वतंत्र रूप से जीने की कोशिश करती हैं, तो समाज की मानसिकता और पारिवारिक ढाँचा उन्हें दबाने का प्रयास करते हैं। समाज और परिवार के भीतर महिलाओं के लिए निर्धारित भूमिकाएँ होती हैं और यदि वे इन भूमिकाओं से बाहर निकलने की कोशिश करती हैं तो उन्हें आलोचना और आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। पारंपरिक भारतीय परिवारों में महिलाएँ अपने सपनों और इच्छाओं को दबा कर रहती हैं। समाज और परिवार के अंदर महिलाओं के लिए जो परिभाषाएँ निर्धारित की जाती हैं, वे स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की राह में सबसे बड़ी बाधा होती हैं। एक महिला की वास्तविक स्वतंत्रता तब प्राप्त होती है, जब वह मानसिक रूप से स्वतंत्र हो और अपने जीवन के निर्णयों में पूरी तरह से सक्षम हो।

मुख्य शब्द : संघर्ष, स्वतंत्रता, आत्मनिर्भरता, चिंतनशील प्रतिक्रिया, महिला की भूमिका, समाज की मानसिकता, अधिकार, अस्तित्व, सम्मान।

प्रस्तावना

मैत्रेयी पुष्पा हिंदी साहित्य की प्रमुख लेखिकाओं में से एक हैं, जिनकी कृतियाँ न केवल महिला पात्रों के संघर्ष को प्रस्तुत करती हैं, बल्कि समाज के पारंपरिक ढाँचे और उसके भीतर महिला की भूमिका पर भी सवाल उठाती हैं। उनकी आत्मकथा ''दीवारों के बीच'' (1970) में स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है। यह आत्मकथा महिला के संघर्ष, उसकी पहचान, और समाज में उसके स्थान को लेकर एक गहरी और चिंतनशील प्रतिक्रिया प्रस्तुत करती है। मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी. कृतियों में स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के पहलुओं को उकेरा है और इस संदर्भ में उन्होंने समाज की मानसिकता, परिवार और रिश्तों को चुनौती दी है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा का परिचय

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा ''दीवारों के बीच'' एक व्यक्तिगत और सामाजिक दस्तावेज है, जो महिला के जीवन के संघर्ष, समाज में उसके स्थान और उसके अस्तित्व की समस्या पर आधारित है। यह आत्मकथा न केवल लेखिका के व्यक्तिगत जीवन की गाथा है, बल्कि यह उस समय के समाज की संरचना और मानसिकता पर भी प्रभावपूर्ण टिप्पणी करती है। इसमें उन्होंने महिला के अधिकारों, उसके अस्तित्व के संघर्ष और उसके आत्मनिर्भर होने के प्रयासों को प्रस्तुत किया है। ''दीवारों के बीच'' में मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी निजी जिंदगी के अनुभवों को बहुत ही ईमानदारी और खुलेपन के साथ साझा किया है। उन्होंने दिखाया है कि पारंपरिक भारतीय समाज में स्त्री को अपनी पहचान बनाने और स्वतंत्रता प्राप्त करने में किस प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह आत्मकथा स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की आवश्यकता को स्थापित करती है और साथ ही यह भी स्पष्ट करती है कि इसके लिए समाज की

शोधार्थी, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, साबरमती विश्वविद्यालय, अहमदाबाद
शोध निर्देशक, सह आचार्य,, हिन्दी विभाग, साबरमती विश्वविद्यालय, अहमदाबाद

मानसिकता में बदलाव आवश्यक है।

1. स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरताः परिचय

स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता केवल एक व्यक्तिगत अधिकार नहीं हैं, बल्कि ये सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता हैं। समाज में महिलाओं को बराबरी का स्थान देने, उनके अधिकारों का सम्मान करने और उन्हें अपने जीवन के निर्णय लेने की स्वतंत्रता देने की आवश्यकता है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में इस स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के विचारों को प्रमुखता से रखा गया है।

2. आत्मकथा में स्त्री के संघर्ष और समाज के दबाव

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि समाज की संरचना महिलाओं के खिलाफ है। महिलाएँ यदि स्वतंत्र रूप से जीने की कोशिश करती हैं, तो समाज की मानसिकता और पारिवारिक ढाँचा उन्हें दबाने का प्रयास करते हैं। समाज और परिवार के भीतर महिलाओं के लिए निर्धारित भूमिकाएँ होती हैं और यदि वे इन भूमिकाओं से बाहर निकलने की कोशिश करती हैं तो उन्हें आलोचना और आलोचनाओं का सामना करना पड़ता है। इस संदर्भ में वे कहती हैं कि ''जब भी एक महिला अपनी अस्मिता के लिए खड़ी होती है, उसे यह समझाना पड़ता है कि उसका अस्तित्व सिर्फ उसकी छवि तक सीमित नहीं है। वह कुछ और है, एक सोच है, एक विचार है, जो बिना किसी डर के अपने जीवन को खुद तय करना चाहती है।''1

यह उद्धरण इस बात की पुष्टि करता है कि मैत्रेयी पुष्पा के लिए स्त्री का आत्मनिर्भर होना समाज की मानसिकता को चुनौती देना है। महिला का संघर्ष केवल शारीरिक नहीं बल्कि मानसिक भी है, क्योंकि समाज उसे केवल एक 'निर्भर' और 'पृष्ठभूमि में रहनेवाले' पात्र के रूप में देखता है।

3. परिवार और स्त्री स्वतंत्रता

मैत्रेयी पुष्पा ने अपनी आत्मकथा में यह भी बताया है कि पारंपरिक भारतीय परिवारों में महिलाएँ अपने सपनों और इच्छाओं को दबा कर रहती हैं। समाज और परिवार के अंदर महिलाओं के लिए जो परिभाषाएँ निर्धारित की जाती हैं, वे स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता की राह में सबसे बड़ी बाधा होती हैं। ''परिवार और समाज के दबाव के बावजूद, मैंने अपनी स्वतंत्रता की ओर कदम बढ़ाया। यह आसान नहीं था, लेकिन मैं जानती थी कि यदि मुझे अपने जीवन का सही दिशा तय करनी है, तो मुझे खुद को पहचानने और स्वी.ति देने की आवश्यकता है।''2 मैत्रेयी पुष्पा ने परिवार और समाज के दबाव के बावजूद खुद की पहचान और स्वतंत्रता की दिशा में प्रयास किए। उन्होंने यह स्वीकार किया कि स्त्री की स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के लिए परिवार का समर्थन बहुत मायने रखता है, लेकिन इसके बावजूद महिला को अपने रास्ते खुद चुनने होंगे।

4. स्त्री स्वतंत्रता के लिए संघर्ष

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में स्त्री स्वतंत्रता के संघर्ष को प्रमुखता से प्रस्तुत किया गया है। लेखिका ने अपने जीवन में समाज के बंधनों से बाहर आने और आत्मनिर्भर बनने के लिए कई बार संघर्ष किया। उनका यह संघर्ष केवल एक व्यक्तिगत यात्रा नहीं है, बल्कि यह उन लाखों महिलाओं की कहानी है जो समाज में अपनी पहचान और स्वतंत्रता

के लिए संघर्ष करती हैं। वे अपनी आत्मकथा में स्वीकार करती हैं कि ''मुझे यह एहसास हुआ कि अगर मैं स्वतंत्रता चाहती हूँ, तो मुझे अपने भीतर से यह बंधन तोड़ने होंगे। मैंने खुद को समझा और अपने फैसलों को खुद ही लिया।''3 मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्री स्वतंत्रता के संघर्ष में एक आत्मनिर्भरता की ओर कदम बढ़ाया। उनका यह संघर्ष केवल एक व्यक्तिगत आवश्यकता नहीं था, बल्कि समाज में बदलाव की आवश्यकता का संकेत भी था।

5. आत्मनिर्भरता का आत्मसाक्षात्कार

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में आत्मनिर्भरता का जो चित्रण किया गया है, वह केवल आर्थिक या भौतिक .ष्टिकोण से नहीं है, बल्कि यह मानसिक और आत्मिक स्वतंत्रता से जुड़ा हुआ है। एक महिला की वास्तविक स्वतंत्रता तब प्राप्त होती है, जब वह मानसिक रूप से स्वतंत्र हो और अपने जीवन के निर्णयों में पूरी तरह से सक्षम हो। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखती हैं ''आत्मनिर्भरता केवल पैसे या वस्त्रों से नहीं मापी जाती। यह मानसिक रूप से अपने फैसलों को स्वीकार करने और अपने जीवन की दिशा खुद तय करने की क्षमता है।''4 यह उद्धरण इस बात को स्पष्ट करता है कि मैत्रेयी पुष्पा ने आत्मनिर्भरता को केवल भौतिक वस्तुओं तक सीमित नहीं किया, बल्कि इसे मानसिक और आत्मिक स्वतंत्रता के रूप में भी प्रस्तुत किया।

6. समाज में बदलाव और स्त्री का स्थान

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में यह स्पष्ट किया गया है कि समाज को बदलने के लिए महिलाओं को अपनी स्थिति, अधिकार, और स्वतंत्रता को पहचानने की आवश्यकता है। जब महिलाएँ खुद को पहचानेंगी और अपनी भूमिका को समझेंगी, तब ही वे समाज में समानता और आत्मनिर्भरता की दिशा में कदम बढ़ा सकेंगी। ''समाज तभी बदलेगा जब महिलाएँ अपनी स्वतंत्रता को पहचानने लगेंगी। यह बदलाव अंदर से शुरू होना चाहिए।''5 मैत्रेयी पुष्पा की ये पंक्तियाँ संकेत करती हैं कि स्त्री स्वतंत्रता केवल बाहरी दबाव से नहीं, बल्कि अंदर से आने वाली जागरूकता से संभव है।

निष्कर्ष

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा ''दीवारों के बीच'' में स्त्री स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता पर एक गहरी और स्पष्ट टिप्पणी की गई है। उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया स्त्री का संघर्ष केवल व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि यह समाज के सामने एक चुनौती भी है। उनका लेखन न केवल महिला के अधिकारों के संघर्ष को प्रस्तुत करता है, बल्कि यह समाज की मानसिकता और उसके ढाँचे पर भी सवाल उठाता है। उनकी आत्मकथा में हमें यह संदेश मिलता है कि स्त्री को अपनी स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के लिए खुद को पहचानना होगा और इसके लिए उसे समाज, परिवार और रिश्तों के बाहर अपने अस्तित्व को स्थापित करना होगा। मैत्रेयी पुष्पा की .तियाँ हमें यह सिखाती हैं कि बदलाव केवल व्यक्तिगत स्तर पर ही नहीं, बल्कि समाज के स्तर पर भी आवश्यक है।

संदर्भ

1. पुष्पा, मैत्रेयी, दीवारों के बीच, पृष्ठ संख्या 120, दिल्लीः साहित्य अकादमी, 1970
2. यादव, श्याम. ''स्त्री और समाजः समाजशास्त्र पर . दृष्टिकोण''. लखनऊः भारतीय पुस्तकालय, 2015.
3. वर्मा, सुमन. ''हिंदी साहित्य और स्त्री स्वतंत्रता''. जयपुरः साहित्य बोध प्रकाशन, 2010.
4. शर्मा, रमेश. ''स्त्री और आत्मनिर्भरता''. दिल्लीः महिला पुस्तकालय, 2008.
5. झा, विनोद. ''स्त्री मुक्ति और समाज''. पटनाः भारतीय समाजशास्त्र परिषद, 2006

स्वतंत्रत भारत के अग्रणी आधुनिक दृश्य चित्रकारों पर एक अध्ययन

अनिता यादव, डॉ आई. यू. खान*

शोध सार: स्वतंत्रता पूर्व जामिनी रॉय, नंदलाल बोस और अमृता शेर–गिल जैसे महान कलाकारों द्वारा उन विषयों और चित्रकला शैलियों की खोज की जाने लगी जो उस समय की सांस्कृतिक और राजनीतिक परिस्थितियों के अनुकूल थे। लेकिन आजादी के बाद कई कलाकारों द्वारा इस सांस्कृतिक विशिष्ट आधुनिकता का पालन नहीं किया गया। एक धारणा पैदा हुई कि किसी कलाकृति को आधुनिक कहलाने के लिए उसमें सार्वभौमिकता होनी चाहिए और उसे वर्तमान समय के प्रति संवेदनशील होना चाहिए। कलाकारों के सामने यूरोपीय प्रभाव को अपनाने और साथ ही भारतीय कला के स्वदेशी तत्वों को पीछे न छोड़ने की चुनौती थी। वे राष्ट्रीय और स्थानीय भावुकता से उभरे और अपनी कलाकृतियों में धर्मनिरपेक्षता को अपनाने लगे। यह आलेख उन अग्रणी कलाकारों पर ध्यान प्रस्तुत करने का प्रयास करता है जिन्होंने आधुनिकतावाद को नई परिभाषाएँ दीं। इनमें एम.एफ. हुसैन और एफ.एन. सूजा जैसे अभिव्यक्तिवादी, के.जी. सुब्रमण्यन, तैयब मेहता और राम कुमार जैसे व्यक्तिपरक कल्पनावादी एवं एस.एच. रजा, बीरेन डे और जी.आर. संतोष जैसे अमूर्तवादी कलाकार शामिल थे।

बीज शब्दः आधुनिकतावाद, अग्रणी कलाकार, स्वदेशी तत्व, भारतीय कला, यूरोपीय प्रभाव, अभिव्यक्तिवादी, सर्वभौमिकता, संवेदनशील कलाकार, कल्पना वादी, अमूर्तवादी।

शोध प्रविधिः ललित कला अकादमी–नई दिल्ली, राष्ट्रीय आधुनिक कला संग्रहालय–नई दिल्ली, विभिन्न प्रतिष्ठित पत्रिकाओं, वेबसाइट लिंक, पुस्तकों और समीक्षाओं से द्वितीयक डेटा स्रोत एकत्र किए गए हैं। डेटा स्रोतों का विश्लेषण करने के लिए वर्णनात्मक पद्धति का उपयोग किया गया है। कलाकार और उसके आधुनिक कला में योगदान जैसे कारकों को व्यवस्थित करके जानकारी का पृथक्करण किया गया है। आधुनिक भारतीय कला की समझ और भारतीय कलाकारों के कार्यों में शामिल पश्चिमी प्रभावों का परीक्षण करने के लिए अवलोकन पद्धति का उपयोग किया गया है।

प्रस्तावना

जामिनी रॉय, एन.एल. बोस और अमृता शेरगिल जैसे स्वतंत्रता पूर्व कलाकारों के बारे में जाने बिना कोई आधुनिकता के परिसर में प्रवेश नहीं कर सकता। उनकी कलाकृतियों के बीच विरोधाभास और समानताएं एक लय बनाती हैं जो आधुनिकता की ओर बढ़ते कदम को प्रदर्शित करती हैं। लेकिन अधिकांश कलाकारों द्वारा इस सांस्कृतिक विशिष्ट आधुनिकता का पालन नहीं किया जा रहा था क्योंकि वे स्वतंत्रता के बाद राष्ट्रीय और स्थानीय भावुकता से उभरे थे।1 1941 वह समय था जो अपनी अस्पष्टता और प्रतिबंधों के लिए जाना जाता था। 1947 से 1964 तक तीव्र औद्योगीकरण और विकास की अवधि के दौरान सांप्रदायिक तनाव, गरीबी, महिलाओं और राजनीति से संबंधित मुद्दों को कलाकारों द्वारा दर्शाया गया था। मार्क्सवाद लहर के प्रभाव में, इस चरण के दौरान आम लोगों की दुर्दशा को कैनवास पर लाया गया। हिंसा के दुखों के साथ धार्मिक तनाव एक प्रमुख विषय था जो कलाकारों की सामाजिक प्रतिक्रिया को उत्तेजित करने और एकता एवं धर्मनिरपेक्ष मानवता के तत्वों को लाने के लिए उत्तेजित करता था। समाज में महिलाओं की स्थिति के पुर्नमूल्यांकन जैसे मुद्दे भी सामने आए। पीछे मुड़कर देखने पर ऐसा लगता है कि 1950 का दशक एक

शोधार्थी – चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
शोध निर्देशक –राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

परिवर्तन चरण बना रहा, जिसमें कलाकार एक नई दृश्य भाषा की तलाश में थे।[2]

अध्ययन का उद्देश्य

उन कलाकारों के योगदान का अध्ययन करना, जिन्होंने अपनी रचनात्मक गतिविधियों के लिए संघर्ष किया और भारतीय कला की आधुनिकता को उचित परिभाषा प्रदान करते हुए पथ प्रदर्शक बने।

स्वतंत्रता के बाद के माहौल में व्याप्त स्थितियां और इस से प्रभावित कलाकारों पर चर्चा करना।

आधुनिकतावादी दृष्टिकोण और पारंपरिक शैली

आजादी से पहले भारत में सांस्कृतिक और राजनीतिक वास्तविकताओं को कुछ कलाकारों ने अपने काम और सार्थक संवादों के माध्यम से स्थापित किया। संस्कृति को चरित्र और पहचान, कल्पना में रचनात्मकता द्वारा प्रदान की जा सकती है जैसा कि रबनिंद्रनाथ टैगोर के कार्यों में स्पष्ट हुआ, जहां कल्पना के माध्यम से विषय के अंतर्निहित चरित्र को सजीवता में लाया गया।[3] विभिन्न समूहों के बीच संवाद लाने वाली कथात्मकता को 'अरेबियन नाइट्स' जैसे कार्यों में प्रमुखता मिली। नई उभरती आधुनिक भारतीय कला के क्षेत्र में बहुस्तरीय वर्णन प्रस्तुत करते हुए, इन्होंने अपनी कलाकृतियों में सुलेखन को भी अंकित किया। एन.एल. बोस की कला के प्रति उपकारिता यह थी कि उन्होंने आधुनिकतावादी दृष्टिकोण के साथ पारंपरिक शैली का अभ्यास किया और स्थानीय वास्तविकताओं में जगह बनाई। एक राष्ट्रवादी होने के नाते, वे पारंपरिक शैली के पक्षधर थे और साथ ही वे अपने आस–पास के प्राकृतिक सामाजिक वातावरण के प्रति भी ग्रहणशील थे। एन.एल. बोस द्वारा हरिपुरा पैनल में रोजमर्रा की जिंदगी का जीवंत संदर्भ दिया गया। बोस ने महात्मा गांधी के आदेश पर इन्हें बनाया, जिन्होंने उन्हें 1938 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के हरिपुरा सत्र के लिए कलाकृति बनाने के लिए कहा था। एन.एल. बोस ने कलाकार की वैयक्तिकता को एक महत्वपूर्ण तत्व माना और कहा कि भाषा और संचार अक्सर आश्चर्यजनक रूप से व्यावहारिक होते हैं। भारत की लोक कला की आदिम पुनर्कल्पना पर आधारित जामिनी रॉय की नवपरिकल्पनात्मकता ने वैश्विक और स्थानीय के बीच शक्तिशाली मध्यस्थता की। उनकी कल्पनाओं ने राष्ट्रवादी मध्यम वर्ग को नए प्रतीक प्रदान किए। अमृता शेरगिल ने राजा रवि वर्मा की तरह ही भारतीय जीवन की व्याख्या करने के लिए यूरोपीय कला के यथार्थवाद का इस्तेमाल किया। शेर–गिल ने भारतीय ग्रामीणों के जीवन को करीब से देखा और इस तरह प्रस्तुत किया जिसे आधुनिक और प्राच्य कला दोनों माना जा सकता है। उन्होंने एक बार अपने माता–पिता को लिखा था कि आधुनिक कला ने उन्हें भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की समझ प्रदान की है। इसने अंतरराष्ट्रीय स्तर पर एक अंतर सांस्कृतिक दृश्य शब्दावली की नींव रखी। उन्होंने पश्चिमी आधुनिकतावाद के साथ जुड़ाव के माध्यम से एक व्यक्तिगत कलात्मक शैली के लिए प्रयास किया और भविष्य की पीढ़ियों, विशेष रूप से बॉम्बे प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप (पैग) के लिए एक आदर्श बन गईं।[4]

स्वतंत्रता पश्चात आकृतियों का शैलीकरण

श्प्रोग्रेसिवश, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'आगे बढ़ना', यह प्रोग्रेसिव आर्ट ग्रुप का घोषणापत्र था जिसे 1947 में प्रमुख कलाकार एफ.एन. सूजा ने बनाया था। इस घोषणापत्र ने स्वतंत्र भारत में कलाकारों की पहली पीढ़ी को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर खुद को स्थापित करने में मदद की। इसके कई सदस्यों ने आधुनिकतावादी विचारों और महानगरीय संस्कृति की वकालत करते हुए प्रशिक्षण के लिए पेरिस की यात्रा की। समूह ने आधुनिकता का जो रूप अपनाया वह अकादमिक यथार्थवाद और चित्रांकन के खिलाफ था और प्रकृतिवाद की प्रभाववादी शैली का पक्षधर था।[5] बंगाल स्कूल ऑफ आर्टिस्ट द्वारा स्थापित

पुनरुत्थानवादी राष्ट्रवाद से विरोधाभास रखते हुए, 'पैग' समूह ने स्वतंत्रता के तुरंत बाद भारतीय वास्तविकता का वर्णन करने वाले एक नए रूप और व्यक्तिगत शैली की तलाश में राष्ट्र के आधुनिक दृष्टिकोण का अपनी कलाकृतियों द्वारा प्रतिनिधित्व किया। सीमित व चयनित विदेशी प्रभाव के प्रयोग ने आध्यात्मिक मूल के साथ देशी प्रथाओं की अभिव्यक्ति के लिए जगह छोड़ दी। 1946 में मुल्क राज आनंद द्वारा शुरू की गई पत्रिका 'मार्ग' ने भारत में आधुनिक कला की निरंतर प्रगति को प्रकाशित किया। भारतीय संग्रहकर्ताओं की तुलना में प्रोग्रेसिव को यूरोपीय संरक्षण से भारी प्रतिक्रिया मिली।

कला की एक आधुनिकतावादी सार्वभौमिक भाषा का अनुसरण एफ.एन. सूजा और एम.एफ. हुसैन के चित्रों में भी किया जा रहा था। उन्होंने वैश्विक दृश्य शब्दावली का अनुसरण करते हुए स्वदेशी तत्वों को बुना, जिसने स्थानीय और सार्वभौमिक के बीच की खाई को पाटने का काम किया। एफ.एन. सूजा की अभिव्यक्तिवादी कला उनके खुद में गहन विकासवादी विश्वास पर आधारित थी। यह धार्मिक मूल्यों की घुटन भरी प्रकृति और कामुकता के खिलाफ इसके निषेध (चित्र संख्या–1) पर केंद्रित थी। रचनात्मकता के प्रति अपने जुनून के माध्यम से, उन्होंने अपनी आक्रामकता और तनाव को अपनी कलाकृति में उंडेला।6 उन्होंने अपनी पेंटिंग में अभिव्यक्तिवादी और साथ ही फाववादी रंग का उपयोग शामिल किया, लेकिन उनका मानना था कि एक भारतीय होने के नाते उन्हें रंग की समझ विरासत में मिली है। विरूपण की चरम सीमा, फ्रांसिस बेकन के प्रति उनकी प्रशंसा को प्रकट करती है।[7] सूजा ने उभरते हुए पैग समूह के सदस्य के रूप में एम. एफ. हुसैन को भारतीय समकालीन कला से परिचित कराया। रेखा के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण के साथ, हुसैन की शैली गुप्त मूर्तिकला की आकृतियों और पहाड़ी चित्रों के सुनहरे रंगों से बहुत प्रभावित थी। अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनियों की यात्रा के दौरान, बीजिंग के चित्रकार जू बिहॉन्ग के घोड़ों के चित्रों ने कलाकार को चकित कर दिया और इन्हें अपनी खुद की विशिष्ट शैली में घोड़ों को चित्रित करने के लिए प्रेरित किया। 1971 में हुसैन को विश्व स्तर पर बहुत जल्दी पहचान श्साओ पाउलो बिनालेश में मिली जहां उन्होंने पिकासो के साथ कलाकृति का प्रदर्शन किया। उन्होंने भारतीय लोक संस्कृति के साथ अपनी पौराणिक शैली में भारतीय देवताओं, महाभारत और रामायण के प्रसंगों का चित्रण किया, उन्होंने अपनी कला के लिए नए मंच तलाशे और किसी अन्य कलाकार की तरह विविधतापूर्ण एकता को व्यक्त किया।[8] अपनी कलाकृति 'जमीन' में (जिसने पहला ललित कला राष्ट्रीय पुरस्कार जीता) इन्होंने ग्रामीण जीवन की कहानियाँ बताने के लिए जैन लघुचित्रों के अनुभागीय विचारों का उपयोग किया (चित्र संख्या–2)। वह इस दुनिया में मौजूद किसी भी चीज से संबंध बनाने और उसे जोड़ने की आकांक्षा रखते हुए वस्तुओं का स्वरूप बनाते थे। कलाकृति 'पिंजरा' (1974) में सीमित स्थान को प्रतीकात्मक रूप से एक सीमित क्षेत्र के रूप में दिखाया गया जिसमें भारतीय महिलाएँ रहती थीं और जो नारीत्व की एक सार्वभौमिक भाषा की खोज करती है।[9]

आधुनिकतावाद से प्रभावित प्रतिबिंब

यूरो अमेरिकी आधुनिकतावाद से प्रभावित होकर इन कलाकारों ने स्वतंत्रता पश्चात राष्ट्रीय पहचान बनाने की खोज के तात्कालिक दबावों से भी समझौता किया। के. जी. सुब्रमण्यन का अपनी सांस्कृतिक पहचान के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण 1960 के दशक की शुरुआत में सामने आया। स्वतंत्रता के बाद के युग में होने के कारण, सुब्रमण्यन पश्चिमी प्रभाव के प्रति अधिक ग्रहणशील थे और विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं में एक दूसरे से मिलने और विविध संवेदनाओं की कला शब्दावली बनाने में विश्वास करते थे।10 उन्होंने कपड़ों के साथ काम किया, बच्चों की किताबें लिखीं, भित्ति चित्र बनाए और खिलौने भी बनाए। इसके बाद प्रत्येक माध्यम में काम करने से उनकी

रचनात्मकता और शिल्प परंपराओं की समझ बढ़ी। उनके लिए उनका परिवेश उतना ही महत्वपूर्ण था जितना कि दुनिया की सांस्कृतिक परंपराओं का प्रभाव। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इन्होंने दृश्य संस्कृति के अपने सिद्धांत में संचार और बहुलता पर जोर दिया। उनकी कुछ पेंटिंग धर्मनिरपेक्षता और पवित्रता के विचारों को एक साथ दर्शाती हैं, जिसे उन्होंने समग्र रूप से भारतीय संस्कृति की विशेषता माना। "मेरे काम हमेशा वास्तविक और काल्पनिक के बीच आगे बढ़ने की कोशिश करते हैं।[11] यह उनकी कलाकृति श्फेसिंग द बीस्ट' में देखा जा सकता है, जहाँ देवी दुर्गा की छवि रोजमर्रा की जिंदगी में पौराणिक कथाओं की उपस्थिति से जुड़ी हुई है (चित्र संख्या–3)। यह अपनी पवित्रता के अलावा धर्मनिरपेक्षता के अनूठे रूप को भी दर्शाता है।[12]

शहरी मध्यम वर्ग की दुर्दशा ने अपने शुरुआती दिनों में महान कलाकार रामकुमार का ध्यान आकर्षित किया। उन्होंने बेरोजगार वर्ग के संघर्ष को चित्रित किया, जिनके पास शहरी क्षेत्रों में अवसरों की कमी थी। बाद में वाराणसी की एक श्रृंखला चित्रित करते हुए भी उन्हें उतनी ही वेदना महसूस हुई जब उन्होंने वहां शाश्वत पवित्र स्थान और शहरीपन की अराजकता के अभिसरण की खोज की (चित्र संख्या–4)। यहां एक टूटा–फूटा घर एक टूटे हुए इंसानी चेहरे की जगह ले लेता है। वह अपनी कलाकृतियों में बीते हुए समय पर ध्यान साधते और अपने प्रतिबिंबों को शब्दों से बिल्कुल अलग भाषा में लिखने पर ध्यान केंद्रित करते थे। आलंकारिक चित्रों से परिदृश्य और शहरी दृश्यों की ओर कदम जानबूझकर उठाया गया था क्योंकि उनका मानना था कि आकृतियाँ किसी कलाकृति के संरचनागत तत्वों से ध्यान हटाती हैं।

तैयब मेहता की आकृतियाँ 1947 में विभाजन के परिणामस्वरूप हुई सांप्रदायिक हिंसा की प्रतिक्रिया में थीं, जिसने उनकी अंतरात्मा को झकझोर दिया था।[13] लंदन और न्यूयॉर्क में 1969 में रहने के बाद, विकर्ण उनका एक प्राथमिक संरचना तत्व होने के साथ एक प्रभावशाली उपकरण भी बन गया, जो प्रतीकात्मक रूप से विभाजन और परिणामस्वरूप धार्मिक एकीकरण का प्रतिनिधित्व करता था (चित्र संख्या–5)। मानवता की सीमा और लाचारी का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतीक एवं एक ही सपाट सतह पर मोटे रंगों के खंडित और अतिव्यापी शरीर के अंग, 1970 के दशक के दौरान मेहता के चित्रों की एक नियमित विशेषता बन गए। 'महिषासुरमर्दिनी' और 'काली' में अमूर्त महिला रूपों को हल्के संकेतों द्वारा पेश किया जो बढ़ते हुए नारीत्व की एक समान आधुनिकतावादी दृष्टिकोण को दर्शाते हैं।[14]

नवतांत्रिक दृश्य शब्दावली

रहस्यमय भारतीय जंगलों की बचपन की यादों ने एस. एच. रजा को परिदृश्यों की ओर आकर्षित किया, जो स्वतंत्रता के बाद के कलाकारों के बीच एक दुर्लभ विषय था। बॉम्बे आर्ट स्कूल के एक अन्य उत्पाद रजा ने लैंगहैमर और रूडी वॉन लेडेन के माध्यम से जर्मन अभिव्यक्तिवाद की खोज की। 1956 में, पेरिस जाने के कुछ वर्षों बाद वह शप्रिक्स डे लाश क्रिटिक पुरस्कार जीतने वाले पहले एशियाई कलाकार बने। रजा 1990 के दशक में प्राचीन भारतीय उपनिषद दर्शन और तांत्रिक पंथ से प्रेरित चित्रों की ओर बढ़े।[15] एम.एस. यूनिवर्सिटी ऑफ बड़ौदा (1951), विविध विषयों के व्यापक पाठ्यक्रम के साथ, कला के लिए एक अग्रणी संस्थान के रूप में उभरा।[16] 1956 का बड़ौदा समूह अमूर्तता के साथ प्रयोग करने की विचारधारा के साथ आया था, हालांकि अमूर्तता को अपनाना पश्चिमी यथार्थवाद की प्रतिक्रिया नहीं थी क्योंकि यह हमेशा से ही पारंपरिक भारतीय चित्रकला में मौजूद था।[17]

1960 के दौरान एक नए दौर की शुरुआत करते हुए बिरेन डे ने खुद को नव तांत्रिक कल्पना से जोड़ा और उनके कैनवास ने दर्शकों की ओर ऊर्जा बिखेरी (चित्र

संख्या–6)। इन्होंने खुद को प्रतिनिधित्वात्मक कल्पना से अलग कर लिया और अमूर्तता की ओर मुड़ गए जो मानव उत्पादक ऊर्जा को प्रकट करती है। इन्होंने इसे आध्यात्मिकता से जोड़ा जो नव तांत्रिक दर्शन का मौलिक विचार था और जो भागों और संपूर्ण के बीच सौंदर्यपूर्ण संबंध विकसित करता है। अपनी आवश्यक ज्यामिति के बावजूद आकृतियाँ किसी तरह मानवीय हैं और समकालीन पश्चिमी कला के कठोर अवैयक्तिक कथनों की तुलना में अधिक संतोषजनक हैं। जी.आर. संतोष की तंत्र की कल्पना, शिव और शक्ति की पुरुष और महिला शक्तियों पर आधारित थी। केंद्रीय अक्ष के साथ समरूपता में अंडाकार और लिंग रूप उनकी दृश्य शब्दावली में दृढ़ता से स्पष्ट थे। बाद में उन्होंने कश्मीरी शैववाद को भी अपनाया जो ज्ञान और आत्मज्ञान की प्राप्ति पर जोर देता था। पृष्ठभूमि और रूप कहीं न कहीं एक दूसरे के साथ विलीन हो गए जो एकता को दर्शाते हैं। कलाकृतियों की उनकी विरासत बौद्ध धर्म, हिंदू धर्म और इस्लामी सूफी से जुड़ी विविध सांस्कृतिक परंपराओं के समामेलन के साथ उभरी, जिसने उन्हें एक धर्मनिरपेक्ष आधुनिकतावादी कला व्यवसायी बना दिया।

निष्कर्ष रू स्वतंत्रता के बाद इन अग्रणी कलाकारों द्वारा भारत की आधुनिकतावादी कला प्रवृत्ति में महत्वपूर्ण बदलाव लाया गया। वैश्विक स्तर पर नए कलात्मक रुझान और एक अंतरराष्ट्रीय बाजार का निर्माण हुआ। उस समय भारतीय कलाकारों के लिए अपनी स्वदेशी जड़ों को साथ लेकर चलना, विविध पारंपरिक तत्वों को फिर से संगठित करने और भावों को तैयार करने में योगदान देना आसान नहीं था। कला अभ्यास में एक व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के साथ आगे बढ़ना और सांस्कृतिक मतभेदों को अलग रखना, उनके सामने चुनौतियां पेश करता था। तमाम बाधाओं के बावजूद, नए युग के कलाकारों को पश्चिमी प्रभाव और अपने मूल स्वदेशी प्रभावों, दोनों को समान रूप से प्रयोग करने की स्वतंत्रता थी, जिस से उनकी अपनी एक स्वतंत्र शैली बनी। ये कलाकार न केवल भारतीय कला के लिए बल्कि दुनिया भर में आधुनिकतावाद के लिए स्थानीय और सार्वभौमिक के बीच की खाई को पाटने वाले पथप्रदर्शक थे। इन्होने नई दृश्य भाषा गड़ी जो भारतीय और आधुनिक दोनों ही दृष्टियों से उल्लेखनीय हैं। उनकी विरासत सदैव भविष्य की पीढ़ी के कलाकारों को प्रेरित करती रहती है।

सन्दर्भ

1. गीता कपूर, व्हेन वाज मॉडर्निज़्मरू एसेज ओन कंटेंपरेरी आर्ट प्रैक्टिसस ऑफ इंडिया, तुलिका बुक्स, 2002, पृष्ठ सं.298
2. प्राण नाथ मागो, कंटेंपरेरी आर्ट इन इंडियाः ए पर्सपेक्टिव, नेशनल बुक ट्रस्ट, 2012, पृष्ठ सं. 81
3. यशोधरा डालमिया, कंटेंपरेरी इंडियन ऑदर रियलिटी, मार्ग पब्लिकेशंस, 2002, पृष्ठ सं.74–76
4. https://criticalcollective-in/CC_ArchiveInner2-aspx\Aid¾245&Eid¾860#Essay_Title245
5. निवेली तुली, द फ्लेम्ड–मोजैक, इंडियन कंटेंपरेरी पेंटिंग, मैपिन पब्लिशिंग प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ सं.202–210
6. मीनाक्षी कासलीवाल, ललित कला के आधारभूत सिद्धांत, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2013, पृष्ठ सं.44
7. पी. रतन, एस. संदीप, हिस्टॉरिकल डेवलपमेंट ऑफ कंटेंपरेरी इंडियन 1880–1947, थॉमस प्रेस इंडिया लिमिटेड, नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं.489–491
8. रीता प्रताप, भारतीय चित्रकला एवं मूर्ति कला का इतिहास, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, 2017, पृष्ठ सं.376
9. सोनल खुल्लर, वर्ल्डली एफीलिएशंस आर्टिस्टिक प्रैक्टिस नेशनल आइडेंटिटी मॉडर्नाइज्म इन इंडिया 1930 – 1990, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, 2015, पृष्ठ सं.90
10. निवेली तुली, द फ्लेम्ड–मोजैक, इंडियन कंटेंपरेरी पेंटिंग, मैपिन पब्लिशिंग प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ सं.232
11. https://www-saffronart-com/auctions/postwork-aspx\l¾35767

12. कारिन जिट्जेविट्ज, द सेक्युलर आइकॉन, विजुअल एंथ्रोपोलॉजी रिव्यू, खंड 24, संख्या 1, 2008, पृष्ठ सं.12–28

13. पीबॉडी एसेक्स म्यूजियम हरविट्स कलेक्शन, मिडनाइट टू बूम, थेम्स एंड हडसन, 2013, पृष्ठ सं.82

14. https://issuu-com/umeshgaur/docs/india_contemporary_art_from_northea

15- jhrk çrki, Hkkjrh; fp=dyk ,oa ewfrZdyk dk bfrgkl] jktLFkku fganh xzaFk vdkneh] 2017, पृष्ठ सं.383

16- ehukkh dklyhoky, yfyr dyk ds vk/kkjHkwr fl)kar, jktLFkku fganh xzaFk vdkneh] 2013] पृष्ठ सं.47

17. fexkj vkfn, 20th lsapqjh bafM;u vkVZ] n vkVZ vykbo QkmaMs'ku, bafM;k, 2022, पृष्ठ सं. 274

भारतीय संस्कृति में लोकगीतों की प्रासंगिकता

डॉ0 जितेन्द्र सिंह*

लोक से तात्पर्य लोक व्याप्त जन मानस की समस्त व्यवहारिक एवं कलात्मक गतिविधियां, जो परम्परानुमोदित तथा संस्कारनिष्ठ हैं।

लोक संस्कृति को सदैव परम्परा से जोड़कर देखते हुए आनन्द के कुमार स्वामी ने 1936 ई0 में अपने एक प्रसिद्ध लेख ''द नेचर ऑफ फोकलोर एण्ड पापुलर आर्ट'' में स्पष्ट किया है– सभी पारम्परिक कलाएँ लोक कलाएँ हैं, क्योंकि यह सर्वसम्मति एवं निर्विवादित जन की रचना हैं।

लोकगीत विभिन्न भूखण्डों पर फैले हुए अपने धर्म, विश्वास और परम्पराओं पर आश्रित मानव मन के वे भाव–चित्र हैं, जिनमें कृतिमता का आभाव एवं भोली–भाली जनता के हृदय के सहज उद्‌गार हैं। इनका सम्बन्ध मस्तिष्क से न होकर हृदय से होता है। ये तर्क से परे भावनाओं पर आश्रित होते हैं। ये न छन्दशास्त्रों के नियमों से बंधे है न अलंकारों के बोझ से दबे हैं। ये युगों–युगों से मुक्त मानव कण्ठों से मुखरित होते आ रहे हैं।

लोकगीत की परिभाषा

मानव हृदय का भाव विलास अपनी उत्कृष्ट स्थिति में लयात्मक आरोह–अवरोह में जब भाषाबद्ध होकर प्रवाहित होने लगा, तब शब्दशास्त्रियों ने उसे गीत कहा। इस गीत परम्परा की एक धारा जब अपनी देशज बोली में लोकवाणी को प्रवाहित करने लगी तो उसे लोकगीत के नाम से ज्ञापित किया गया। लोकगीत को अंग्रेजी के शब्द 'फॉक सांग' का पर्याय माना गया है। यह जहाँ तक लोकगीत की परिभाषा का प्रश्न है हम कह सकते हैं कि लोक में प्रचलित, लोक द्वारा रचित एवं लोक के लिखे गये गीतों को लोकगीत कहते हैं। इसका रचनाकार अपने व्यक्तित्व के लोक में समर्पित कर देता है।

लोक जीवन में लोकगीतों की एक निरन्तर धारा आदि–अनादि काल से चली आ रही है। मेरे विचार से ये लोकगीत मानव हृदय की प्रकृत भावनाओं की तन्मयता की तीव्रतम अवस्था की गति है, जो स्वर और ताल को प्रधानता न देकर लय व धुन को प्रधानता देती हैं।

लोकगीतों में लोकमानस के सुख–दुःख, करूणा एवं मुस्कान अपने स्वाभाविक रीति से मुखरित होते हैं। इन गीतों की प्रेरणा समाज का कोई विशेष वर्ग नहीं, अपितु लोकमानस का उल्लास और उसकी पीड़ा है, किन्तु तथ्य की एकरूपता सर्वत्र है। इनके प्रचार–प्रसार का एकमात्र कारण इनकी सरलता और तरलता है।

इस प्रकार लोकगीत लोकमानस के हृदय से निकली वह रागात्मक अभिव्यक्ति है जो स्वतः प्रस्तुत होती है। निजता की भावना से भरी होने के बावजूद भी यह लोकमानस की भावनाओं की संवाहक बन संस्कृति की विकसित परम्परा को आगे बढ़ाती है।

लोकगीतों की विशेषताएँ

स्वाभाविकता और सरलता लोकगीतों की प्रमुख विशेषता होती है। इसलिए काव्य शास्त्र के कृत्रिम नियमों के बन्धनों के लिए उसमें कोई स्थान नहीं होता, अतः शास्त्रीय नियमों के उल्लंघन की अनिवार्यता भी

पूर्व शोध छात्र ,काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी

लोकगीतों का आवश्यक लक्षण माना गया है। लोक कवि कोई भी बात कहने के लिए स्वतंत्र हैं। उसे आधुनिक सभ्यता और कृत्रिमता के बन्धन जकड़ नहीं पाते। गाँव में प्रकृति स्वयंगान करती है, पर नगर के स्वनिर्मित सभ्यता से बंधे हुए कवि की दशा व्यभिचारी और चोर सी हो गई है।

ये गीत सहज हैं इसलिए इनमें किसी प्रकार की कृत्रिमता को स्थान नहीं मिला है। जीवन के अनुभवों से ये प्रेरित है। अतः इनमें अनुभव की सच्चाई और सादगी देखी जा सकती है और जिस हृदय में ये गीत जन्म लेते हैं उस हृदय में कीर्ति या यश की चाह भी नहीं होती। गीत रचना में उसका कोई खास उद्देश्य नहीं होता, कोई विशिष्ट दृष्टि भी नहीं होती। वह तो स्वान्तः सुखाय के लिए गाता है। इसलिए वह उस गीत में कहीं अपना नाम नहीं लेता। वह अज्ञात है और रचना चाहता है। जिस प्रकार वेद अपौरूषेय होते हैं उसी तरह ग्राम गीत भी अपौरुषेय होते हैं, पर जो कुछ वह गाता है उसकी ही अनुभूति होती है। वह मानव मन की अनुभूति ही है, जो समान परिस्थितियों में समान रूप से उठा करती हैं और मानवीय संवेदना को झंकृत करती है। इसलिए वह शाश्वत है, देश–काल की सीमाओं से परे है। यही कारण है कि वह एक की रचना होकर भी सबकी होती है और काल विशेष में रचित होकर भी सर्वकालिक होती है। वह व्यक्तिगत न होकर लोक भी है, जनता की शाश्वत सम्पत्ति, किन्तु हम उस एक को भुला नहीं सकते, क्योंकि वह व्यक्ति चिरन्तन व्यक्ति है उसको अपने व्यक्तित्व को समष्टि में विलीन कर दिया है। लोक–गाथा एक सामाजिक संस्था है, जिसकी अन्तरात्मा में व्यक्ति बैठा हुआ है, उसकी अवहेलना हम कदापि नहीं कर सकते।

लोकगीतों का संसार सत्य का संसार है। लोकगायकों के अनुभवों का स्वाभाविक चित्रण वहाँ है। जटिलता, दुरूहता और गोपनीयता का लोकगीतों में नितान्त अभाव है। हृदय में उत्पन्न होने वाले राग–विराग सीधे–सच्चे भावों का सीधा एवं निश्छल प्रकटीकरण लोकगीतों की सबसे बड़ी विशेषता है। कृत्रिम साज–सज्जा से परे स्वाभाविक उक्तियों का सौन्दर्य वहाँ परिलक्षित होता है। लोकगीतों की उस विशाल और व्यापक सौन्दर्य राशि के समक्ष संसार की सम्पूर्ण कृत्रिमता तुच्छ है।

लोकगीत के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के अपने–अपने मत इस प्रकार से हैं–

- पं0 ओंकार नाथ ठाकुर– ''देशी संगीत की पृष्ठभूमि ही लोकसंगीत है।''
- महात्मा गांधी– ''लोकसंगीत को बराबर जगत गाता है और नृत्य करता है।''
- डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद– ''आधुनिक जीवन को सुन्दर, समृद्ध व सम्पन्न बनाने के लिए लोक संगीत सहायक सिद्ध होगा।''
- रविन्द्र नाथ टैगोर– ''संस्कृति का सुखद संदेश ले जाने वाली कला है लोकसंगीत।''

वैसे देखा जाए तो लोकगीतों की रचना पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने अधिक की है, जिसके कारण हैं– एक तो प्रकृति–प्रदत्त कोमल व सूक्ष्म भावनाओं का घर ही नारी है, दूसरे उसकी सामाजिक स्थिति पुरुषों से अलग है। इन गीतों की मनोभूमि में पुरुषों की दो भावनाएँ देखी जा सकती हैं। एक लौकिक सुख की, दूसरी पारलौकिक सुख की। पुरुषों को हमेशा से ही सुख पाने की अकांक्षा रही है और उसे अपने पुरुषार्थ, बुद्धि बल का गर्व भी रहता है एवं अपनी बुद्धि व अहं भावना के गर्व से सीधे स्वर्ग की कल्पना करता है। सुख तो नारी भी चाहती है। किन्तु स्वरूप भिन्न है। वह सबको सुख पहुँचाते–पहुँचाते ही सुखी हो लेती है। जो उसका ध्येय है, वहीं उसका प्रेय व उपलब्धि है। माता–पिता, भाई–बहन के सम्बन्ध को लेकर उसके वात्सल्य उसकी ममता और

उसकी सुखप्रद आकांक्षाओं के गीत वह गाती है।

अतः वैवाहिक गीतों में एक ओर मंगल भावना और सुखकामना के तो दूसरी ओर माँ–बाप को छोड़ने के हुए वियोग के करूण चित्र भी मिलते हैं। विवाह के बाद उसके जीवन में एक नया मोड़ आता है, दाम्पत्य जीवन जनित श्रृंगार–सुख, वियोग ईर्ष्या–द्वेष, राग–विराग अनुराग के अनेक अवसर पर जीवन में आते हैं। नारी इन सबके बीच लोक–कल्याण और लोक–मंगल भावना लेकर चलती है। वह कितनी भी प्रताड़ित और त्रस्त हो जाये अपने पति–पुत्र परिवार की मंगल कामना करेगी। एक विचित्र मनोबल और शिवत्व उसमें आ जाता है। यह नहीं कि चिन्ता, नैराम्य, दैन्य, सपत्नी द्वेष अथवा पारिवारिक कलह और विग्रह की कहानियाँ सुनने–देखने में न आती हो नही। वे भी आती है और वे भी गीतों में जीवित हैं पर वे अपवाद स्वरूप अधिक है। मूल रूप उसका शिव का ही है। नारी मानस का सम्पूर्ण भाव लोक इन गीतों में साकार हो जाता है।

●लोकगीतों में लौकिक सभ्यता, संस्कृति, लौकिक रीति–रिवाज एवं परम्पराओं का प्रतिबिम्ब झलकता है। इसलिए लोक में व्याप्त इन गीतों को युग का दर्पण कहा जाता है। इन गीतों का नाश, युग संस्कृति का नारा होगा। युगों–युगों से चली आ रही मानवीय मूल भावनाओं का विशेष भण्डार इनमें सुरक्षित है। जनजीवन की निर्मल और सरल सौन्दर्यानुभूतियों, गीत के स्वरों में बंधकर अपनी प्रभावशीलता का युग व्यापी प्रसार करती है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने लोकगीतों के विषय में कुछ सारगर्भित वाक्य लिखा है। ''लोकगीत किसी संस्कृति के मुंह बोलते चित्र हैं। लोकगीतों की विशेषता सम्बन्धी कुछ पंक्तियाँ स्वयं में उभर कर सामने आई–

1. लोकगीतों के मूल में जातीय विशेषताएँ आदिम परम्पराएँ, संस्कृति और संस्कार के चित्र मिलते हैं, उनमें जीवन्त शक्ति होती है।
2. इनकी परम्परा मौखिक है।
3. रचयिता तथा रचनाकाल अज्ञात होता है। दूसरे शब्दों में यह लोक की सम्पत्ति है और सार्वकालिक है।
4. उनमें स्वाभाविकता, ऋणुता और भावों की तीव्रता होती है।
5. प्रश्नोत्तर प्रणाली, पुनरावृत्तियाँ, टेक, अतिशयोक्तियाँ और रूढ़ संख्याओं का उल्लेख उनमें प्रायः होता है। इन संख्याओं में प्रायः पाँच, सात, नौ, दस और बीस का उल्लेख होता है क्योंकि ये शुभ मानी जाती है।
6. लय उसका आवश्यक अंग है। संगीतात्मकता से वे युक्त होते हैं।
7. लोकगीतों में गेयता की सामूहिक प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक होती है।
8. सहज प्रवाह होता है। प्रचलित शब्द प्रयोग के परिणामस्वरूप स्वरोच्चार में सुविधा होती है जिससे उसकी गति बनी रहती है।
9. लोकगीतों का स्वरूप सरस, प्रवाहपूर्ण, माधुर्ययुक्त तथा परिवर्तनशील है, उसमें व्यक्ति, जाति तथा स्थानपरत्व परिवर्तन होता रहता है।
10. लोकगीतों के आरोह अवरोह में संगीतबद्धता होती है।
11. लोकगीतों में नारी प्रधान गीतों की संख्या अधिकतम है, उसमें विविध त्यौहार, उत्सव, विवाहगीत इस दृष्टि से उल्लेखनीय है।
12. लोकगीतों में आंचलिक जीवन का चित्रण समाहित है।

13. लोकगीत ''यशऽसेकृते'' नहीं है, आत्मनाद तथा मनोरंजन यही एकमात्र इनका उद्देश्य है।

14. लोकगीतों में सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, पौराणिक, अभिप्राय सुस्पष्ट होता है।

15. लोकगीतों में सम्बन्धित भू–प्रदेश, नदियों–पहाड़ों, फसल फल, पशु–पक्षी आदि की विशेष जानकारी होने के कारण वह एक प्रकार से प्रादेशिक ज्ञानकोष ही होता है।

16. लोकगीतों के माध्यम से नीति, अनीति, सत्य, असत्य की बातें कथन कर जीवन को आकार प्रदान किया जाता है।

17. लोकगीतों के माध्यम से शिक्षा, संस्कार, व्यवहार, पड़ोसी धर्म, ज्ञान–विज्ञान, रहन–सहन, रीति–रिवाज के लाभ बताये जाते हैं।

18. लोकगीतों की भाषा प्रवाहपूर्ण गद्य–पद्य मिश्रित होती है।

19. लोकगीतों से पुरानी परम्पराओं की अच्छी रक्षा की जाती है।

20. लोकगीतों के अनेक प्रकार प्रसंग, लिंग, आयु, रस के आधार पर सम्भावनीय है।

लोकगीत जीवन की प्रत्येक यानी गर्भावस्था से लेकर मृत्यु तक से प्रेरणा ग्रहण कर काल सुरम्य भावनाओं को अभिव्यक्त करती है।

वस्तुतः लोकगीतों में मानवीय भावों का प्रसार इतना व्यापक है कि वहाँ जड़ और चेतन, मानव और अमानव का भेद ठहर नहीं पाता। मानव में उसके अहं के प्रति जो सहानुभूति की भावना है, वह लोक के साथ मानवेतर सृष्टि के प्रति उतनी ही स्पंदनशील है।

अतः मानव जीवन के मूल भावों को सरलतम रूप में अभिव्यक्त करने की शक्ति इन लोकगीतों में होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. द्विवेदी,डॉ0 हजारी प्रसाद जनपद, खण्ड–1, अंक–1, अक्टूबर 1952, पृ0 138
2. वही, पृ0 13
3. उपाध्याय, डॉ0 चिन्तामणि मालवी लोकगीत एक विवेचनात्मक अध्ययन, पृ0 68
4. वही, पृ0 12, 18
5. सिंह, विद्या बिन्दु, अवधी लोकगीत, समीक्षात्मक अध्ययन, पृ0 15, 29
6. अवस्थी शान्ति, हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति, अंक 2010, पृ0 37
7. वही, विशेषांक 2010, पृ0 250
8. मिश्र, श्रीधर, भोजपुरी गीतों के विविध रूप, पृ0 2
9. उपाध्याय, चिन्तामणि, लोकायन, पृ0 15
10. त्रिपाठी, रामनरेश, कविता कौमुदी, भाग–3, ग्रामीगीत, पृ0 54–57
11. सिन्हा सत्यव्रत, भोजपुरी लोकगाथा, पृ0 15
12. चौहान, विद्या, लोकगीतों की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पृ0 75
13. सत्यार्थी देवेन्द्र, धीरे बहो गंगा, पृ0 9
14. आजकल पत्रिका (नवम्बर 1951), सम्पादकीय पृष्ठ से प्राप्त

भारतीय नवजागरण में रंगमंचीय नाटकों का योगदान (पारसी रंगमंच के विशेष संदर्भ में)

डॉ. राहुल मिश्र*

शोध–सारांश: भारतीय नवजागरण और पारसी रंगमंचों के उत्थान का कालखंड लगभग एक ही बैठता है। भारत में अंग्रेजों का शासन स्थापित होने के साथ पाश्चात्य रंगमंच की परंपराएँ भी भारत में आने लगीं थीं । अंग्रेजी के प्रख्यात नाटककार विलियम शेक्सपीयर के नाटकों का भारत में मंचन होने लगा था। विलियम शेक्सपीयर न केवल अच्छे नाटककार थे, वरन् उन्होंने 'थियेटर' की एकदम अलग तरह की संकल्पना को भी स्थापित किया था। भारत में रहने वले अंग्रेज अधिकारियों के साथ ही उच्च–कुलीन वर्ग के भारतीयों के मध्य अंग्रेजी नाटकों के 'थियेटर' बहुत प्रसिद्ध हुए थे। इसे देखते हुए पारसी व्यापारियों ने देशी 'थियेटर' विकसित किए, जो विशुद्ध रूप से भारतीयों के मनोरंजन के लिए थे। पारसियों के द्वारा स्थापित किए जाने के कारण पारसी रंगमंच के रूप में इन्हें जाना गया। अनेक पारसी नाटक कंपनियाँ स्थापित हुईं जो घूम–घूम कर नाटकों का मंचन करती थीं।

देश के प्रथम स्वाधीनता संग्राम ने जब समाज से लगाकर साहित्य तक सभी को एक नई ऊर्जा से भरा, तब पारसी नाटक कंपनियाँ भी इससे अछूती नहीं रहीं। नवजागरण के इस कालखंड में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी रंगमंच के महत्त्व को जानते हुए नाटक लिखे। आगा हश्र कश्मीरी, राधेश्याम कथावाचक और नारायण प्रसाद बेताब की त्रयी ने पारसी रंगमंचों के लिए एक नए युग का सूत्रपात ही कर दिया, जिसने केवल मनोरजंन के लिए स्थापित पारसी रंगमंच को भारतीय नवजागरण का महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया। इसमें परंपरागत भारतीय गीत–विधाएँ, वाद्य–यंत्र, लोकगीत और गायन की परंपराएँ भी जुड़ीं।

भारतीय नवजागरण का यह प्रमुख अंग समाज के अभिजात्य वर्ग के मध्य और साथ ही साहित्य के शिष्ट वर्ग के मध्य अपेक्षित स्थान भले ही न पा सका हो, लेकिन पारसी रंगमंच ने अपने दायित्व का भली–भाँति निर्वहन किया है, जिसका अध्ययन और अनुशीलन भारतीय नवजागरण को समग्र रूप में समझने के लिए आवश्यक है।

बीज शब्दः नवजागरण, पारसी रंगमंच, नाट्य परंपरा, राष्ट्रीय चेतना, विक्टोरियन थियेटर्स, लोकगीत, लोक–गायन, परंपरा

न ठेठ हिंदी न खालिस उर्दू, जबान
गोया कि मिली जुली हो ।
अलग रहे न दूध से मिश्री, डली डली
दूध में घुली हो ।।

नारायणप्रसाद बेताब द्वारा रचित महाभारत नाटक की इन पंक्तियों में भारत और भारतीयता का ऐक्य परिलक्षित होता है। यह नाटक सर्वप्रथम कावस जी पालन जी खटाऊ की कंपनी ने संगम थियेटर देहली में खेला। इसकी अपूर्व सफलता देखकर नाटक कंपनियों के मालिकों ने अपना रुख बदल दिया, लेखकों ने इसका अनुकरण कल्याणकारक समझा। अश्लील नाटकों से घृणा करके जिन सुशील सज्जनों ने नाटक न देखने की प्रतिज्ञा कर रखी थी, उनकी प्रतिज्ञा टूट गई।....देवियों ने तो इसका इतना आदर किया कि सेठ जी को विशेष रूप से केवल स्त्रियों के लिए प्रति सप्ताह एक नाटक करना पड़ता था... ।1 21 जनवरी, 1913 को दिल्ली में इसका मंचन हुआ और इसके साथ ही

अध्यक्ष, हिंदी विभाग , केंद्रीय बौद्ध विद्या संस्थान (सम विश्वविद्यालय)

हिंदी नाटकों की और रंगमंच में एक नए युग की शुरुआत हुई। नारायणप्रसाद बेताब के साथ ही आगा हश्र कश्मीरी और राधेश्याम कथावाचक की त्रयी ने हिंदी नाटकों की परंपरा को ऐसे अनूठे ढंग से विकसित किया, जिसे पारसी रंगमंचीय प्रवृत्ति की सार्थक–सकारात्मक प्रगति भी कहा जा सकता है, पारसी रंगमंच का दूसरा अध्याय भी कहा जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी तक आते–आते भारत के प्राचीनतम रंग–विधान का लोक–संपर्क पूरी तरह टूट चुका था। सैकड़ों वर्षों की गुलामी के दौरान संस्कृत की स्थापित नाट्य–परंपरा का अस्तित्व सिमट चुका था और इसके स्थान पर मनोरंजन के लिए स्वाँग, खयाल, लीला और नौटंकी जैसे मंचीय करतब शेष थे। धार्मिक आस्थावान लोगों के लिए हरिकथाएँ, जात्राएँ, रामलीलाएँ और रासलीलाएँ थीं। मुसलमानी शासन के परिणामस्वरूप जनता उर्दू साहित्य से अधिक प्रभावित हो चुकी थी। उर्दू साहित्य फारसी साहित्य से प्रभावित था ही। अतः जनता की प्रेममयी भावनाओं में तड़पना, कलछना, कवाब की सींक बनकर जलना, आहें भरना, कत्ल करनाय शराब, प्याला, बेहोशी आदि ही प्रधान रूप थे। प्रेम में उत्सर्ग एवं त्याग का भाव प्रायः लुप्त था। साधारण जनता के समक्ष इसी प्रकार का वातावरण रहता था।2 देश में बदलते सामाजिक–सांस्कृतिक वातावरण का यह अलग पक्ष था, जो आम जनता और अभिजात्य वर्ग के मनोरंजन हेतु अलग–अलग किस्म की स्थापनाएँ दे रहा था। देश के अलग–अलग स्थानों में मनोरंजन हेतु इस तरह के ऐसे साधन प्रचलित थे, जो सामान्य लोगों के लिए रंगमंचीय अपेक्षाओं की पूर्ति करने में अक्षम सिद्ध हो रहे थे। इस तरह एक रिक्तता उत्पन्न हुई। दूसरी ओर कलकत्ता और बम्बई में अंग्रेजों की बस्तियाँ स्थापित हो चुकी थीं। सन् 1854 में कलकत्ता में पहले अंग्रेजी नाटक का मंचन अंग्रेज हुक्मरानों के मनोरंजन के उद्देश्य से हुआ और अंग्रेजी नाटकों के मंचन की परंपरा चल पड़ी। ये नाटक प्रायः अंग्रेजी में होते थे। इन नाटकों में मुख्यतः शेक्सपीयर के नाटक होते थे, जिनमें मारधाड़, जादू–टोना, भूत–प्रेत और रहस्य–रोमांच होता था। तत्कालीन अभिजात्य भारतीयों और विशेषकर पारसी व्यापारियों ने अंग्रेजों की इस रंगमंचीय परंपरा में संभावनाओं को देखा और देशी थियेटर्स स्थापित करने की शुरुआत हुई। इस क्रम में सबसे पहले बंगाल थियेटर और ओरिएंटल थियेटर की स्थापना कलकत्ता में हुई। रंगमंच पर नाटक के अभिनय की ओर झाँसी के महाराज गंगाधरराव और लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह की दृष्टि भी गई। वाजिदअली शाह ने 'किस्सा राधा कन्हैया' स्वयं लिखा। सन् 1853 ई. में अमानत ने 'इन्दर सभा' नाटक लिखा। यह सही अर्थ में ओपेरा था। यह काफी लोकप्रिय हुआ। पारसी रंगमंचों को 'इन्दर सभा' की परंपरा से जोड़ा जा सकता है।3 अमानत साहब के इन्दर सभा नाटक की तर्ज पर 'सभा' शब्द को जोड़कर अनेक नाटक लिखे गए और उनके मंचन की परंपरा भी शुरू हो गई। नवाब वाजिदअली शाह के बाद 'इन्दर सभा' के युग का अंत हो गया और पारसी नाटक कंपनियाँ अस्तित्व में आने लगीं। सन् 1853 में ही पहली पारसी नाटक मंडली की स्थापना फराम जी गुस्ताम जी दलाल ने की थी। इसके बाद कई पारसी नाटक मंडलियाँ बनती और बिगड़ती रहीं। इन मंडलियों का मुख्य उद्देश्य धन अर्जित करना ही था, जिसके लिए पारसी व्यापारी खूब ध न निवेश भी करते थे। जहाँगीर पेस्तन, होरमस जी ताँतरा, माणिक जी जीवन जी, जहाँगीर जी कावस जी, दादाभाई पटेल, महमूद अली वोरा,

सोहराब जी फराम जी, सोहराब जी बल्लीवाला, माणिक शाबलसरा और मेहरबान जी कापड़िया आदि पारसी व्यापारियों ने पारसी नाटक मंडलियों की स्थापना की। बीसवीं शताब्दी के आते–आते पारसी नाटक मंडलियों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था।

पारसी नाटक मंडलियों का मुख्य उद्देश्य धन कमाना ही था, मगर उसके लिए, व्यावसायिक हितों को साधने के लिए पारसी रंगमंच ने सबसे पहले रीतिकालीन विलासिता को अपनाया, फिर विक्टोरियन थियेट्रिकल विशेषताओं को अपनाया। शौर्य, चमत्कार, भावुकता और आश्चर्य जैसे भावों को रचकर पारसी रंगमंच ने दर्शकों को खींचकर प्रेक्षागृह में बुलाने और बाँधे रखने के लिए पश्चिम की अभिनय शैली का सहारा लिया। एक तरफ पद्यमय संवाद, लोकप्रिय संगीत की ध्वनियाँ और युद्ध का शोर था, जो दर्शकों की सुनने की भूख को तृप्त करता था, तो दूसरी तरफ साज–सज्जा, वेशभूषा और दृश्यफलकों की चकाचौंध के बीच थे मंच पर घटित होते चकित करने वाले कार्य–व्यापार। प्रेम और युद्ध के माध्यम से शेक्सपीयर की भोंड़ी नकल करने का यह सिलसिला कुछ दिनों के बाद बदला और यहीं से पारसी रंगमंच की अभिनय शैली में कुछ नए तत्त्व आकर शामिल हो गए। भारतीय दर्शकों की रुचियों का ध्यान रखते हुए जब नए नाट्यालेखों की रचना और प्रस्तुति आरंभ हुई, तब पारसी रंगमंच को अपनी अभिनय शैली में बदलाव की आवश्यकता महसूस हुई। अभिनेताओं ने जनसाधारण के रंगमंच– यात्रा, भवई, नौटंकी, माच, खघ्याल, स्वाँग और तमाशा आदि से अभिनय के तत्त्वों को चुनकर जाने–अनजाने अपने को बदला। अभिनय का यह रूप विक्टोरियन रूप से पूरी तरह अलग था, जिसे अंग्रेजों ने दिया था।4

पारसी रंगमंच में अगला बदलाव नारायणप्रसाद बेताब, आगा हश्र कश्मीरी और राधेश्याम कथावाचक की त्रयी के आगमन के साथ देखने को मिलता है। मारधाड़, जादू–टोना और रोमांस की नाट्य प्रस्तुतियाँ जब पारसी नाटक मंडलियों के व्यावसायिक हितों के लिए नकाफी साबित होने लगीं और भारतीय समाज में आजादी के लिए छटपटाहट महसूस होने लगी, उस समय पारसी रंगमंच अपने लिए तय किए गए नवीन दायित्वों के निर्वहन हेतु स्वतः आगे आ गया। इसका नेतृत्व नाटककारों की इस त्रयी ने किया। बेताब जी के महाभारत नाटक के साथ पारसी रंगमंच के नए युग का सूत्रपात हुआ। बीसवीं सदी के प्रथम दशक से मराठी, गुजराती, मारवाड़ी और उत्तर भारत के हिंदी भाषी अभिनेताओं, निर्देशकों, गायकों तथा बेताब, कथावाचक जैसे नाटककारों ने पारसी रंगमंच के स्वरूप और प्रकृति, दोनों को ही बदल दिया। इस परिवर्तन ने जिस रंगमंच को जन्म दिया, उस ओर मराठी, गुजराती और उर्दू भाषी कलाकार भी आकृष्ट हुए। गाने के बोल हिंदी में होने लगे। इन बोलों से हिंदू और हिंदी भाषा के संस्कार बोलने लगे। इस काल के नाटककार एक साथ तीन परिदृश्यों को जनता के सामने प्रस्तुत करने में पूर्ण सफल हो रहे थे– अंग्रेजी राज्य के अत्याचार, भारतीयों में जागृति और गांधी, गोखले, तिलक आदि के व्यक्तित्व की झलक। ये सब पौराणिक कथाओं के बीच से व्यक्ति किया जाता था। इन नाटककारों ने रामलीला, रासलीला, स्वांग आदि लोकनाट्य के तत्त्वों को अपने अंदर पचा लिया। इस प्रकार दर्शक एक ओर नाटक का आनंद लेते थे और दूसरी ओर उनका अध्यात्म संतुष्ट होता था। इन पारसी हिंदी नाटकों ने जनमानस के साथ–साथ राजनीतिक नेताओं, राजा–महाराजाओं को इतना अधिक प्रभावित किया कि जिनमें भी थोड़ी–सी राष्ट्रीय चेतना होती थी, वे

बार–बार ऐसे नाट्यकारों को अपने यहाँ आमंत्रित करता था।5 यही कारण था कि पारसी नाटक मंडलियाँ वर्ष–पर्यंत देश–भर में भ्रमण करती थीं और अपनी प्रस्तुतियों के माध्यम से जनसाधारण का मनोरंजन करने के साथ ही राष्ट्रीय चेतना के विकास में योगदान देती थीं। इसी कारण पारसी रंगमंच से जुड़े नाटककारों–कलाकारों के प्रति आम–जन का जुड़ाव होता था।

आम जनता के साथ पारसी रंगमंच के घनिष्ठ जुड़ाव के लोक–हितकारी स्वरूप का अत्यंत रोचक वर्णन राधेश्याम कथावाचक ने अपने संस्मरण में किया है। राधेश्याम कथावाचक सन् 1911–12 के आसपास के एक संस्मरण का जिक्र करते हुए लिखते हैं कि काशी में हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना हेतु धन–संग्रह के लिए महामना मदनमोहन मालवीय, दरभंगा नरेश, शिवप्रसाद गुप्त और दीनदयालु शर्मा के साथ ही कई गणमान्य व्यक्ति पधारे थे। उनके अभियान के लिए राधेश्याम कथावाचक ने 8–10 गीत लिखे और वे गीत गाए गए, जिनसे प्रभावित होकर बरेली की जनता ने कई हजार रुपये दान में दिए, जो काशी हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना के लिए उस समय का बहुत बड़ा आर्थिक योगदान था।6 राधेश्याम कथावाचक द्वारा लिखे गए गीतों में से एक चर्चित गीत की पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं–

हिलमिल करो जाति–उद्धार, भाइयो समय न बारम्बार ।
कोटिपती दें लक्ष–लक्ष, लखपती हजार–हजार।
मध्यम श्रेणी देंय सैकड़ें, निर्धन के दो–चार।
हमें दो पैसे भी स्वीकार– भाइयो, समय न बारम्बार–

राधेश्याम कथावाचक द्वारा रचित नाटक भक्त प्रह्लाद में बर्तानिया हुकूमत के खिलाफ राष्ट्रीय चेतना की, नवजागरण की सांकेतिक–प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हुई। इस नाटक में हिरण्यकश्यपु को अंग्रेजों के रूप में और भक्त प्रह्लाद को अहिंसक सत्याग्रही के रूप में प्रस्तुत किया गया था। इस नाटक की प्रशंसा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, गणेशशंकर विद्यार्थी और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जैसे पत्रकारों ने की थी और भारत की आजादी के लिए चल रहे आंदोलन के लिए एक संदेश माना था। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन कालांतर में भक्त प्रह्लाद जैसे सत्याग्रहियों के रास्ते पर ही चला था। ऐसा ही एक प्रसंग नारायणप्रसाद बेताब के नाटक 'किन्नर कुमारी' के साथ जुड़ा हुआ है। सन् 1927–28 में एक अमेरिकी महिला केथरीन मेयो (मिस मेयो) ने 'मदर इंडिया' नाम से एक किताब लिखी, जिसमें भारत की तमाम बुराइयों का जिक्र किया गया था। लाला लाजपत राय ने इस किताब को 'गटर इंस्पेक्टर्स रिपोर्ट' बताया था। बेताब जी ने इस किताब में किए गए वर्णनों की प्रतिक्रिया के तौर पर 'किन्नर कुमारी' नाटक की रचना की, जिसमें उन्होंने अंग्रेजों की मानसिकता का सटीक और तीक्ष्ण विश्लेषण किया। उन्होंने एक चर्चित गीत भी नाटक में जोड़ा, जिसके बोल निम्न थे–

बहारे गुल को बुलबुल ही, खुशी से देख सकती है,
हमेशा चील तकती है, तो मुरदारों को तकती है ।
शराबी ढूँढ़ लेता है, जहाँ होता है मयखाना,
सू–ए–दैरो–हरम जाते हैं, जिनके दिल में भक्ति है ।
हवन कुण्डों को देखेगा, न दारोगा सफाई का,
फकत कूड़े के ढेरों पर, नजर उसकी लपकती है ।
शिवालय और मस्जिद के, खुले हैं गो कि दरवाजे,
कुमारी किन्नरी लेकिन, वहाँ जाते झिझकती है ।7

पारसी रंगमंच की उत्पत्ति के प्रारंभिक वर्षों में खुदा दोस्त, लैला मजनू, इसरत सभा, लैलो निहार, फरेबे मुहब्बत, विक्रम विलास, मार आस्तीन, सफेद खून और अंजामे उलफत जैसे नाटक खेले जाते

थे। बाद के वर्षों में, विशेषकर नारायणप्रसाद बेताब, आगा हश्र कश्मीरी और राधेश्याम कथावाचक की त्रयी के आगमन के उपरांत महाभारत, रामायण, वीर अभिमन्यु, श्रवण कुमार, हरिश्चंद्र, छत्रसाल, यहूदी की लड़की, मातृभक्ति, कुमारी किन्नरी उर्फ मदर इंडिया, खजान–ए–दीन और नूरे इस्लाम जैसे नाटकों का मंचन होने लगा, जिसे आम जनता ने न केवल खुले मन से स्वीकार किया, वरन् इन नाटकों की अंतर्निहित मूल भावना को आत्मसात् भी किया। पारसी रंगमंच अपने विकासक्रम में रोमांचकारी घटनाओं से प्रारंभ होकर पौराणिक कथाओं से गुजरता हुआ सामाजिक समस्याओं और समाधान की ओर मुड़ता गया।

यही वह युग था, जब भारत में नवजागरण का सूत्रपात हुआ। आर्य समाज, प्रार्थना सभा और ब्रह्मसमाज जैसे संगठन देश की पुरातन गरिमा को पुनर्जीवित करने का प्रयास कर रहे थे और राष्ट्रीय चेतना के विकास में योगदान दे रहे थे। उस समय का समाज शैक्षिक और आर्थिक स्तर पर उन्नत नहीं था, लिहाजा साहित्य के माध्यम से नवजागरण की अभिव्यक्ति को अनुभूत करने वाले लोगों की संख्या सीमित ही थी और नवजागरण की साहित्य पर आधारित धारा का प्रवाह नगरों में रहने वाले पढ़े–लिखे लोगों तक ही सीमित था। गाँवों–कस्बों में बसने वाली भारतीय आत्मा तक नवजागरण की चेतना को पहुँचाने के लिए साहित्य की भूमिका अत्यंत सीमित थी और ऐसे में एक रिक्तता उत्पन्न हुई, जिसे भरने का काम पारसी नाटक मंडलियों ने किया। पारसी नाटक मंडलियों ने राष्ट्रीय और पुनरुत्थानवादी भावनाओं को अजीबोगरीब दृश्यों और चमत्कारपूर्ण घटनाओं के मंचन के साथ रँगकर प्रस्तुत किया। शुद्ध शास्त्रीय, लोक–संगीत के साथ 'इंदर सभा' की संगीत परंपरा को भी इन्होंने एक नई लहर प्रदान की। इतना ही नहीं पारसी, यूनानी, अंग्रेजी, अरबी धुनों को भी इन्होंने अपने आकर्षण में शामिल कर लिया। भारत के विभिन्न अंचलों की तानों और पल्टों को भी इन्होंने सहर्ष स्वीकार कर आम आदमी के मन को वशीभूत कर लिया।8 पारसी रंगमंच में भारतीय गायकी– ठुमरी, राई, दादरा, कजरी, होरी, गजल आदि को समेटकर नवजागरण की धारा से आम जनमानस को जोड़ने का प्रयास किया गया। इस कारण पारसी रंगमंच का, पारसी नाटक मंडलियों का विस्तार कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक और कच्छ का रन से लेकर बंगाल की खाड़ी तक था। पारसी नाटक मंडलियों के व्यापक जन–सहभाग को इसी से समझा जा सकता है।

इसी दौरान भारतेंदु हरिश्चंद्र का आगमन हुआ। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। भारतेंदु के नाट्य–लेखन और नाटकों के मंचन के संबंध में प्रचलित है कि उन्होंने एक पारसी नाटक मंडली द्वारा मंचन किए जा रहे शकुंतला नाटक को देखा, जिसमें दुष्यंत और शकुंतला का चित्रण अत्यंत फूहड़ तरीके से किया जा रहा था। इसे देखकर उन्हें बहुत दुःख हुआ और उन्होंने नाटकों को युगीन संदर्भों से, राष्ट्र के पुनरुत्थान से जोड़ने के लिए आंदोलन चलाया। वह निरंतर थियेटराना जगत से अलग नयी नाट्य परंपरा, भिन्न नाट्यशिल्प और हिंदी रंगमंच की स्वतंत्र विकास–परंपरा के प्रति संघर्षरत रहे।9 भारतेंदु के द्वारा किए गए प्रयासों के परिणामस्वरूप ऐसे नाटकों के लेखन और मंचन की शुरुआत हुई, जिन्हें संभ्रांत और अभिजात्य वर्ग के अनुकूल कहा जा सकता है, जिन्हें सभ्य–शिष्ट–शालीन कहा जा सकता है और जिन्हें नवजागरण की प्रवृत्तियों से पूर्ण भी कहा जा सकता है। इसके बावजूद पारसी रंगमंच

की व्यापक जनस्वीकार्यता भारतेंदु और उनकी मंडली के नाटककारों से कम नहीं थी। इस तरह भारतेंदु का रंगमंच और पारसी रंगमंच समानांतर चल रहे थे। भारतेंदु का रंगमंच शुद्धतावाद से पूर्ण और साहित्यकारों द्वारा स्वीकृत था, जबकि पारसी रंगमंच अपने शुरुआती दौर की विकृतियों के आरोपों से मुक्त नहीं हो पाया था। इस संदर्भ में भारतेंदु के परवर्ती जयशंकर प्रसाद का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। पारसी थियेटर के समान ही उन्होंने पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों को पुनरुत्थानवादी और राष्ट्रीय भावना को छायावाद के झीने परदे में से अभिव्यक्त किया। उनका रंगबंध पारसी है और कथानक काव्यात्मक और साहित्यिक। इसीलिए वे न लोक के हो सके और न काव्य और साहित्य के। उन्होंने इश्क और राष्ट्रीय भावना के विरोधी तत्त्वों को मिलाने के प्रयास में नाट्यकला को खो दिया। पारसी इसी विरोधी भावना द्वारा सफल हुए, क्योंकि वे लोक के समीप थे और प्रसाद असफल रहे, क्योंकि वे लोक से भरे पलायनवाद के समीप पहुँच गये।10 पारसी रंगमंच साहित्यिक परिधि में इसी कारण सम्मिलित नहीं हो सका, क्योंकि उस पर स्तरहीन और फूहड़ होने के आरोप लगते रहे और शुद्धतावाद के समर्थक साहित्यकारों के लिए उसकी लोकप्रियता को सहज रूप में स्वीकार कर पाना कठिन होता रहा।

पारसी रंगमंच के साथ जुड़ी उसके अतीत की विकृत छवियों के कारण उसके अस्तित्व को नकार दिया जाना और उसे राष्ट्रीय धारा से अलग, नवजागरण की भावना से अलग मान लेना अनुचित और अप्रासंगिक होगा। पारसी रंगमंच को एक झटके में 'रूढ़ रंगमंच' कहकर नकारा नहीं जा सकता। पश्चिम के रंगमंच के साथ–साथ हमारे पारंपरिक रंगमंच के कई अवशेष इस रंगमंच के भीतर उपलब्ध हैं।11 वस्तुतः पारसी रंगमंच हिंदी रंगमंच और भारत के पुरातन संस्कृत नाट्य–परंपरा के बीच की वह कड़ी है, जिसने संस्कृत नाट्य परंपरा की लोकप्रियता को भारतीय समाज में, भारत के सुदूरवर्ती आंचलिक क्षेत्रों में पुनर्स्थापित करने में अहम भूमिका निभाई है। साहित्य के इतिहासकारों ने नाटकों की इस विस्तृत दुनिया को असाहित्यिक कहकर उसकी उपेक्षा की तथा हिंदी रंगमंच के इस लोकप्रिय विधान को नाटक के तत्त्वों से रहित बताया। परंतु बात ऐसी नहीं है। पारसी रंगमंच के नाटकों ने हिंदी भाषा और साहित्य के विकास तथा उसकी समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। इनका तथ्यात्मक मूल्यांकन इतिहास की सुरक्षा की दृष्टि से तो आवश्यक है ही, इस कालखंड की नाट्य–विषयक गतिविधियों से भी परिचित होने के लिए भी आवश्यक है।12 भारतेंदु हरिश्चंद्र के नाटकों के विधान को देखें, तो स्पष्ट होता है कि भारतेंदु ने भी भारतीय नाट्य विधा के परंपरागत तत्त्वों की प्रतिबद्धता त्यागकर ऐसे नाटक लिखे, जो आम–जन की रुचियों पर खरे उतर सकें। इस तरह भारतेंदु के नाटकों में पारसी नाटकों के परिवर्धित–संवर्द्धित रूप के ही दर्शन होते हैं।

पारसी रंगमंच को नगरों–महानगरों के शिष्ट–संभ्रांत वर्ग में भले ही अपेक्षित स्थान न मिला हो, मगर 'वास्तविक भारत' को मनोरंजन के साथ ही राष्ट्रीय चेतना का अहसास कराने के लिए पारसी रंगमंच का योगदान अतुलनीय है। भारतेंदु के असामयिक देहांत और उनके बाद फिर से उत्पन्न हुई रिक्तता को एक बार फिर पारसी रंगमंच ने ही पूर्ण किया और कालांतर में भारतीय सिनेमा की उत्पत्ति के साथ पारसी रंगमंच ने अपनी विरासत भारतीय सिनेमा को सौंप दी। हिंदी सिनेमा के शुरुआती दौर में अपनी रचनाधर्मिता से भारतीय समाज का, भारतीय राष्ट्रीय चेतना का, नवजागरण की प्रवृत्तियों का उत्कृष्ट प्रदर्शन करने वाले सिने कलाकार पृथ्वीराज, राज

कपूर, शशि कपूर, सज्जन, सुदर्शन सेठी, श्रीराम, उजरा और जोहरा सहगल आदि पारसी रंगमंच से ही हिंदी सिनेमा में आए थे।

निष्कर्ष

पारसी रंगमंच की उत्पत्ति विक्टोरियन शैली के नाटकों की प्रतिक्रिया के तौर पर हुई और पारसी व्यापारियों के व्यावसायिक हित–साधन के आवरण में भारतीय परंपरागत तत्त्वों को और आम जनमानस में प्रचलित लोकनाट्य विधाओं को अपने में मिलाती चली गई। अपने विकास के क्रम में जिस तरह भारतीय समाज में जिस गति से बदलाव की अपेक्षाएँ विकसित होती गईं, उसी तीव्रता के साथ पारसी रंगमंच अपने सामाजिक दायित्वों का निर्वहन करने हेतु तत्पर होता गया। हृषीकेश सुलभ के शब्दों में, सन् सत्तावन की गदर के बाद स्वतंत्रता की चाहत पनपी और यह चाहत जैसे–जैसे विकसित होती गई, उसका प्रभाव पारसी रंगमंच पर पड़ता गया। इसी प्रभाव ने वहाँ राष्ट्रीयता का एक रोमानी संसार भी रचा।13 इस तरह पारसी रंगमंच भले ही साहित्यिकों के लिए 'अस्पृश्य' रहा हो, मगर उसने अपने दायित्वों के निर्वहन में कोई कमी नहीं छोड़ी। पारसी रंगमंच के माध्यम से भारतदेश के सूदूरवर्ती अंचलों में नवजागरण की उस धारा का उदय इतनी तीव्रता–तीक्ष्णता के साथ हुआ, जिसने कालांतर में राष्ट्रीय चिंतनधारा को समृद्ध किया और देश की आजादी के आंदोलन को ऐसी ताकत दी, जिसका परिणाम सकारात्मक रूप में प्रकट हुआ।

संदर्भ

1. बच्चन सिंह, हिंदी नाटकों के उद्‌भव के पूर्व, हिंदी नाटक (आलोचना), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1989, पृ. 21
2. डॉ. प्रेमनारायण शुक्ल, नाटक का उद्‌भव और विकास, भारतेन्दु की नाट्य–कला, ग्रन्थम्, रामबाग, कानपुर, द्वितीय सं. 1972, पृ. 33
3. बच्चन सिंह, हिंदी नाटकों के उद्‌भव के पूर्व, हिंदी नाटक (आलोचना), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 1989, पृ. 20
4. हृषीकेश सुलभ, पारसी रंगमंच रू निकट अतीत का वैभव, रंगमंच का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2009, पृ. 62
5. रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पारसी रंगमंच, रंगमंच की भूमिका और हिंदी नाटक, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1979, पृ. 275–276
6. पं राधेश्याम कथावाचक, तरुणावस्था (पूर्वार्द्ध), मेरा नाटक–काल, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2004, पृ. 43
7. वेब रेफरेंस, http://iptanama-blogspot-in/2012/01/blog.post_15-html
8. रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पारसी रंगमंच, रंगमंच की भूमिका और हिंदी नाटक, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1979, पृ. 278
9. गिरीश रस्तोगी, अन्धेर नगरी रू समकालीन व्यंग्य और लोक का जीवंत मुहावरा, हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष, लोकभारती, इलाहाबाद, प्रथम सं. 2002, पृ. 03
10. रघुवरदयाल वार्ष्णेय, पारसी रंगमंच, रंगमंच की भूमिका और हिंदी नाटक, इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1979, पृ. 321
11. हृषीकेश सुलभ, पारसी रंगमंच रू निकट अतीत का वैभव, रंगमंच का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2009, पृ. 61
12. भवानीलाल भारतीय, सिनेमा पूर्व का रंगमंचीय परिदृश्य, बॉलीवुडनामा, सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 2011, पृ. 203
13. हृषीकेश सुलभ, पारसी रंगमंच रू निकट अतीत का वैभव, रंगमंच का जनतंत्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम सं. 2009, पृ. 61।

कथक नृत्य के आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का अवलोकनात्मक अध्ययन

डॉ. पूजा चौधरी*

शोध सार: भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति है । अतः स्वाभाविक है कि विविध क्रियाकलापों में आध्यात्मिकता का समावेश होगा । फलतः अध्यात्म का प्रभाव भारतीय संस्कृति में विविध अनुष्ठानों, कला, साहित्य, दैनिक जीवनचर्या, चिंतन शैली आदि में स्पष्ट रूप से दिखता है । भारतीय संगीत के संदर्भ में विचार किया जाए तो पाते हैं कि भारतीय संगीत स्वयमेव जीवात्मा को आध्यात्मिक उत्कर्ष पर अवस्थित करने का एक माध्यम है । भारतीय संगीत की तीनों ही विधाओं गायन, वादन और नृत्य में आध्यात्मिकता अंतर्निहित है । संगीतेत्तर माध्यमों से आध्यात्मिक चिंतन की मूलभूत आवश्यकता मनः शांति तथा चित्त की एकाग्रता है । भारतीय संगीत में मन को शांत तथा चित्त को एकाग्र करने का अनुपम सामर्थ्य विद्यमान है । संगीत के श्रोता अथवा दर्शक तथा प्रस्तोता; दोनों का ही श्रवण अथवा दर्शन तथा प्रस्तुति के माध्यम से बिना परिश्रम के ही मन शांत तथा चित्त एकाग्र हो जाता है । भारतीय संगीत में नृत्य का विशिष्ट स्थान है । आध्यात्मिक उत्कर्ष की ओर अग्रसर साधक जब भक्ति रस में डूबता है तो वह अपने इष्ट के समक्ष उनके गुणों के गायन के साथ झूम के नृत्य करता है । भारतीय नृत्यों में कथक नृत्य को विशेष महत्व दिया जाता है । कथक नृत्य की उत्पत्ति आध्यात्मिक परिवेश में ही हुई है । अपनी उत्पत्ति काल से एक लंबे कालखंड तक कथक का मंदिरों से संबंध रहा है किंतु मध्यकाल में शासकों की विलासी प्रवृति के कारण विविध कलाओं के साथ ही कथक में अत्यधिक श्रृंगारिकता के समावेश से विरूद्ध आध्यात्मिक नृत्य कथक की शुचिता का ह्रास होता गया तथा इसका एक अन्य ही स्वरूप प्रचारित हुआ । यद्यपि श्रृंगारिकता के समावेश से नृत्य की शुचिता प्रभावित हुई है तथापि वर्तमान समय में भी कुछ कलाकार अपनी साधना से इसकी आध्यात्मिकता को संजीवित रखे हुए हैं । वर्तमान समय में कुछ मंदिरों में कुछ कलाकारों द्वारा भगवान के समक्ष 'नृत्यसेवा' के माध्यम से कथक की प्रस्तुति की जाती है । प्रस्तुत शोध पत्र में कथक नृत्य की आध्यात्मिकता का अवलोकन प्रस्तुत किया गया है ।

सूचक शब्द :– कथक, आध्यात्मिकता, आख्यानविद्, मंदिर, कथा वाचक, शुचिता

शोध उद्देश्य :– प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन का उद्देश्य कथक नृत्य के आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना तथा संदर्भित तत्वों को रेखांकित करना है ।

शोध प्रविधिः– प्रस्तुत शोध पत्र के लेखन के लिए दत्त संकलन हेतु विविध पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का सहयोग लिया गया है ।

यह शोध पत्र मौलिक है । यह संशोधित पत्र को आंशिक अथवा पूर्ण रूप से ना तो कहीं प्रकाशित कराया गया है और ना ही कहीं प्रकाशन हेतु प्रेशित किया गया है ।

मानव इतिहास के लिखित प्रथम ग्रन्थ 'वेद' में संगीत का विशेष वर्णन प्राप्त होता है । वैदिक काल से ही भारतीय संगीत आध्यात्मिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध रहा है । भारतीय संगीत के किसी भी विधा का चरम उद्देश्य भगवद प्राप्ति रही है। विविध धार्मिक अनुष्ठानों तथा धार्मिक स्थानों पर भारतीय संगीत की उपस्थिति आवश्यक रूप से देखी जा सकती हैं । भारतीय संगीत एक अत्यंत एक पवित्र तत्व के रूप में भारतीय समाज में वैदिक काल से ही पूज्य रहा है। मोक्ष की प्राप्ति के विविध साधनों

सहायक आचार्या, संगीत तथा नृत्य विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय

में भारतीय शास्त्रीय संगीत (गायन, वादन तथा नृत्य) को भी स्थान दिया जाता है।

भारतीय संगीत के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हम पाते हैं कि भारतीय संगीत वैदिक काल में अपने अत्यंत उच्च स्थान पर अवस्थित था । इस समय संगीत की दो धाराएं प्रचार में थी, जिनमें से एक धारा जिसमें साम गायन किया जाता था, जिसे मुक्ति प्राप्ति के लिए प्रयुक्त किया जाता था तथा दूसरी धारा के रूप में लोक संगीत जो मनोरंजन हेतु प्रयुक्त हुआ करता था । इसमें भी प्रथम धारा जिससे भगवत प्राप्ति की कामना की जाती थी, को अधिक महत्व दिया जाता रहा । कालांतर से अनेक उतार–चढ़ाव के साथ संगीत अपने वर्तमान स्वरूप में विद्यमान है । यद्यपि वर्तमान प्रचलित संगीत का स्वरूप वैदिक संगीत जैसा नहीं रहा तथापि आज भी संगीत की सात्विक साधना से मोक्ष प्राप्ति के सामर्थ्य को स्वीकार किया जाता है ।

भगवान को रिझाने के लिए अथवा अपने इष्ट के प्रेम में निमग्न हो कर नृत्य करना भक्तों के भक्ति की पराकाश्ठा होती है । पूर्व काल में नृत्य भगवान के लिए ही होता रहा है । भारतीय संगीत में वर्तमान काल में अनेक नृत्य प्रकारों का प्रचार है । इन विविध नृत्य प्रकारों में 'कथक' नृत्य का विशेष स्थान है । 'कथक' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है 'कथा कहने वाला' । ऐसी मान्यता है कि शास्त्रीय नृत्य 'कथक' की अवधारणा मंदिर में कथावाचकों के द्वारा कथा वाचन के मध्य में भाव विभोर होकर नृत्य करने से हुई है । मंदिर के परिवेश से उद्भुत नृत्य 'कथक' वर्तमान समय में भी मंदिरों से जुड़ा हुआ है ।

"प्राचीन सनातन ग्रंथ जैसे – ब्रह्म पुराण, महापुराण, महाभारत, रामायण तथा जैन ग्रंथों में 'कथक' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है । सामान्यतः कथक का अर्थ 'कथा करने वाला अथवा कथा बांचने या व्याख्या करने वाला' होता है । वर्तमान समय में कथक नृत्य उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत का एक अत्यंत प्रचलित शास्त्रीय नृत्य है। कथावाचकों की नर्तक जाति को भी 'कथक' के नाम से जाना जाता है। इस जाति का भी अपना एक लंबा इतिहास रहा है।"1 वैदिक काल में कथा करने वाले कथकों को 'आख्यानविद्' अभिधान प्राप्त था। कालांतर में सूत् तथा नट जाति के लोग पेशेवर रूप से इस कार्य को करने लगे।

आख्यानविद् सामान्यतः वेदोक्त संवादों जैसे यम तथा यमी का संवाद, पुरुरवा और उर्वशी का संवाद, सूर्य तथा सुक्त का संवाद आदि सुनाते हैं। आदि पुराण में कथक के गुण की सविस्तर व्याख्या उल्लिखित है। उक्त ग्रंथ के अनुसार कथा सुनाने वाला सदाचारी, स्थिर बुद्धि, इंद्रियों का समर्थ, मार्जित भाशा, सुदर्शन, सहनषील, उदार, प्रभावशाली बुद्धि वाला तथा प्रिय भाषी होना चाहिए । वर्तमान कथक नर्तक के संदर्भ में एक कहावत प्रचलित है 'कथन करें सो कथक कहावे'। कहने का तात्पर्य है कि वर्तमान कथक नृत्य का मुख्य आधार कथा ही है। अतः प्राचीन काल के कथक जो आख्यानविद् थे उनकी परंपरा में ही वर्तमान कथक नृत्य का उद्भव होना अनुमानित होता है। क्योंकि दोनों ही षैलियों में साम्यता है केवल प्रस्तुति के ढगं में भिन्नता उद्भाशित होती है। विधि नागर जी लिखती हैं "कथक शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही चला आ रहा है किंतु कथक नृत्य लगभग 200 वर्ष पूर्व ही अद्भुत हुआ है । सर्वप्रथम कथक शब्द का प्रयोग महाभारत में प्राप्त होता है –

कथकाश्चपरे राजन श्रमणृच वर्नोकसः ।

दिव्याख्यानानि ये चापि पर्णन्त मधुरम् द्विणाः म
(महाभारत 1/ 213/3)

अर्थात वनों में रहने वाले ब्राह्मण और कथक लोग मधुर स्वरों में दिव्य गायन करते हैं ।"2

भारतीय सनातन संस्कृति में आध्यात्मिकता के मुख्य केंद्र मंदिर रहे हैं । अतः कथक नृत्य का मंदिरों से संबंध होना स्वाभाविक है । "प्राचीन काल में समाज में सांस्कृतिक कार्यक्रमों के आयोजन आदि के लिए मंदिर का प्रांगण, प्रेक्षागृह के स्वरूप में होता था । इसके अतिरिक्त कोई अन्य प्रेक्षागृह नहीं होता था जहां पर ऐसे आयोजनों को क्रियान्वित किया जा सके ।"3 अतः इस कारण भी कथक नृत्य को मंदिरों से संबद्ध माना जा सकता है। यद्यपि ऐसे भी उद्धरण मिलते हैं कि जहां कलाकार अपनी कला का प्रदर्शन अपने इष्ट देव के समक्ष करता है। यह प्रस्तुति समाज के श्रोताओं के लिए नहीं अपितु कलाकार के इष्ट के लिए होती हैं । कुछ मंदिरों में ऐसी व्यवस्था होती है कि नियमित रूप से कलाकारों को भगवान के समक्ष अपना नृत्य प्रस्तुत करना होता है। इसे भगवान की 'नृत्य सेवा' कहा जाता है। अतः कथक नृत्य के मंदिर से जुड़ाव के अनेक कारण हो सकते हैं । "उत्तर भारत में अनेक स्थानों पर भगवान की नृत्य सेवा की जाती है किंतु अयोध्या के मंदिरों में नृत्य सेवा का सर्वाधिक चलन है ।"4 मंदिरों में कत्थक के संदर्भ में 'कथक केंद्र दिल्ली' ने 1979 में एक सेमिनार आयोजित किया था। इस सेमिनार में अयोध्या के मंदिर में नृत्य सेवा करने वाले कथा वाचक श्री पंडित ओंकार मिश्रा जी ने बताया कि भगवान की नृत्य सेवा करने वाले नर्तक का आचार विचार शुद्ध होना चाहिए। नर्तक योगी, महाबली, त्यागी था उच्च वृत्ति का कथावाचक होना चाहिए। भगवान के समक्ष उनके गुणों को भाव सहित रखने की क्षमता रखने वाले कथावाचक ही मंदिर में नृत्य सेवा करने की योग्यता रखते हैं। "पूर्व काल के नृत्य के संदर्भ में पंडित ओंकार मिश्रा जी बताते हैं कि कथा के वाचन से पूर्व 'प्रणाम' होता था फिर लहरा नाच, तराना अथवा पद आरंभ होता था। पूर्व काल में नृत्य सीधे–सीधे ठकों पर प्रस्तुत किया जाता था। मंदिरों में प्रस्तुति के क्रम में नृत्य के तत्व अल्प होते थे जबकी भगवान का गुणगान अधिक होता था। नृत्य में 'थई तत थो क्रान कत धा' जैसे बोल प्रयुक्त होते थे ।

भगवान की आराधना के समय धमार, चर्चरी, चारताल, सूलताल इत्यादि तालों का प्रयोग किया जाता था।"5 मंदिर में जब भी नृत्य की प्रस्तुति होती थी तो इस प्रस्तुति में संगत के लिए प्रयुक्त ताल सदैव ही गंभीर होते थे। संगीत के प्रस्तोता की वेशभूषा रहन–सहन आदि में आध्यात्मिकता का समावेश होता था। भारती गुप्ता जी एक कालखंड को मंदिर काल के रूप में उद्धृत करते हैं, जिस समय संगीत का मुख्य केंद्र मंदिर हुआ करते थे। यह कालखंड चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक रहा है। इस अवधि की कथक नृत्य की रचनाएं ईश्वर के आसपास घूमती हुई प्रतीत होती हैं। तत्कालिक कथक के साहित्य में ईश्वर का गुणगान तथा उनको समर्पित अपनी कला का ही वर्णन है ।

मध्यकाल अर्थात् इस्लामिक शासन के पूर्व कथक में आध्यात्मिकता को विशेष स्थान दिया जाता था। किंतु मध्यकाल में शासकों के विलासिता पूर्ण स्वाभाव के कारण उनकी संतुष्टि के लिए दरबारी कलाकारों द्वारा संगीत में श्रृगार रस का आधिक्य प्रस्तुत किया गया।

इसी क्रम में कथक में भी श्रृंगारिकता का आधिक्य प्रस्तुत किया गया। जिससे समय के साथ धीरे–धीरे कथक नृत्य में शुचितापूर्ण आध्यात्मिकता का ह्रास होता चला गया । वर्तमान समय में केवल

मंदिरों में ही कथक नृत्य अपने आध्यात्मिक परिवेश में उपस्थित है। मंदिरेत्तर परिवेश में कथक की शुचितापूर्ण आध्यात्मिकता के साथ समझौता हुआ दिखता है। सुभाषिनी कपूर जी लिखती हैं – "कथक नृत्य राजाओं तथा नवाबों के माध्यम से अत्यंत तेजी से उभरा । इस प्रकार का उभार किसी अन्य भारतीय नृत्य को प्राप्त नहीं हुआ । विविध दरबारों में कथक लोकरंजन पक्ष का प्रतिनिधित्व करता रहा। शनैः शनैः यह सस्ते ढंग के श्रृंगारिकता का सामान बन कर रह गया । यद्यपि कथक मूलतः धर्म से संबंधित है। कथक शब्द से उस व्यक्ति का बोध होता है जो कथाओं को रोचक ढंग से वर्णित करने की क्षमता रखता है ।

विविध प्राचीन ग्रंथों में कथक शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।"6 मध्यपूर्व काल में मंदिर में कथक (आख्यानविद्) के व्यवहार तथा उसकी दिनचर्या के संदर्भ में भी कठोर नियम थे । जिनका पालन करना अनिवार्य था। कथक का आहार तथा व्यवहार दोनों में ही शुचिता तथा सात्विकता थी। अतः उसकी कला के प्रदर्षन में भी सात्विकता दृष्य–श्रव्य होना स्वाभाविक है। नृत्य में आध्यात्मिकता के समावेश के संदर्भ में रोहिणी भाटे जी बताती हैं कि यदि कलाकार अपने नृत्य की प्रस्तुति करते समय नृत्य में इष्ट भाव का दर्शन करता है तो उसकी प्रस्तुति आध्यात्मिकता से परिपूर्ण होगी ।

भारतीय संस्कृति जोकि मूलतः सनातन संस्कृति है, एक आध्यात्मिक संस्कृति के रूप में जगविख्यात है। आत्मा को परमात्मा में मिला देने के संदर्भ में जो चिंतन किए जाते हैं उन्हें आध्यात्म कहा जाता है। परमात्मा से साक्षात्कार के अनेक माध्यम बताए गए हैं जिनमें नृत्य को भी एक माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया है। नृत्य के माध्यम से कलाकार अव्यक्त ईश्वर के व्यक्त रूप को अभिव्यक्त करता है। अपने कला के माध्यम से अभिव्यक्ति के समय कलाकार एकाग्र चित्त होकर लय और ताल के माध्यम से परम सत्ता ईश्वर को प्राप्त करने हेतु प्रयत्न करता है। अध्यात्म के अन्य मार्गों में ईश्वर प्राप्ति के लिए मन की एकाग्रता तथा चित्त की शांति अत्यंत आवश्यक है। मन को शांत तथा एकाग्र चित्त करने के लिए अनेक प्रयत्न किए जाते हैं । जबकि नृत्य में जब तक कलाकार के मन और चित्त की एकाग्रता नहीं होगी तब तक उसकी कला सफलता पूर्वक प्रस्तुत नहीं हो सकेगी । अतः चित्त की एकाग्रता तथा आध्यात्मिक चिंतन के लिए नृत्य का एक माध्यम होना स्वाभाविक है जिससे भगवत प्राप्ति अथवा मोक्ष की प्राप्ति संभव है ।

शोध निष्कर्ष

भारतीय शास्त्रीय नृत्य कथक की उत्पत्ति धार्मिक अनुष्ठान 'कथावाचन' से हुआ माना जाता है। कथा वाचन के अंतर्गत विविध धार्मिक संवादों की प्रस्तुति कथावाचक करता है। अपनी प्रस्तुति को आकर्षक बनाने के लिए कलाकार, अपने द्वारा वाचित कथा में संगीत का समावेश करने लगे जिसके अंतर्गत गायन, वादन तथा नृत्य का समावेश किया जाने लगा। यहीं से कथक नृत्य का उद्भव माना जाता है। कथक नृत्य के माध्यम से भावों का संप्रेशण अत्यंत सहजता से होता है। इस शैली को उद्भव के काल से ही भगवान की सेवा में प्रस्तुत किया गया। भारतीय मंदिरों में ऐसे विधान है जिनके अंतर्गत भगवान की सेवा हेतु नृत्य प्रस्तुत किया जाता है जिसे नृत्य सेवा के नाम से जाना जाता है। यद्यपि मध्यकाल में इस्लामिक शासकों के द्वारा भारतीय शास्त्रीय संगीत की शुचिता को प्रभावित किया गया। जबकि शास्त्रीय नृत्य कथक भी इस प्रभाव से अछूता नहीं था जहां शास्त्रीय गायन में श्रृंगारिकता का समावेश हुआ वहीं शास्त्रीय नृत्य कथक में भी श्रृंगार रस का आधिक्य देखा गया

श्रृंगार रस के समावेश से ही कत्थक में शुचिता पूर्ण आध्यात्मिकता क्षीण होती गई और कथक जो भगवान की सेवा या आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रस्तुत की जाती थी वह अधिकतर समाज में श्रृंगारिक प्रस्तुति के माध्यम बन गई। वर्तमान काल में कथक नृत्य में अनेक परिवर्तन देखे जा रहे हैं जो कि कुछ परिस्थिति में उचित भी हैं तो कुछ परिस्थिति में अनुचित है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1 भारती गुप्ता, कथक और अध्यात्म, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 45

2 विधि नागर, ठुमरी एवं कत्थक, B.R. Rhythms, Delhi, 2020 पृष्ठ 29

3 भारती गुप्ता, कथक और अध्यात्म, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 45

4 शोभना नारायण एवं गीतिका कला, अनुवादक एस. सत्यमूर्ति, कत्थक लोक मंदिर, परंपरा और इतिहास, भारत, 2022, पृष्ठ 47

5 भारती गुप्ता, कथक और अध्यात्म, राधा पब्लिकेशन नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 55

6 सुभाषिनी कपूर, कथक नृत्य का परिचय, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 1998, पृष्ठ संख्या 7

स्वतंत्रता के बाद भारतीय कला में होने वाले परिवर्तन की एक समीक्षा

डॉ. अमिता राज गोयल*

सारांश :भारतीय तथा पश्चिमी कला उदाहरणों से बात स्पष्ट होती है कि कलाकार की सीमा सिर्फ रूपाकार के स्तर पर नहीं, बल्कि कल्पना के स्तर को भी बताती है। कलाकार अपनी चित्रात्मक कल्पना की सीमा में वैज्ञानिक तथा धार्मिक अनोखापन तथा आलौकिकता तथा हास्य को एक कर देते हैं। भारतीय कला कल्पना में भी काफी जटिलता देखने को मिलती है। इस बात को शताब्दियों पुरानी बहुरूपक कला तथा भारतीय सौंदर्यशास्त्र की सैद्धांतिक व्याख्या में नये प्रयोगधर्मी के साथ भारतीय कला सिद्ध करेगी। शोधपत्र में स्वतंत्रता के बाद भारतीय चित्रकला में तकनीकी, प्रयोगधर्मिता के प्रचलित प्रभाव पर चर्चा की गई है स इन सभी मुद्दों के आधार पर मेरा शोध पत्र एक विचारणीय है।

बीज शब्द : इंस्टालेशन, छापाकला, वीडियो आर्ट, अतियथार्थवादी, त्रिआयामी।

परिचय

आधुनिक चित्रकला में अभिव्यक्ति वा अभिव्यंजना शब्द को सर्वाधिक महत्व मिला है। इसका सीधा अर्थ है अंतर्मनकी भावनाओं का बाह्य प्रकाशन स मगर इस प्रकाशन में सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम उस वाह्य संसार को छोड़कर, जिसके सामने हम अपनी कुंठा को प्रस्तुत करते हैं, अपनी आंतरिक भावनाओं का ही और परंपराओं आदर करते हैं और उन्हीं के अनुरूप अपनी अभिव्यक्ति को भी ढाल लेते हैं।

इन्ही पहलुयो को ध्यान में रखकर कलाकारों का एक पूरा वर्ग समाज के सामने आया जिसने अपनी विचारधारा को ही महत्व प्रदान कर अपनाया और अभिव्यंजनवाद के नाम से अभिहित किया है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय चित्रकला परंपरा के शास्त्रीय एवं व्यावहारिक दोनों पक्षों पर सम्यक् विचार किया गया है चाहें नई प्रयोगधर्मिता हो या शास्त्रीय स दोनों पक्षों को कलाकारों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति के माध्मय से समाज के सामने लाया गयाऔर इसके अनंतर चित्रकला की प्रविधियों पर विचार किया गया। जिससे भारतीय चित्रकला की परंपराओं, तकनीकों और उसके वास्तविक ध्येयों को उचित रूप से ग्रहण कर सकते हैं। अथवा उसमें प्रविष्ट होकर उसके जीवंत तत्वों को ग्रहण कर उन्हें आधुनिक रूपों में ढाल सकते हैं। वर्तमान में चित्रकला की प्रविधियों का यह अनुशीलन अत्यंत गंभीर विचारोत्तर प्रश्ध्न है।

शोधपत्र का सैद्धांतिक निरूपण

संबंधित साहित्य का अध्ययन शोध को नवीनतम ज्ञान के शिखरों पर ले जाता है। जहाँ उसे अपने क्षेत्र से संबंधित निष्कर्षों एवं परिणामों का मूल्यांकन करने का अवसर प्राप्त होता है तथा यह ज्ञात होता है कि ज्ञान के क्षेत्र में कहाँ रिक्तियाँ हैं। कहाँ निष्कर्ष विरोध है, कहाँ अनुसंधान की पूर्ण आवश्यकता है। जब वह दूसरे अनुसंधानकर्ता के शोधकार्यों का सर्वेक्षण करता है, तो उसे बहुत सी अनुसंधान

एसोसिएट प्रोफेसर, चित्रकला विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर,

विधियाँ, तथ्यों, सिद्धांतों, संकल्पनाओं एवं संदर्भ–ग्रंथों का ज्ञान होता है, जो अनुसंधान में उपयोगी सिद्ध होते हैं।

संबंधित साहित्य से तात्पर्य अनुसंधान की समस्या से संबंधित उन सभी प्रकार की पुस्तकों, ज्ञान–कोशों पत्र–पत्रिकाओं, प्रकाशित शोध प्रबंधों एवं अभिलेखों आदि से है, जिससे अनुसंधानकर्ता को अपनी समस्या के चयन परिकल्पना के निर्माण अध्ययन की रूपरेखा तैयार करने आदि चरणों में सहायता मिलती है। (हम्फ्रीज, 1961)

मूल विषय पर गहन चर्चा और विश्लेषण

अमूर्तन बीसवीं सदी के आत्मिक और सामाजिक संघर्ष के बदलाव की पहचान है। इस सदी में मनुष्य ने हर क्षेत्र में हर दिशा में तेजी से बदलते और बिखरते हुए मूल्यों और संदर्भों के क्रांतिकारी परिवर्तनों से जो साक्षात्कार किया, वह समकालीन रचनाधर्मिता के अनेकपक्षीय वैमत्य को उजागर करता है। यह युग अनेक युगों का मिला–जुला रूप है जिसका खुद का कोई स्वभाव नहीं दृ अनेकरूपता ही इसकी विशेषता है और यही विशेषता असाधारण रूप से इसकी विलक्षणता भी।

विज्ञान और औद्योगिकी के क्षेत्र में नाटकीय प्रगति तथा सामाजिक वातावरण के यंत्रीकरण ने कला की भाषा तथा रूप पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है। एक ओर वैज्ञानिक अनुसंधानों में कलाकारों को निजत्वबोध–सा हुआ है और उनकी कृतियों में अप्रत्यक्ष रूप से विज्ञान के विभिन्न पक्षों और प्रयोगों के प्रति सूक्ष्म खिंचाव महसूस हुआ है, तो दूसरी ओर कुछ लोगों को आभास हुआ कि वैज्ञानिकता जड़ता के बंधन में मानवतावादी आत्मिक मूल्यों का पतन हो रहा है तथा आंतरिक अतृप्ति बढ़ती जा रही है। आत्मिक मूल्यों के प्रति तीव्रता तथा भूख ने ही अमूर्तन की ओर आधुनिक कलाकारों को आकर्षित किया। अनुभूति की इसी तीव्रता से प्रेरित होकर मोंद्रियान ने लिखा था कि अमूर्त सौंदर्य व तात्विक ध्यान के द्वारा ही मनुष्य सार्वभौमिक सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। वस्तु के आंतरिक गुण को ध्यान के द्वारा आत्मसात कर चित्रकार को रंग और रूप के द्वारा सारभूत अस्तित्व को प्रकाशित करना चाहिए।

आंतरिक सौंदर्य को अमूर्त रूपाकारों में अभिव्यक्त करने की तीव्र इच्छा ने वस्तु के बाह्य तत्व और सादृश्य को निर्वासित कर के उसकी भीतरी स्वरूप और गुण को अमूर्तन के द्वारा उद्घ्घाटित किया। इसी चिंताधारा से प्रेरित होकर कांदिंस्की ने 1910 में 'प्रथम अमूर्त चित्र' की रचना करके तत्कालीन दर्शको को अवाक कर दिया। यह चित्र वस्तुनिरपेक्ष रचनाधर्मिता के इतिहास में एक महत्वपूर्ण मोड़ साबित हुआ। इसी समय कांदिंस्की के अमूर्तन संबंधी विचार पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए जिसमें बार–बार कहा कि केवल अमूर्त रूपाकारों की भाषा द्वारा ही कलाकार अपनी हृदयगत भावनाओं को अभिव्यक्त कर सकता है।

'अमूर्त' शब्द अपने आप में बहस का विषय है क्योंकि यह तर्क किया जा सकता है कि सभी कलाएँ अमूर्त हैं। इसकी जगह दूसरे शब्द जैसे 'असीम' वा 'सारभूत' आदि भी असफल रहे हैं। माइकेल सोफर के अनुसार अमूर्तन वह कला है जिसका यथार्थ से कोई संदर्भ अथवा संबंध न हो। यह परिभाषा अमूर्त कला के उन दो पक्षों की ओर इशारा करती है, जो अभूतपूर्व घटना बन गये हैं। पहला पक्ष आरंभिक अवस्था का है जब अमूर्तन अयथार्थता के अंतिम उत्कर्ष तक पहुँच चुका था। दूसरा पक्ष 'द स्टाइल' आंदोलन के साथ शुरू हुआ जिसमें अमूर्तन को एक सारभूत सिद्धांत के रूप में

प्रस्तुत किया गया। पहले प्रकार की कला को 'अमूर्त' तथा दूसरे को 'वस्तुनिरपेक्ष' कहा जाये, तो उचित होगा। नौ दशकों के अंतर्विरोधों एवं विरोधाभासों के बावजूद अमूर्त कला एक सार्वभौमिक रूप में स्थापित होने के बाद भी अनेक सौंदर्यतात्विक समस्याओं को जन्म देती है।

अमूर्तन की तीव्र इच्छा से अभिप्राणित होकर आधुनिक कला संगीत की उस सांकेतिक शक्ति से होड़ लेना चाहती है जिसे कांदिंस्की ने स्थापित किया था या फिर स्थापत्य के उस रूपगत आदर्श से जिसे मोंद्रियान ने अपना लक्ष्य बनाया था। अमूर्तन के इस आंदोलन में क्या मूर्त अथवा अमूर्त के बीच कोई सीमा–रेखा है? पूर्ण अमूर्तन सृजनात्मक प्रक्रिया का आरंभ है अथवा अंत? क्या अमूर्त कला अपने विभिन्न प्रत्यक्षीकरणों सहित सच्चे अर्थों में बीसवीं सदी की देन है अथवा यह केवल एक सामयिक पक्ष है जिसकी समकक्षता अतीत की कलाओं में पायी जा सकती है?

अमूर्त रचनाधर्मिता तथा प्राच्य (पूर्वी) कला के उद्देश्यों में कभी–कभी इतना साम्य प्रतीत होता है कि लगता है कि पाश्चात्य जगत के ये आंदोलन किसी न किसी रूप में प्राच्य विचारधारा और चिंतन से अवश्य प्रेरित रहे होंगे। पोलक, क्लाइन तथा सोलेजेस के अस्तित्ववादी अमूर्त अभिव्यंजनावाद को सुदूर पूर्वी कला के समानांतर आसानी से रखा जा सकता है। यहाँ तर्क किया जा सकता है कि एक सीमित दायरे में प्रभाववादी कलाकारों पर प्राच्य कला का प्रभाव विशुद्ध रूपात्मक और चाक्षुष धरातल पर स्पष्ट प्रतीत होता है, इसी तरह आधुनिक कला आंदोलनों की रचना–प्रक्रिया की जड़ में जो दार्शनिक और आध्यात्मिक तत्व हैं उनका स्रोत प्राच्य कला में खोजा जा सकता है।

बीसवीं सदी के प्रारंभिक दशकों में समकालीन वैचारिक क्रांति के आक्रामक रूप का स्वाद हमें भविष्यवाद आदि कला आंदोलनों के उन घोषणापत्रों से प्राप्त होता है जिसका उद्देश्य पारंपरिक और नैतिक मूल्यों और धारणाओं को धराशायी करने का था। यांत्रिकता की प्रशंसा, संकट से प्यार, आक्रामकता का गुणगान, संघर्षों से एकरूपता इन आंदोलनों के हथियार थे। यह आक्रमण अनेक दिशाओं से आया। अंतिम चोट कांदिंस्की ने की यह कह कर की : "कुछ भी किया जा सकता है।" इधर मातीस बार–बार कह रहे थे कि वस्तु के बाह्य स्वरूप को त्याग कर उसके भीतर निहित शाश्वत सत्य से कलाकार को साक्षात्कार करना चाहिए।

यह सत्य क्या है? यह 'रूप' नहीं है हालाँकि 'रूप' के जरिए वह अभिव्यक्त होता है। "असीम को रूप के द्वारा नहीं पाया जा सकता", कांदिंस्की ने लिखा, "रूप हमेशा काल से बँधा रहता है – वह तो केवल एक माध्यम है जिसके द्वारा हमारी आत्मिक शक्ति प्रतिध्वनित होती है। यही प्रतिध्वनि आत्मा का रूप है और इसी प्रतिध्वनि के द्वारा रूप में प्राण फूँके जा सकते हैं। यह प्राणशक्ति भीतर से बाहर की ओर स्पंदित होती है।"

इस आंतरिक स्वरूप की अभिव्यक्ति कैसे होती है? प्रथमतः पूर्ण एवं सहज सिद्ध आवेग के द्वारा। इस अवस्था को कांदिंस्की 'इंप्रोवाइजेशन' कहा करते थे और आंद्रे ब्रेतों ने इसका नाम दिया था 'स्वचालन' जिसे वे छंदात्मक एकात्म्य और सौंदर्यात्मक संतुष्टि पाने का एकमात्र रास्ता मानते थे। पाउल क्ले कहते थे कि प्राकृतिक रूपों के अमूर्तन द्वारा ही सच्चा सृजन होता है। इस प्रक्रिया में प्रकृति का नया जन्म होता है और कला के प्रतीकों को नयी शक्ति, नया अर्थ प्राप्त होता है।

बाँस के चित्र को बनाते समय प्रसिद्ध जेन विचारक वेन तुंग कहते हैं : "मैंने गौर से बाँस को देखा और हर्षविभोर हो कर अपनी आंतरिक सत्ता को खो कर बाँस के साथ एकाकार हो गया। मैं यह भूल ही गया कि ब्रुश मेरे हाथ में है और सामने कागज बिछा है। अचानक एक अजीब स्पंदन में, मैं आनंदमंय हो उठा और बाँस का सार–स्वरूप मेरी तूलिका द्वारा रूपायित हो उठा।" इन सृजन प्रक्रिया से अमेरिकी चित्रकार जेक्सन पोलक का कितना साम्य है। अपनी रचनात्मक प्रक्रिया के बारे में वे लिखते हैं : "जब मैं चित्र के साथ एकरूप हो जाता हूँ मुझे पता नहीं चलता कि मैं क्या कर रहा हूँ। चित्र में परिवर्तन करना, निर्मित आकार को नष्ट कर देना आदि विचारों से मैं डरता नहीं क्योंकि चित्र के अपने प्राण होते हैं, मैं उसको अपने आप बनने देता हूँ। (एम., 1954)

समकालीन कला के चाक्षुष विषयवस्तु को अभिव्यक्त करने की अभिलाषा से मुक्ति पाने की चेष्टा की है। संगीत की तरह अमूर्त कला भी किसी विषय की व्याख्या नहीं करती, कोई कहानी नहीं कहती। यह आत्मा के उस असंप्रेषित पक्ष को उजागर करती है जहाँ संकेत आकार बन जाते हैं, विचार बन जाते हैं। आज का कलाकार किसी एक कृति में स्वतः को अभिव्यक्त नहीं करता, उसकी कृतियाँ उसी निरंतरता का अंग हैं जो किसी संगीत–रचना की तरह समय के साथ–साथ चलायमान होती रहती हैं। आज का कलाकार इस निरंतरता में अपनी अमूर्तन शक्ति और बुद्धि के माध्यम से अफुरंत ऊर्जा से प्रेरणा लेकर आगे बढ़ रहा है। इस अफुरंत ऊर्जा की खोज हर कलाकार व्यक्तिगत अनुभवों, मुहावरों तथा अपनी निजी भाषा से करना चाहता है।

कालचक्र की अरों से परे कला अपनी एक अलग ही अस्मिता है, कला एक ओर एक विशुद्ध आनंद की स्रोतवाहिनी है तो दूसरी ओर जीवन–दायिनी पयस्वीनी। इस संदर्भ में ललित कलाओं की व्यावहारिक उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता है। 'अर्थकारिका विद्या' के समान, कला जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का सामान भी है और ब्रह्मानंद सहोदर सौंदर्यानुभूति के रूप में साध्य भी। कलाकार की प्रत्येक कृति सृजन का पर्याय तो है ही साथ ही उसके कौशल, उसकी कारीगरी और उसकी तपस्या की तपन की जीवंत प्रतिकृति भी रही है।

मेरा मानना है कला संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अवयव है जो मानव मन को परिष्कृत एवं अलंकृत करती है। भारतीय दर्शन साहित्य एवं धार्मिक मान्यताओं आदि की अभिव्यक्ति विशेषतः दृश्य कलाओं में देखी और अनुभव की जा सकती है। कला के चिंतन व विवेचन से आध्यात्मिक सुख प्राप्त होता है। पर यदि उसे प्रविधि विशेष द्वारा विकसित किया जाए तो वह कलाकार के लालित्य और सृजन की प्रेरणा बन जाती है और यही प्रेरणा कला को जन्म देती है। कला सृजनके भी बाह्य माध्यम चित्र, शब्द, स्वर अथवा अन्य हो सकते हैं। अन्य इस संदर्भ में है क्योंकि आज का कलाकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए नित नये साधनों को खोज रहा है। वह ऐसे माध्यम तलाशने में जुटा है, जिससे वह अधिक से अधिक, सशक्त और प्रभावी तरीके से अपने भावों की अभिव्यंजना कर सके। प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक कला इतिहास में हमें ऐसे कई उदाहरण प्राप्त होते हैं।

सर्वप्रथम 1849 में रिचर्ड बेगनर ने ग्रीक थियेटर से प्रभावित होकर एक ऐसे कला संसार की दृष्टि की जिसमें चित्र में संगीत, शब्दों इत्यादि का प्रयोग किया था जिसके दर्शकों को एक भिन्न एंद्रिय आनंद की अनुभूति हुई। 1930 में अतियथार्थवादी

शिल्पियों ने संस्थापन कला में जिस कला का सृजन किया वह फनफेयर जैसा लगता था। जर्मन कलाकार कर्ट श्वीटर्स ने अपने बड़े घर को जंक कोलाज में दिया था। 1958 में फ्रेंच कलाकार ने पेरिस में एक प्रदर्शनी की थी जिसमें उनकी कृति को देखकर आज के संदर्भों में प्रयुक्त संस्थापन कला का आभास किया था। हालांकि संस्थापन कला शब्द की शुरूआत 1970 के दशक से मानी गई। 20वीं सदी के अंतिम दशक तक आते आते यह अपने पूरे यौवन पर थी। संस्थापन कला समकालीन कला की एक शैली के रूप में उभरकर सामने आई। कला का यह विशिष्ट नामकरण हाल ही में आया है। जबकि इसका पहला प्रयौग 1969 में ही हो गया था, जब मार्शल डशेम्प ने रेडिमेड आर्ट में विभिन्न वस्तुओं का प्रयोग कर अपनी कलाभिव्यक्ति प्रस्तुत की थी। प्रारंभ में ये कलाकृतियाँ अस्थायी होती थीं। बाद में कलाकृतियों को क्रय कर संग्रहीत किया जाने लगा। जैसे 1981 में हीशोर्न म्यूजियम वाशिंगटन द्वारा कलाकार जूडी पफ की कृति काबुकी को संग्रहीत किया। 1987 में सांची गैलरी लंदन द्वारा रिचर्डविल्सन की कृति 20ः 50 को संग्रहीत किया गया। यही कारण है कि इस विधा को पूर्व में अन्य भिन्न–भिन्न नामों से जाना जाता था जैसे प्रोजेक्ट आर्ट, टेम्परेरी आर्ट आदि।

संस्थापन कला, प्रदर्शनी स्थल को तीन आयामी कलाकृति के रूप में अभिव्यक्ति को कहते हैं। इस शैली में वास्तु से संबंधित दिलचस्प एवं रोजमर्रा की वस्तुओं को एक स्थान पर संयोजित कर प्रदर्शित किया जाता है। कभी–कभी दर्शक इस कलाकृति का हिस्सा भी बन जाता है। संस्थापन कला में उपयोग की जाने वाले माध्यम या संसाधन असीमित है। साथ ही यह विभिन्न क्षेत्रों में जैसे अमूर्त आवश्यक कथानक आधारित, राजनीतिक अथवा सैद्धांतिक, अस्थायी अथवा स्थायी अभिव्यक्ति में अपना स्थान बना चुकी है। इस कला शैली के लिए यह आवश्यक नहीं है कि इसके प्रदर्शन के लिए आर्ट गैलरी का ही प्रयोग किया जाए। इसके प्रदर्शन के लिए खुली सड़कों, बगीचों, खेतों, समुद्री किनारों अथवा किसी भी सार्वजनिक स्थान का उपयोग किया जा सकता है। इस विधा में हर संभव मिश्रित माध्यमों का प्रयोग वातावरण विशेष को प्रदर्शित करने के लिए किया जा सकता है। इसके अंतर्गत नवीनतम माध्यमों जैसे वीडियो साउंड, परफारमेंस, इंटरनेट इत्यादि का प्रयोग कर वर्चुअल आभासीय वातावरण की सृष्टि की जाती है। इसका आशय कला और जीवन के मध्य दूरी को मिटाना भी है और दर्शकों को मंचीय अनुभव में शामिल करना भी है।

1910 के दशक में कलाकार चित्रकला या मूर्तिकला की परंपरागत अभिव्यक्ति से भिन्न कुछ अलग करना चाहते थे। इसी संदर्भ में रूसी, जर्मन और डच कलाकारों ने फाइन आर्ट और क्राफ्ट को शिल्प वास्तुकला और अलंकरण के साथ एकीकृत कर शुद्ध ज्यामितीय रूपों में अपनी कलाभिव्यक्ति की और यही संस्थापन कला के रूप में उभरने लगी। इस शैली में फ्रांसीसी अमेरिकी कलाकार मार्शल डशेम्प, जर्मन कलाकार कर्ट श्वीटर ने अनेक कलाकात्मक कृतियों का निर्माण किया है जिसमें उन्होंने चित्र अंतराल में आकर्षक वातावरण की सृष्टि की है, जिसमें '1200 बैग ऑफ कोल' 1938 जिसमें उन्होंने कोयले की 1200 थैलियों को फर्श पर संयोजित किया एवं एक महत्वपूर्ण शिल्प कार्य में एक कमरे में सेट और माइक के लचीले तारों के जाल से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। दोनों की कृतियाँ न्यूयार्क की कला दीर्घाओं

में दशकों के अनुभवों में परिवर्तन हेतु प्रदर्शित की गई। जर्मन के कलाकार श्वीटर ने अपने घर में पाये जाने वाली अनुपयोगी सामग्रियों द्वारा कलाकृति "झूठा" टुकड़ा का निर्माण किया। एक अन्य अग्रणी अमरीकी कलाकार लुइस नेवेल्शन और लुईस बर्गोइस ने 1950 में एक वृहद् कलाकृति का निर्माण किया जिसमें लकड़ी के विभिन्न रूपों को प्रयोग किया गया। इस कृति में उन्होंने स्वतंत्र वस्तु के स्थान पर वातावरण की सृष्टि को प्रमुखता दी। पश्चिमी संस्थापन कला को गुटई समूह द्वारा जापान में 1954 में शुरू किया गया जो एलन काप्रो जैसे अमेरिकी संस्थापन कलाकारों द्वारा प्रभावी मंच में शामिल किया गया।

वीडियो कला

1980 के बाद से संस्थापन कला को एक अलग विषय के रूप में देखा जाने लगा और एन हैमिल्टन, डेविड होमोन्स, जमीमा पफ अन्य अमेरिकी कलाकारों द्वारा जीवंत और जटिल संस्थापन कला बनाने के लिए सामग्री की एक व्यापक श्रेणी का उपयोग किया गया। 1995 में पेंसिल्वेनिया के अनुपयोग गिलास और अन्य रंगीन रचना सामग्री के साथ कार्निवाल का 14 किलोमीटर लंबा दृश्य स्थापित किया गया। इसी संदर्भ में भारतीय कलाकार सुबोध गुप्ता ने भी कई चित्र, इंस्टालेशन, वीडियो, में अभूतपूर्व प्रयोग किये हैं, और इनकी कृतियों को विश्व के प्रतिष्ठित संग्रहों जैसे चार्ल्स साची, फ्रांसीसी पिनोल्ट और फ्रांक कोहेन में संग्रहीत किया गया है। 2006 में बनाई गई वेरी हंगरी गोंड उनकी जीवन का एक अहम मोड़ था जिसमें उन्होंने लोगों की भूख पर हजार किलो के खोपड़ी चमकदार एल्यूमीनियम के बर्तनों से निर्मित कर टिप्पणी की। इसे पेरिस के चर्च इग्लीस सेंट बर्नाड में रखा गया। आने वाले समय में संस्थापन कला एक महत्वपूर्ण और सशक्त कलाभिव्यक्ति के रूप में अपना स्थान बना लेगी। आज कलाकार हर संभव प्रयोग इस शैली में कर रहा है। इंटरेक्टिव इंस्टालेशन का भी प्रयोग बढ़ा है जिसमें कलाकार कलाकृति के साथ–साथ दर्शक को भी कृति में शामिल करता है। इन प्रयोगों में विभिन्न कला सामग्रियों के साथ वीडियो साउंड का तालमेल रंगों के प्रभाव से इस तरह उत्पन्न किया जाता है कि दर्शक एक विशेष आभासीय वातावरण में स्वयं को महसूस करता है। विवान सुंदरम ने एक ऐसी ही प्रभाव अपने संस्थापन "12 बेड इन वार्ड" में दिखाया है कि 12 लोहे के पलंग रखे गये उन पर चप्पल के आकार के छेद वाले जाल बिछाकर ऊपर से प्रकाश की रोशनी इस तरह डाली गयी जिससे पलंग पर रखे गये चप्पल के आकार की छाया जमीन पर पड़ने लगी और उस पूरे कमरे का वातावरण दर्शक के मन में समाज के उस विशेष तबके के माहौल का आभासीय प्रभाव डालने लगा जो छुग्गी–झोपड़ी में जाने से महसूस होता। इसी तरह अनुपयोगी सामान और कचरों का ढेर लगाया गया उस पर एक है। इससे सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही तरह के भावों को दर्शाने का प्रयास किया गया। सकारात्मक इस दृष्टि से कि अंततः वह लड़का कचरे के ढेर पर चढ़ने में सफल हो ही गया और नकारात्मक इस दृष्टि से समाज का एक तबका इससे आगे सोच ही नहीं सकता। आज का समकालीन कलाकार संस्थापन कला में नये–नये प्रयोग कर रहा है इससे यथासंभव उन भावों की अभिव्यक्ति में भी सफलता मिलती जहाँ पारंपरिक कलाकर्म में कलाकार स्वयं को असहज महसूस करता है।

इस विधा में कार्य करने वाले अन्य राष्ट्रीय अंतरराष्ट्रीय कलाकारों में डी ला क्रूज एनजेल,

ग्रेगलेन, फ्रेंज बेस्ट, एलीसन ओलफर, जेफ्री शॉ, सुबोध गुप्ता, अनीश कपूर, जेनी होल्जर, नितिश कलात, रीना साइनी कलात, तल्लूर एल एन, माइकल जो, रीना बेनर्जी इत्यादि प्रमुख हैं।

सुबोध गुप्ता (संस्थापन कला)

"इस बात की कोई संभावना नहीं है कि अटारी में पड़ा कोई इंस्टालेशन मास्टर पीस कलाकृ ति कहलाएगा।" – विवान सुंदरम

विवान सुंदरम

आजादी के 75 वर्षों बाद आज समकालीन भारतीय कला की दशा–दिशा के नये आयाम सामने आये हैं। प्रयोगधर्मी कला (इंस्टालेशन आर्ट) और ग्राफिक कला (जिसे छापाकला या प्रिंटमेकिंग के नाम से अधिक पहचाना जाने लगा है)। इस क्षेत्र में बहुत अधिक काम हो रहा है। प्रिंटमेकर अपनी कला के एक से अधिक प्रिंट बनाता हैऔर सिल्क स्क्रीन में तो सैंकड़ों प्रिंट बनाता है स (ललित कला कंटेम्परेरी–16) प्रिंटमेकिंग में आज दिल्ली, चेन्नई, बड़ोदरा शांति निकेतन, भारत भवन, भोपाल, खेरागढ़ (छत्तीसगढ़) में कलाकार अधिक दिलचस्प उत्तेजक और प्रयोगधर्मी काम कर रहे हैं। दक्षिण में, लक्ष्मा गौड़, दिल्ली में अनुपन सूद, खेरागढ़ मे प्रो. वी. नागदास और अन्य स्थानों मे डाकोजी देवराज, कविता नायक, राजेन्द्र कुठारी, दत्तात्रय आप्टे, जयंत गजेरा, सुशांत गुहा, रिनी धूमाल, कंचन चंदर, आनंदमय बनर्जी महत्वपूर्ण प्रिंटमेकर अपना नाम बना चुके हैं। आधुनिक रचनात्मक प्रिंटमेकिंग का वास्तविक इतिहास, जो कलकत्ता से शुरू होता है। (राय, 1939)

अब बात उठती है संस्थापन कला में भारतीय कलाकार पश्चिमी दुनिया की तुलना में सार्थक बयान के साथ काम कर रहे हैं। संस्थापन कला में विवान सुंदरम, नलिनी मालिनी, गोगी सरोज पाल, मृणालिनी मुखर्जी, माधवी पारेख, नीलिमा शेख, अपर्णा कौर ने भारतीय समकालीन कला में एक नया भूचाल लाया था। अपनी सोच के साथ सांप्रदायिकता के साथ सामाजिक पहलू के विषयों पर काम किया है। उनके कामों में रचनात्मक कलाकर्म के रूप में देखा जाता है। (पोयट्स, 1974)

स्वतंत्रता के बाद समकालीन भारतीय मूर्ति शिल्पियों ने अपनी एक अलग पहचान बनायी, चित्रकारों की तुलना में कहीं अधिक संघर्ष करना पड़ा मूर्ति शिल्प की महान भारतीय परंपरा से आध ुनिक भारतीय मूर्ति शिल्पियों का बहुत कम संवाद था। स्वतंत्रता के बाद भारतीय मूर्ति शिल्पियों के सामने आधुनिक होने के मॉडल या आदर्श भी बहुत कम थे। समकालीन भारतीय मूर्ति शिल्पियों के सामने महत्वपूर्ण रचनात्मक चुनौती भी थी, इसमें बड़ोदरा के नागजी पटेल, तिरुवनंतपुरम के कनाई कुन्हीरामन द्वारा रचनात्मक की महत्ता से कला संस्कृति को लोगों के सामने लाने का प्रयास किया। इस श्रृंखला में सोमनाथ खेर, शेख चौधरी, धनराज भगत, सबरीय राय चौधरी, बाकरे, बलवीर कट, हिम्मत शाह, ध्रुव मिस्त्री, एन.एन. रिमजन, एन. पुष्पमाला, लतिका कट्टा, रविंदर रेड्डी, राबीन डेवीड, वेद नायर, मदनलाल, रिक्कू, राजेन्द्र कुमार, जैसे समकालीन भृत्ति शिल्पियों ने भारतीय मूर्ति शिल्प का भविष्य बेहतर किया है।

वीडियो आर्ट और उसके नये पहलू भारतीय समकालीन कला में सत्तर के दशक में आया जब ललित कला अकादमी, नई दिल्ली द्वारा आयोजित है। दियूवार्षिकी अंतरराष्ट्रीय कला प्रदर्शिनी में एक पुराने महल में पीटर ग्रीनवे नेवीठियो फिल्मों और अन्य उपलब्ध सामग्री की मदद से एक अद्भुत

इंस्टालेशन लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया, उसके बाद भारतीय समकालीन चित्रकला में वीडियो कैमरे की मदद से प्रभावशाली फिल्में बनाई गईं। इसी श्रृंखला में विवान सुंदरम, नलिनी भावानी, रणवीर सिंह कालेका, सुबोध गुप्ता, प्रतुल दाश आदि अनेक नये–पुराने कलाकार इन दिनों वीडियो इंस्टालेशन का सुंदर रचनात्मक इस्तेमाल कर रहे हैं। पर क्या कैनवास इतिहास की चीज हो जाएगा। यह एक जटिल प्रश्न है।

आधुनिक दुनिया में कलाकार एक तरह की गेरिल्ला योद्धा है दृ वह हर चीज का लाभ उठाना चाहता है। अब समाज से कलाकार का संवाद बाजार के अलावा कौन–सा है।– जगदीश स्वामीनाथन (सूचीपत्र से, मार्च 1966)

निष्कर्ष

शोधपत्र में भारतीय समकालीन कला के पिछले 75 वर्षों के लेखा–जोखा संक्षिप्त रूप में लाने का एक प्रयास रहा है। मेरे विचार में अपनी परंपरा से भली प्रकार एकाकार होने के बावजूद उसे अपनी रुचियों और क्षमताओं के अनुरूप बदल देते हैं। और इस प्रक्रिया में खुद अपने को सीमित कर लेते हैं। विशेषकर वे भारतीय कला के अनुभव के सिद्धांत और सौंदर्य शास्त्र की व्याख्या गीतात्मक मृदुला के साथ करते हैं। वह चीजों की युक्तिसंगत बताकर अपनी अद्वितीय संवेदनशील को संकुचित करते हैं। चाहे प्रयोगधर्मी और नये–नये माध्यम कला की दशा–दिशा के लिए अद्भुत क्षमता और ज्ञानातीय स्वयं अपने ही विलक्षण और विदग्धकर देने वाले चमत्कार घटित करता है। और संवेदनशील मन, बराबर सभी जगह इनमें संवेदित और झंकृत होते हैं।

संदर्भ

1. (मार्च 1969). सूचीपत्र से. नई दिल्लीः कुणिका–केमोल्ड कला केंद्र.
2. एम., ह. (1954). आर्ट एक्सपीरियंस. मैसूरः काव्यालय पब्लिकेशसं
3. पोयट्स, द. प. (1974). आर्पध्श्विल्जर्स/क्ले. हार्मोन्डसवर्थः पेंगुइन बुक्स,.
4. (मार्च 1966). सूचीपत्र से. नई दिल्ली,; कुणिका–केमोल्ड कला केंद्र.
5. राय, क. (1939). भारत की चित्रकला. वाराणसीः नागरी प्रचारिणी सभा.
6. ललित कला कंटेम्परेरी–16. (द.क.). ललित कला अकादेमी, पृ.15.
7. हम्फ्रीज, ल. (1961). पाउल क्ले द थिंकिंग आई . ज. स. नोटबुक (म्क.). विटेनबोर्न, लंदन–न्यूयॉर्क
8. विनोद भारद्वाज. (2005). बृहद आधुनिक कला कोश, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, प्रथम संस्करण

पुराणतत्त्व मीमांसा में अन्तर्निहित श्रीमद्भागवत महापुराण का अर्थानुशीलन

रिंकू कुमार*, कमलेश कुमारी**

भारतीय वाक्य तथा विश्वसाहित्य में पुराण शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में हुआ है। वैदिक–साहित्य तथा संस्कृत–साहित्य में पुराण शब्द के अर्थ के विषय में एक दीर्घकालीन–परम्परा का दर्शन होता है। 'पुराण' शब्द का सामान्य अर्थ है– 'पुराना' अतः पुरानी बातों के सङ्कलन से युक्त साहित्य को 'पुराण' कहते हैं। 'पाणिनि, यास्क' एवं पुराणों ने भी 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति की है। 'पुराभवम्' (प्राचीनकाल में होने वाला) इस अर्थ में 'सायञ्चिरं प्राह्नै प्रगेऽव्यभ्यश्ट्युट्युलौतुट् च' इस सूत्र से 'पुरा' शब्द से 'ट्यु' प्रत्यय करने और 'तुट्' के आगम होने पर 'पुरातन' शब्द निष्पन्न होता है, परन्तु पाणिनि ने 'पूर्वाकालैकसर्वजरत्पुराण नव केवलाः समानाधिकरणेन' एवं 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' इन दो सूत्रों में 'पुराण' शब्द प्रयुक्त किया है, जिससे 'तुडागम' का अभाव निपातनात् सिद्ध होता है, परन्तु 'तुडागम' नहीं होता। यास्क ने निरुक्त में 'पुराण' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है–'पुराण कस्मात्? पुरा नवं भवति। 'पुरा' अव्ययपूर्वक 'पायेण' धातु से 'ड्' प्रत्यय करने के बाद 'टि' लोप और 'णत्व' कार्य करने पर 'पुराण' शब्द सिद्ध होता है अर्थात् 'पुरा+नी' 'ड्' ये तीनों अव्यय मिलकर व्याकरणशास्त्र के नियमानुसार 'पुराण' शब्द के रुप में परिणत हो जाते हैं। भगवान् को 'पुराण–पुरुष' कहा जाता है। पुराण का अर्थ 'जीर्ण' नहीं, अपितु 'आदि विकास की गाथा' हैं। गीता में भगवान् की प्रार्थना में आया है–'कविं पुराणमनुशासितारम्' अर्थात् भगवान् 'क्रान्तदर्शी' और पुराण होने से 'अनुशासक' हैं। अतः मूलतः पुराण शब्द से आदि–साहित्य का अर्थ है और 'आदि–साहित्य' वह है, जिसमें आदिदेव आत्मा का बोध होता है। इस आदि–विद्या को ही वेदव्यास ने जगतकल्याण हेतु सर्गादि पाँच लक्षणों में ग्रथित किया और यही 'पुराण' कहलाता है। संस्कृत–साहित्य के ग्रन्थकार इसी अर्थ को स्वीकार करते हैं।

ब्रह्माण्डपुराण में 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–'पुरा एतत् अभूत' अर्थात् प्राचीनकाल में ऐसा हुआ। मत्स्यपुराण के 'पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधा।' 'पुराण' शब्द ऋग्वेद में कई स्थलों पर प्रयुक्त हुआ है। यह वहाँ विशेषण है तथा उसका अर्थ है–प्राचीनकाल में होने वाला। वैसे भी 'पुराण' शब्द का अर्थ लौकिक–भाषा में 'पुराना–वस्त्र, पुरानी–पुस्तक' प्राचीतर को सिद्ध करता है। अतः जो प्राचीनतर है, वह 'पुराण' है। प्रारम्भिक अवस्था में यह शब्द पुराने आख्यान में प्रचलित था, इतिहास के साथ यह शब्द ब्राह्मण, उपनिषद् और प्राचीन बौद्ध–साहित्य में आया है। ये भी वेद के व्याख्या ग्रन्थ हैं। पुराणों में वेद प्रतिकूलता का दर्शन बुद्धिविभ्रममात्र है। कोषकारों

शोधार्थी, योग अध्ययन विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला–5
छात्रा, योग अध्ययन विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, समरहिल, शिमला–5

ने इसका सामान्य अर्थ पुराना स्वीकार किया है–'पुराणं प्रतनप्रत्नपुरातनं चिरन्तनः।' अमरकोष में पुराण शब्द के लिए एक स्थान पर 'पुराभवम् यद्धपुरा अपि नवम्, यद्धा पुरा अतीता नामतौ अर्थौ अणति' कहा गया है अर्थात् प्राचीन होकर भी नवीन या भूत, भविष्य के अर्थों को पहले ही कह देने वाला पुराण है। साधारणतः 'पुराण' शब्द से भ्रान्तिवश उन ग्रन्थों का ग्रहण किया जाता है, जैसे विषय नव्य–विचारधारा से दूर कपोलकल्पित 'कथामात्र' है।

वायुपुराण में 'पुराण' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है–'पुरा अनति' अर्थात् प्राचीनकाल में जो जीवित था। श्री गोस्वामीजी के अनुसार 'पुराणात् पुराणम्' अर्थात जो पूरण करता है, वह पुराण है। 'अथर्ववेद' एवं 'ब्राह्मण–ग्रन्थों' में सृष्टिमीमांसा के अर्थ में 'पुराण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाभारत में 'पुराण' शब्द 'पुराणामाख्यानम्' अर्थात् प्राचीन आख्यान के लिए प्रयुक्त है। भारतीय साहित्य में आख्यान के अतिरिक्त 'पुराण' शब्द का प्रयोग इतिहास के लिए भी किया गया है। पद्मपुराण के अनुसार 'जो परंपरा की कामना करते हैं', वह 'पुराण' है। अमरकोष के अनुसार 'पुराण पंचलक्षणम्' अर्थात् सृष्टि, उत्पत्ति, विनाश, वंश–परम्परा, मनुओं का वर्णन तथा विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र–ये पाँच विषय जिन ग्रन्थों में मुख्य रूप से वर्णित हों, वे पुराण कहलाते हैं। श्री मधुसूदन के 'विश्वसृष्टैरितिहासः पुराणम्' अर्थात् विश्व का इतिहास ही पुराण है। वात्स्यायन ने 'लोकवृत्त' को ही पुराण 'आद्येतिहास' कहा है।''

भागवत शब्द के विद्वानों द्वारा अनेकविध अर्थ किए गये तथा इसके सम्बन्ध में बहुधा व्युत्पत्तियां एवं लक्षण लब्ध हैं। भागवत का व्युत्पत्ति परक अर्थ है–''भगवतः इदं इति भागवतं'' अर्थात् जो स्वयं भगवान का श्रीविग्रह है वही भागवत है। अथवा–''भगवतः ब्राह्मण प्रोक्तमिति भागवतम्'' जो भगवान द्वारा प्रोक्त हो वह भागवत है। कई स्थानों पर भागवत के प्रसंगों में भक्त के अर्थ में भागवत शब्द आया है ''भगवतानाम् इदं इति भागवतम्'' अथवा ''भगवद् भक्तानां नोदयति यस्मिन् इति भागवतम्''। अर्थात् जिसके द्वारा भगवान के भक्तों का हृदयाल्हादन होता है वह भागवत है। एतदेव ''भगवतः चरितं यस्मिन् तत् इति भागवतम्'' अर्थात जहां भागवत के चरित्रों का उल्लेख हो वही भागवत है। आशय यह हुआ कि जिसके भक्त–भक्ति और भगवान का प्रतिपादन किया जाता है वही भागवत है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि सब लोकों में 'भा' (प्रभा) अर्थात् महत्ता है, नारदादि महर्षियों ने इसका ज्ञान किया है, यह शास्त्रान्तास्थ है, अस्तु भागवत है। एतदेव 'भकीर्ति, ग–ज्ञान, व–सर्वाभीष्ट, त–विस्तार' का प्रतिपादन पूर्वक जो भक्तों को भक्ति प्रदान करता है अथवा 'धर्मार्थकाममोक्ष' रूप चर्तुवर्ग को प्रदान करने के कारण वह भागवत है यथा–'भा' शब्दः कीर्तिवचनो, 'ग' शब्द ज्ञानवाचकः। सर्वेष्टवचनों वश्च'–'तो' विस्तारस्य वाचकः।।

पद्मपुराण में कहा गया है कि ''सम्पूर्ण पुराणों में श्रेष्ठ श्रीमद्भागवत में जहाँ प्रतिपद में नाना विधाओं से विष्णु का गायन किया गया हो तथा 'जन्माद्यस्य' के ग्रहण से जिसका प्रारम्भ किया गया हो तथा जहां गायत्री को अधिकृत कर धर्म का विस्तार एवं वृत्रासुर आदि प्रसंगों का जिसमें समावेश हो वह भागवत है।''

एतदेव गरूड़पुराण में कहा गया है कि ''जिसमें ब्रह्म सूत्रों का अर्थ प्रतिपादित हो, तथा गायत्री का भाषा विस्तार हो, और वेद का अर्थ ग्रहण हो, पुराणों का सारग्रहण हो, और द्वादशस्कन्ध से

संयुक्त हो वह साक्षात भगवद् रूप भागवत है। इसी प्रकार स्कन्ध पुराण में भी भागवत का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि– जो अट्ठारह हजार श्लोगों का संग्रह एवं द्वादश स्कन्ध से युक्त तथा हयग्रीव चरित एवं ब्रह्म विद्या के साथ–साथ वृत्रासुर आदि प्रसंगों का प्रतिपादक है तथा गायत्री से जिसका प्रारम्भ किया जाये वही भागवत है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हुआ कि सभी जगह गायत्री का ग्रहण और द्वादश स्कन्ध तथा अट्ठारह हजार श्लोकों का संग्रह के कलेवर को भागवत के रूप में स्वीकार किया गया। (यहाँ पर ध्यान रहे कि ये लक्षण श्रीमद्देवीभागवत के कलेवर से भी मिलते हैं, परन्तु भगवान विष्णु का प्रतिपादक होने से यहां भागवत महापुराण का ग्रहण करना अपेक्षित है।) इस प्रकार से षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न एवं भक्त–भक्ति एवं भगवान के महान चरित्रों का प्रतिपादक होने से यह श्रीमद्भागवत महापुराण के रूप में प्रतिष्ठापित है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि षविध ऐश्वर्य सम्पन्न ही भगवान है। भाग छः माने गये हैं–धर्म, ऐश्वर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः जिसमें सम्पूर्ण रूप से निवास करते हैं उसे 'भग' अर्थात भगवान कहते हैं, और भागवत का प्रारम्भ भी ऋषियों के छः प्रश्नों से ही होता है। यही प्रश्न अनेक होने पर भी उनके द्वारा एक ही वस्तु ज्ञातव्य है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रन्थ के आरम्भ में प्रश्न छः हैं और ग्रन्थ के स्कन्ध बारह हैं। अतः सिद्ध हुआ कि दो–दो स्कन्धों में एक–एक प्रश्न का उत्तर समाहित है। प्रथम एवं द्वितीय, दो स्कन्धों में ज्ञान, तृतीय तथा चतुर्थ स्कन्ध में वैराग्य, पंचम एवं षष्ठ स्कन्ध में धर्म के दो प्रकार स्थान तथा पोषण, सप्तम एवं अष्टम स्कन्ध में प्रहलाद, मनु आदि के चरित्रों के माध्यम से ऐश्वर्य, नवम एवं दशम् स्कन्ध ा में यश तथा एकादश और द्वादश स्कन्ध मे श्री का निरूपण हुआ है इस प्रकार प्रश्नों से ही श्रीमद्भागवत नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

भागवत शब्द के सिद्धांत द्वारा अनेकविध अर्थ किए गये तथा इसके सम्बन्ध में बहुधा व्युत्पत्तियां एवं लक्षण लब्ध हैं। भागवत का व्युत्पत्ति प्रकाश अर्थ है–''भगवतः इदं इति भागवतं'' अर्थात् जो स्वयं भगवान का श्रीविग्रह है वही भागवत है। अथवा–''भगवतः ब्राह्मण प्रोक्तमिति भागवतम्'' जो भगवान द्वारा प्रोक्त हो वही भागवत है। कई स्थानों पर भागवत के प्रसंगों में भक्त के अर्थ में भागवत शब्द आया हैं ''भगवतानाम् इदं इति भागवतम्'' अथवा ''भगवद् भक्तानां नोदयति यस्मिन् इति भागवतम्।'' अर्थात् जिसके द्वारा भगवान के भक्तों का हृदयाल्हादन होता है वह भागवत है। एतदेव–''भगवतः चरितं यस्मिन् तत् इति भागवतम्'' अर्थात जहां भागवत के चरित्रों का उल्लेख हो वही भागवत है। आशय यह हुआ कि जिसके भक्त–भक्ति और भगवान का प्रतिपादन किया जाता है वही भागवत है। इसके सम्बन्ध में कहा गया है कि 'सब लोकों में ''भा'' (प्रभा) अर्थात् महत्ता है, नारदादि महर्षियों ने इसका ज्ञान किया है, यह शास्त्रान्तस्थ है, अस्तु भागवत है। एतदेव भ–कीर्ति, ग–ज्ञान, व–सर्वाभीष्ट, त–विस्तार का प्रतिपादन पूर्वक जो भक्तों को भक्ति प्रदान करते हैं अथवा 'धर्मार्थकाममोक्ष' रूप चर्तुवर्ग प्रदान करने के कारण यह भागवत है यथा–'भा' शब्दः कीर्तिवचनो, 'ग' शब्द ज्ञानवाचकः। सर्वेष्टवचनो वश्च'–'तो' विस्तारस्य वाचकः।।

पद्मपुराण में कहा गया है कि ''सम्पूर्ण पुराणों में श्रेष्ठ श्रीमद्भागवत में जहाँ प्रतिपद में नाना विधाओं से विष्णु का गायन किया गया हो तथा 'जन्माद्यस्य' के ग्रहण से जिसका प्रारम्भ किया गया हो तथा जहां गायत्री को अधिकृत कर धर्म का विस्तार एवं

वृत्रासुर आदि प्रसंगों का जिसमें समावेश हो वह भागवत है।

एतदेव गरूड़पुराण में कहा गया है कि ''जिसमें ब्रह्म सूत्रों का अर्थ प्रतिपादित हो, तथा गायत्री का भाषा विस्तार हो, और वेद का अर्थ ग्रहण हो, पुराणों का सारग्रहण हो, और द्वादशस्कन्ध से संयुक्त हो वह साक्षात भगवद् रूप भागवत है। इसी प्रकार स्कन्ध पुराण में भी भागवत का लक्षण स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि– जो अट्ठारह हजार श्लोगों का संग्रह एवं द्वादश स्कन्ध से युक्त तथा हयग्रीव चरित एवं ब्रह्म विद्या के साथ–साथ वृत्रासुर आदि प्रसंगों का प्रतिपादक है तथा गायत्री से जिसका प्रारम्भ किया जाये वही भागवत है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हुआ कि सभी जगह गायत्री का ग्रहण और द्वादश स्कन्ध तथा अट्ठारह हजार श्लोकों का संग्रह के कलेवर को भागवत के रूप में स्वीकार किया गया। (यहाँ पर ध्यान रहे कि ये लक्षण श्रीमद्देवीभागवत के कलेवर से भी मिलते हैं, परन्तु भगवान विष्णु का प्रतिपादक होने से यहां भागवत महापुराण का ग्रहण करना अपेक्षित है।) इस प्रकार से षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न एवं भक्त–भक्ति एवं भगवान के महान चरित्रों का प्रतिपादक होने से यह श्रीमद्भागवत महापुराण के रूप में प्रतिष्ठापित है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि षविध ऐश्वर्य सम्पन्न ही भगवान है। भग छः माने गये हैं– धर्म, ऐश्वर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः जिसमें सम्पूर्ण रूप से निवास करते हैं उसे 'भग' अर्थात भगवान कहते हैं, और भागवत का प्रारम्भ भी ऋषियों के छः प्रश्नों से ही होता है। यही प्रश्न अनेक होने पर भी उनके द्वारा एक ही वस्तु ज्ञातव्य है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रन्थ के आरम्भ में प्रश्न छः हैं और ग्रन्थ के स्कन्ध बारह हैं। अतः सिद्ध हुआ कि दो–दो स्कन्धों में एक–एक प्रश्न का उत्तर समाहित है। प्रथम एवं द्वितीय, दो स्कन्धों में ज्ञान, तृतीय तथा चतुर्थ स्कन्ध में वैराग्य, पंचम एवं षष्ठ स्कन्ध में धर्म के दो प्रकार स्थान तथा पोषण, सप्तम एवं अष्टम स्कन्ध में प्रहलाद, मनु आदि के चरित्रों के माध्यम से ऐश्वर्य, नवम एवं दशम् स्कन्ध में यश तथा एकादश और द्वादश स्कन्ध मे श्री का निरूपण हुआ है इस प्रकार प्रश्नों से ही श्रीमद्भागवत नाम की सार्थकता सिद्ध हो जाती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. पाणिनिसूत्र
2. पुराणतत्वमीमांसा– श्री कृष्णमणि त्रिपाठी
3. मत्सयपुराण
4. ऋग्वेद
5. अमरकोष
6. वायुपुराण
7. पद्मपुराण
8. संक्षिप्त ब्रह्मवैवर्त पुरणांक
9. वात्स्यायन न्यायभाष्य
10. स्कन्धपुराण
11. नारद भक्ति सूत्र
12. श्रीमद्भागवत
13. विष्णुरहस्य
14. बोधसार
15. तदैव
16. निरुक्त

भारतीय ज्ञान परंपरा में कश्मीरी लोक संस्कृति का अवदान (विशेष संदर्भ कथासतीसर)

प्रभाकर कुमार,[*] प्रो० रसाल सिंह[**]

शोध सारांश: 'भारतीय ज्ञान परंपरा में कश्मीरी लोक संस्कृति के अवदान पर बात करें तो यहाँ मुख्यतः दो पारिभाषिक शब्द हैं– भारतीय ज्ञान परंपरा और कश्मीरी लोक संस्कृति। भारतीय ज्ञान परंपरा की बात करें तो यह अत्यंत प्राचीन और समृद्ध है, जो वेद, उपनिषद, पुराण, धर्मशास्त्र, दर्शन, साहित्य, कला और विज्ञान के विविध क्षेत्रों में फैला हुआ है। यह परंपरा न केवल आध्यात्मिक और धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है, बल्कि सांस्कृतिक और बौद्धिक विकास के लिए भी आधार प्रदान करता है। "कश्मीर घाटी अपनी प्राकृतिक सुन्दरता की तरह ही अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिए प्रसिद्ध है। हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी कश्मीर को स्वर्ग की उपमा दी गई है। कश्मीर अपने इतिहास, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता, भाषा, दर्शन, कला आदि की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध रहा है। सदियों से इसने विभिन्न सभ्यताओं और धर्मों को अपनाया तथा आत्मसात किया। हिन्दू, मुस्लिम एवं बौद्ध दर्शन के सम्मिलन से यहाँ मानवतावाद, धर्मनिरपेक्षता तथा सहिष्णुता की एक मिलीजुली संस्कृति का विकास हुआ।"

कश्मीर के भूभाग को प्रमुखतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है जम्मू–कश्मीर एवं लद्दाख। कश्मीर घाटी की इन्द्रधनुषी लोक सांस्कृतिक थाती उतनी ही समृद्ध है जितनी इसकी अप्रतिम प्राकृतिक सुषमा। कश्मीर वादी की सांस्कृतिक एकता का रूप भारत के अन्य जगहों से बिलकुल भिन्न रहती है। हिमालय की चोटियों में दस–बीस घरों के गाँव होते हैं और वहाँ रहने वाले लोग जो है साल में कई बार ठण्ड से जूझते हैं। तो वहाँ रहना उतना आसान कार्य नहीं है। इसलिए वह सब एक परिवार जैसे रहते है। जिसमें हिन्दु जमीन्दारों से लेकर मुस्लिम किसान तक होते हैं जिनमें कोई भेदभाव नहीं होता है।

कश्मीर घाटी जहां एक ओर अपनी सुन्दरता, गंगा–जमुनी तहजीब और अनूठी लोकसंस्कृति के कारण विश्वविख्यात है मध्य एशिया में व्यापारिक केंद्र, सिल्क रूट व सामरिक केंद्र होने के कारण विश्व प्रसिद्ध है। यहाँ हिन्दू–मुस्लिम 14वीं शताब्दी से मिलजुल एक रहते आए हैं। कश्मीर की सांस्कृतिक विरासत अनेक संस्कृतियों का एक विविध मिश्रण है, जिसका निर्माण हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध व सिख धर्म से हुई है।

मुख्य शब्द: कश्मीर, लोक संस्कृति, भारतीय ज्ञान परंपरा, शैव दर्शन, सूफियाना, वनवुन, छकरी, रोफ, नाते शारीफ, न्यंद बोथ, भांड पाथेर, ट्यूलिप, शिकारा, नवरेह, नवशीन।

भारतीय ज्ञान परंपरा की नींव वेदों और उपनिषदों में रखी गई है, जहाँ से धर्म, दर्शन, भाषा, विज्ञान और जीवन के अन्य क्षेत्रों का विकास हुआ।[1] प्रमुख भारतीय दार्शनिक प्रणालियाँ जैसे कि वेदांत, योग, सांख्य, न्याय और वैशेषिक भी इसी परंपरा का हिस्सा हैं। इनका उद्देश्य जीवन के गूढ़ प्रश्नों का उत्तर देना, सत्य की खोज करना और मानवता की भलाई करना था। इसके केंद्र में वसुधैवकुटुंबकम् की भावना रही है। ज्ञान परंपरा के महत्वपूर्ण केंद्र नालंदा, तक्षशिला, काशी और उज्जैन जैसे प्राचीन विश्वविद्यालय रहे हैं। यहां विभिन्न विषयों में गहन अध्ययन होता था, और ये स्थान वैश्विक शैक्षिक और सांस्कृतिक केंद्र के रूप में प्रसिद्ध थे। भारतीय ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद, वास्तुकला और शिल्पकला जैसी विद्या भी इसी ज्ञान परंपरा का हिस्सा हैं, जिन्होंने संपूर्ण विश्व को प्रभावित किया।[2]

कश्मीरी लोक संस्कृति भारतीय ज्ञान परंपरा का अमूल्य हिस्सा हैं। भारतीय ज्ञान परंपरा जहां हमारे

शोधार्थी (पीएचडी हिंदी), जम्मू केन्द्रीय विश्वविद्यालय,जम्मू
प्रोफेसर एवं शोध–निर्देशक,

शाश्वत दर्शन और विज्ञान का प्रतीक है, वहीं कश्मीरी लोक संस्कृति अपनी विशिष्टता, समृद्धि और कलात्मकता के लिए जानी जाती है। इस लेख के माध्यम से कश्मीरी लोक संस्कृति का भारतीय संस्कृति भारतीय ज्ञान परंपरा में योगदान को रेखांकित किया जाएगा।

'लोकसंस्कृति' लोक और संस्कृति से मिलकर बना है। यह संस्कृत के 'लोक' धातु में 'घञ' प्रत्यय लगाने से व्युत्पन्न हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'देखने वाला'। इसके लिए स्थान, संसार, लोग, ग्राम, जन तथा फोक इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। रामनरेश त्रिपाठी फोक (FOLK) के लिए ग्राम शब्द के प्रति अधिक आग्रही दिखाई पड़ते हैं । इसीलिए वह ग्रामगीत के लिए फोक सांग (FOLK SONG) शब्द का प्रयोग करते हैं। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'विचार और वितर्क' में लोक शब्द को व्याख्यायित किया है। उनके अनुसार लोक' शब्द का अर्थ जनपद या ग्राम नहीं है बल्कि नगरों और ग्रामों में फैली हुई वह समुची जनता है जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये वे लोग है जो परिष्कृत और सुसंस्कृत न होकर अत्यधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त हैं। 3

डा० नंद किशोर नवल ने 'लोक' शब्द को सम्पूर्ण आबादी का पर्याय मानने से इन्कार किया। और उसकी व्याख्या श्रमजीवी एवं शोषित जनता के रूप में की। वहीं रामचंद्र तिवारी लिखते हैं कि लोक का सम्बन्ध न तो लोक अंचल–विशेष से होता है, न जाति–विशेष से है। वह तो अभिजात वर्ग के समानान्तर नगरों और ग्रामों ने सर्वत्र विद्यमान है। 4

लोक को लेकर विद्वानों में मतभेद है। भारतीय परंपरा में यह जीवंत लोकसंस्कृति पर्वों, उत्सवों, त्योहारों एवं रीति–रिवाजों के रूप में व्यापक स्तर पर दिखाई देती है। इसके विविध अंगोपांग हैं जो लोकजीवन में परंपरागत आदिम संस्कारों के रूप में उपस्थित होते हैं जिसे लोकतत्व के नाम से अभिहित करते हैं। लोकतत्व के द्वारा ही किसी देश की लोक संस्कृति का निर्माण होता है। लोकसंस्कृति जीवंत संस्कृति होती है।

संस्कृति की बात करें तो मानव व्यक्तित्व के विकास की एक गतिशील प्रक्रिया है। जिसमें भाषा, साहित्य, कला–कौशल, राजनीति, अर्थनीति, नैतिकता, दार्शनिकता, धार्मिक विचार आदि का प्रभाव देख सकते हैं। संस्कृति का अर्थ संस्कार या परिष्करण है। संस्कृति शब्द मूलतः संस्कार का भाववाचक रूप है। डॉ० जगदीश नारायण दूबे के मतानुसार– "मानव के रहन–सहन, आचार–विचार, रीति–रिवाज, ज्ञान–विज्ञान, साहित्य, कला,परंपरागत अनुभव, जीवनयापन की पद्धति आदि के बोधक संस्कारों का नाम संस्कृति है।"5

'संस्कृति' बहुत ही लोक व्यापक शब्द है। इसका साधारण अर्थ होता है– संस्कार, सुधार, परिष्कार, शुद्धि, सजावट आदि। संस्कृति शब्द परिमार्जित या परिष्कृत करने के भाव का भी सूचक है। डॉ० हरदेव बाहरी ने भी संस्कृति का तात्पर्य परिष्कृत संस्कार या संस्कृत रूप देने की क्रिया व अलंकृत करना या सजाना तथा आचरणगत परंपरा इत्यादि को बताया है। 6

कई विद्वानों ने संस्कृति को परिभाषित करने की कोशिश की है लेकिन आज तक इसको समग्रता के साथ परिभाषित नहीं किया जा सका है। डॉ० रामधारी सिंह दिनकर ने संस्कृति के संदर्भ में लिखते हैं कि "असल में संस्कृति जीवन का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा हो कर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं । अपने जीवन में हम जो संस्कार हम जमा करते हैं वह भी हमारे संस्कृति का अंश बन जाता है और मरने के बाद हम

अन्य वस्तुओं के साथ–साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी भावी पीढ़ियों के लिए छोड़ जाते हैं। इसीलिए संस्कृति वह चीज मानी जाती है, जो हमारे सारे जीवन में व्याप्त है, तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों का हाथ है । यही नहीं अपितु संस्कृति हमारा पीछा जन्म–जन्मांतरों तक करती है । अपने यहाँ एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार होता है उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है । संस्कार या संस्कृति असल में शरीर का नहीं आत्मा का गुण है ।"7

अतः हम लोकसंस्कृति के अंतर्गत उन आम जनमानस को केंद्र में रखते हैं जो स्वभाव से सहज, स्वाभाविक और अकृत्रिम जीवन जीने का आदी हो। वह देश के किसी भी हिस्से का रहने वाला हो। यहाँ की लोक संस्कृति में पर्व–त्योहार एवं रीतिरिवाज, गीत–संगीत एवं नृत्य, भाषा एवं साहित्य, कृषि एवं उद्योग, हस्तशिल्प, धार्मिक एवं आध्यात्मिक परंपराओं का एक अनूठा समन्वय देखने को मिलता है।

(क) कश्मीरी पर्व–त्योहार एवं रीतिरिवाजः कश्मीरी लोकजीवन में पर्व–त्योहारों एवं रीतिरिवाजों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यहाँ उत्साह के साथ मनाए जाने वाले प्रमुख त्योहारों में हेरथ (महाशिवरात्रि), नवरेह, हरयाली, नवरात्रि, जन्माष्टमी, ज्येष्ठ अष्टमी, नवशीन, ईद, बकरीद आदि प्रमुख हैं। ये त्योहार कश्मीर के धार्मिक और सांस्कृतिक विविधता को दर्शाते हैं। हाँ! बाद के समय में यह समीकरण अवश्य ही बदल गया है लेकिन फिर भी कश्मीरी पंडितों के बिना कश्मीर की अकल्पनीय है।

हेरथः यह कश्मीरी पंडितों का वह त्योहार है जिसे वे अपने घरों में मनाते हैं। इस त्योहार में शिवशक्ति कि आराधना की जाती है और पूजा सूर्यास्त से लेकर आधी रात तक चलती है। पूजा करने वाला व्यक्ति उस दिन उपवास रखता है। इस दिन, कश्मीरी पंडित मछली समेत खास व्यंजन तैयार करते हैं। ''हाँ भगवन यही शिव–शक्ति का मिलन हमारी शिवरात्रि है।'' शास्त्री जी ने आँखें बन्द कर भक्तिभाव से गद्‌गद स्वर में 'शक्तयोऽस्य जगत्सर्व, शक्तिमांस्तु महेश्वरः' उच्चारण कर अदृश्य को हाथ जोड़े। 8

आनन्दशास्त्री ने शिवरात्रि के महत्व को बताते हुए बच्चों से कहा कि 'तुम लोग पढ़ोगे, श्रम करोगे, तभी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकोगे।' उन्होंने शिवशक्ति की व्याख्या करते हुए बताया कि ''शिव ज्ञान एवं चौतन्य स्वरूप शक्ति उसे कर्मों की ओर प्रेरित करती है, और यही ईश्वर के अंशभूत जीव को भी कर्म करने की प्रेरणा देती है। प्रयत्नः साधकः भगवान शिव ने स्वयं कहा है, कि प्रयत्न किए बिना जीव का संकल्प सफल नहीं हो सकता।''9

आनन्द शास्त्री ने कश्मीर में शैवमत के जन्मदाता महामुनि दुर्वासा द्वारा रचित 'शिवमहिम्नास्रोत' और 'त्रिपुरारि महिम्नास्रोत' आदि ग्रन्थों का हवाला देकर यह बताना जरूरी समझा कि, ''हमारी शिवरात्रि और भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों में मनाई जानेवाली शिवरात्रि में अन्तर है। हमारी शिवरात्रि त्रयोदशी को पड़ती है। शिवचतुर्दशी हम अलग मनाते हैं। उस दिन निराहार रहकर शिव की स्तुति की जाती है।"10

नवरेह या कश्मीरी नव वर्षः कश्मीरी हिंदुओं द्वारा कश्मीरी नववर्ष के पहले दिन का उत्सव है, इस त्योहार को कश्मीरी पंडित अपनी देवी शारिका, देवी दुर्गा या शक्ति के एक रूप, को समर्पित करते हैं और त्योहार के दौरान उन्हें श्रद्धांजलि देते हैं। यह कश्मीरी हिंदू कैलेंडर के चौत्र (मार्च–अप्रैल) के महीने में उज्ज्वल आधे (शुक्ल पक्ष) के पहले दिन मनाया जाता है। कथासतीसर उपन्यास में लेखिका ने 'नवरेह' का वर्णन किया है। वह लिखती हैं कि "चौत्र शुक्ल पक्ष

प्रतिपदा। पौ फटते ही अन्न भरा थाल लिए घर के बुजुर्गों, बच्चों के मुँदे दरवाजों पर दस्तकें देकर, अन्न–धन और देवताओं की मुँहदिखाई उसी के हाथों होती है। उन्हें ही बोनी है घर के ताखों–मोखों और मिट्टी के थालों में जौ और धान। व्रत–पूजा, निष्ठा से बुलानी है घर में, हरी दूब की ओढ़नी में झाँकती नवदुर्गा। वर्षभर की सम्पन्नता और समृद्धि का प्रतीक।" 11 इस त्योहार को डॉ. कात्यायनी पिछले बीसेक वर्षों से निभाती आ रही है। उस दिन वह कार्तिकेय को सूर्योदय से पहले जगाकर नवरेह की बधाई देती हैं। उसके बदले में कार्तिकेय कात्या द्वारा लाई हुई थाल को नमन करता है और बाँह से घेर कात्या के माथे पर होंठ रख देता है। नए साल का तोहफा।" 12

नवशीनः शरद ऋतु में पहली बार बर्फ बारी होने पर उसका परंपरागत ढंग से स्वागत करके 'नवशीन का त्योहार' मनाया जाता है। "बर्फ–सदमुबारकबाद से कूचिहा गिलशुद तक हर साल की तरह इस बार भी बर्फ अपने मौसम में कजरारे ऊदे बादल, पानी छाँटा, तीखी तुर्श मनचली हवा और तमाम साज–बाज के साथ नमूदार हुई। छोटे–बड़े–ऊँचे, ठिगने ने बर्फ का स्वागत किया। ''''''' सासों–ननदों ने नई बहू–भाभी के हाथ में बर्फ की ठंडी परत थमाकर 'नवशीन हवालें' कहा, यानि कि मायकेवालों को देगभर रोगनजोश और टोकरीभर नान लेकर बेटी के ससुराल पधारना ही होगा। भाईबन्द, नाते–रिश्तेदारों में रोगनजोश–नान बँटेगी। मेल–''मिलाप, खाना–खिलाना और गरम पकवानों के साथ जोशोखरोश से बर्फ का परम्परागत स्वागत।" 13

भारत के अन्य हिस्सों के समान ही कश्मीर में गर्भधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, श्रान सोंदर(प्रथम स्नान), कन्नेथर(नामकरण), जातकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्रासन संस्कार, चूड़ाकर्म, विद्यारंभ भूत संस्कार, कर्णभेध, यज्ञोपवीत, वेदारंभ, केशांत, समावर्तन, विवाह से लेकर मृत्यु अर्थात अन्त्येष्टि तक कई संस्कार निभाने का प्रचलन है।

(ख) कश्मीरी लोक गीत, संगीत और नृत्यः कश्मीरी लोक संगीत और नृत्य प्राचीन काल से ही वहां की संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है। 'रौफ' और 'हाफिज नृत्य' प्रमुख लोकनृत्य हैं, जो विशेष अवसरों, संस्कारों और त्योहारों पर प्रस्तुत किए जाते हैं। कश्मीरी संगीत में सुफियाना संगीत की भी एक खास जगह है, जो सूफी परंपरा और लोक संगीत का संगम है। "कश्मीरी संगीत एवं नृत्य संगीत में एक ऐसी शक्ति है, जिससे सूखी हुई हरियाली में नई बहार आ जाती है, जीव–जन्तु मोहित हो जाते हैं तथा अदृश्य देवी देवता जंगलों में प्रकट होकर खुशी के गीत गाते हैं। संगीत हर किसी के दुःख–सुख में, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, बुद्धिमान हो या नादान, स्थायी खुशी प्रदान करता है।" 14

प्राचीन काल में भारतीय संगीत की तरह कश्मीरी लोक संगीत का विकास मंदिरों और बौद्ध विहारों से हुआ था। उस समय राजा एवं प्रजा देव स्थानों में जाकर संगीत का आनंद लेते थे। अतः देव स्थानों में प्रतिदिन तत्कालीन संगीतकार लोगों के मनोरंजनार्थ वाद्य बजाकर गाते और नृत्य करते थे, किन्तु इन गीतों एवं नृत्य का मुख्य उद्देश्य लोगों में भक्ति भावना और आनंद का संचार करना था।

कश्मीर की वर्तमान संगीत धारा को निम्न चार भागों सूफियाना संगीत, कश्मीरी लोक संगीत, कश्मीरी सुगुम संगीत एवं शास्त्रीय संगीत में विभक्त किया गया है। कश्मीरी लोक संगीत कि बात करें तो इसकी एक समृद्ध परंपरा मिलती है। अवतार कृष्ण राजदान ने अपनी पुस्तक में कश्मीरी लोक संगीत के प्रचलित पदों का जिक्र करते हुए निम्न को शामिल करते हैं कि "कश्मीरी लोक संगीत के अंतर्गत छकरी, रोफ, वनवुन, लीला और नाते शारीफ, न्यंद बोथ, चलंग. शेष रंग।"15

इस्लाम के आगमन उपरांत कश्मीरी लोक संगीत पर भी प्रभावित हुई जिससे कश्मीरी लोक संगीत में नागरी, तुम्बा, सुकरा एवं सितार आदि वाद्ययंत्रों का प्रयोग मिलता है। कश्मीरी धुनों पर फारसी भाषा का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है और इसी कारण यहाँ पर 'रबाब' नामक लोक संगीत भी लोकप्रिय है।

छकरी: यह कश्मीरी लोक संगीत की आत्मा कहलाती है। जिसमें पांच–छह गायक–गायिकाओं द्वारा गायन समूह में गाया जाता है। जिसका नेतृत्व एक प्रमुख गायक द्वारा होता है। प्राचीन काल में छकरी का गायन किसानों द्वारा खेत–खलिहानों में काम करते समय होता था और मनोरंजनार्थ कई छकरी पार्टियों भी आयोजित होती थी। वर्तमान में भी कई ग्रामों में विवाह या अन्य उत्सवों पर अथितियों के मनोरंजनार्थ छकरी गायन होता है। अपनी लोकप्रियता के कारण छकरी गायन कश्मीर के कई नगरों में भी प्रसिद्ध है।

रोफ: ''रोफ कश्मीरी लोकनृत्य का बहुचर्चित रूप है, रोफ का शाब्दिक अर्थ है नाचना और गाना। इसको सामूहिक गान भी कहते हैं। यह नृत्य मुसलमान स्त्रियाँ विवाह या ईद के अवसर पर करती हैं। 16

इसलिए यह कश्मीर के पारंपरिक नृत्य के रूप में प्रसिद्ध है, यह नृत्य विशेष रूप से रऊफ जनजाति द्वारा किया जाता है और इसे डमहल भी कहा जाता है।

वनवुन: इस प्रसिद्ध कश्मीरी लोकसंगीत का गायन कश्मीरी पंडितों एवं मुसलमान स्त्रियों द्वारा समूह में किया जाता है। जहां हिन्दू स्त्रियाँ याज्ञोपीत, मुण्डन, विवाह आदि अवसरों पर वनवुन गाती हैं, वहीं मुसलमान स्त्रियाँ विवाह, खतना, हाल आदि अवसरों पर इसका गायन करती हैं। वनवुन का गायन करने से पूर्व कोई वयोवृद्ध स्त्री वनवुन के मुख्य पाद का उच्चारण लय सहित धीमी आवाज में करती है तत्पश्चात अन्य स्त्रियाँ उसी पाद को एक साथ दोहराती हैं।

लीला: इस प्रकार का गायन करने का प्रचलन देव स्थानों के अतिरिक्त कश्मीर के हिन्दू घरानों में होता है। कश्मीरी पंडित ललनाओं का गायन विवाहोत्सव पर बड़ी श्रद्धा से करती हैं। इसमें करताल, तुबकनारी, घड़ा प्याले, चिमटा एवं थालियों आदि निम्न वाद्ययंत्रों का प्रयोग होता है।

नातेशारीफ: इसका शाब्दिक अर्थ खुदा से दुआ माँगना है। मुसलमानों द्वारा कश्मीरी भाषा में अल्लाह की प्रशंसा के गीत गाना नातेशारीफ कहलाता है। इन गीतों में हजरत मुहम्मद तथा अन्य पैगम्बरों का मनोरम शब्दावली में बखान किया जाता है, किन्तु इन गीतों में किसी भी प्रकार के वाद्ययंत्रों का प्रयोग नहीं होता है। नातेशारीफ में अरबी एवं फारसी शब्दावली भी प्रचुर मात्रा में प्रयुक्त होती है।

न्यंद बोथ: 'न्यंद' शब्द का अर्थ निराई से है, इस प्रकार 'न्यंद बोथ' का अर्थ निराई के गीत से है। कहने का तात्पर्य है किसानों द्वारा खेतों में धान की निराई करते समय सामूहिक रूप से गाये जाने वाले गीत को न्यंद बोथ की संज्ञा दी गई है। इन गीतों का वर्णय विषय कृषि जीवन रहता है।

शेषरंग: यह गीत भी छकरी की तरह ही गाया जाता है, किन्तु इसके गायन का कोई निश्चित समय नहीं होता है।

लोकनाट्य या भांडपोथर: 'कश्मीर में कई शताब्दियों से लोकनाट्य या भांडपोथर खेलने की परम्परा रही है। इसमें अभिनय करने वाले कलाकारों को भांड कहते हैं, जो अपनी प्रभावपूर्ण जर्क वेशभूषा, भाव भंगिमा और कटाक्ष आदि से किसी भी सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनैतिक विषय को मनोरंजक ढंग से

जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं।'17 यह मनोरंजन के साथ–साथ सामाजिक बुराइयों एवं परम्पराओं को व्यंगात्मतक शैली में प्रस्तुत करता है।

(ग) खानपानः कश्मीर का प्राचीन महाकाव्य है नीलतमपुराण, जिसमें कश्मीरियों के मांस (मटन) खाने का पता चलता है। कश्मीर के लोग अधिकतर मांसाहारी होते हैं। उनके खाने में मांस से बने अनेक भोजन पदार्थ होते हैं। इसीलिए यहाँ मटन कई प्रकार से बनाया जाता है।

गोश्ताबा मांस को लड्डू के रूप में बनाया जाता है। जो ब्राह्मण एवं मुस्लिम परिवार दोनों के प्रिय भोज्य पदार्थ हैं। गोश्ताबा बनाने में अक्सर मुसलमान लोगों से सहायता ली जाती है। इनके खाने में प्रमुख है चावल और शाक–सब्जी। जिसमें कड़म के साग अधिक पसन्द करते हैं। मटन के कई प्रकारों में से सबसे स्वादिष्ट एवं पसंदीदार खाना है– तबाक माज। यह वास्तव में अमेरिकी और ब्रिटिश मटन चॉप्स के प्रभाव से बने मटन का एक कश्मीरी रूप है। जिसे नमक तथा मिर्च डालकर फ्राई किया जाता है। कश्मीर मूलतः मिर्च को प्रधानता देनेवाला प्रदेश है। इसलिए वहाँ के निवासियों में बहुत सशक्त पेय का उपयोग करते हैं। हरी चाय यहाँ का एक प्रचलित पेय है। बदाम और मसालों से बनाये इस चाय को कहवा कहा जाता है। सर्दी की मौसम में कहवा की माँग बढ़ती हैं। यहाँ के पर्यटकों के लिए कश्मीर की हरी पत्तियों से निर्मित कहवा चाय का स्वाद अनुपम है।

मीठे भोज्य पदार्थ में कश्मीरी रोठ का सबसे महत्वपूर्ण स्थान होता है। एक मीठी रोटी होने के कारण रोठ को लोग पसंद करते हैं। इस कश्मीरी खाना आटा, घी तथा चीनी से बनाया जाता है। चम्मन (पीला पनीर) कश्मीर के त्यौहारों या अन्य विशेष माहौल पर बनाये जाने वाला सबसे लोकप्रिय पकवान है। कश्मीरी ताजा पनीर फ्राइंग करने के बाद जिसे हल्दी ग्रेवी से मिश्रण करके पकवान बनाया जाता है। यखी मुख्य रूप से रात के खाने के लिए अच्छा माना जाता है। इसका लाल रंग वास्तव में कश्मीरी मिर्च से आता है, लेकिन ज्यादातर मसालों का इस्तेमाल इसमें नहीं किया जाता है। दही में पकाया जानेवाला रोगन जोश में मसालों और अन्य सामग्रियाँ एक विशेष अनुपात में डाली जाती हैं। कश्मीरी मिर्च का उपयोग करने से यह गहरा लाल रंग का होता है। शाकाहारी लोगों द्वारा रोगनजोश मुख्यतः रोटी, पराठा, तंदूरी रोटी तथा चावल के साथ खाया जाता हैं। "कश्मीरी भोजन में सबसे प्रिय व्यंजन है रीस्टा। मसालेदार बोन लेस मीट दही में ग्रेवी के साथ पकाया जाता है, जो शादियों और अन्य त्यौहारों के दौरान बनाया जाता है।"18

कश्मीरियों का मुख्य भोजन चावल है। सब्जियों का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में करते हैं। कश्मीरी कड़क' साग और भात पर ही प्रायः निर्वाह करते हैं। ये आमिष भोजी हैं, नित्य माँस, मुर्गा और मछली खाते हैं। सर्दियों में चाय को अपना साथी बना लेते हैं। चाय दो प्रकार की होती है–कहवा और नमकीन।

चंद्रकांता कथा सतीसर उपन्यास कश्मीरी खानपान का वर्णन करते हुए लिखती हैं कि "खानपान में मांसाहारी थी। शाकाहार को भरपूर मात्र हमें प्राप्त होत है। "कौन से पकवान नहीं बनवाए हमने। रोगनजोश, कलिया, शामी कबाब, तबकनाठ और वैष्णव भोजन में पन्द्रह सब्जियाँ। ताता (अजोध्यानाथ) खुद मानसबल से नदरू लेकर आए सखनी के लिए।" 19

(घ) कश्मीरी लोगों के आभूषण एवं वेशभूषाः वेशभूषा संस्कृति की विशिष्ट पहचान है। कश्मीर सर्दी प्रधान प्रदेश है। यहाँ हिन्दू एवं मुसलमान दोनों के पहनावे में काफी समानता पायी जाती है। ये लोग फिरन, पाजामा और गोल टोपी पहनते है। यदि

मुसलमानों के घरों में स्त्रियाँ फिरन और सलवार पहनती हैं तो कश्मीरी पंडितों के घरों में भी यही फिरन होती है। लेकिन सलवार के जगह पर चुस्त पाजामा है। मुस्लिम स्त्रियाँ अपने सिर पर कसाबा बाँधते हैं तो पुरुष साफा बाँधते हैं। वर्तमान में जम्मू–कश्मीर के पारंपरिक कपड़े पश्चिमी प्रभाव के कारण बदल गया है। कश्मीरी महिलाओं द्वारा धारण किए जाने वाले कुछ प्रमुख आभूषणों में कानो में अट्टा, हूर, कन दूर, देज होर, झुमका, कन वजी, डेजहोर, तालराज, नरिवार, जिगनी और टीका आदि सम्मिलित हैं।

कश्मीरियों का पहचानवा एक लंबा चोगा जैसा फिरन, पाजामा और गोल टोप है। सर्दियों में कांगड़ी सेकते हैं। ऊपर से गर्म ऊनी कंबल या लोई ओढ़ लेते हैं। मुसलमान स्त्रियाँ फिरन और सलवार पहनती हैं और सिर पर कसाबा बाँधती हैं। कश्मीरी पंडितों के फिरन के बाजू लंबे होते हैं। उनमें चूड़ीदार पाजामा और कमीज आदि पहनने का रिवाज है। वे साफा बाँधते हैं। पंडिताइनों का फिरन बहुत ढीला और रंगीन होता है।'' 20

फेरन कश्मीरी पुरुष एवं स्त्री के कपड़े हैं। फेरन मूलरूप से एक ढीला ऊपरी वस्त्र है, जो बाँहों में शिथिल रूप से इकट्ठा होता है। ऊन की एक फेरन को एक 'लोचा' कहते हैं। पारंपरिक फेरन पैरों तक गिरता है। उन्नीसवीं शती के बाद सार्वभौमिक रूप से हिन्दु एवं मुस्लिम लोग यह पहनते थे। हिन्दु पुरुष बछड़ों तक फैले फेरे पहनते हैं तो मुस्लिम लोग लंबी ढीली फेरन पहनते हैं, जो बाजू में सिले जाते हैं। सर्दी के अवसर पर अपने आतंरिक हीटिंग सिस्टम के रूप में गर्म रखने के लिए इसका उपयोग करते हैं। 21

पश्मीना शॉलः पहाड़ के बकरे से प्राप्त ऊन से निर्मित शॉल है पश्मीना शॉल। पारंपरिक रूप से निर्मित इस शॉल के दोनों किनारे पर जटिल कढ़ाई की जाता है। इसमें प्रमुख है कश्मीरी कढ़ाई का काम। इसकी पैटर्न दोनों किनारे पर दिखाई देते हैं। हल्काबंद, तुलसी कंठी तथा हार नामक अलंकार ग्रीवा को सुशोभित करते हैं। कलाई में पहनने के लिए बुंगर, गुनुस और कछकर है। 22

(ङ) कश्मीरी हस्तशिल्प और कलाः कश्मीर की हस्तशिल्प कला पूरे भारत में प्रसिद्ध है, खासकर पश्मीना शॉल, कालीन बुनाई, पेपर माशे, और लकड़ी की नक्काशी। इन कलाओं में महीन काम और सुंदर डिजाइन का अद्वितीय संगम होता है, जो इसे विशेष बनाता है। 'कश्मीर सदियों से कला और दस्तकारी का केन्द्र रहा है। यहाँ कागज की दस्तकारी का उद्योग आरंभ से ही विकसित रहा। इसे कारीकलमदारी' या 'कुमार गिरि के नाम से पुकारा जाता है। लकड़ी से बनने वाले उत्पादों में जेबरात रखने के डिब्बे, फूलदान, ट्रे, सिगरेट, बॉक्स आदि नायाब चीजें बनाई जाती हैं।' 23

कश्मीरी दस्तकारों द्वारा निर्मित दरियाँ प्राचीन काल से ही सारी दुनिया में मशहूर रही हैं। ये दरियाँ तीन प्रकार की होती हैं– गब्बा, नमदा, ऊनी। कश्मीरी कालीन अपनी कलात्मकता और जड़ाऊपन एवं टिकाऊपन के लिए विश्व विश्रुत रहे हैं। कहा जाता है कश्मीरी कालीनों ने ईरान के कालीनों को भी मात कर दिया है। कश्मीरी शाल उद्योग के बारे में कहा जाता है कि उद्योग उतना ही प्राचीन है जितने कि रामायण और महाभारत हैं। कश्मीर की शाल विश्व भर में प्रसिद्ध हैं। 24

(च) कश्मीरी भाषा और साहित्यः कश्मीरी भाषा और साहित्य में लोक कथाओं, कविताओं और कहावतों का अद्वितीय स्थान है। कश्मीर की प्राचीन साहित्यिक परंपरा में 'लल द्यद' (लल्लेश्वरी) और 'हबीबा खातून' जैसे प्रसिद्ध कवियों ने अपनी छाप

छोड़ी है। इनकी रचनाएँ कश्मीरी समाज, धार्मिक विश्वासों और नैतिक मूल्यों को दर्शाती हैं। यहाँ कश्मीर की स्थानीय भाषा कश्मीरी या काशुर कहलाती है। यह एक भारतीय आर्य परिवार की भाषा है, जो फारसी और संस्कृत से अत्यंत प्रभावित है। कश्मीर की अन्य महत्वपूर्ण भाषाओं में पश्तो, शीना, गोजरी, बालती, पहाड़ी और उर्दू आदि सम्मिलित हैं।

(छ) कश्मीर की धार्मिक और आध्यात्मिक परंपराएँ: कश्मीर की संस्कृति पर हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म, और इस्लाम का गहरा प्रभाव रहा है। शैव दर्शन और सूफीवाद दोनों ने कश्मीर की धार्मिक और आध्यात्मिक परंपराओं को समृद्ध किया है। कश्मीरी पंडितों की ध ार्मिक मान्यताएँ और सूफी संतों की शिक्षाएँ इस क्षेत्र की सांस्कृतिक पहचान का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं। कश्मीरी लोग विभिन्न धर्मों के अनुयायी होते हुए भी सांस्कृतिक रूप से एकता के सूत्र में बंधे हैं। मुसलमान हिन्दुओं के साधु सन्यासियों का आदर–सत्कार करते है तथा हिन्दू उनके पीर और फकीरों को पूजते हैं। श्रीनगर में मुसलमानों की शाह हमदान की मस्जिद हिन्दू तथा मुसलमान दोनों का पवित्र स्थान है। इसी प्रकार पीर पंडित पादशाह की जियारत को कश्मीरी हिन्दू व मुसलमान सभी श्रेष्ठ मानते हैं।

वैदिक काल से लेकर बारहवीं शताब्दी तक कश्मीर हिन्दू संस्कृति, धर्म और दर्शन का एक प्रधान केन्द्र रहा है। कश्मीरी हिन्दू समाज में अभी भी प्राचीन संस्कृति की शाश्वत ऊर्जा–अपनी श्रद्धा–विश्वास, परम्परा और जीवन पद्धति में निरन्तर प्रकाशमान हैं। प्रत्येक सनातनी हिन्दू परमात्मा की 'पंचायतन' के रूप में उपासना करता है। पंचदेव–अर्थात गणेश, शिव, विष्णु देवी और सूर्य। कश्मीर में इन सभी देवों से संबंधित तीर्थ–स्थल हैं और प्रमुख अवतारों यथा–श्री राम और श्रीकृष्ण से संबंधित पूजा–स्थल भी हैं। 25

बौद्ध धर्म का प्रचार और प्रसार अशोक के जमाने में हुआ था। तेरहवीं शताब्दी के अन्त तक घाटी से बौद्धधर्म का लोप हो गया था। कुछ लोगों ने इस्लाम धर्म को ग्रहण कर लिया और बाकी लद्दाख चले गये, जहाँ अब भी वे बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। शिवभक्ति भी घाटी में प्रचलित थी। कार्कोट राजाओं के शासन काल में शिवपूजा के निमित्त अनेक मंदिर बनवाए गए थे। बौद्धधर्म और शैवधर्म के साथ ही साथ वैष्णवधर्म का भी प्रचार घाटी में हुआ था। कश्मीरी समाज में नाग पूजा प्रचलित थी।' 26

(ज) कृषि जीवन एवं उद्योग: कश्मीर में अकसर गाँव के पास ही खेती होती है। गर्मी के मौसम में ग्रामीण खेतों में काम करते हैं। यहाँ पर हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं मिलता। ग्रामीण किसान अतिथि–सत्कार करने वाले होते है। गाँव की मुसलमान महिलाएँ जो अधिकतर किसान होती हैं, पर्दा नहीं करतीं।

चंद्रकांता जी ने कश्मीर के पांपोर में कृषकों का चित्रण करते हुए लिखती हैं कि "पाम्पोर में केसर की क्यारियों में फूल चुनती, लहलहाते धान के खेतों में निराई–गुड़ाई करती किसान कन्याओं के होंठों से फूटते लोकगीत, नदी किनारे फैले चरागाहों में हरी दूब पर मुँह मारती भेड़–बकरियों की मिमियाहटें और उन्हें हुर्र–हुर्र हाँकते चरवाहों की मिली–जुली आवाजें तेजी से खिंचती रील की तरह आँख ओझल होने लगीं।" 27

पर्यटन उद्योग: पर्यटन स्थलों के लिए कश्मीर विश्वभर में विख्यात है। कश्मीर अपने सौंदर्य और प्राकृतिक सुरम्य स्थलों के लिए विश्व के पर्यटकों का ध्यान आकर्षित करता है। इसे धरती का स्वर्ग कहना अतिशयोक्ति नहीं, वस्तु स्थिति है। इसीलिए पर्यटन से कश्मीर को भारी आय होती है। कश्मीर में चश्मा शाही झरने, शालीमार बाग, डल झील, गुलमर्ग, पहलगाम,

पटनीटाप किश्तवाड़, सोनमर्ग आदि दर्शनीय स्थल है। राष्ट्रीय पार्क, अमरनाथ, वैष्णो देवी, रघुनाथ मंदिर और मुस्लिम सूफी संतों की दरगाह देश–विदेश के पर्यटकों को कश्मीर आने के लिए बाध्य करते हैं।'' 28

निष्कर्षतः भारतीय ज्ञान परंपरा में कश्मीरी लोक संस्कृति के अवदान की बात करें तो कश्मीर और कश्मीरी ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध किया है यहाँ कि कश्मीरियत जिसका आधार सांझी संस्कृति है। जिसने विश्व को वसधैवकुटुम्बकम्, संतोषम् परम सुखं, सर्वजन हिताय और सर्वजन सुखी, आत्मीयता, अपनापन, सामूहिकता, विविधता में एकता और राष्ट्रीय भावना से अनुप्राणित व्यक्ति और समाज का निर्माण भी करता है। जो वैश्विक समस्याओं का एक बेहतर समाधान भी प्रस्तुत करते हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति को विकसित करने में कश्मीरी लोक संस्कृति का महत्वपूर्ण भूमिका रही है, जहां कश्मीर की धरती ने अपने शैव, बौद्ध व वैष्णव दर्शन के माध्यम से भारतीय अध्यात्मिक सम्पदा को पल्लवित एवं पोषित ही नहीं किया, बल्कि समस्त मानवता के लिए कल्याणकारी सिद्ध हुई है। यह अपनी अद्वितीय और विशिष्ट लोक संस्कृति के लिए प्रसिद्ध है, जो भारतीय उपमहाद्वीप की सांस्कृतिक विविधता का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। अतः हम कह सकते हैं कि कश्मीरी लोक संस्कृति ने बजरवादी अपसंस्कृति और जलवायु विषमता के दौर में कश्मीर लोक संस्कृति हमें स्वाभाविक जीवन जिने के लिए प्रेरित करता है। यह भारतीय ज्ञान परंपरा को समृद्ध प्रदान करता है।

संदर्भ सूचीः

1. संस्कृति (कश्मीर विशेषांक): भारतेश कुमार मिश्र, अंकः19 वर्षः 2010य भूमिका पृष्ठ संख्या :5
2. समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में कश्मीर, पृष्ठ संख्याः 47–48
3. लोकसाहित्य का अध्ययनः हजारी प्रसाद द्विवेदीय पृष्ठसंख्याः 235
4. हिन्दी साहित्य कोश, पृष्ठसंख्याः 3323
5. डॉ० अमोल पालेकरः चंद्रकांता का कथा साहित्य, पृष्ठसंख्याः 105
6. डॉ० हरदेव बाहरी, पृष्ठसंख्याः 794
7. रामधारी सिंह दिनकरः संस्कृति के चार अध्याय (भूमिका से)य लोकभारती प्रकाशन, सं० 1956
8. कथा सतीसरः चन्द्रकांताय राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करणः 2001ई०: 163
9. कथा सतीसर पृष्ठ संख्याः 163
10. कथा सतीसर पृष्ठ संख्याः 426
11. कथा सतीसर पृष्ठसंख्याः 426
12. कथा सतीसर पृष्ठ संख्याः
13. श्रीवर कृत जैन राजतरंगिनी, पृष्ठ संख्याः
14. अवतार कृष्ण राजदान, कश्मीरी ललित कलाएँः उद्भव और विकास, पृ.73
15. अवतार कृष्ण राजदान, कश्मीरी ललित कलाएँः उद्भव और विकास, पृ.143
16. अवतार कृष्ण राजदान, कश्मीरी ललित कलाएँः उद्भव और विकास, पृ.145
17. समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में कश्मीर पृष्ठसंख्याः 30
18. भारत के ऐतिहासिक एवं पर्यटन स्थलः पृष्ठसंख्याः 234
19. कथासतीसर पृष्ठसंख्याः 31
20. कृष्ण मोहन धरः मनोरम कश्मीरय आत्मा राम एण्ड संस प्रकाशन, दिल्लीय संस्करणः1958य 117
21. समकालीन हिन्दी कथा साहित्य में कश्मीर पृष्ठसंख्याः 31
22. कश्मीर और उसके लोगः ओमप्रकाश मंत्री, लाला रुख प्रकाशन, श्रीनगरय पृष्ठसंख्याः 42

23. कश्मीर और उसके लोगः ओमप्रकाश मंत्रीय लाला रुख प्रकाशन, श्रीनगर, पृष्ठ संख्याः 42

24. कश्मीर और उसके लोगः ओमप्रकाश मंत्री, लाला रुख प्रकाशन, श्रीनगर, पृष्ठ संख्याः 55

25. कश्मीर के प्रमुख तीर्थस्थल (चमन लाल सप्रू), पांचजन्य, अप्रैल 1994, पृष्ठ संख्याः 16

26. कश्मीर और उसके लोगः ओमप्रकाश मंत्रीय लाला रुख प्रकाशन, श्रीनगर, पृष्ठ संख्याः 62

27. कथासतीसरः पृष्ठ संख्याः 235

28. हिंदी विश्वकोश पृष्ठ संख्याः339

मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में स्त्री शिक्षा समस्याएँ

प्रोमिला*

सारांश : आज स्त्री पढ लिखकर विविध क्षेत्रों में अपना स्थान निर्धारित करते हुये देश के विकास में योगदान दे रही है। परंतु आज भी ग्रामीण भारत में स्त्री शिक्षा संबंधी अनेक गलत धारणाएँ विद्यमान हैं। आज भी ग्रामीण स्त्री शिक्षा से दूर है तो शहरी स्त्री को उच्च शिक्षा ग्रहण करते समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है। आज के स्वतन्त्र भारत में स्त्री शिक्षा संबंधी समस्याओं का यथार्थ चित्रण मैत्रेयी ने अपने उपन्यासों – इदन्नमम, चाक, विजन आदि में किया है। भारतीय समाज परम्परागत रूढियों से जकड़ा हुआ है। वह आज भी स्त्री को अनेक गलत धारणाओं का पालन करते हुए घर की दीवारों में बंद करके उसे उसके विकास के माध्यम शिक्षा से दूर रख रहा है। शिक्षा के प्रति अनुचित विचार रखते हुए आज के आधुनिक समाज में भी स्त्री को शिक्षा से दूर ही रखा जा रहा है और इसके पीछे महत्त्वपूर्ण कारण है पुरुष प्रधान समाज का वर्चस्व। आज भी स्त्री बेटी, माता और पत्नी के रूप में ही देखना चाहता है। उसे समानाधिकार देकर वह उसे सहचारिणी, सखी के रूप में कब स्वीकार करेगा यह एक सवाल ही है।

बीज शब्द : समानाधिकार, सर्वांगीण विकास, शिक्षा, परंपराएँ, रूढ़ियाँ, धारणाएँ, सार्वभौमिकता, संकीर्ण विचारधारा, पिछड़ापन।

मूल–शोध : मनुष्य जीवन के सर्वांगीण विकास का महत्त्वपूर्ण साधन शिक्षा है। व्यक्ति विकास से ही समाज व राष्ट्र का विकास होता है। जिस मनुष्य जाति के विकास का माध्यम शिक्षा है, वह मनुष्य जाति स्त्री और पुरुष इन दो भेदों में विभाजित हो जाती है। समय के साथ स्त्री शिक्षा के महत्त्व को समझकर शिक्षा ग्रहण करने लगी। स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार ने स्त्री शिक्षा के लिए अनेक योजनाओं को चलाते हुए स्त्री शिक्षा का प्रचार–प्रसार किया परंतु आज भी स्त्री के शिक्षा से दूर रहने के कई कारण व समस्याएँ हैं। समकालीन महिला लेखिका मैत्रेयी पुष्पा ने अपने साहित्य में स्त्री शिक्षा पर अनेक महत्त्वपूर्ण सवाल आज के आधुनिक भारत के समाज से पूछे हैं। वे शिक्षा को स्त्री मुक्ति का द्वार मानती हैं। अपने साहित्य के माध्यम से स्त्री शिक्षा का महत्त्व, उसके जीवन में आने वाली समस्याओं को उजागर करते हुए आधुनिक युग में भी शिक्षा ग्रहण करते समय भारतीय स्त्री कौन सी समस्याओं से गुजर रही है, इसका चित्रण उन्होंने अपने साहित्य में निम्न प्रकार से किया है–

मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य में स्त्री शिक्षा समस्याएँ

सदियों से पुरुषसत्तात्मक भारतीय समाज ने स्त्री शिक्षा का महत्त्व रेखांकित नहीं किया। इस समाज ने लड़कों को पढाया और लड़कियों को शिक्षा से दूर ही रखा। स्वतन्त्रता के बाद शिक्षा की सार्वभौमिकता के कारण स्त्री को शिक्षा का समानाधिकार प्राप्त हुआ। आज स्त्री पढ लिखकर विविध क्षेत्रों में अपना स्थान निर्धारित करते हुये देश के विकास में योगदान दे रही है। परंतु आज भी ग्रामीण भारत में स्त्री शिक्षा संबंधी अनेक गलत धारणाएँ विद्यमान हैं। आज भी ग्रामीण स्त्री शिक्षा से दूर है तो शहरी स्त्री को उच्च शिक्षा ग्रहण करते समय अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है। आज के स्वतन्त्र भारत में स्त्री शिक्षा संबंधी समस्याओं का यथार्थ चित्रण मैत्रेयी ने अपने उपन्यासों इदन्नमम, चाक, विजन आदि में किया है।

1. संकीर्ण और संकुचित विचारधारा : किसी भी देश व समाज के विकास के लिए शिक्षा आवश्यक साधन है। स्त्री भी मानव समाज का अभिन्न अंग है। इसलिए किसी भी देश के विकास में पुरुष के समान स्त्री का विकास भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। परंतु भारतीय

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, बाबा मस्तनाथ विश्वविद्यालय, रोहतक

समाज परम्परागत रूढियों से जकड़ा हुआ है। वह आज भी स्त्री को अनेक गलत धारणाओं का पालन करते हुए घर की दीवारों में बंद करके उसे उसके विकास के माध्यम शिक्षा से दूर रख रहा है। मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' उपन्यास की नायिका मंदा पाँचवीं कक्षा तक पढ़ी है। अपने सोनपुरा गाँव को छोडकर श्यामली गाँव आई मंदा आगे की शिक्षा ग्रहण करना चाहती है। परंतु भारतीय समाज की मान्यता के अनुसार लड़के वंशबेल बढ़ाते हैं, घर का जिम्मा उठाते हैं, इसलिए उन्हें ही पढने का अधिकार है। इस संकीर्ण विचारधारा से ग्रस्त नायिका मंदा की दादी बऊ कहती है – ''बऊ दो क्षण मौन हुई देखती रही। 'कल से ही जायेंगे बऊ! मकरन्द किताबें ला देंगे मोठ से। पइसा दे देना।' 'बेटा ना! ना मन्दा!' 'ना! क्यों बऊ?' 'बिटिया और बालकों की होड़ न करो। तुम्हारा बाहर कढना ही मुसीबत हो पडेगा मन्दा।''1 इस तरह भारतीय समाज में बेटा ही बुढापे का सहारा है, बेटी तो पराये घर का धन है। इसलिए उस के शिक्षा पर पैसे खर्च करना यहाँ के समाज को बोझ लगता है। इस तरह स्त्री को जन्म से ही नकारने वाले इस समाज के संकीर्ण विचार ने स्त्री को शिक्षा से दूर ही रखा है।

2. जन–साधारण का अशिक्षित होनाः– भारत एक विशाल जनतन्त्रात्मक देश है। किसी भी देश की जनतन्त्रात्मक प्रणाली को सफलता की ओर ले जाने के लिए वहाँ की जनता का शिक्षित होना आवश्यक है। परंतु आज भी भारतीय समाज में अशिक्षित लोगों की संख्या बडी मात्रा में है। इस विशाल देश के विविध प्रा. तिक रूपों के कारण पहाड़ी इलाके के दूर–दराज के गाँवों में आज भी शिक्षा का प्रचार–प्रसार पूर्ण रूप से नहीं हुआ है। परिणाम स्वरूप जहाँ शिक्षा ही नहीं पहुँची है, उस समाज की स्त्री का शिक्षित होना तो दूर की बात ही है। मैत्रेयी पुष्पा ने 'चाक' उपन्यास में दूर–दराज में बसे गाँव 'अंतरपुर' की शिक्षा–स्थिति का चित्रण किया है। ''ज़्यादातर औरतें अनपढ़ हैं। जो पढी–लिखी भी हैं, वे गोबर–पानी के काम में खपकर अपनी विद्या भूल चुकी है। सारंग ग्यारहवीं कक्षा पढी है। मगर कोई उससे चिठ्ठी लिखने के लिए कहे तो उसकी उंगलियाँ और दिल की भीतरी तहें साथ–साथ काँपने लगती हैं।''2 अतः स्पष्ट है कि आज भी ग्रामीण स्त्री शिक्षा से अधिक दूर है।

3. अल्पायु में विवाहः– भारतीय समाज में हिंदू और मुस्लिम धर्मियों की जनसंख्या बहुतायत में है। इस समाज पर धार्मिकता का गहन प्रभाव है। हिंदू और मुस्लिम समाज ने सदियों से स्त्री को शिक्षा से दूर ही रखा। इस समाज में बाल–विवाह, सतीप्रथा, दहेज–प्रथा और पर्दा प्रथा आदि आज भी विद्यमान हैं। परिणाम स्वरूप ग्रामीण भारत में लडकियों की छोटी उम्र मे ही शादी करा दी जाती है। उसे शिक्षा के अधिकार से दूर रखते हुए, अपना कर्तव्य बडा मानकर माँ–बाप छोटी आयु में ही लडकियों के हाथ पीले कर देते हैं और उनकी शिक्षा बीच में ही छूट जाती है। भारतीय समाज में स्त्रियों के अल्पशिक्षित रहने के बारे में जे. सी. अग्रवाल कहते हैं – ''माता–पिता में लडकियों को स्कूल भेजने के प्रति उपेक्षा भाव, उनमें लडकियों के स्कूल में पढाई के प्रति पूर्वग्रह, उनके घूमने–फिरने विशेष रूप से यौवनारंभ के बाद बाहर निकलने पर प्रतिबंध, छोटी उम्र में शादी और उन पर महिलाओं के दायित्वों को संभालने का दबाव। इनके पीछे पितृतंत्रात्मक मूल्य हैं जिनका हमारे समाज पर गहरा प्रभाव है।''3 इस तरह 'लडकी पराये घर का धन' की मान्यता और उसकी यौनी शुचिता को अनन्य असाधारण महत्त्व देने के कारण आज भी भारतीय समाज में लडकियों की छोटी आयु में शादी करा दी जाती है।

4. शिक्षा के प्रति अनुचित विचारः– भारतीय समाज में लड़कों को बुढ़ापे का सहारा और घर चलानेवाला, कमानेवाला, उपयोगी मानकर शिक्षित किया जाता है। लड़की पढ़ लिखकर ससुराल चली जायेगी या उसे शिक्षा दी तो अच्छा घर' प्राप्त हो जायेगा। इस संकुचित विचार से लडकियों की शिक्षा पर प्रतिबंध लगाया जाता

है। मैत्रेयी पुष्पा के 'विजन' उपन्यास में नेहा के पढ़े–लिखे माँ–बाप नेहा की उच्च शिक्षा इस कारण रोकते हैं कि डॉ० अजय शरण जैसा रिश्ता उसे दुबारा नहीं मिलेगा। नेहा अपने माँ–बाप का विरोध करती हुई कहती है – "मम्मी मैं सोने के महल में कैद होने नहीं जा सकूँगी।' तब नेहा के माँ–बाप अपने कर्तव्य का बोझ उस पर डालते हुए उसे सुनाते हैं। 'तू क्या कह रही है यह समझती है? पढ–लिखकर यही सीखा है? अपने बडों पर भरोसे के बदले संदेह करो? तुझे पेट काटकर पढाया और यह बदला पाया। नेहा .... सोचा था कि कभी अच्छे दिन.... पर तू आजकल के बच्चों से अलग कैसे हो जायेगी? माँ–बाप के गले में रस्सा डालो और मनमाने तौर पर खींचो।'' कहकर माँ रूआँसी हो गई।''4 इस तरह शिक्षा के प्रति अनुचित विचार रखते हुए आज के आधुनिक समाज में भी स्त्री को शिक्षा से दूर ही रखा जा रहा है और इसके पीछे महत्त्वपूर्ण कारण है पुरुष प्रधान समाज का वर्चस्व। आज भी स्त्री बेटी, माता और पत्नी के रूप में ही देखना चाहता है। उसे समानाधिकार देकर वह उसे सहचारिणी, सखी के रूप में कब स्वीकार करेगा यह एक सवाल ही है।

5. ग्रामीण क्षेत्रों का पिछडापनः– आज स्वतन्त्रता के 60 साल बाद भी हमारे देश के गाँव अविकसित ही हैं। आज भी बिजली, जल, शिक्षा, आरोग्य जैसी प्राथमिक सुविधाएँ वहाँ पहुँची नहीं है। जहाँ बालकों की शिक्षा का अभाव है, वहाँ स्त्री शिक्षा की बात करना निरर्थक है। ग्रामीण क्षेत्र के पिछडेपन के बारे में मैत्रेयी पुष्पा के 'इदन्नमम' उपन्यास में यथार्थ चित्रण मिलता है – ''बातें क्रैशर की ही क्या, विभिन्न मुद्दों पर हुई। पोस्ट ऑफिस से लेकर स्कूल, सडक और फिर अस्पताल तक आ पहुँची। नरसिंहगढ़ के सरपंच जी कहने लगे, "इस अंधेर को क्या करें कि सडक के आस पास के गाँवों में दो–दो स्कूल और अपने दूर–दराजी गाँव मीलों पर एक स्कूल के लिए तरसते हैं।''5 इस तरह भारत देश के ग्रामीण इलाकों में प्राथमिक शिक्षा तक की सुविधा नहीं पहुँची है, वहाँ स्त्री शिक्षा की कल्पना करना ही व्यर्थ है ।

6. आर्थिक समस्याः– शिक्षा के प्रमुख दो उद्देश्य माने जाते हैं– एक व्यक्तित्व का विकास करना और दूसरा अर्थार्जन करना। भारत जैसे विकसनशील देश की 80 प्रतिशत जनता जहाँ रोजी–रोटी के लिए संघर्ष कर रही हो, वहाँ शिक्षा को प्रथम स्थान मिलना सहज साध्य नहीं है। आज शिक्षा का प्रचार–प्रसार जरूर हो रहा है परंतु जिस परिवार में शिक्षा पहुँची है, वहाँ लडकों की शिक्षा की तरफ अधिक ध्यान दिया जाता है। आर्थिक विपन्नता के कारण मजदूर, किसान वर्ग परिवार की आय बढ़ाने के लिये लडकियों को शिक्षा देने की बजाय खेती, खदान, आदि पर काम करना पडता है। अतः लडकियों को घर के काम, छोटे भाई–बहनों को संभालना या माँ–बाप के साथ काम पर चले जाना इन कारणों से शिक्षा से दूर ही रहना पडता है। जे.सी. अग्रवाल ने लिखा है– ''सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कारणों के अलावा, लडकियों की शिक्षा वस्तुतः एकल परिवारों को उपलब्ध पानी, इंधन, चारे और शिशुओं की देखभाल आदि की सुविधाओं से जुड़ी है। छोटी लडकियों के कुल समय का 29 प्रतिशत समय देहातों में लकड़ियाँ बीनने और 20 प्रतिशत समय पानी लाने में लग जाता है। लड़कियों का काफी समय अपने सगे भाई–बहनों की देखभाल में चला जाता है। यह बात विशेष रूप से गरीब देहाती परिवारों पर लागू होती है। उदाहरण के तौर पर पूर्वी उत्तर प्रदेश में देखा गया है कि घर–गृहस्थी का 30 प्रतिशत भार और खेती के काम का 20 प्रतिशत भार लडकियों को उठाना पडता है।''6 इस तरह स्त्री शिक्षा की समस्या में गरीबी भी एक प्रमुख कारण दिखाई देता है।

7. शिक्षा केंद्र स्थल का दूर होनाः– आज भी स्वतंत्र भारत में पहाडियों में दूर–दूर बसे गाँवों में प्राथमिक शिक्षा से आगे के शिक्षा केंद्र स्थित नहीं हैं। परिणामस्वरूप गाँव के बाल–बच्चे प्राथमिक शिक्षा तक

ही पढ़ पाते हैं। लडके तो फिर भी दूरस्थल के शिक्षा केंद्रों में चले जाते हैं परंतु आवागमन की असुविधा के कारण ज्यादातर लडकियाँ आगे की शिक्षा हासिल नहीं कर पाती और गाँव के लोग भी लडकियों को दूर–दराज में शिक्षा के लिए भेजने के लिए तैयार नहीं होते हैं और परिणाम स्वरूप लडकियों की शिक्षा रुक जाती है। 'इदन्नमम' उपन्यास के 'सोनपुरा गाँव' में पाँचवीं क्लास तक की शिक्षा दी जाती है यही वहाँ की उच्चतम शिक्षा मानी जाती है। 'इदन्नमम' की नायिका 'मंदा' श्यामली गाँव के मकरंद को कहती है– ''उसकी बात करते हुए मकरन्द पूछ बैठा, तुम पढ़ी हो?" "कक्षा पाँच तक।'' उसने तुरन्त सगर्व उत्तर दिया। ''बस? मरकन्द की 'बस' उसे बड़ी बुरी लगी, बडी तुच्छ। गंभीर स्वर में बोली, "कक्षा पाँच तो सबसे उँची कक्षा है हमारे स्कूल की।''7 इन पंक्तियों के माध्यम से लेखिका संकेत करती है कि ग्रामीण क्षेत्रों में अगर स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देना हो तो वहाँ स्कूलों का होना आवश्यक है। गाँव में ही माध्यमिक, उच्च माध्यमिक स्कूल रहेंगे तो स्त्रियाँ उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकती हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के साथ मैत्रेयी पुष्पा ने अपने साहित्य में लडकियों के छात्रावास, उच्चशिक्षा, स्त्री शिक्षा संबंधी सरकारी .ष्टिकोण आदि बातों को लेकर आज के भारत में स्त्री शिक्षा की दशा एवं दिशा को चित्रित किया है। आज आवश्यकता है शिक्षा में लडकियों का लडकों के समकक्ष होना।

निष्कर्ष :– प्राचीन काल से लेकर मुगलकाल तक भारत में स्त्री को शिक्षा में न के बराबर स्थान प्राप्त था। परंतु, ब्रिटिशकालीन शिक्षा नीति और आधुनिक विचारों के समाज सुधारकों की प्रेरणा स्वरूप स्त्री शिक्षा को बढावा मिला। देश के स्वतंत्र हो जाने पर स्त्री–शिक्षा में क्रान्तिकारी विकास हुआ। स्त्री शिक्षा ग्रहण करते हुए अध्यापिका, नर्स व ग्रामसेविका का काम करने लगी। परिवार को संभालने के साथ–साथ शिक्षा को हासिल करते हुए स्त्री नौकरीपेशा हुई है। आज की भारतीय स्त्री प्रत्येक उच्च पद पर अधीन होकर अपनी कार्यक्षमता का प्रमाण दे रही है। परंतु आज ज्ञान–विज्ञान के युग में ग्रामीण भारत में स्त्री शिक्षा के प्रति आज भी उदासीनता है, आज भी उसे अनेक समस्याओं को लेकर जीना पड़ रहा है। स्त्री का मुक्तिद्वार शिक्षा है। यह विचार रखने वाली मैत्रेयी ने आज की स्त्री शिक्षा की समस्याओं में समाज के अज्ञान, अंधविश्वास, रूढ़िवादिता तथा सनातनी वृत्ति, बेटा–बेटी भेदभाव, ऊँच–नीच, जात–पात आदि कारणों से भारतीय समाज में स्त्री को किस तरह शिक्षा से दूर रहना पड रहा है, इसका यथार्थ चित्रण किया है। संकीर्ण और संकुचित विचारधारा, जन–साधारण का अशिक्षित होना, गाँव से दूर शिक्षा केंद्रों का होना, लड़का–लड़की में भेद, ग्रामीण लोगों का पिछड़ापन आदि कारणों से देश का अधिकांश स्त्री समुदाय अशिक्षा के अन्धकार में जी रहा है। इस सत्य को उजागर करना ही मैत्रेयी के साहित्य का उद्देश्य रहा है।

संदर्भ सूची

1. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ० सं० 50
2. मैत्रेयी पुष्पा, चाक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ० सं० 27
3. जे.सी.अग्रवाल – भारत में नारी शिक्षा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ०सं० 81
4. मैत्रेयी पुष्पा, विजन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ० सं० 81
5. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ० सं० 232
6. जे.सी. अग्रवाल, भारत में नारी शिक्षा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ० सं० 53
7. मैत्रेयी पुष्पा, इदन्नमम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, पृ० सं० 45

असमिया समाज में श्रीमंत शंकरदेव का अवदान

डा० साइफुल इस्लाम

'जय गुरु शंकरसर्वगुनाकर'जोकारे नाहीके उपाम
ताहारि चरनेरेणु शतकोटि बारेक करोहो प्रणाम ।''

असमिया जाति के जनक तथा जगतगुरु श्रीमंत शंकरदेव का जन्म सन 1949 में असम के नगाँव जिले के बरदोवा के आलिपुखरी में कुसुम्बर भुजा और सत्यसन्दा के ऊरसत में जन्म हुआ था । प्राय 120 वर्ष के जिन्दगी में आपने धर्म साहित्य, शिक्षा संस्कार आदि में असमिया जाति को बहुत आगे बढ़ाया। आपने असमिया साहित्य के माध्यम से विभिन्न जाति, धर्म, भाषाओं के लोगों को एक बड़े असमिया जाति बनाने की कोशिश की। इस बारे में डा० संजीब बरकाकति की कहना है ^"The father of Assamese Nation Srimanta Sankardeva is reversed by people from all walrus of life in Assam" शंकरदेव ने एक शरण भागवत वैष्णव धर्म के माध्यम से समाज में अस्पृष्यता, जाति–भेद, हिंसा आदि को हटाकर एक स्वस्व समाज बनाने की कोशिश की। आप केवल असमिया जाति के ही गुरु नहीं थी बल्कि असमिया भाषा, साहित्य, कला–दृष्टि, संस्कृति के महान गुरु थे। वे सभी को नीति नैतिकता और सत्य का ज्ञान देकर सम्बयवादी समाज स्थापना की थी और इसी के जरिये विभिन्न जाति–वर्ण जनगोष्ठी के लोगों को एक ही नामघर में बैठाया था। उनके सम्बयबादी चिंता–धारा के प्रति आकृष्ट होकर नागा, मिचि, खाची, गारो आदि सभी ने उनके शरण ली थी। 1500 शती में असमिया समाज को अन्धविश्वास कु संस्कार बिराज थे। विभिन्न जाति जनगोष्ठी को लेकर एक महान असमिया जाति बनाना चाहता था। आज असमिया जाति के सामने जो संकट तथा असम टुकडे टुकडे होने लगे इसलिए वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रीमंत शंकरदेव का आविर्भाव होना प्रासंगिक हो गया ।

श्रीमंत शंकर देव समाज, संस्कृति और आध्यात्मिक आदियों का प्रधान उद्देश्य समाज संस्कार था। इसलिए इसके माध्यम से एक संस्कार का आन्दोलन रचना हुआ था। आपने अन्धविश्वास को हटाकर लोगों को स्वाधीन चिंता से धर्म ग्रहन करने पर महत्व दिया था। प्रचलित सामाजिक रीति–नीति के ऊपर व्याख्या की थी। इसी वजह प्रचलित रीति–नीतियों ने जीवन विशक्त हो गये थे और इसके कारण बहुत लोगों का अत्यचारित भी हुआ था। समाज लोगों को लेकर होने कारण लोगों के इच्छा, चेतना, रुचि, अभिरुचि, जीवन–यापन, सामाजिक व्यवस्था में जरूरी हो जाते हैं। इस सभी को हटाने के लिए किसी के साथ संघर्ष नहीं कर एक शरण भागवत धर्म के माध्यम से लोगों को संस्कारित किया था।

शंकरयुग में अगर ध्यान दिया जाय तो देखा जाता है कि अन्धविश्वास अन्याय, सामाजिक विषमतां आदि ने समाज को बुरी तरह घायल किया था। कुछ लोग मर्यादा तथा रीति–नीति को बहाना बनाकर लोगों में श्रेणी विभाजन भी किया था। असमिया समाज में शंकरेदव ने नव वैष्णव धर्म के माध्यम से समाज को मुक्त किया था। लेकिन पूरे तरह कर नहीं पाये थे। आज विज्ञान तीव्र गति से आगे बढ़ रहा है। लेकिन

***सह–प्रध्यापक जुरिया महाविद्यालय, नगाँव, असम**

समाज में आज भी कही न कही अन्धविश्वास बिराजमान है। सुबह चाय पीने से लेकर रात में बिस्तार में जाने तक खबर कागज वै प्रचार माध्यम में हमें दिखाई पड़ते है कि कहीं डाइनी के सन्देह में हस्ता, धर्षण, नारी के उपर अत्यचार, दहेज के लिए बहु को जला देना आदि आज भी उतना ही है, जितना की शंकरीयुग में था। वैसा लगता है कि आज का माहौल 1400 वी शती की ओर जा रहा है।

शंकरदेव ने चिंता किया था कि जबतक समाज संस्कार नहीं होगा, तबतक मनुष्य के जिन्दगी का शान्ति, सुरक्षा, सम अधिकार तथा विकास सम्भव नहीं होता। शंकरदेव एक आदर्श समाज बनाना चाहते थे और बहुत दूर तक सफल भी हुआ था। राजा नरनारायण को शरण नहीं देना और शिवानन्द जैसे आदमी को वर्जन किया था। आप एक आदर्शवान व्यक्ति होने के कारण खाने के जरुरत समान, खुद खेत में उत्पादन किया था। इसके साथ साथ शिष्य को भी आदेश दिया था। आपके ध्यान धारणा ही असमिया जाति को बहुत आगे बढ़ाया और इनके आदर्श तथा ध्यान– धारणा वर्तमान युग में बहुता प्रासंगिक हो गया है। असम में विभिन्न जाति– जनगोष्ठी का संमिश्रण है। सब जाति जनगोष्ठी की अलग–अलग समस्याएँ है। जिसके फलसरुप शंकरदेव ने उनसब जाति जन–गोष्ठी के लोगों को एक ही दृष्टि से दिखा था। जैसे

''किरात कछारी खाचि गारो मिरि जबन कन्द
गोवाल रजक तरुक
असम मुलुक कुवाच स्चेच चण्डाल (भागवत):''

शंकरदेव ने सभी जाति वर्ण, धर्म, के लोगों को एक साथ लेकर चले थे। ।बबवतकपदह जव ैदरपइ ठवतांजप ैदांतकमअं सपअमक ंसवदह ूपजी जीम बेनजपलें, जीम ठवकवे, जीम ज्ञनबी, जीम झंपइंजें, जीम ज्ञनउंते, जीम त्रें, जीम श्रंपदजपें, जीम ळंतवे, जीम डनेसपउे मजब वि कपमितमदज जपउमे ंदक पद कपमितमदज चसंबम'' विभिन्न जाति जनगोष्ठी के लोगोंको अपने शिष्यत्त प्रदान किया था। जैसे– मिचि के परमानन्द गारी के गोविन्द कैवत्त के पुर्णानन्द जयन्तीया के मधाई, भुटिया के जयानन्द, नागा के नरोत्तम, मुलसमान के चन्दखाइ आदि उल्लेख है। शंकरदेव अछि तरह जानते थे असम में विभिन्न धर्म के लोगों के निवास स्थान है। इसलिए यहाँ सम्बन्नय के जड़िये आगे जाना होगा, नहीं तो विभाजन होगा और वर्तमान समय में असम के जाति जनगोष्ठी के बीच में विश्वास और सम्बन्ध का भाव का अभाव है और जिसके फलस्वरूप विभिन्न जाति जनगोष्ठी में अलग–अलग राज्य का मांग रहे है। आज असम विभिन्न जाति जनगोष्ठी के बीच में सम्बनय तथा विश्वास के भाव तेजी से घट रहे है। जिसके नाते अब असमिया असम के लोग असमिया जाति के संज्ञा इन ने का परिस्थिति हो गये। कुछ जनगोष्ठी को स्वयत्व शासन देने के बाद भी पृथक (अलग) राज्य के मांग उठ रहे है। आज के परिपेक्ष में महान असमिया जाति विभाजित होकर छोटे–छोटे जनगोष्ठीय राज्य बनाने के ओर जा रहे है। इसलिए महान असमिया जाति को रक्षा करने के लिए फिर एकबार श्रीमंत शकरदेव का जन्म लेना प्रासंगिक हो गये। आज असमिया जाति के सामने सौ सवाल उठ रहे है और ये समाधान के लिए बहुत कोशिश करने के बावजूद सफल नहीं हो पा रहे है। बडोलोगों ने बडोलेण्ड, कार्विर्याने कावियालंग, डिमाचा ने डिमा हाचाओ, तथा कोच राज्यबंशीयों ने कामतापुरी राज्य पुरे जोडसोड़ से मांग रहे है। वर्तमान समाज व्यवस्था में कुछ जनगोष्ठीयों ने अलग अलग राज्य का मांग करना विषेशतः उन जनगोष्ठी के राजनैतिक, सामाजिक आर्थिक अधिकार सङ्कपना और उसी की बजह अलग राज्य के मांग तीव्र से तीव्रत्तर होते जा रहे हैं।

आज असम के लोग खुद की संस्कृति भूलकर पश्चिमी संस्कृति के ओर तेजी से आगे बड रहे है। पश्चिमी संस्कृति अपनाना गलत बात नहीं, लेकिन अपनी भाषा सस्कृति छोड़कर दूसरे भाषा संस्कृति अपनाना ये गलत बात है। क्योंकि कोई भी जाति दूसरो की भाषा संस्कृति से संस्कृतिवान होना उस जाति के खतरे का सकैत है। अपने भाषा–संस्कृति के बिना कोई भी जाति समय के सामने दीर्घकाल टिक नहीं पायेगा।

महापुरूष शंकरदेव के दर्शन, कला, संस्कार की विभिन्न तरह की चर्चा से पता चला है। कि उसके चिन्ता, अवदान सभी समय में प्रासंगिक है। समय जितना परिवर्तन होता जा रहा है उतना ही श्रीमंत शंकरदेव प्रासंगिक होते जा रहे है। ''1930'' में स्थापित श्रीमंत शंकरदेव संघ बहुत दिनों से शंकरदेव की दर्शन तथा संस्कार के काम में व्रती है। अंत में में यही कहना चाहूँगा कि विभिन्न जाति जनगोष्ठी के बीच में समन्वय स्थापित कर महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव के आदर्श के जरिये आगे बढ़ना होगा, तभी महान असमिया जाति सुरक्षित रहेगा, और ना तो इसका विकल्प नहीं। असमिया जातिय जीवन के अंतीत वर्तमान और भविष्यत इन तीनों में प्राण और आत्मा श्रीमंत शंकरदेव ही है। वर्तमान इस जटिल परिस्थिति के समाधान का एक ही रास्ता मानवता धर्म, नहीं तो दिन बिगड़ते बिगडते समस्या और जटिल रूप धारण करेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. Dr- Sanjib Kumar Borkakati &Unique contribution of Snimanta Sankardeva is Religion and Culture, Page-124 Published by General Secretary Reception Committee 75 Annual Conference of Srimanta Sankardev Sangha- Nagaon Assam, 1st Edition - 2006 AD
2. शंकरदेवर समाज संस्कार चिन्दा आरु कौशल मृणाल कुमार बरुवा पृष्ठा 16 प्रकाशक निरीक्षण प्रकाशन, गुवाहाटी प्रथम प्रकशन मे 2014
3. .हरिनारायण दत्त बरुवा (सम्पादित) श्रीमद भागवत, श, स्कन्ध पद 898
4. Dr- Sanjib Kumar Borkakati&Unique contribution of SrimantaSankardevais Religion and Culture-Page-124 Published by General Secretary Reception Committee 75 Annual Conference of Srimanta Sankardev Sangha,Nagaon Assam, 1st Edition & 2006 AD www-assaminfo-com
5. शंकरदेव साहित्य प्रतिभाः डा० श्रीहरि नाथ शर्मा , प्रकाशिका पद्माप्रियालाइब्रेरीर हके श्री शशी प्रभा देवी गलियाहाटि बरपेटा–৩৮১০০১

The Essence of Danda Nata: Investigating the Folk Dance Culture of Kandhamal

Dibya Ranjan Tripathy and Dr Santosh Kumar Malik*

ABSTRACT: This paper explores the rich cultural heritage of Danda Nata, a traditional folk theatre and ritual performance celebrated in South Odisha, particularly in the Ganjam and Kandhamal district. Rooted in historical contexts, Danda Nata has evolved through centuries, with its origins traceable to the 8th and 9th centuries when Saivism emerged as a significant religious force. The festival serves as a platform for communal worship, devotion to Lord Shiva and Goddess Kali, and the enactment of various cultural narratives through three distinct phases: Dhuli Danda (Earth Ritual), Pani Danda (Water Ritual), and Danda Suanga (Theatrical Performance). Each phase is characterized by unique rituals, music, and dance, reflecting the intricate relationship between spirituality and performance. However, over the past two decades, modernity, urbanization, and commercialization have introduced challenges that threaten the authenticity and simplicity of Danda Nata. This study examines these transformations, highlighting the shift from devotional practices to commercial interests, and advocates for the preservation of this vital cultural heritage against the backdrop of contemporary societal changes.

Keywords: Danda Nata, Dhuli Danda, Pani Danda, Danda Suanga, Modernity, Urbanization, Commercialization.

INTRODUCTION

Folk culture encompasses folklore, folk art, folk literature, folk dance, folk music, and folk theatres, which have evolved with civilization. These oral traditions, maintained by rural communities, serve both aesthetic and educational purposes. Odisha's folk theatre tradition, notably richer than other Indian states, showcases this interplay (Sahoo, 2020; Mohanty, 2021Among various dance forms in Odisha, Danda Nata stands out, especially in South and Western Odisha, and is celebrated with great fervor during the spring months of Chaitra and Baiksha (March-April). In Kandhamal district, Danda Nata, influenced by Ganjam culture and celebrated for about a century, spans 13 days and includes participants from all societal classes, except females (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021). The festival begins either 21 or 13 days before Maha Bisuba Sankranti or Mesa Sankranti (Solar Month Mesa). A song used in this yatra, in which the deities Iswar and Parvati—who serve as the central figures and key characters in the festival—discuss the rules and regulations of the observance, provides insights into the tradition (Rout, 2020). Such as:

"*Kumbha Ante Mina Masa Bhog Satar Dibas*
Dakae Asta Sambhunku, Jiba Panitolibaku

* **Ph.D Research Scholar, School of History, Gangadhar Meher University, Sambalpur, Odisha**
** **Assistant Professor , School of History, Gangadhar Meher University, Sambalpur, Odisha**

Mohadhadhi Nikataku
Gaurilo, Danda Magi Barunanku"

According to solar month calculations, Danda Nata begins 17 days after the "Mina" month and lasts for 13 days in Kandhamal District, aligning with seasonal changes and agricultural cycles (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021). This strenuous festival involves fasting, dancing, rolling on the ground, and fire rituals, as devotees believe such austerity will earn them the favor and blessings of Lord Shiva and Goddess Parvati (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021). The festival represents a convergence of Aryan culture from Kalinga and Dravidian culture from Andhra Pradesh, enriching local culture with diverse influences (Pattnaik, 2022; Rout, 2020). Historically, Kandhamal has been a hub for Buddhism, Shaivism, and Shaktism, and its vibrant folk traditions reflect ceremonies linked to war, worship, marriage, courtship, and daily village life. Danda Nata likely originated in Ganjam, Chakapadu, or nearby areas like Sonpur or Boudh.

REVIEW OF LITERATURE

Research on Danda Nata reveals it as a vibrant folk tradition rooted in spiritual and cultural expression across Odisha, with particular nuances in Kandhamal. Mohanty (1998) explores the ritualistic aspects of Danda Nata, emphasizing its role in invoking divine blessings through disciplined performances, often combining devotional acts and vigorous physical movements. Acharya (2004) expands on this by examining the socio-religious dimensions of Danda Nata, detailing how it fosters a sense of community, transcending caste and class barriers, especially among tribal communities. Panda (2012) delves into the aesthetic elements, highlighting the role of costumes, props, and musical instruments, such as the dhol and mahuri, that enrich its performative appeal and reinforce its connection to rural life. Das and Jena (2017) analyze the psychological impact on both participants and audiences, showing that Danda Nata serves as a form of catharsis and spiritual renewal, aiding in stress relief and emotional bonding. Finally, a recent study by Patra (2021) focuses on the dance's adaptation over time, discussing how modern influences and shifting demographics have introduced new interpretations while challenging traditional practices, especially in urban settings of Kandhamal. Together, these studies underscore Danda Nata's complex and evolving cultural landscape, highlighting its significance in Odisha's folk heritage.

OBJECTIVES OF THE STUDY

1. To trace the historical evolution of Danda Nata in Kandhamal.
2. To document Kandhamal-specific rituals and practices within Danda Nata.
3. To examine Danda Nata's role in fostering community identity and cohesion.

4. To analyze the aesthetic elements like dance, music, and costume in the tradition.
5. To explore the effects of modernization on Danda Nata practices in Kandhamal.

METHODOLOGY

The methodology for investigating the essence of Danda Nata in Kandhamal's folk culture combines ethnographic fieldwork with historical analysis, allowing for a comprehensive understanding of this rich tradition. Field research was conducted through participant observation, engaging directly in Danda Nata rituals and performances to gain insight into the experiences of performers and spectators. Interviews with local practitioners, including dancers, musicians, and village elders, were conducted to document their narratives, techniques, and the cultural significance of each ritual component. Archival research involved examining historical texts, local folklore, and past research on Danda Nata to contextualize its evolution within Kandhamal. Additionally, a comparative analysis was performed to assess variations of Danda Nata between Kandhamal and other regions, highlighting unique elements and influences specific to Kandhamal's tribal communities. This mixed-method approach not only captures the dynamic expressions within Danda Nata but also examines its transformation amid modern influences, providing an in-depth socio-cultural perspective.

ETYMOLOGY

The term "Danda" has various meanings, with two primary interpretations: 1) it refers to a club, rod, pole, stick, or staff; and 2) it signifies punishment. The term "Nata" derives from "Natya," which encompasses multiple denotations related to music, dance, and drama. Additionally, the term "Jatra" is used to signify theater.

FOLKTALE OF THE ORIGIN OF THE WORD DANDA

According to folklore, the origin of the word "Danda" is linked to an episode involving Lord Ganesh, who was being taught a religious dance called Tandava Nrutya by his father, Lord Shiva. During this teaching session, Lord Shiva kicked the stage he was on, producing a sound reminiscent of the word "Dan." Concurrently, a piece of brass material broke off the chain that Lord Shiva wore around his ankle and fell onto a percussion instrument known as the *Mardala*. The impact of the brass on the *Mardala* produced a loud "Da" sound. These two sounds combined to form the word "Danda," which subsequently became associated with dance due to this significant episode (Mohapatra, 2021; Nayak, 2019).

NOMENCLATURE

The nomenclature of Danda Nata has two primary interpretations. The first suggests that "Danda Nata" derives from

"Danda," a large wooden rod with 13 knots, worshipped by over 13 devotees for 13 or 21 days, culminating in Chaitra Sankranti or Maha Vishuba Sankranti celebrations. The participants, known as "Danduas," engage in mental fasting and dance, giving the festival its name (Rout, 2020). The second interpretation translates "Danda Nata" as "dance of punishment," where "Danda" represents self-inflicted punishment by devotees (Danduas/ Bhokatas) to seek blessings from Lord Shiva and Maa Kali (Rout, 2020). The most popular interpretation of the nomenclature of Danda Nata involves the worship of Champa Bara, a torch ignited in the Yajna fire. Key instruments in Danda Nata are two pairs of funnel-shaped, lighted torches, called Dandas, honored during the Dance Jatra celebrations. The dance troupe is led by the Patta Dandua, with the Deputy Patta Dandua as their subordinate. They perform a vigorous Tandava dance, igniting the Dandas with resin and myrrh powder, chanting "Kala Rudramani Ki Bhaja hey" to purify the environment. The torches symbolize Lord Shiva and Goddess Parvati, and the Danduas are believed to be purified by their flames, giving the festival its name (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021).

ORIGIN

The origin of Danda Nata remains a mystery in historical contexts. According to popular legends, the dance is performed in accordance with the will of Goddess Parvati, the wife of Lord Shiva. This mythology may carry some truth, as both Hara and Parvati (representing Shiva and Shakti) are jointly worshipped during the Danda Nata festival.

Literary sources indicate that male participants in the festival typically belong to Scheduled Castes, Scheduled Tribes, and other backward classes. However, observations from various studies reveal that there are no caste restrictions for participation; individuals from different backgrounds can engage in this vibrant celebration (Rout, 2020).

MYTHOLOGICAL BACKGROUND

According to mythology, Danda Nata traces its origins to the 13 sons of the saint Tarani during the Tretaya Yuga. After being cursed by Lord Brahma for their misdeeds, they were reborn as mortals suffering from leprosy. To seek redemption, they practiced Danda Nata, worshipping Maa Kali and Lord Shiva. Eventually, they were freed from their curse. One of Indra's sons, reborn as a bird hunter, died from a snakebite but was revived through the prayers of birds and his wives' devotion to the deities. These myths are documented by Sri Bhikari Charan Das, Sri Chaitanya Sahu, and Sri Kartika Das (Mohapatra, 2021; Nayak, 2019).

EPIC AND HISTORICAL BACKGROUND

The origins of Danda Nata may date back to the Epic Age, marked by shifts in

religious practices where Vedic gods were replaced by Brahma, Vishnu, and Shiva. The rise of the doctrine of Avatara fostered devotion to deities like Shiva and Goddess Kali, transitioning from earlier Vedic figures to new goddesses like Durga and Kali. Kings recognized these goddesses as state deities, leading to diverse worship forms and anthropomorphic representations, with Maa Kali being worshipped since ancient times, forming the basis for Danda Nata (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021). During the Gupta period (3rd to 4th century A.D.), Shaivism thrived among royalty and the public, facilitating the emergence of Maa Kali and inspiring Danda Nata for fulfilling devotees' desires (kamana), although historical records from this time are limited (Mohapatra, 2021; Nayak, 2019). In the 8th and 9th centuries A.D., Saivism became the state religion in Odisha, leading to the decline of Buddhism. This prompted Buddhists to associate Tantricism with Shaktism and Saivism, giving rise to Danda Nata, particularly among those who became untouchables. The Abhinava Chandrika from 1568 references "Danda Yatra," indicating the folk theater's popularity in medieval India. Thus, Danda Nata, rooted in the 4th century A.D., represents a significant non-literate tradition in India, characterized by living rituals that reflect early cultural practices (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021).

TRADITION AND PRACTICES

The ritualistic festival of Danda Nata commences on the sixth day of the Meena month, coinciding with the middle of Chaitra, around March to April in the Gregorian calendar. Preliminary preparations for the festival take place over the first six days, culminating in the Jhamu Jatra on the eighth day. The remaining 13 to 21 days are dedicated solely to Danda Jatra. Participants engage in self-inflicted wounds as an act of worship towards Lord Shiva, reflecting the ancient Hindu philosophy that greatness is attained through self-control over the body (kaya), mind (mann), and speech (vakya) (Mohapatra, 2021; Nayak, 2019).

DANDA NATA RITUALS AND PRACTICES

During Danda Jatra, devotees worship Goddess Kali and seek blessings from Lord Shiva, blending their reverence for Shiva and Shakti. Temples near water bodies serve as key locations for the festival, where devotees, clad in white linen and having made a silent pledge (Sahami), gather at the Kamana Ghara or Danda Ghara (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021).

At midnight, they perform a ceremonial bath and present the Kamana Ghata, a pitcher symbolizing the body, filled with water that represents life. After conducting a yajna (sacrificial fire), the pitcher is honored along with cane sticks and Dandas. The priest then offers a sacred thread to devotees, uniting them as Rushi Puttra, Dandua, or Bhoktas. One member becomes the Patta Dandua, while another serves as the Deputy Patta

Dandua. As lamps are lit, participants chant and throw resin onto the Danda, igniting it and shouting "Kala Rudramani Ho Joy" (Mohapatra, 2021; Nayak, 2019). Following the initial rituals, the Danda Nata troupe processes from the Kamana Ghara, accompanied by the sounds of dhol, jhanja, and Mahuri. Participants carry colorful flags, peacock feathers, a painting of Goddess Kali, and other ceremonial items (Nayak, 2019; Mohapatra, 2021). As the procession lasts for 13 to 21 days, two Danduas remain to guard the Kamana Ghara. Community members often participate by cleaning streets, decorating with Rangoli, and placing pitchers of water outside their homes to invite the procession. Upon receiving invitations from local women, the troupe halts to plant a red flag and light an oil lamp at the host's home before returning to their campsite, where they perform the Bhumi Danda or Dhuli Danda at midday (Mohapatra, 2021).

PHASES OF DANDA NATA PERFORMANCE

Danda Nata consists of three distinct phases:

- Bhumi or Dhuli Danda: This phase features acrobatic and gymnastic movements performed during the daytime.
- Pani Danda: In this phase, aquatic feats are showcased, also during the day.
- Danda Suanga: The final phase occurs at night, incorporating dance, music, and dramatic performances.

DHULI DANDA OR BHUMI DANDA (EARTH RITUAL)

Dhuli Danda, or Bhumi Danda, refers to a three-hour act of penance performed on the ground, featuring various physical exercises and acrobatic techniques. The performances depict themes of ploughing, cultivation, and harvesting, showcasing somersaults, cartwheels, and the building of temples, along with offerings to deities from harvests. Participants form human structures like pyramids, led by the Patta Dandua/Bhokta. Each person holds the dhoti of the one in front, lying on the dirt with their heads and arms between the legs of the Bhokta behind them. The Patta Dandua/Bhokta sprinkles more dirt on them, and the last Bhokta stands up, helping to pull up the others in succession.

At the end of every performance during Dhuli Danda, the Danduas join their hands together.

The Patta Dandaua asks:- Oh Rushiputre

Bhokta Answer- Oh
The Patta Dandaua asks -Paila ki bara?
What blessings are you getting?
Anya seva Chadi
Leave other services
aei seva Karo
do this service
Aei Seva kale
By doing this service

Ke phala pai?
What blessings are you getting?
Andha Chaksu danda pai
Blind will get back this eye
Aputrika putrab dana pai
A children will get hildren'
Rogi Roga Mukta pai
Diseases will be heated up
Ajnana jnar arantna pai
Llliterate will become literate
Sukhila Khata kancha hoi
Dried wood will become wet wood
Ausuna dhana gaja hoi
Boiled rice will bear the bud
Ja jha banchhai
One who desires what
Se taha pai
Get that

To each and every query of the Patta Dandua other Danduas reply han (yes) and finally they yell "Sri Sri Kala Rudra Mani Ho Joy After the Dhuli Danda the Danduas / Bhokats proceed towards a nearby tank to perform Pani Danda the second phase of the day.

PANI DANDA (WATER RITUALS)

The Pani Danda follows the Bhumi Danda, introducing a focus on aquatic activities in the village pond, where Danduas/Bhokatas revel in cooling off. Villagers gather as one Dandua distributes mango branches, leading the others to dive into the water, sprinkling it over them while chewing and spitting the leaves (Nayak, 2019). In the shallow pond, they demonstrate swimming skills and form pyramids, accompanied by traditional instruments like the dhol and mohuri, captivating the onlookers. After the performance, they change into dry clothes, and the Patta Dandua purifies them with the burning flare of the Danda using resin and myrrh powder. Later, they return to their camp in a nearby mango grove or forest for evening prayers, followed by their only simple vegetarian meal of the day, eaten in silence with the drums playing in the background. After resting, they prepare for their nighttime performance (Mohapatra, 2021).

SUANGA DANDA OR NRUTYA DANDA

The Danda Suanga resembles a theatrical performance, with an open village area transformed into a stage marked by four corner poles. Spectators encircle the performers, entering through a clear path among seated villagers. In the second part of the night, the troupe begins the Danda Suanga, led by the Patta Dandua/Bhokta and Deputy Patta Dandua/Bhokta, who dance with the Danda flares to the musicians' rhythm. Upon reaching the stage, the Patta Dandua/Bhokta performs a vigorous Tandava dance, known as parabha (meaning "illumination"), followed by the main dance program featuring a rich repertoire. The first item, the Parva dance, involves the Prabhakar and Prabhakariani, who wear multicolored costumes. The Prabhakar holds a piece of cloth over his shoulders and moves rhythmically, while the Prabhakariani, a male in a female role,

dresses in a sari and kanchala, holding a colorful handkerchief

After the Parva dance, the Hara-Parvati dance begins, followed by a group performance featuring Fakir and Fakiriani. Additional dances include those by the Savara and Savarani, as well as the Chadeya and Chadouni. The troupe then performs a Leela, depicting stories from the Ramayana, Mahabharata, or other Puranas, accompanied by songs and dances. The performance concludes with the Palarasaura and Patarasaurani, followed by the Binakar, who delivers important closing songs and dances. These performances often extend late into the night, with the Dandua troupe preparing for their next day's predetermined performance based on prior invitations, continuing until the grand finale of the Danda Jatra, marked by the Meru or Bisuba Sanskrit

THE MERU/BISHUBA SANSKRITI

On Meru Sanskrit day, the Dandua troupe returns to their village to perform the customary Dhuli Danda, usually in front of the village Shiva Temple. They then conduct a dramatic ritual at the Kamana Ghar, where a yajna is performed. This involves erecting a structure with poles around the yajna pit, and the Patta Dandua/Bhokta swings upside down from a horizontal pole, causing drops of blood to ooze from his nostrils, leaving him in a semi-conscious state .That night, the Danda Suanga is performed for the final time, capturing the festival's essence. The next morning, the Danduas/Bhoktas discard the sacred threads worn since the festival's start during their baths, symbolizing the end of their commitments. The festival concludes with a communal feast featuring non-vegetarian dishes, representing unity and celebration among participants (Mohapatra, 2021).

INFLUENCE OF MODERNITY

As modernity encroaches upon traditional practices, the rituals of Danda Nata have begun to adapt and evolve. Contemporary influences may be seen in various aspects of the festival, including changes in attire, musical instruments, and even the nature of performances. The essence of community participation and the underlying spiritual significance remain intact, yet the incorporation of modern elements reflects a dynamic cultural exchange. The Danda Nata continues to serve as a crucial platform for the preservation of folk traditions while also navigating the challenges posed by modernization. Efforts are being made to document these practices and ensure that the rich heritage associated with the Danda Nata is not lost to time, thereby allowing future generations to appreciate and engage with this vibrant cultural expression.

CONCLUSION

The traditions and practices of Danda Nata have significantly changed over the past two decades due to modernity's influence. While it retains its core elements of kamana (desires) and upasana (personalized worship), urbanization and

commercialization have negatively impacted its essence. Many organizers have replaced traditional Danda Suanga performances with modern operas, theatrical displays of contemporary themes, and popular music, leading to a decline in originality and simplicity. Additionally, the focus on financial gain has overshadowed genuine spiritual connections, as organizers compete to attract audiences, resulting in inappropriate performances that deviate from Danda Nata's sacred nature. Heavy fees for inviting troupes have further commercialized what was once a spiritual event. This shift threatens to erode the traditional practices and beliefs of South Odisha, especially in Ganjam district. It is essential for stakeholders, including local administrations and organizers, to actively work towards preserving this cultural heritage to ensure Danda Nata remains a vital expression of community identity for future generations.

References

1. Acharya, R. (2004). *Folk culture and community life in Odisha: An ethnographic study of Danda Nata*. Cuttack: Prachi Prakashan.
2. Das, T., & Jena, K. (2017). Psychological and social functions of Danda Nata in Odisha: An anthropological perspective. *International Journal of Folklore Studies*, 8(1), 45–67.
3. Mohanty, P. (2021). *Cultural dynamics of Danda Nata: A study of folk theater in Odisha*. Odisha University Press.
4. Mohanty, S. (1998). *Rituals and beliefs in Danda Nata: A study of Odia folk culture*. Bhubaneswar: Odisha State Museum Publications.
5. Mohapatra, P. (2021a). *Rituals and cultural practices of Danda Nata: A study in Odisha*. Odisha University Press.
6. Nayak, S. P. (2019). Danda Nata: A folk tradition of Odisha. *International Journal of Humanities and Social Science Research*, 7(1), 10-15.
7. Panda, B. (2012). The aesthetics of folk performance: Costume, music, and symbolism in Odisha's Danda Nata. *National Folklore Research Journal*, 15(2), 83–102.
8. Patra, P. (2021). Cultural transformation in Odia folk dances: A contemporary study on Kandhamal's Danda Nata. *Journal of South Asian Folklore*, 13(3), 207–225.
9. Rout, S. S. (2020). *Cultural heritage and performance traditions in Odisha*. Bhanja Prakashan.
10. Sahoo, R. (2020). *The ethnography of Danda Nata: Rituals and performances in Odisha*. Bhubaneswar: Odisha State University.

Environmental Justice and Disparities in Pollution Exposure

Vinit Kumar Malik*

Abstract: Environmental justice concerns the equitable allocation of environmental advantages and disadvantages across all communities, irrespective of ethnicity, income, or socioeconomic status. Nonetheless, considerable gaps in pollution exposure persist, with marginalized communities—especially low-income populations and racial minorities—experiencing disproportionately elevated levels of air and water pollution, hazardous waste sites, and industrial operations. These gaps frequently originate from systemic imbalances, including discriminatory zoning practices, inadequate political representation, and insufficient regulatory enforcement. This abstract examines the convergence of environmental deterioration and social inequality, highlighting the necessity for policies that prioritize both environmental preservation and social equity. Achieving environmental justice necessitates cooperative initiatives by governments, politicians, NGOs, and impacted communities to rectify enduring inequalities, foster sustainable development, and ensure vulnerable groups have fair access to a healthy environment.

Key Words: Environment, Constitution, Policy, Legal Frame Work, Climate Change, Socio-Economic, Pollution, Population.

A. Introduction

Environmental justice is a social movement that seeks to guarantee equal protection and significant participation for all individuals in the formulation and implementation of environmental laws and regulations. It aims to guarantee that all individuals have fair access to environmental advantages. Environmental justice is crucial since it confronts environmental injustice, which transpires when marginalized or impoverished people suffer from toxic waste, resource extraction, and detrimental land utilization. Examples of environmental injustice include[1]:

- Unequal exposure to environmental dangers: Certain communities experience higher rates of exposure to environmental hazards, resulting in detrimental health effects.
- Disparities in access to environmental amenities: Certain communities possess inferior access to environmental amenities compared to others.
- The construction of dams can relocate economically disadvantaged communities, resulting in food poverty, loss of land and water access, and unemployment.

When we talk about environmental justice, we are essentially saying that everyone, regardless of their race, color, national origin, or income, has the right to

* **Research Scholar, School of Law and Constitutional Studies, Shobhit University, Meerut**

the same environmental protections and benefits, as well as the ability to meaningfully participate in the policies that create their communities. Individuals of race and those with poor incomes, on the other hand, have only infrequently experienced this reality. This is due to the fact that practically all environmental injustice is formed by the same patterns of racism and inequality that have existed in the United States of America since the country's establishment and continue to influence every aspect of our society, including education, housing, and health care[2].

Environmental Justice and Disparities in Pollution Exposure is a highly relevant and critical topic that explores the intersection of environmental science, public health, and social equity. This research topic delves into how environmental hazards, like air and water pollution, waste disposal, and industrial activities, disproportionately affect marginalized and low-income communities.[3] Ambient air pollution constitutes the foremost environmental health hazard globally, with an estimated 6.7 million premature fatalities attributed to it in 2019. India exhibits some of the highest amounts of fine particulate matter ($PM_{2.5}$) globally. As per the 2019 Global Burden of Disease report, $PM_{2.5}$ was attributed to 1.67 million fatalities (0.98 million from ambient pollution and 0.61 million from household pollution), accounting for 17.8% of total deaths in India, with economic losses approximating 1.36% of India's Gross Domestic Product in 2017.[4]

In India, limited research indicates that pollution from coal-fired power stations disproportionately affects marginalized communities, particularly those of lower castes and the impoverished. Recent research has identified differences in mortality associated to air pollution from power generation plants, with economically disadvantaged, coal-dependent states in eastern India seeing the highest levels of $PM_{2.5}$ related mortality from electricity generation. Additional research indicates that $PM_{2.5}$ concentrations are elevated in districts with a greater proportion of lower caste or Scheduled Caste (SC) inhabitants, young children, and houses in substandard conditions[5]. Scheduled Castes, Scheduled Tribes, and Other Backward Classes are officially recognized groups in India that are among the most socioeconomically disadvantaged. The most significant rise in $PM_{2.5}$ concentrations occurred in less urbanized districts with a high proportion of SCs, women, children, persons with disabilities, and households lacking toilets.[6]

B. Historical Context of Environmental Justice

Investigate the beginnings of the environmental justice movement, particularly in the United States, considering major cases such as the demonstrations that took place in Warren County, North Carolina. This is the most significant waves of the environmental justice movement originally gained traction in 1982 in a neighborhood in Warren County, North Carolina, that was predominantly African-American. People widely acknowledge this fact. During that year, the neighborhood was selected as the future location of a hazardous waste landfill. This landfill would

be able to take up the PCB-contaminated soil that was the result of the unlawful dumping of toxic waste along roadways. Despite pressure from the state to explore alternative locations, the dump site in the small African American neighborhood maintained its designation. In response, the Commission for Racial Justice of the United Church of Christ, along with other organizers, organized a major demonstration[7]. A member of the United States House of Representatives was among the more than five hundred protesters detained during this demonstration[8]. In spite of the fact that the demonstration was unsuccessful in preventing the dump from making its way into the community, the national environmental justice movement was in full swing. Numerous minority communities across the country are struggling with excessive pollution burdens, the denial of land rights and financing instruments, and a lack of access to green spaces. The movement that originated in Warren County became a critical connector of numerous environmental justice struggles, such as the fight against pesticides by the United Farmworkers, the actions of Indigenous peoples for the restoration of their treaty rights, and numerous other minority communities.[9]

Indian environmentalism predominantly focuses on social justice. It addressed unequal access to natural resources and ecosystem services in the 1970s and 1980s.[10] The Bhopal Gas Disaster of 1984 introduced new concerns regarding industrial risk and safety. This article delineates the evolution of environmental justice from the 1970s to the present. This text delineates the viewpoint of Indira Gandhi, India's Prime Minister from 1967 to 1984, regarding her efforts to harmonize environmental concerns with development and economic equity; examines the rise of red-green environmentalism in the 1980s and 1990s; and investigates the Bhopal disaster and its ramifications before tackling contemporary issues prevalent in the early twenty-first century[11].

C. Health Impacts of Pollution on Marginalized Communities

Investigate how prolonged exposure to pollution affects public health, focusing on respiratory diseases, cancers, reproductive health, and mental health. Research the impact of poor air quality in urban slums, water contamination in rural or indigenous areas, and food insecurity due to environmental degradation.

Environmental researchers frequently overlook the interconnections between the environment and cultures, treating them as distinct entities. Nevertheless, we cannot regard environment and culture as distinct from one another. Individuals residing in perilous surroundings consistently exhibit an elevated incidence of sickness and mortality[12]. The effects are evident on their bodies due to insufficient access to healthcare services, restricted social and economic resources, and geographical barriers to health centers. Currently, almost 85 percent of individuals and households in India inhabit districts where international air quality requirements for $PM_{2.5}$ (particulate matter) are surpassed. A notable increase in $PM_{2.5}$ levels has been observed in districts with elevated proportions of Scheduled Castes (SCs), young children, females,

individuals with disabilities, inadequate housing conditions lacking bathrooms, and in less urbanized areas.[13]

Our analysis indicates that the ongoing climate issue and global disparities in environmental health compel governments worldwide to reevaluate their environmental policies. We implore policymakers to investigate the environmental health challenges encountered by marginalized populations via the lens of intersectional policy research, informed by decolonial ethics and methodologies. The government should allocate research grants to environmental and natural scientists while engaging social scientists in developing creative research and policy frameworks that promote ecosystem improvement and deliver environmental justice to marginalized communities.[14]

D. Environmental Policy and Regulation

Critique existing environmental policies and how they fail to protect vulnerable communities. Evaluate frameworks such as the Clean Air Act, Clean Water Act, and international treaties, and their effectiveness in addressing disparities. The marginalized people are the most adversely affected by the global environmental disaster. Vulnerable groups in both developed and developing nations primarily endure the devastating effects of climate change. India faces a variety of environmental difficulties, ranging from a critical lack of essential utilities such as clean water and sanitation for basic human survival to pollution caused by hazardous waste produced by a contemporary consumer society[15]. Numerous environmental policies aim to address ecological issues, including the National Policy on Pollution Abatement (1992), the National Conservation Strategy and Policy Statement on Environment and Development (1992), the National Environment Policy (2006), and the Clean India Mission (2014). To execute these policies, the government has established several legal frameworks, including the Air (Prevention and Control of Pollution) Act of 1981, amended in 1987; the Environment (Protection) Act of 1986; the Water (Prevention and Control of Pollution) Act of 1974, amended in 1988; the Water (Prevention and Control of Pollution) Cess Act of 1977, amended in 1991; the Public Liability Insurance Act of 1991; the National Environmental Tribunal Act of 1995; the National Environmental Appellate Authority Act of 1997; and the National Action Plan on Climate Change of 2008[16].

Nonetheless, these environmental policies frequently overlook the rhetoric surrounding the bodies and health of marginalized populations and persistently neglect to safeguard public health in India. These policies entirely neglect and do not assess the disaggregated differences in health outcomes among the various social groups in India. Additional toxic waste management regulations, like the Hazardous Wastes (Management, Handling and Transboundary Movement) Rules of 2008 and the Regulation of Persistent Organic Pollutants Rules of 2018, have likewise proven ineffective in diminishing the incidence of environmental violations in India.[17] Between 2008 and 2015, the quantity of contaminated rivers in India more than doubled as a result of the indiscriminate release of untreated sewage and industrial

effluents into waterways. The degradation in water quality has rendered these river waters unsuitable. Indicators of an imminent water crisis are apparent, with contamination becoming progressively evident in both surface water and groundwater. Given that fifty percent of India's morbidity is attributable to water-related issues, water contamination incurs significant economic costs.[18]

E. Role of Activism and Grassroots Movements:

Analyze the role of grassroots organizations, community-based activism, and non-governmental organizations (NGOs) in advocating for environmental justice. An environmental movement is a type of social movement that involves an array of individuals, groups and coalitions that perceive a common interest in environmental protection and act to bring about changes in environmental policies and practices[19].

Environmental and ecological movements are among the important examples of the collective actions of several social groups. Many environmental movements have emerged in India, especially after the 1970s. These movements have grown out of a series of independent responses to local issues in different places at different times[20].

The Silent Valley Movement, a significant environmental movement in India, was initiated by local people and later taken over by the Kerala Sastra Sahitya Parishad (KSSP). The movement was centered around the Silent Valley, which was surrounded by hills. The British conceived the idea of a dam on the Kunthipuzha river in 1929, which was sanctioned by the Planning Commission in 1973. In 1978, the movement against the project was raised from all sections of the population.[21]

The Chipko Movement, started in 1973, was a global environmental movement in India, focusing on ecological destabilization in hills due to forest resource exploitation. The Chipko Andolan movement was instrumental in driving away private companies from felling ash trees. The Bisnoi Movement, led by Amrita Devi, involved around 363 people who sacrificed their lives for the protection of their forests.[22]

The Appiko Movement, inspired by the Chipko movement, was launched in the Uttar Kannada region of Karnataka in 1983. The movement was inspired by the destruction caused by commercial felling of trees for timber extraction, leading to soil erosion and drying up of perennial water resources. The Narmada Bachao Andolan, a major river in the Indian Peninsula, is the main issue in the Narmada Water dispute.[23]

Jungle Bachao Andolan began in the 1980s in the Singhbhum district of Bihar, against the government's decision to grow commercial teak by replacing natural Sal forests. This movement affected the tribal community and was widely spread in states like Bihar, Jharkhand, and Odisha[24].

Explore successful campaigns that have led to policy changes or increased awareness. The environmental justice movement wants to get rid of unfair enforcement of environmental, civil rights, and public health

laws; the unfair exposure of some groups to dangerous chemicals, pesticides, and toxins in their homes, schools, communities, and workplaces; wrong assumptions in the assessment and management of risks; unfair zoning and land use practices; and policies that keep some people and groups from having a say in how decisions are made. The robust and non-discriminatory enforcement of existing environmental, health, housing, and civil rights legislation could resolve numerous issues.[25]

F. Climate Change and Environmental Justice

Examine how climate change disproportionately impacts vulnerable populations, such as through extreme weather events, food insecurity, and displacement. Anthropogenic climate change endangers human existence and the planet's viability. As the most intellectual species, humans exploit and devastate the world for survival. All beings, irrespective of class, creed, nationality, or origin, has the inherent right to exist in a just and equitable environment with dignity. Climate change infringes upon the right to life and the right to a healthy environment. Global warming and climatic crises have rendered the global commons an emergency, transcending just environmental concerns to encompass sociopolitical, economic, legal, and scientific dimensions. Every action undertaken in response to climate change has the capacity to perpetrate environmental injustice universally. Environmental justice ensures the safeguarding of every individual's right to life and a healthy environment. Environmental justice is a peripheral subject within human rights law. To guarantee environmental justice and the intrinsic right to life, it is imperative to safeguard the Earth from the repercussions of climate change. India, as a developing nation, ranks fourth in greenhouse gas emissions and experiences considerable effects from climate change. India is a participant in the United Nations Framework Convention on Climate Change and has implemented numerous environmental regulations to combat climate change. India presently lacks a demand-oriented strategy for formulating a unified policy on climate change and technology transfer. This book examines climate change and its contribution to environmental injustice in India, along with potential solutions to protect the fundamental right to life and the right to a healthy environment[26].

G. Conclusion

In conclusion, environmental justice is an essential foundation for tackling the ongoing and unequal impact of pollution exposure on underprivileged groups. Historically, economically disadvantaged groups, Indigenous populations, and racial minorities have encountered elevated levels of environmental degradation, toxic waste, and pollution, resulting in considerable health inequities. The inequities in pollution exposure arise from intricate socio-economic, political, and historical reasons, encompassing discriminatory practices in housing, industrial location, and access to environmental governance. Efforts to attain environmental justice necessitate equitable policy formulation that incorporates the

perspectives of impacted groups, implements rigorous regulations, and fosters sustainable development methods that do not exacerbate these disparities. Rectifying these inequities pertains not only to public health but also to civil rights, as every individual possesses an inherent right to a clean and safe environment. In the future, prioritizing community empowerment, environmental activism, and intersectional strategies will be crucial for alleviating pollution loads and advancing environmental fairness worldwide.

References

1 *The Environmental Justice Movement*. 7 Feb. 2022, www.nrdc.org/stories/environmental-justice-movement.

2 Mathur, K., 2005. Battling for Clean Environment: Technocrats and Populist Politics in Delhi. In Amita Singh (ed). Administrative Reforms: Towards Sustainable Practices. New Delhi: Sage Publishers.

3 Nunez, Yanelli, et al. "An environmental justice analysis of air pollution emissions in the United States from 1970 to 2010." *Nature Communications*, vol. 15, no. 1, Jan. 2022, doi:10.1038/s41467-023-43492-9.

4 DeSouza, Priyanka N., et al. "An environmental justice analysis of air pollution in India." *Scientific Reports*, vol. 13, no. 1, Oct. 2022, doi:10.1038/s41598-023-43628-3.

5 Rajan, S.R., 2011. ''Classical Environmentalism and Environmental Human Rights: An Exploration of their Ontological Origins and Differences.'' Journal of Human Rights and the Environment, 2(1), pp. 106–121.

6 Chakraborty, J. & Basu, P. Air quality and environmental injustice in India: Connecting particulate pollution to social disadvantages. *Int. J. Environ. Res. Public. Health* 18, 304 (2021).

7 Agarwal, A., 1985. "Beyond pretty trees and tigers, The Vikram Sarabhai Memorial Lecture,'' New Delhi, Centre for Science and the Environment 1985

8 Maurya, B. R. "A review on intellectual property in India." *South Asian Journal of Marketing & Management Research* 11.11 (2021): 128-134.

9 *History of Environmental Justice | University of Michigan School for Environment and Sustainability*. www.seas.umich.edu/academics/master-science/environmental-justice/history-environmental-justice .

10 Chouhan, T.R., 2004. Bhopal - The Inside Story 2nd ed, Goa, India: Other India Press; New York, NY: The Apex Press. Chouhan, T.R., 2005. ''The Unfolding of Bhopal Disaster.'' Journal of Loss Prevention in the Process Industries, 18(4–6), pp.205–208

11 Rajan, S. Ravi. "A History of Environmental Justice in India." *Environmental Justice*, vol. 7, no. 5, Oct. 2014, pp. 117–21, doi:10.1089/env.2014.7501.

12 Maurya, B. R. "A review on concept of white feminism." *South Asian Journal of Marketing & Management Research* 11.11 (2021): 33-38.

13 "Environmental Injustice and Public Health in India: Towards a 'Decolonial Intersectional Environmental Justice' Framework." *Economic and Political Weekly*, 27 July 2023, www.epw.in/engage/article/environmental-injustice-and-public-health-india .

14 Padmanaban, Deepa, and Deepa Padmanaban. "India's Disadvantaged Groups Face More Air Pollution." *Eos*, 3 Jan. 2023, www.eos.org/articles/indias-disadvantaged-groups-face-more-air-pollution#:~:text=The%20researchers%20compared%20satellite%2Dderived,as%20asthma%20and%20heart%20disease.

15 "Environmental justice in India: a case study of environmental impact assessment, community engagement and public interest litigation." *Impact Assessment and Project Appraisal*, vol. 38, no. 1, May 2019, pp. 16–27, doi:10.1080/14615517.2019.1611035.

16 Dilay, Ariane, et al. ''Environmental justice in India: a case study of environmental impact assessment, community engagement and public interest litigation.'' *Impact Assessment and Project Appraisal*, vol. 38, no. 1, May 2019, pp. 16–27, doi:10.1080/14615517. 2019.1611035.

17 Kopas, Jacob, et al. ''Environmental Justice in India: Incidence of Air Pollution from Coal-

Fired Power Plants." *Ecological Economics*, vol. 176, May 2020, p. 106711, doi:10.1016/j.ecolecon.2020.106711.

18 M, Bhimraj. "A Dalit Critique of Environmental Justice in India." *SSRN Electronic Journal*, Sept. 2020, papers.ssrn.com/sol3/papers.cfm?abstract_ id=3691518.

19 Smith, Adrian, et al. *Grassroots Innovation Movements*. 2016, doi:10.4324/9781315697888.

20 Roy, Brototi, and Joan Martinez-Alier. "Environmental Justice Movements in India." *Ecology Economy and Society–the INSEE Journal*, vol. 2, no. 1, Jan. 2019, doi:10.37773/ees.v2i1.56.

21 Bullard, Robert D., et al. "Environmental Justice: Grassroots Activism and Its Impact on Public Policy Decision Making." *Journal of Social Issues*, vol. 56–56, no. 3, 2000, pp. 555–78, ereserve.library.utah.edu/Annual/FCS/5600/Brown/fcs5600justice.pdf.

22 Bullard, R. D. (1992). The environmental justice framework: A stategy for addressing unequal protection. Paper presented at the Resources for the Future Conference on Risk Management, Annapolis, MD.

23 M, Bhimraj. "A Dalit Critique of Environmental Justice in India." *SSRN Electronic Journal*, Sept. 2020, papers.ssrn.com/sol3/papers.cfm ?abstract_ id=3691518.

24 Smith, Adrian, et al. *Grassroots Innovation Movements*. 2016.

25 Admin. "Environmental Movements in India | UPSC Notes." *BYJUS*, 20 Feb. 2024, byjus.com/free-ias-prep/environmental-movements-in-india.

26 Bryant, B. (1995). Environmental justice: Issues, policies, and solutions. Washington, D.C.: Island Press.

27 International Journal of Law Management & Humanities. "Climate Change and Environmental Justice in India - International Journal of Law Management and Humanities." *International Journal of Law Management & Humanities*, 15 Feb. 2022, ijlmh.com/paper/climate-change-and-environmental-justice-in-india.

Exploring the Legacy of Indian Architecture through Mughal Seeds in Contemporary Architectural Decoration.

Pooja Dahiya*

Abstract: The genesis of this artistic richness can be attributed to the Mughals, who introduced innovative techniques and vibrant colors to the Indian architectural landscape. Notably, the Mughals, led by Babur, initiated their transformative influence on Indian architecture following the invasion of 1526. This paper specifically focuses on the study of mural decoration in modern architecture, emphasizing various techniques such as inlay, stucco, tile, mosaics, and painting, along with a diverse array of motifs. These techniques find application in both the interior and exterior walls of contemporary buildings. The motifs themselves range from geometric patterns to arabesques, floral designs, fruits, and abstract forms. The exploration aims to unravel the aesthetic, cultural, and contextual considerations influencing the choice of diverse techniques and motifs for wall decoration in contemporary architecture. This paper strives to not only identify and analyze the different techniques employed but also shed light on the artists behind these creations and their impact beyond Indian borders. By examining the intricacies of mural decoration, this research contributes to a comprehensive understanding of the aesthetic choices in contemporary architecture and their connections to historical roots. Ultimately, the study concludes with insights into the diverse techniques, the artists' contributions, and the broader impact on architectural practices in other countries.

Keywords— Mural Decoration, Modern Techniques, Aesthetic Pleasures, Wall Decor, Architecture.

Introduction

Art and architecture are intricately interconnected, forming two facets of the same coin. Architecture, often regarded as the progenitor of art, encompasses sculpture, painting, and other decorative arts, constituting a continuous evolutionary process [1]. Recognizing the inseparable link between these two realms is essential, as art plays a vital role in shaping architecture. The triad of utility, stability, and beauty emerges as the cornerstone of art, with the absence of any element rendering architecture incomplete. Art, defined as the visible expression of the artist's soul, extends beyond mere physical materials, embodying the forces that propel the artist. Within the realm of art, encompassing activities like singing, dancing, and painting, mural painting holds a significant position. A mural, characterized by works directly applied to walls or permanent surfaces, is a form of decoration that arose when

* Research Scholar, Department of History, Indira Gandhi National University

architects invited painters to adorn finished structures. This art form, termed Mural, or monumental painting reflects the principles defined by the union of architecture and painting [2]. In contemporary times, the scope of mural techniques has expanded, including Frescos, glazed brick or Tile decoration, Mosaic, Ceramic Decoration, Glazed Earthenware Relief, Enamel, Woodwork, Wood Carving, Inlaying, Burnt-Wood Work, Ornamental-Carpentry, and Mixed Methods [3]. Murals, an ancient art form in India, find exemplary instances in places like Ajanta, Ellora, and Bagh, illustrating regional cultures and art traditions across successive centuries. The onset of the medieval period saw the invasion of India by Muslim rulers, destroying temples and their decorations. Consequently, examples of murals from this era are scarce. In the 15th century, the Mughals invaded India, bringing with them a fondness for art and nature. The Mughal emperors provided a new platform for the development of these arts, collaborating with Indian artisans—a legacy that continues into the present period.

Prominent architectural masterpieces from the Mughal era include:

- **Taj Mahal:** Constructed by Shah Jahan between 1632 and 1653 as a tribute to his wife Mumtaz Mahal, the Taj Mahal earned UNESCO World Heritage Site recognition in 1983. Situated in Agra, it stands as a symbol of enduring love.
- **Red Fort:** Designated as a UNESCO World Heritage Site in 2007, the Red Fort was commissioned by Shah Jahan when he chose to relocate the capital from Agra to Delhi. Serving as the residence of Mughal rulers, it is a testament to imperial grandeur.
- **Shalimar Gardens:** Built by Shah Jahan in 1642, the expansive 40-acre Shalimar Gardens gained UNESCO World Heritage Site status in 1981. Its meticulously planned design showcases the Mughal emphasis on aesthetics.
- **Jama Masjid:** Commissioned by Shah Jahan and completed in 1656, the Jama Masjid stands as one of the largest mosques in India. Its grand architecture reflects the Mughal commitment to religious and artistic expression.
- **Badshahi Mosque:** Completed in 1673 during the reign of Aurangzeb, the Badshahi Mosque claimed the title of the world's largest mosque at the time of its construction. It stands as a testament to Mughal architectural prowess.
- **Humayun's Tomb:** Built in 1570 in memory of Emperor Humayun, this masterpiece was declared a UNESCO World Heritage Site in 1993. Its architectural finesse foreshadowed the grandeur of later Mughal structures.

Objective

- Analysis of Various Styles of Mughal Architecture.
- Description of Salient Features of Mughal Architecture.
- Identification of Architectural Development under Various Mughal Rulers.

- Focus on the Development of Mughal Architecture Skills in the Mughal Emperors' Period.

Methodology

This research, adopting an exploratory and descriptive approach, relies on secondary data sources, encompassing research studies, books, journals, newspapers, academic working papers, and official Government of India websites. By leveraging existing literature and documented knowledge, the study aims to comprehensively explore and describe the influence of the Mughal era on modern architectural decoration. The extensive review of literature on Indian architecture, specifically focusing on the Mughal period, establishes a robust foundation for the research, drawing insights from scholarly articles and relevant publications. Historical analysis involves examining primary sources, including Mughal texts and architectural treatises, to gain profound insights into Mughal architectural practices. The study meticulously analyses various artistic techniques employed in Mughal mural decoration, such as inlay, stucco, tile, mosaic, and painting, tracing their evolution over time and identifying cultural and aesthetic significance. A comparative analysis of modern architectural practices explores both similarities and differences, shedding light on contemporary architects' inspiration from Mughal aesthetics. Investigating cross-cultural influences, particularly Persian influence on Mughal architecture, unveils the integration of traditional Persian art into Mughal designs and assesses its impact on mural decoration evolution. Furthermore, the research evaluates the social and cultural impact of Mughal mural decoration on contemporary architecture, delving into how these artistic choices reflect cultural identity, aesthetics, and societal values. The role of mural decoration in establishing a sense of continuity or departure from historical traditions is also scrutinized. Overall, this research, grounded in secondary data, contributes valuable insights, offering a nuanced understanding of the research topic and its implications for contemporary architectural practices.

Mughal Dynasty and Rulers

The once-dominant Mughal dynasty has faded into history, and the courtly slogans that once echoed are now silent. While their physical presence is no more, the essence of the Mughals endures through the adorned splendor of renowned monuments, a testament to their enduring influence. Despite being non-Indians, they elevated the stature of Indian architecture and its embellishments. This artistic prowess is believed to stem from the cosmopolitan nature ingrained in their decorations, a characteristic influenced by geographical changes. Originating from Persia, where traditional Persian art and lifestyles flourished, the Mughals ruled over India from 1526 to 1858. The founder of the Mughal dynasty in India was Babur. Following him, his son Humayun reigned from 1530 to 1543, facing challenges that led him to seek refuge in Persia. He returned in 1555 to reclaim power, only to pass away in 1556, paving the way for his son Akbar to ascend the throne. The promotion of love

and peace marked Akbar's reign. Successively, Jahangir, Shah Jahan, and Aurangzeb assumed leadership in the Mughal dynasty. Although their rule is a bygone era, the imprint of their cultural and architectural legacy persists in the intricate designs and grandeur of historical monuments.

Mural Styles under Different Emperors

Babur, the progenitor of the Mughal dynasty, arrived in India during the 15th century, marking the commencement of a transformative era. His victory over Abraham Lodi in a historic battle laid the foundation for a dynasty that left an enduring impact on Indian art and culture [4]. Babur's fascination with Heraat, evidenced during his visit in 1506, inspired the prominent use of murals in Mughal castles and palaces [5]. Babur's legacy extended through his introduction of two Persian artists, whose contributions endured beyond his lifetime. Under the patronage of Humayun, the son of Babur, an artistic atelier thrived, supervised by two Iranian artists and the renowned Khorasani painter Bihzad. This Persian style of painting persisted, evolving until the era of Shah Jahan. Following Humayun's reign, his son Akbar continued the tradition of employing foreign artists. These artists seamlessly integrated their work with the local milieu, incorporating influences from culture, climate, tradition, and technology. The Mughals drew inspiration from Persian art, applying it to various monuments in India, employing geometric and diverse shapes. In Mughal monuments, a variety of mural decorations emerged, including inlay, tile, stucco, mosaic, painting, and incised art [6]. Akbar, with his profound respect for all religions, notably Hindu, Jain, Sufi, and Christian, aimed to unite India and fulfill his ancestors' dream. The predominant mural styles of inlay, tile, stucco, and mosaic flourished during this period, with inlay, known as Pietra-Dura, finding early examples in the Ashrafi-Mahal and Tower of Victory at Mandu [7]. Akbar's patronage extended to artisans from Gujarat, where they practiced traditional art. This is evident in monuments like Buland Darwaja, Fatehpur Sikri, and Delhi Gate. Jahangir further elevated Mughal artistry, reaching its zenith during his reign, exemplified by the intricate mural decoration of the Tomb of Itimad-Ud-Daulla in Agra [8]. Shah Jahan, renowned for his architectural prowess, left an indelible mark on India with the construction of the iconic Taj Mahal—his admiration for Babur and Akbar, evidenced by his interest in Babur-Nama. The Mughal artistic tradition, including the use of stucco in mosques and palaces, brought about a renaissance, introducing new motifs and interpretations to the ancient art of Indian painting.

Flora and Fauna in Mughal Murals:

The subject matter is categorized into distinct themes, encompassing geometrical motifs, arabesque, calligraphy, and motifs drawn from Hindu mythology, with a particular emphasis on flora and fauna. The significance of flora and fauna across these categories is multifaceted. Firstly, the Mughals, deeply influenced by Persian aesthetics, pioneered the introduction of paradise gardens inspired by Persian design

principles [9]. These gardens aimed to create a paradisiacal effect, incorporating various geometrical shapes with a central seat for majesty, immersing them in a semblance of paradise amidst natural beauty. This thematic approach is rooted in the Mughal period's garden design, blending Persian and Indian artistic influences [10]. The poet Kalim vividly describes the intricate inlay of stone flowers in marble, surpassing reality in color if not in fragrance, reflecting the Mughals' dedication to ornate embellishments.

"They have an inlaid stone flower in marble, which surpass reality in color if not in fragrance, those red and yellow flowers that dispel the heart's grief, in reality, are carnelian and amber [11]*"*

Secondly, the Mughal rulers' profound affinity for flowers and natural elements extended beyond architecture to personal adornment, as seen in the elaborate embroidery of their clothes and tents. The rulers insisted on replicating these motifs on architectural surfaces, adorning walls with intricate embroidery patterns. This artistic preference is exemplified in monuments such as the tomb of Itimad-ud-dull, where the subject matter aligns with the ruler's distinctive taste and aesthetic preferences. In the Mughal era, diverse mural styles, such as inlay, tile, stucco, and mosaic, played a pivotal societal role. The prominence of inlay, known as Pietra Dura, showcased its Persian origins, evident in early instances like the Ashrafi Mahal and Tower of Victory at Mandu. While debates persist on its antiquity in India, Nath suggests Persian artists in pre-Mughal Gujarat influenced its genesis. Akbar introduced this art in Humayun's old fort in Delhi, flourishing in structures like Buland Darwaja and Jahangiri Mahal. Jahangir's era marked the zenith, seen in the Tomb of Itimad-Ud-Daulla in Agra, reflecting Persian aesthetics. Shan Jahan, captivated by architecture, left enduring imprints, inspired by predecessors like Babur, seen in monuments like Ram Bagh in Agra. Beyond inlay, stucco adorned mosques and palaces, rare in the countryside. Mughals imported tile use from Iran, influencing a reinterpretation of ancient Indian painting under Iranian motifs.

Impact on Modern Spaces:

In contemporary times, inlay art has garnered immense popularity and serves as a captivating attraction, not only within India but also drawing admiration from international visitors. The allure of Mughal inlay decoration, exemplified by the exquisite designs adorning the Taj Mahal, made a profound impact on individuals like the American lady, Doris Duke. Impressed during her honeymoon, the Duke's fascination with the Taj Mahal's marble tiles, adorned with intricate floral patterns and precious stones, prompted her to commission a Mughal-style bedroom and bathroom suite from a British architectural firm. Today, the legacy of inlay art continues to manifest in various monuments, such as the Dayal Bagh temple in Agra, the Kala-Kriti Emporium in Agra, and Nagli Sahib Sakoti-Tanda in Meerut. The Dayal Bagh temple's holy Samadhi showcases inlay adorned with floral motifs reminiscent of the Mughal era, maintaining the tradition of incorporating flora and fauna. Contemporary artists have elevated this art form by employing advanced techniques, introducing light and shade to

enhance the intricate designs. Inlay has transcended its historical context and found application in diverse decorative items like tables, chess sets, pen stands, plates, and various everyday products. Additionally, tile and stucco, influenced by Mughal aesthetics, have seamlessly integrated into modern spaces, gracing residential buildings, shops, and metro subways. Contemporary murals are appealing as individuals seek distinctive and enduring expressions of luxury amid their hectic lives. Beyond functionality, murals serve as a dynamic antidote to monotony, infusing aesthetic pleasure through harmonious colors, forms, rhythmic lines, and unity. The global allure of Indian murals lies in their fusion of diverse art forms, attracting foreigners who aspire to incorporate this style into their homes, often necessitating shipping due to a scarcity of skilled artisans. Many artisans practicing this ancestral art trace their lineage back to the Mughal era, with parents serving as employees during that time. In interviews, these artisans express how they inherited and developed this art as a career in contemporary times. Some have ventured into entrepreneurship, establishing contracting businesses. In the United States alone, approximately 135,000 ceiling tile installers engage in this craft, working either for specialized ceiling tile installation contractors or general building contractors.

Conclusion:

In conclusion, the Mughal era's art, and architecture, characterized by its unique Indo-Islamic-Persian style, continue to exert a profound influence on contemporary society. The Mughals, with their exquisite forts, mosques, mausoleums, gardens, and cities, crafted a legacy that transcends time. The fusion of Persian, Turkic, Timurid Iranian, Central Asian, and Indian Hindu styles culminated in what we now recognize as Mughal architecture. Beyond the physical remnants, mural decoration emerged as a vital component of Mughal artistic expression. Styles such as inlay, tile, stucco, and mosaic adorned these architectural marvels, reflecting a synthesis of Persian and Indian influences. The motifs, ranging from geometric shapes to representations of flora and fauna, showcased the Mughals' appreciation for beauty and nature. Contemporary applications of Mughal wall decoration in religious spaces, resorts, hotels, and public areas underscore the enduring appeal of this artistic tradition. Despite challenges faced by the Agra handicraft industry, the demand for Mughal aesthetics persists, with individuals seeking to incorporate these timeless elements into modern living spaces. The cultural significance of Mughal ornamentation goes beyond mere aesthetics; it serves as a bridge to history, offering insights into the rich tapestry of India's past. The meticulous craftsmanship, the interplay of colors, and the infusion of diverse motifs reflect not only the artistic prowess of the Mughals but also the cultural diversity and unity embedded in India's heritage. As individuals continue to appreciate and integrate Mughal art into contemporary life, this cultural legacy remains an integral part of the nation's identity, connecting the present with the grandeur of the Mughal era.

References

1.] R. Nath, History of Decorative Art in Mughal Architecture, Delhi: Motilal Banarasi Das, 1976.

2. A. L. Baldry, in Modern Mughal Decoration, London, G. Newnes Ltd., 1902, pp. 4-10.

3. A. Godard, in The Art of Iran, London, Heron & Rogers, 1965, pp. 254-255.
4. H. B. Havell, in A Handbook to Agra and the Taj, The echo library, 2006, p. 108.
5. A. Schimmel, "The Empire of Great Mughal," in History, Art & Culture, London, Reaktion books L.T.D., 2004, p. 24.
6. P. Brown, "Indian Painting," in Under the Mughals A.D. 1550 to A.D. 1750, New Delhi, Cosmo, 1983, pp. 19-20.
7. R. Nath, in Colour Decoration in Mughal Architecture., Bombay, D. B. Taraporvala, 1970, pp. 49-56.
8. H. Beveridge, The Tuzuk-i-Jahangiri, vol. 1, Low Price Publication.
9. P. Jose, Islamic sacred Architecture: A Stylistic History, New Delhi: Book & Books, 1994.
10 A. G. I. R. Sharma, "A study of Painted Mural Decoration in the Tomb of Sheikh Salim Chisti," IUP Journal of Architecture, vol. 4, no. 1, pp. 33-43, 2012.
11. W. B. &. Z. Desai, "Taj Mahal: The Illuminated Tomb.," London, Newnes Ltd., 1989, pp. 4-10.

Bargeet and Ankiya Geet: The Two Vaishnavite Music Forms of Assam

Sonica Hazarika*

Abstract: Sankaradeva, a vaishnavite saint of Assam spread the essence of Krishna Bhakti in the midst of people through his cultural and religious aspects. His philosophy, known as 'Eka Sarana-Nama-Dharma', was based on faith and dedication, and was developed in response to Assam's socio, economic, and religious circumstances. His primary goal was to spread his bhakti doctrine, which was based on the Srimad Bhagavata. Sankaradeva and Madhavadeva's cultural assets, such as Bargeet and Ankiya geet, are valuable treasures for the Assamese community. These songs, which have both aesthetic and spiritual appeal, were created to attract people to Vaishnavite philosophy. Sankaradeva created devotional songs, such as Bargeet and Ankiya geet, which describe Lord Krishna and are well-adapted and simple to achieve devotion in a simple way.

Keywords: Sankaradeva, Madhavadeva, Eka Sarana Nama Dharma, Bargeet, Ankiya geet, Vaishnavism.

Introduction

Sankaradeva, the Assamese *bhakti* (devotional) poet and literary prodigy, wrote plays, songs, and other literary works to spread Vaishnavite faith among people around the world. *Eka Sarana-Nama-Dharma,* means complete surrender to one God, is the popular term for Sankaradeva's *bhakti* philosophy. The *bhakti* movement started by Sankaradeva was a branch of the larger Indian *bhakti* movement. Sankaradeva did not, however, found any philosophical schools. No such system was tried by him or his apostles. His religion was straight forward, predicated entirely on faith and dedication. He also developed his *bhakti* philosophy in response to the socio, economic and religious circumstances that were common in Assam. Spreading his *bhakti* doctrine was his primary goal. The philosophy of Sankaradeva's *Eka-Sarana-Nama-Dharma* was founded on the *Srimad Bhagavata* (Religious book by Sankaradeva) (Borkakoti). Here, the primary deity is *Vishnu*, together with his avatars, *Rama* and *Krishna*. Like other Indian *bhakti* saints, Sankaradeva was a proponent of devotion to a single personal deity. He opposed of the worship of other deities. In addition, he urged the people to focus on the Lord and reciting his name. *Sravana* (hearing of God's Lilas and stories) and *Kirtana* (singing of his glories) were regarded by Sankaradeva as the highest level of *bhakti*. *Eka-Sarana-Nama-Dharma* is the name that supports the concept of reciting the name of the Lord using *Sravana* and *Kirtana*.

Objctives of the Study

1. To know the origin and development of *Bargeet*.
2. To know the performing style and characteristics of *Bargeet*.
3. To know the origin of *Ankiya Geet*.

* **Research scholar, Department of Performing Arts, Mahapurusha Srimanta Sankaradeva Viswavidyalaya, Guwahati Unit, Assam**

4. To explore the presentation style and characteristics of *Ankiya Geet*.
5. To know the similarities and differences of *Bargeet* and *Ankiya Geet* in their Language, Performing Style and Characteristics.

Research Problem

Sankaradeva and Madhavadeva created devotional songs, such as *Bargeet* and *Ankiya geet*, which describe Lord *Krishna* and *Rama*. Though both the musical form was introduced by Sankaradeva and Madhavadeva but their Performing style, characteristics & plot are different from each other to describe the spirituality of Lord *Krishna* and *Rama*. So, the present study will trace out the origin, characteristics & performing style of both the musical forms.

Research Methodology

The present research will be done under following methods-

i. Analytical Method

ii. Descriptive Method

iii. Historical Method

Both primary and secondary data sources are used to understand and gather available works related to the present study.

Relevance of the Study

Sankaradeva and Madhavadeva's cultural assets, such as *Bargeet* and *Ankiya geet*, are valuable treasures for the Assamese community. These songs, which have both aesthetic and spiritual appeal, were created to attract people to Vaishnavite philosophy. During the unstable period in the society, he sought to unite people by promoting *Sanskriti marg* (cultural philosophy) and teaching the way to serve Lord *Krishna* and *Rama*. He created devotional songs, such as *Bargeet* and *Ankiya geet*, which describe Lord *Krishna* and *Rama* and are adapted and simplified for easy devotion.

Bargeet

Sankaradeva, influenced by the *bhakti* movement in India, made his first pilgrimage for twelve years. He observed intense devotion in North India, where music was used by *bhakti* priests. Sankaradeva wrote various devotional pieces, but his *Bargeet* was the purest, reflecting his philosophy of *Nama-Dharma*, the lord of the Vaishnavite religion.

Sankaradeva's *Bargeets* were dedicated to devotional thoughts, emphasizing *bhakti* through poetic lyrics. His followers believed in pure dedication as the purest form of expression. Sankaradeva's Neo-Vaishnavite movement defined the relationship between *Jiva* (body), *Jagat* (world), and *Paramatma* (soul) comparing *Brahma* to *Narayana*, who is formless, and everywhere and nowhere. *Rama* and *Vishnu* were recognized as his lords.

The *Charita puthis* (Hagiographies) recount numerous occasions whereby Sankaradeva requested that Madhavadeva compose a *Bargeet*. Madhavadeva was among the most powerful examples of Sankaradeva's ability to inspire the *bhakti* movement. Sankaradeva's beliefs forced Madhavadeva, a scholar and strong devotee of *Shakti* (Goddesses centric tradition of hinduism), to concede defeat. In addition to being, Sankaradeva's greatest disciple grew to be considered comparable to him. After Sankaradeva's *Bargeets* were all destroyed by

the forest fire, he ordered Madhavadeva to compose a new one.

The *Bargeets'* lyrics were philosophical in Nature and held a very high moral standard in opposition to materialistic demands. The compositions were clear, and the utilization of traditional *Ragas* and *Talas* gave them fresh qualities that were unusual for the time period in the area. The *ragas* in *Bargeets* are mainly divided into two types i.e. *Mela* and *Bandha Raga. Mela Raga* means 'open' and these are sung without employing *Tala. Bandha Raga* means 'restricted' and these are sung with *Tala.*

There are 240 *Bargeet* composed by Sankaradeva. However, only 34 *Bargeet* remain after being burnt in the *Banpura* fire after being taken to be repeated by a devotee named Kamala Gayan of Barpeta *Satra* (vaishnavite monastery). After this, Sankaradeva, in his grief, asked his beloved disciple Madhavadeva to compose the *Bargeet* instead of composing them. Madhavadeva composed 157 *Bargeets* in obedience to the Guru's words. There are twenty-two songs written by Sankaradeva. There are a total of 191 *Bargeet*s (G. Mahanta).

The Language of the Bargeet

A type of made-up literary language is *Brajavali*. Songs depicting Lord *Krishna*'s adventures were composed in Assam, Bengal, and Orissa under Sankaradeva's reign, using a synthetic dialect. In Assamese, this literary language is known as *Brajbuli, Brajbol, or Brajavali*. The dialect of Western Hindi known as *Brajbhasha* is unrelated to this matter. In addition, a special artificial language called *Brajavali*, which developed during the devotional movement of the Neo-Vaishnavism, occupies a prominent place in the *Bargeet*s. Therefore, the language of the *Bargeets* can be said to be the *Brajavali* language, a mixture of Hindi, Oriya, Bengali, Maithili and Assamese languages (B. Mahanta).

Example of a Bargeet:

Raga: *Dhanasri,* ***Tala***: *Paritaal*

Dhrum*— Mana Meri Rama Charanahi Lagu I Toi Dekha na Antaka Aagu II*

Pada*— Mana Aayu Khyone Khyone Tute I Dekha Prana Kona Dine Chute II*

…….

……...

Mana Janiya Sankare Kahe I

Dekho Rama Bine Gati Nahe II (B. Mahanta)

(Here, Sankaradeva wants to describe about the spirituality and divinity of Lord *Rama* and tells everyone that if you need salvation then surrender yourself to Lord *Rama* as only he is the one who can brings you out from the illusion in this world.)

The performer who performs a *Bargeet* sings the *Raga* in which the *Bargeet* has been created. Once the *Raga* is completed the performer moves to the *dhrum* part. After the *dhrum* part the *pada* part has been sung and the *Bargeet* ends. The *Bargeet* written Sankaradeva and Madhavadeva has been identified from the last two lines as their names are being mentioned in the *Bargeet* i.e. ***Sankare Kahe*** and ***Kahaya Madhava.***

Types of Bargeet

There are six categories of *Bargeet*s based on the characteristics and emotions inherent in them. Those sections are:

1. Leela. 2. *Viraha* (Separation) 3. *Virakti* (Boredom). 4. *Paramartha* (Ultimate Salvation) (Lekharu)

The leela theme Borgeets are again sub-categorised into six classes –

1. Jagan (*Yashoda* wake up *Krishna*), 2. *Chalan* (Going to graze the cows), 3. *Khelan* (Playing with the milkmaids), 4. *Nritya* (Dancing), 5. *Chora* (Stealing butter-milk), 6. *Chaturi* (Cleverness)

The Characteristics of Bargeet

(1) *Bargeet*s are classical *ragas* and rhythms.

(2) The language of the *Bargeet* is *Brajavali*

(3) *Bargeet*s are devotional and express the glory of God.

(4) The songs written by Sankara-Madhava are called *Bargeet*s. They are composed for the purpose of promoting the *Nama-dharma*.

(5) *Bargeet*s are mainly devotional, but they also include slavery, peace, and affection.

(6) The *Bargeet*s of Madhavadeva are about the pastimes of *Shishu* (child) Krishna. It depicts a picture of the domestic environment of Assamese society.

Ankiya Geet

Sankaradeva produced a number of literary works to promote the religion. The drama is Sankaradeva's most well-known literary creation. *Patniprasad, Kaliyadaman, Keligopal, Rukmini Haran, Parijat Haran, and Rama Bijoy* are the six plays he wrote (Medhi). Sankaradeva thus granted the Assamese people, who had never before seen a play, the opportunity to enjoy theatre. These plays gained enormous popularity and were subsequently dubbed *Ankiya Naat* (Vaishnavite Drama). *Ankiya Naats'* performance is referred to as *Ankiya Bhaona.* Despite reflecting various facets of literature and society and depicting divine action, the plays were elevated by their poetic touch and served a gospel aim. In terms of dialogue, character development, and the various rules that are mirrored in the play, the audience finds freshness. The playwright's most worthwhile and significant compositions are the songs that accompanied the play.

'Classical *ragas* and rhythms serve as the foundation for *Ankiya Naat's* songs. In *Ankiya Naat* it is seen that the incorporation of songs, dances and music are dominant from beginning of the play and the songs found in the play are based on classical *ragas* (modes).

Although singing songs that deviate from ragas and rhythms is a different story, Sankaradeva was a very skilled musician, as was previously indicated. To give the *Naat's* songs the right amount of sweetness, the melodies from the plays were matched to particular *ragas* and rhythms.

The *Khol* (drum) and *Taal* (cymbal) are the two primary instruments of the *Ankiya Bhaona* ensemble. At the start of the *Bhaona*, a dance and song using the combination of *Khol* and cymbals prepares the audience to watch the play. In order to set the right environment for the play, *Khol*, *Taal*, *Doba* and *Bahi* (flute) later accompanied the songs (J. Mahanta).

The language used in *Ankiya Naat's* song is *Brajavali*. *Nandi Geet, Praveshar Geet*, various *geets* for the characters and situations, *Yuddhar Geet*, and so on are some of the genres of songs of *Ankiya Naat*. The author uses pictures to visually describe each character in the opening songs. The clothes, physical attributes, and emotional states of the characters in *Ankiya Naat or Bhaona* are all reflected in the songs. In the 15th and 16th centuries, Sankaradeva was still using songs as a means of theatrical direction, and this is not exaggerating.

Example of an Ankiya Geet:

***Raag**: Suhai, **Taal**: Chutkala*

***Dhrum**—Bilapati Maithili Mai Nira nayana Jhurai I Ghana Ghana Swaxa Phukarata Tanu Chetana Nai II*

***Pada**—Sira Birahe Dahe Deha Dixa Dekhu Andhiyari I Ramaya Bine Mana Jhamaru Paru Muruchi kumari II*

Ha Hari Ha Hari Jampaya Jivana Jaichana Jai I Rama Charane Lagu Gati Awari Nai II (Medhi)

(This song is from Sankaradeva's *Ankiya Naat Ram Bijoy* where he describes about the pain of *Sita*. *Sita*, who is eagerly waiting for Lora *Rama* to get married, was losing her

hope as *Rama* did not come yet. Her friends were trying to control her emotion but have failed to console her.)

The *Ankiya Naat* incorporates instruments like the *Khols* and *Taals*, which were created by Sankaradeva, into the dances performed by the *Sutradhara*, the one who controls the organization and execution of the play and other characters. Lyrical songs that foreshadow future events through *slokas* and songs are used to develop the plot of the drama. Even if words are omitted, the audience may still comprehend the scenario since these songs also portray the characters' emotional states and problems.

Types of Ankiya Geet

Five categories of tunes used in plays are included in the *Natyashastra*. Remorse, departure, palace, and interpolar song are the different kinds of entrances. The following criteria decide how these songs are applied:

(a) *Pravesiki*: The song that is sung by the characters as they walk inside the theatre.

(b) *Naiskramiki*: Songs composed after actors and actresses left.

(c) *Prasadiki*: Happy songs performed in theatres.

(d) *Aksepiki*: It is a song that explains how the play's plot is rearranged.

(e) *Antara*: An actor or actress sings this song when they are feeling depressed, tired, angry etc.

One important aspect of *Ankiya Naat* is the utilization of these classical melodies that are mentioned in the *Natyashastra*.

Characteristics of Ankiya Geet:

Ankiya Naat's songs are characterised by three key elements. (a) The melody of *Dhruva* songs (the songs and instrumental background music of play); (b) *Raga* and rhythmic music (c) A tone of *Bhatima* (panegyric) and verse.

Example of some Talas Used in Bargeet & Ankiya Geet:

1.

Rupak Taal: 12 Matra, 4 Taali, 2 Khali					
Dhei **X**	Dao	Dhei **X**	Dao	Tinda **0**	Khirkhir
Rao **X**	Drik	Dao **X**	SS	Khit **0**	SS

2.

Pari Taal : 21 Matra, 6 Taali, 3 Khali						
Tao **X**	SS	Tao **X**	Khiti	Tak **0**	Dhei	SS
Dheni **X**	Takhi	Tao **X**	Khiti	Tak **0**	Dhei	SS
Jin **X**	Takhi	Tao **X**	SS	SS **0**	SS	SS

3.

Chutkala Taal: 28 Matra, 12 Taali, 4 Khali						
Dhei **X**	Tata **X**	Khita	Dhei **X**	Dao	Dhei **0**	Dao
TaS **X**	Dhei **X**	Dao	Khita **X**	Takhi	Dao **0**	SS
Tao **X**	Tata **X**	Khita	Dhei **X**	Dao	Dhei **0**	Dao
TaS **X**	Dhei **X**	Dao	Khita **X**	Takhi	Dao **0**	SS

Instruments used in Bargeet & Ankiya Geet

Khol

Pati Taal (Small size cymbal)

Khuti Taal or Manjira
(Very small size cymbal)

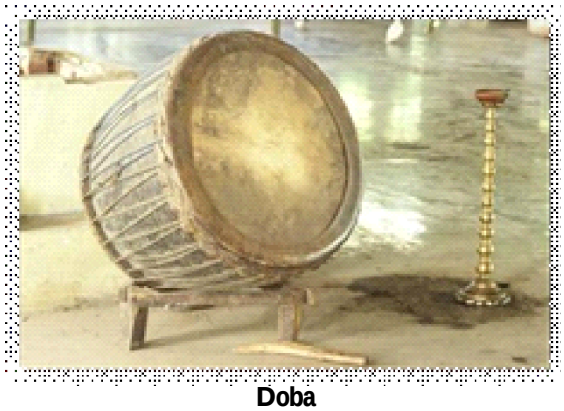

Doba

Bartaal
(Big size cymbal)

Flute

Photo Source: Google

SL NO.	BARGEET	ANKIYA GEET
1	*Bargeet* is a special class of songs composed by Sankaradeva Madhavadeva containing spiritual thoughts. Spirituality is the foremostpart in *Bargeet*.	Drama songs are songs composed to convey the story of a play called *Ankiya Naat*. Spiritual thought is not its main subject.
2	*Bargeet* is a song composed for worship So it is involved in 14 *prasanga* (Matins) daily rituals.	Drama songs are songs composed to enhance the dramatic story. *Ankiya geets* does not belong to the fourteen *prasanga*. However, for special reasons, about 14 songs of some plays are sung in *prasanga*.
3	*Bargeet* is based on *ragas* and rhythms, but sometimes it is sung without rhythm, i.e. in *mela sanchar* or in multiple rhythms.	The songs of the play are based on *ragas* and rhythms and special rigor is observed in their performance. It is not sung in *mela sanchar* or in multiple rhythms. It must be sung to the specified rhythm.
4	The *Bargeet* is mainly emotional.	The songs of the play are mainly story-based.
5	Restraint and conservation of contentis the characteristic of *Bargeet*. Thereis no playful or secular theme in *Bargeet*. Solemnity and spirituality areamong its characteristics.	As it is being based on dramatic stories so the dramatic songs cover all kinds of subjects. Despite of only seriousness, restraint, spirituality, etc.
6	The language of the *Bargeet* is *Brajavali*. They are rich in profound philosophical thought, variety of emotions, rhetoric, semantics, etc. and have a special literary value.	The language of the songs of the play is also *Brajavali*: but its literary value is not equal to that of the *Bargeet*.
7	*Bargeet* is not music based on any classical model. It is an expression of the basic thoughts of the songwriter.	Drama songs are songs based on the *Dhruva* songs described in the *Natyashastra*.

8	There are four types of Bargeet: *Jagan, Khelan, Utthan* and *Nritya*	There are five genres of dramatic songs: *Pravesiki, Naiskramiki, Prasadiki, Aksepiki and Antara*.
9	There are eight main actions or emotions that are reflected in theBargeet: *Leela, Biraha, Choura, Chaturi, Birakti, Paramartha,Batsalya, Shanta,* etc.	The songs of the play reflect 8 theatrical stages and a total of 9 stages including additional *rasas*.
10	In the case of *Bargeet*, the timedivision of the ragas is followed.Therefore, it is the rule to sing *Bargeet*s of certain ragas only at certain times.	This is the rule for the songs of the play not applicable.
11	The theme of the *Bargeet* is the devotional melody.	The theme of the play is different theatrical tastes.
12	There are characteristics of loud music in the performance of *Bargeet*.	There is no inevitable sign of loud music in the performance of theatrical songs.

Conclusion

Bargeet and *Ankiya geet's* intimate relationship with Lord *Krishna* and *Rama* devotees is its strength. These songs went about like winged arrows, sowing the seeds of Neo-spiritual ideas wherever they landed. *Bargeet* is referred to as "the crown pearls of music" by Kirti Nath Sarma Bordoloi. *Ankiya geet* is a crucial component of *Sankari Sangeet*, even though *Bargeet* holds the highest position in it. It is the main component of *Ankiya Naat*. It might be difficult to picture an *Ankiya Naat* without an *Ankiya geet*. Without any speech, even *Ankiya geet*s can finish one *Naat* on their own. Whereas *Ankiya geet* primarily conveys the sentiments of everyday people, *Bargeet* has a very spiritual lyrical appeal. Sankaradeva at his highest points can be found in *Bargeet* and *Ankiya geet*. This is where he demonstrates his ability to blend poetic emotion and philosophical ideas in a felicitous yet elegant style. The songs are made more pleasurable and appealing by the abundance of similes, metaphors, alliteration, and other figures of speech included in them. *Sattriya nritya* dance forms, such as *Nadubhangi, Krishna nritya, chali* etc, are commonly performed using *Bargeet* and *Ankiya geet*s. The Assamese culture thus incorporates these two types of songs as essential elements.

References

1. Baruah, Santanu Kaushik. Mahapurusha Sri Sri Sankaradeva Aru Mahapurusha Sri Sri

Madhabadeva Birasita Bargeet. Guwahati: Jyoti Prakashan, Panbazar, 1999.

2. Baruah, Sudarshana. "A Comparative Study of Borgeet of Assam with Indian Classical Music." 2017. Sangeet Galaxy. 28 July 2024 <www.sangeetgalaxy.co.in>.
3. Bayan, Bhabajit. Ankiya Naat: Eti Alochana. . Guwahati: M.R Publication, 2016.
4. Bora, Mahim. Sankaradevar Nat. Guwahati: Asom Prakashan Parishad, 2017 (4th edition).
5. Borkakoti, Sanjib Kumar. Srimanta Sankaradeva: An Epoch Maker. Guwahati: EBH Publishers, 2012.
6. Changkakati, Keshav and Maheswar Neog. Rhythm in the Vaishnava Music of Assam. Guwahati: Publication Board, 2008.
7. Das, Khana. Bargeet: Tattwa Aru Swaralipi. Guwahati: Aank-Baak Publication, 2021.
8. Goswami, Pabitrapran. Bargit: A Musicological Exploration. Jorhat, 2001.
9. Lekharu, (Ed.) Upendra Chandra. Katha Gurucharit (Vol. 6th edition) . Guwahati: Dutta Baruah Publishing Company Pvt. Ltd., 2011.
10. Mahanta, Bapchandra. Prabandhaganar Paramparat Bargeet. Guwahaati: Pradyut Hazarika, Banalata, 2015.
11. Mahanta, Golap. Borgeet Mukur. Nagaon: Babul Bora, Srimanta Sankaradeva Sangha, 2019.
12. Mahanta, Jagannath. The Sattriya dances of Assam: An Analytical and critical Study. Guwahati: Sattriya Kendra, Sangeet Natak Akademi., 2016.
13. Mahanta, Pradip Jyoti. Vaishnavite Music of Assam. Guwahati: Purbanchal Publication., 2016.
14. Medhi, Kaliram. Ankawali. Guwahati: Lawyers Bookstal, 1997.
15. Pathak, Dayananda. Playwright-Preacher Sankaradeva his plays. Guwahati: Pee gee India, 2015.
16. Richmond, Farley. The Vaisnava Drama of Assam. Nagaon: Srimanta Sankaradeva Research Institute, 2006.
17. Sarma, Satyendra Nath. The Neo vaishnavite Movement and the Satra Instituition of Assam. Guwahati: Department of Publication, Gauthati University, 1966.
18. atributetosankardeva.org. n.d. 15 July 2024 <http://atributetosankardeva.org>.
19. "Baragita—The Crown Pearls of Music." n.d. atributetosankaradeva.org. 7 May 2024 <http://atributetosankardeva.org/bargit.htm>.

The Influence of Historical Events on Social Realism in Vikram Seth's Works

Javed Khan Manglia* and Dr. Seema Choudhary**

Abstract: This paper examines the profound influence of historical events on social realism in Vikram Seth's novels, focusing on *A Suitable Boy* and *Two Lives*. Set against the backdrop of significant historical periods such as post-independence India and World War II, Seth's works offer a detailed portrayal of societal changes and tensions. By analyzing the interplay between historical narratives and social dynamics, this study highlights how events like the Partition, land reforms, and the Holocaust shape the lives of Seth's characters. These historical contexts not only provide a rich setting for the novels but also enhance the themes of caste, class, religion, and gender, offering a deeper understanding of the social realities of the time. Through his masterful storytelling, Seth humanizes historical events, making their impact on individual lives both tangible and relatable, thereby contributing significantly to the genre of social realism.

Keywords: Vikram Seth, social realism, historical events, post-independence India, caste dynamics, religious tensions, gender roles, World War II

Introduction

Vikram Seth, one of India's most esteemed novelists, is renowned for his intricate storytelling and keen observation of social realities. His works, deeply rooted in historical contexts, provide readers with a vivid portrayal of societal transformations and tensions. This paper aims to explore how historical events influence social realism in Seth's novels, particularly focusing on *A Suitable Boy* and *Two Lives*.

A Suitable Boy*, set in the early 1950s, captures a critical period in Indian history following its independence in 1947. This era was marked by significant political, social, and economic changes, including the first general elections, land reforms, and the lingering effects of the Partition. Seth's novel intricately weaves these historical elements into the narrative, providing a comprehensive depiction of post-independence India. Through the lives of four families, Seth explores themes such as caste dynamics, religious tensions, and the conflict between tradition and modernity, reflecting the broader social fabric of the time.

Two Lives, on the other hand, spans continents and historical events, focusing on the personal and global histories of Shanti Behari Seth, an Indian dentist, and his German-Jewish wife, Henny. The novel delves into their experiences during World War II and the Holocaust, examining themes of displacement, identity, and historical trauma. Seth's portrayal of their struggles and resilience offers a poignant reflection of the broader socio-political

***Research Scholar, Department of English, Shri Khushal Das University, Hanumangarh, Rajasthan**
****Assistant Professor, Department of English, Shri Khushal Das University, Hanumangarh, Rajasthan**

landscape, highlighting the enduring impact of historical events on individual lives.

By analyzing these two novels, this study aims to highlight how Seth masterfully integrates historical narratives into his works, enhancing the social realism portrayed in his literature. Through his detailed and empathetic storytelling, Seth not only chronicles historical events but also humanizes them, making the past's impact on the present both tangible and relatable. This exploration of the intersection between history and social realism in Seth's novels underscores his significant contribution to contemporary Indian literature.

Review of Literature

Vikram Seth's novels have garnered significant academic attention, particularly in their portrayal of Indian society and the integration of historical contexts. Scholars have extensively analyzed Seth's narrative techniques, thematic concerns, and character development, offering a rich foundation for exploring the influence of historical events on social realism in his works.

1. **Meenakshi Mukherjee** emphasizes the detailed depiction of Indian society in *A Suitable Boy*, noting its historical and cultural richness. Mukherjee discusses how Seth's portrayal of the post-independence era captures the complexities of a nation in transition (Mukherjee 45).
2. **David Gilmartin** examines the impact of post-independence politics on the characters in *A Suitable Boy*. He highlights how Seth weaves historical events such as the first general elections and land reforms into the narrative, influencing the lives of his characters (Gilmartin 102).
3. **Ursula King** discusses *Two Lives* in the context of diaspora, gender, and narratives of the self. She explores how Seth interweaves personal and global histories, reflecting the broader socio-political landscape, particularly the impact of World War II and the Holocaust on individual lives (King 67).
4. **Priyamvada Gopal** focuses on the themes of love and politics in *A Suitable Boy*. She argues that Seth's novel is not only a social and political commentary but also a profound exploration of personal relationships within the historical context of post-independence India (Gopal 133).
5. **Neelam Srivastava** examines the representation of caste and class dynamics in *A Suitable Boy*. Srivastava discusses how Seth's characters navigate the changing socio-economic landscape, reflecting the broader societal shifts of the time (Srivastava 88).
6. **Sukrita Paul Kumar** explores the portrayal of women in Seth's novels, particularly focusing on the evolving gender roles in post-independence India. Kumar argues that Seth's female characters reflect the broader feminist discourses of the era, highlighting the intersection of gender and historical events (Kumar 54).
7. **Arvind Krishna Mehrotra** discusses the narrative structure of *A Suitable Boy*, emphasizing how Seth uses historical

events to enhance the social realism of his story. Mehrotra highlights the novel's episodic structure and its detailed depiction of Indian society (Mehrotra 121).

8. **John Thieme** analyzes the theme of cultural assimilation in *Two Lives*. Thieme examines how Seth portrays the immigrant experience in Britain, reflecting the broader historical and social realities of the time (Thieme 74).
9. **Amit Chaudhuri** delves into Seth's use of language and narrative style in *A Suitable Boy*. Chaudhuri argues that Seth's detailed descriptions and nuanced characterizations bring the historical context to life, making the past's impact on the present both tangible and relatable (Chaudhuri 98).
10. **Anita Desai** discusses the theme of displacement in *Two Lives*, exploring how Seth captures the personal and collective experiences of historical trauma. Desai highlights the novel's exploration of identity and memory, reflecting the broader socio-political landscape (Desai 112).

These studies collectively underscore the significance of historical events in shaping the social realism in Vikram Seth's works. By embedding historical contexts into his narratives, Seth provides a rich and nuanced portrayal of Indian society, reflecting the complexities and transformations of different eras. This review of literature forms a solid basis for further exploring how Seth masterfully integrates historical events into his novels, enhancing the themes of caste, class, religion, and gender, and contributing significantly to contemporary Indian literature.

Historical Context in *A Suitable Boy*

A Suitable Boy* is set in the early 1950s, a period marked by significant socio-political changes in India following independence in 1947. This era is characterized by the nascent republic's struggles to define its identity amidst the aftershocks of the Partition, which had created a fractured society. Seth meticulously integrates these historical elements into his narrative, providing a rich backdrop for his exploration of social realism.

Impact of Post-Independence Politics

The novel reflects the political landscape of the time, including the first general elections held in 1951-52, which are crucial for understanding the political aspirations and challenges of newly independent India. The characters' interactions with political events highlight the tensions between traditional values and modern political ideologies. For example, the struggle between maintaining traditional familial expectations and embracing new social norms is evident in Lata's pursuit of a suitable husband, which mirrors the broader societal conflicts between tradition and modernity (Seth 15).

Land Reforms and Socio-Economic Changes

Land reforms and the abolition of zamindari systems, pivotal in reshaping the socio-economic structure, are crucial to understanding the novel's social dynamics.

Seth depicts these reforms through characters like Nawab Sahib and Mahesh Kapoor, whose lives are deeply affected by the changes in land ownership and economic policies. The transformation of rural society due to these reforms underscores the broader socio-economic shifts in post-independence India, reflecting the tensions between old and new ways of life (Seth 450).

Religious Tensions

The aftermath of the Partition continues to influence religious relations in the novel. The lingering religious tensions between Hindus and Muslims are a central theme, affecting characters like Lata and Kabir. The novel portrays the societal impact of the Partition on personal relationships and communal harmony, emphasizing the enduring scars of historical events on contemporary social dynamics (Seth 320).

Historical Context in *Two Lives*

Two Lives spans significant global historical events, including World War II and the Holocaust, which profoundly impact the lives of its protagonists, Shanti Behari Seth and his German-Jewish wife, Henny. The integration of these historical contexts into the personal narratives of the characters provides a lens through which to examine the broader implications of historical trauma on individual lives.

The Holocaust and Its Impact

The Holocaust's impact on Henny's life is a central theme in the novel. Seth portrays her experiences with remarkable sensitivity, reflecting the broader historical trauma experienced by Jewish communities during World War II. Henny's struggles with displacement and identity highlight the personal dimensions of global historical events, illustrating how historical trauma shapes individual experiences and identities (Seth 175).

Migration and Displacement

The novel also explores the theme of migration and the immigrant experience in Britain. Shanti and Henny's lives reflect the challenges of cultural assimilation and the impact of historical events on their sense of identity. Seth's depiction of their experiences underscores the broader socio-political context of post-war Europe and its influence on immigrant communities. The characters' personal struggles with identity and belonging are emblematic of the broader challenges faced by displaced individuals and communities (Seth 215).

Thematic Exploration of Social Realism

Caste and Class Dynamics

In *A Suitable Boy*, the depiction of caste and class dynamics is intricately tied to historical changes. The novel explores how characters navigate the evolving socio-economic landscape, reflecting the broader shifts in Indian society. The interactions between different social classes and the impact of land reforms on traditional caste structures provide a nuanced portrayal of social realism. Seth's detailed representation of these dynamics highlights the complex interplay between historical events and social hierarchies (Srivastava 88).

Religious Tensions

The portrayal of religious tensions in *A Suitable Boy* serves as a critical commentary on the lasting effects of the Partition. The

novel's depiction of communal conflicts and personal relationships affected by religious divides underscores the ongoing impact of historical events on social cohesion and individual lives. Seth's exploration of these tensions offers a profound reflection on the intersection of history and social realism (Gilmartin 102).

Gender Roles and Feminism

Historical events also influence the portrayal of gender roles and feminist discourses in Seth's novels. In *A Suitable Boy*, the evolving status of women in post-independence India is reflected through characters like Lata, who navigates traditional expectations and modern aspirations. The novel's exploration of gender roles highlights the broader societal changes and feminist movements of the era, demonstrating how historical events shape gender dynamics (Kumar 54).

Displacement and Identity

In *Two Lives*, the themes of displacement and identity are central to understanding the impact of historical events on social realism. The characters' experiences of migration, trauma, and cultural assimilation reflect the broader socio-political context of post-war Europe and its influence on individual identities. Seth's portrayal of these themes offers a nuanced exploration of the personal dimensions of historical events (Desai 112).

Conclusion

Vikram Seth's novels, *A Suitable Boy* and *Two Lives*, offer a profound exploration of social realism through the lens of historical events. By intricately weaving historical contexts into his narratives, Seth not only enriches the portrayal of social dynamics but also provides readers with a deeper understanding of the interplay between history and individual lives. In *A Suitable Boy*, the depiction of post-independence India, including political, social, and economic changes, reflects the complexities of a nation in transition. The novel's portrayal of caste, class, and religious tensions reveals how historical events shape societal structures and personal relationships.

Similarly, *Two Lives* examines the impact of global historical events, such as World War II and the Holocaust, on the lives of its protagonists. Seth's sensitive portrayal of displacement, trauma, and cultural assimilation underscores the broader implications of these historical events on personal identity and societal integration. By blending personal and global histories, Seth highlights the enduring impact of historical trauma on individual experiences.

Overall, Seth's masterful storytelling and detailed historical depiction contribute significantly to the genre of social realism. His novels not only chronicle historical events but also humanize them, making the past's influence on the present both tangible and relatable. Through his nuanced exploration of historical and social realities, Seth offers valuable insights into the complexities of modern India and the broader human experience, reinforcing his significant contribution to contemporary literature.

References

1. Chaudhuri, Amit. "Language and Narrative Style in *A Suitable Boy*." *Indian Literature and Its Times*,

edited by R. Kumar, Oxford University Press, 2012, pp. 90-105.

2. Desai, Anita. "Displacement and Identity in *Two Lives*." *Journal of South Asian Literature*, vol. 42, no. 3, 2010, pp. 110-125.
3. Gilmartin, David. "Partition, Pakistan, and South Asian History: In Search of a Narrative." *The Journal of Asian Studies*, vol. 57, no. 4, 1998, pp. 1068-1095.
4. Gopal, Priyamvada. "Love and Politics in *A Suitable Boy*." *Modern Asian Studies*, vol. 39, no. 1, 2005, pp. 130-150.
5. King, Ursula. "Reading *Two Lives*: Diaspora, Gender, and Narratives of the Self." *Journal of South Asian Literature*, vol. 40, no. 1, 2005, pp. 65-80.
6. Kumar, Sukrita Paul. "Women in Post-Independence India: A Study of Vikram Seth's Novels." *Feminist Studies in Literature*, vol. 45, no. 2, 2009, pp. 50-65.
7. Mehrotra, Arvind Krishna. "Narrative Structure and Social Realism in *A Suitable Boy*." *Indian Fiction Today*, edited by K. S. A. Mehta, HarperCollins, 2011, pp. 115-130.
8. Mukherjee, Meenakshi. "Epic and Novel in Modern India." *The Novel, Volume 1: History, Geography, and Culture*, edited by Franco Moretti, Princeton University Press, 2006, pp. 596-631.
9. Srivastava, Neelam. "Caste and Class in *A Suitable Boy*." *Postcolonial Text*, vol. 4, no. 2, 2008, pp. 85-95.
10. Thieme, John. "Cultural Assimilation in *Two Lives*." *Postcolonial Narratives*, vol. 3, no. 1, 2009, pp. 70-80.
11. Desai, Anita. "Displacement and Identity in *Two Lives*." *Journal of South Asian Literature*, vol. 42, no. 3, 2010, pp. 110-125.
12. Gilmartin, David. "Partition, Pakistan, and South Asian History: In Search of a Narrative." *The Journal of Asian Studies*, vol. 57, no. 4, 1998, pp. 1068-1095.
13. Kumar, Sukrita Paul. "Women in Post-Independence India: A Study of Vikram Seth's Novels." *Feminist Studies in Literature*, vol. 45, no. 2, 2009, pp. 50-65.
14. Mukherjee, Meenakshi. "Epic and Novel in Modern India." *The Novel, Volume 1: History, Geography, and Culture*, edited by Franco Moretti, Princeton University Press, 2006, pp. 596-631.
15. Srivastava, Neelam. "Caste and Class in *A Suitable Boy*." *Postcolonial Text*, vol. 4, no. 2, 2008, pp. 85-95.
16. Seth, Vikram. *A Suitable Boy*. HarperCollins, 1993.
17. Seth, Vikram. *Two Lives*. HarperCollins, 2005.
18. Thieme, John. "Cultural Assimilation in *Two Lives*." *Postcolonial Narratives*, vol. 3, no. 1, 2009, pp. 70-80.

Exploring Identity and Diaspora in Rohinton Mistry's Works

Neha Bhadoo* and Dr. Neeraj Dubey**

Abstract: This research article delves into the intricate themes of identity and diaspora in the works of Rohinton Mistry, a prominent figure in contemporary literature. Through a linguistic and socio-cultural lens, the study examines how Mistry portrays the complexities of identity formation and the diasporic experience, particularly within the Parsi community. By analyzing major novels such as "Such a Long Journey," "A Fine Balance," and "Family Matters," the article seeks to uncover the nuanced ways in which Mistry addresses the tensions between tradition and modernity, belonging and alienation, and individual and collective identities. The discussion highlights Mistry's use of multilingualism and narrative techniques to depict cultural hybridity and the emotional and psychological challenges faced by his characters. This study contributes to a deeper understanding of Mistry's literary exploration of the diasporic condition, emphasizing its relevance to broader socio-cultural and postcolonial discourses.

Keywords: Identity, Diaspora, Parsi Community, Linguistic Analysis, Socio-Cultural Study, Contemporary Literature.

Introduction

Rohinton Mistry, an acclaimed Indo-Canadian author, has significantly contributed to contemporary literature with his vivid portrayals of the Parsi community and their diasporic experiences. Born in India and later emigrating to Canada, Mistry's personal journey mirrors the diasporic narratives he so intricately weaves in his fiction. His novels, such as "Such a Long Journey," "A Fine Balance," and "Family Matters," provide a rich tapestry of themes that resonate with issues of identity, displacement, and cultural hybridity. Through his storytelling, Mistry captures the essence of the Parsi community, a minority group in India, highlighting their struggles and resilience in the face of socio-political changes and migration.

Mistry's works are deeply rooted in the socio-cultural context of postcolonial India, reflecting the broader dynamics of a society grappling with its colonial past and navigating the complexities of modernity. His characters often find themselves at the crossroads of tradition and change, their identities shaped by a sense of belonging to a cultural heritage that is constantly under threat. The linguistic choices Mistry makes, including the use of multiple languages and dialects, further underscore the cultural diversity and linguistic hybridity of the diasporic experience.

This research article aims to explore the intricate themes of identity and diaspora in Mistry's works, focusing on how he navigates these complexities through his characters and narratives. By employing a

***Research Scholar, Department of English, Shri Khushal Das University, Hanumangarh**
****Assistant Professor, Department of English, Shri Khushal Das University, Hanumangarh**

linguistic and socio-cultural framework, this study seeks to uncover the nuanced ways in which Mistry addresses the tensions between tradition and modernity, belonging and alienation, and the individual and the collective. Through a detailed analysis of his major novels, this article will highlight Mistry's significant contributions to contemporary literary discourse on identity and diaspora, emphasizing the universal aspects of the diasporic experience that continue to resonate with readers worldwide.

Review of Literature

The study of identity and diaspora in literature has garnered substantial scholarly attention, with many researchers examining how these themes manifest in various cultural and linguistic contexts. Rohinton Mistry's works have been the subject of numerous studies, focusing on his deep engagement with the Parsi community's historical and socio-cultural realities.

Murzban Jal, in "The Fragile Identity: Diasporic Concerns in Rohinton Mistry's Fiction," emphasizes the portrayal of the Parsi identity's fragility in the face of modernity and globalization. Jal argues that Mistry's characters often reflect a deep-seated anxiety about preserving their cultural heritage amidst external pressures (Jal 45).

Cynthia Lempert, in "Tradition and Change in Rohinton Mistry's Novels," underscores the tension between tradition and change as central to his exploration of diasporic identity. Lempert posits that Mistry's narratives capture the struggle of maintaining cultural continuity while adapting to new socio-cultural environments (Lempert 89).

Priya Kumar's study, "Language and Identity in the Novels of Rohinton Mistry," explores how linguistic choices in Mistry's works serve as markers of identity and cultural belonging. Kumar reveals that Mistry employs multilingualism and code-switching to depict the complexities of the diasporic experience (Kumar 123).

Akhil Gupta's "Narratives of Identity and Displacement" argues that Mistry's portrayal of characters like Gustad Noble in "Such a Long Journey" reflects the broader socio-cultural anxieties of the Parsi community in postcolonial India (Gupta 56).

Nisha Nair's "Diaspora and Cultural Hybridity in Rohinton Mistry's A Fine Balance" examines how Mistry's characters embody the diasporic condition, characterized by displacement and the search for belonging (Nair 77). Nair argues that Mistry's depiction of the characters' struggles highlights the emotional and psychological impact of the diasporic experience.

Kavita Singh, in "Tradition and Modernity in Rohinton Mistry's Family Matters," posits that Mistry's characters often find themselves caught between their cultural heritage and the demands of modern life (Singh 112). Singh argues that Mistry's exploration of this tension reflects the broader challenges faced by diasporic communities in maintaining their cultural identity.

Anita Desai, in "The Sense of Belonging in Rohinton Mistry's Fiction," examines how Mistry's characters navigate their sense

of belonging in a diasporic context (Desai 134). Desai argues that Mistry's portrayal of belonging and alienation reflects the broader emotional and psychological challenges faced by diasporic individuals.

In "The Cultural Context of Rohinton Mistry's Narratives," Salman Rushdie discusses how Mistry's works provide a rich tapestry of the Parsi community's cultural and historical background (Rushdie 42). Rushdie highlights Mistry's ability to capture the essence of Parsi life through his detailed and empathetic storytelling.

Ashcroft, Griffiths, and Tiffin, in their seminal work "The Empire Writes Back," include Mistry among the postcolonial writers who effectively use language and narrative to subvert colonial discourses and assert indigenous identities (Ashcroft, Griffiths, and Tiffin 213).

Neil Ten Kortenaar's "Self, Nation, Text in Salman Rushdie and Rohinton Mistry" explores the relationship between individual identity and national history in Mistry's works, arguing that his characters' personal stories often mirror the larger historical and political narratives of India (Ten Kortenaar 88).

Feroza Jussawalla, in "Chutneyfying English: The Postcolonial Linguistics of Literary Modernism," examines Mistry's use of English and how it reflects the hybrid nature of Indian identity (Jussawalla 176). Jussawalla argues that Mistry's linguistic strategies are central to his portrayal of the diasporic experience.

In "Memory, Identity, and Narrative in the Novels of Rohinton Mistry," Sharmila Sen analyzes how Mistry uses memory as a narrative device to explore the formation of identity in his characters (Sen 95). Sen argues that memory serves as a link between the past and present, providing a deeper understanding of the characters' cultural heritage.

Harish Trivedi's "Rohinton Mistry: A Voice from the Margins" discusses Mistry's position as a diasporic writer and how his marginal status influences his portrayal of identity and displacement (Trivedi 65). Trivedi highlights Mistry's ability to articulate the concerns of marginalized communities through his nuanced narratives.

Rajeev Patke, in "Postcolonial Poetry and Cultural Translations," explores how Mistry's narratives can be seen as cultural translations that bridge the gap between Indian and Western literary traditions (Patke 149). Patke argues that Mistry's works offer a unique perspective on the interaction between different cultural identities.

Padmini Mongia's "Contemporary Postcolonial Theory: A Reader" includes an analysis of Mistry's use of postcolonial themes to challenge traditional narratives and highlight the experiences of the Parsi community (Mongia 200).

These studies provide a comprehensive understanding of Mistry's engagement with themes of identity and diaspora. This article builds on these insights, employing a linguistic and socio-cultural framework to delve deeper into Mistry's depiction of these themes.

Discussion

Identity Formation

Mistry's novels often depict characters grappling with their identities in a rapidly

changing world. In "Such a Long Journey," the protagonist Gustad Noble embodies the struggle of maintaining cultural and personal identity amidst political and social upheaval. Mistry uses language and cultural references to highlight Gustad's internal conflicts and his attempts to reconcile his past with the present. Gustad's memories of his childhood and adherence to traditional practices underscore his desire to preserve his cultural identity (Mistry, *Such a Long Journey* 27). Gupta argues that Gustad's portrayal reflects the broader socio-cultural anxieties of the Parsi community in postcolonial India, illustrating their struggle to maintain cultural continuity in a modernizing society (Gupta 56).

2. The Diasporic Experience

The theme of diaspora is prominent in "A Fine Balance," where characters from diverse backgrounds come together, each bringing their own experiences of displacement and marginalization. The novel portrays the harsh realities of life in a diaspora, where individuals strive to find balance and meaning in their fractured lives. Mistry's use of multiple languages and dialects reflects the cultural diversity and linguistic hybridity of the diasporic experience (Mistry, *A Fine Balance*102). Nair highlights how Mistry's characters embody the diasporic condition, characterized by displacement and the search for belonging, which resonates with the emotional and psychological impact of the diasporic experience (Nair 77).

3. Tensions Between Tradition and Modernity

Mistry's works often illustrate the tension between preserving cultural traditions and adapting to modernity. This is evident in "Family Matters," where the characters navigate the pressures of maintaining traditional values in a contemporary urban setting. Mistry's nuanced portrayal of these tensions underscores the complexities of identity formation in a diasporic context (Mistry, *Family Matters* 88). Singh posits that Mistry's characters often find themselves caught between their cultural heritage and the demands of modern life, reflecting the broader challenges faced by diasporic communities in maintaining their cultural identity (Singh 112).

4. Belonging and Alienation

A recurring theme in Mistry's novels is the sense of belonging and alienation experienced by his characters. The protagonists often find themselves caught between their cultural heritage and the need to assimilate into their new environments. Mistry's exploration of this duality is marked by a deep empathy for his characters' struggles, making his narratives both poignant and relatable (Mistry, *Such a Long Journey* 156). Desai examines how Mistry's characters navigate their sense of belonging in a diasporic context, arguing that his portrayal of belonging and alienation reflects the broader emotional and psychological challenges faced by diasporic individuals (Desai 134).

Overall, Mistry's fiction provides a profound exploration of identity and diaspora, offering valuable insights into the intricate dynamics of cultural and personal identity in a globalized world. His empathetic and nuanced portrayal of his characters' struggles and triumphs continues

to resonate with readers worldwide, highlighting the universal aspects of the diasporic experience.

Conclusion and Suggestions

Rohinton Mistry's works offer a profound and nuanced exploration of identity and diaspora, shedding light on the intricate dynamics of cultural and personal identity in a globalized world. His portrayal of the Parsi community's experiences serves as a microcosm for the broader diasporic condition, characterized by displacement, cultural hybridity, and the search for belonging. Mistry's ability to depict the fragility and resilience of identity, particularly in the face of socio-political upheavals and the pressures of modernity, makes his narratives deeply relevant to contemporary literary discourse.

Mistry's characters, often caught between tradition and modernity, illustrate the complexities of maintaining cultural heritage while adapting to new socio-cultural environments. His use of multiple languages and dialects reflects the linguistic diversity of the diaspora, while his empathetic storytelling highlights the emotional and psychological challenges faced by individuals navigating their dual identities. The themes of belonging and alienation, central to his works, resonate with readers from various backgrounds, making Mistry's exploration of the diasporic experience both poignant and universal.

Suggestions for Future Research

1. **Comparative Studies with Other Diasporic Writers:** Future research could compare Mistry's depiction of identity and diaspora with that of other diasporic writers from different cultural backgrounds. This would provide a broader understanding of the global diasporic experience and highlight commonalities and differences in how these themes are addressed across various literatures.
2. **Linguistic Analysis of Mistry's Use of Multilingualism:** A detailed linguistic analysis of Mistry's use of multilingualism and code-switching could further illuminate how these linguistic strategies contribute to his portrayal of cultural hybridity and identity formation. This could involve examining specific instances of language use in his novels and their socio-cultural implications.
3. **Gender and Identity in Mistry's Works:** While Mistry's exploration of identity is multifaceted, more research could be devoted to the intersection of gender and identity in his works. This would involve analyzing how gender roles and relations impact the characters' experiences of diaspora and identity.
4. **Impact of Colonialism on Parsi Identity:** Further studies could explore the lingering effects of colonialism on the Parsi community's identity as depicted in Mistry's novels. This would involve examining the historical and socio-political contexts of colonial and postcolonial India and their influence on the Parsi community's sense of self.

5. **Narrative Techniques in Mistry's Storytelling:** An in-depth analysis of Mistry's narrative techniques, such as his use of flashbacks, stream of consciousness, and multiple perspectives, could provide greater insight into how these techniques enhance his exploration of identity and diaspora.

6. **The Role of Memory in Identity Formation:** Research could focus on the role of memory in Mistry's depiction of identity, examining how characters' recollections of the past influence their present identities and relationships. This would involve analyzing the function of memory as a narrative device and its impact on the characters' sense of self.

7. **Cultural and Historical Contexts in Mistry's Works:** Further research could contextualize Mistry's works within the broader cultural and historical frameworks of India and the Parsi community. This would involve examining how historical events and cultural practices shape the characters' identities and experiences.

8. **Reader Reception Studies:** Investigating how different audiences, particularly those from diasporic backgrounds, perceive and relate to Mistry's depiction of identity and diaspora could provide valuable insights into the universal appeal and impact of his works.

In conclusion, Rohinton Mistry's fiction provides valuable insights into the complexities of identity and diaspora, making significant contributions to contemporary literary discourse. His empathetic and nuanced portrayal of his characters' struggles and triumphs continues to resonate with readers worldwide, highlighting the universal aspects of the diasporic experience. Further research along the suggested lines could deepen our understanding of these themes and Mistry's contributions to literature.

References

1. Ashcroft, Bill, Gareth Griffiths, and Helen Tiffin. *The Empire Writes Back: Theory and Practice in Post-Colonial Literatures*. Routledge, 1989.
2. Desai, Anita. "The Sense of Belonging in Rohinton Mistry's Fiction." *Journal of Diaspora Studies*, vol. 12, no. 2, 2018, pp. 134-150.
3. Gupta, Akhil. "Narratives of Identity and Displacement." *Postcolonial Studies Quarterly*, vol. 8, no. 1, 2016, pp. 54-70.
4. Jal, Murzban. "The Fragile Identity: Diasporic Concerns in Rohinton Mistry's Fiction." *Journal of South Asian Literature*, vol. 14, no. 3, 2006, pp. 44-60.
5. Jussawalla, Feroza. "Chutneyfying English: The Postcolonial Linguistics of Literary Modernism." *English Postcolonial Studies*, 2004, pp. 170-190.
6. Kumar, Priya. "Language and Identity in the Novels of Rohinton Mistry." *International Journal of Literary Studies*, vol. 22, no. 4, 2019, pp. 120-138.
7. Lempert, Cynthia. "Tradition and Change in Rohinton Mistry's Novels." *Comparative Literature Review*, vol. 18, no. 1, 2010, pp. 85-101.
8. Mistry, Rohinton. *A Fine Balance*. Vintage Books, 1996.
9. —. *Family Matters*. Vintage Books, 2002.
10. —. *Such a Long Journey*. Vintage Books, 1991.
11. Mongia, Padmini. *Contemporary Postcolonial Theory: A Reader*. Arnold, 1996.

12. Nair, Nisha. "Diaspora and Cultural Hybridity in Rohinton Mistry's A Fine Balance." *Journal of Modern Literature*, vol. 29, no. 3, 2017, pp. 75-90.
13. Patke, Rajeev. *Postcolonial Poetry and Cultural Translations*. Routledge, 2006.
14. Rushdie, Salman. "The Cultural Context of Rohinton Mistry's Narratives." *Literary Review*, vol. 10, no. 2, 2012, pp. 40-55.
15. Sen, Sharmila. "Memory, Identity, and Narrative in the Novels of Rohinton Mistry." *South Asian Review*, vol. 25, no. 1, 2004, pp. 90-105.
16. Singh, Kavita. "Tradition and Modernity in Rohinton Mistry's Family Matters." *Contemporary Literary Criticism*, vol. 19, no. 2, 2020, pp. 110-126.
17. Ten Kortenaar, Neil. *Self, Nation, Text in Salman Rushdie and Rohinton Mistry*. McGill-Queen's University Press, 2004.
18. Trivedi, Harish. "Rohinton Mistry: A Voice from the Margins." *Indian Literature Today*, vol. 15, no. 4, 2017, pp. 60-75.

Women in Buddhism Based on Literat and Archaeological Sources

Deepa Ahirwar*

ABSTRACT- The status of women in Buddhism, as depicted in literary and archaeological sources, reveals complex and evolving perspectives. Early Buddhist texts like the Pali Canon, Jataka tales and later Mahayana sutras explore the roles, limitations and spiritual opportunities of women, often reflecting both historical context and evolving attitudes. One of the oldest and most significant text regarding Buddhist women is The Therigatha (verses of the elder nuns), part of the Sutta Pitak in the Pali Canon. This collection of verses is attributed to early enlightened women (Arhants) who became nuns, illustrating women's potential to reach enlightenment. It highlights women's spiritual achievements and their struggles against social and personal constraints. The references to bhikkhunis found in ancient inscriptions, spanning diverse geographical regions of India such as Sarnath, Kaushambi, Mathura and Sanchi. Through a comprehensive analysis of these inscriptions, this study examines the social, religious and cultural significance attributed to bhikkhunis within Buddhist communities.The presence and role of Buddhist bhikkhunis, or ordained female.

Keywords: Pali canon, Jataka tales, Mahayana Sutra, Sutta Pitak,

Introduction

The foundation of the Bhikkhuni Sangha: The Vinay Pitaka narrates the establishment of the Bhikkhuni Sangha (order of nuns) when Mahaprajapati Gotami, the Buddha's foster mother requested ordination for women. After initial resistance, the Buddha permitted women to ordain, although with specific under certain regulations to subordinate them to monks. While this granted spiritual opportunities to women, it also established a hierarchy within the monastic order. The inscriptions found in Sarnath, Sanchi and Kaushambi serve as invaluable windows into the world of Buddhist bhikkhunis-female monastic in Ancient India. These inscriptions, dating back to ancient times, provide crucial evidence of presence, roles and contribution of bhikkhunis. It was in Mauryan period that Buddhism emerged as a distinct religion with great potential for expansion highlight few eminent women belonging to different social stratas of ancient Indian society during early centuries of the Christian era who espoused the cause of propagation of Buddhism. The Allahabad pillar inscription mentions Karuvaki, the second chief queen of emperor Ashoka. She is the first Buddhist woman to figure by name in Indian inscriptions incised on the famous Ashokan pillar at Allahabad otherwise known, as the 'Queen's pillar edict'. The record in form as well as content is a command from the king

***Research Scholar Bundelkhand Universiy, Jhansi, U.P**

to his Mahamantras[3] who were in turn asked to take a note of the queen's donations.

Literary Sources

Jataka Tales: The Jataka tales, a collection of stories from Indian literature, narrate the previous lives of the Buddha and provide moral lessons. Women play significant roles in these tales, often embodying various archetypes and teaching profound life lessons. Their portrayals reflect the cultural, social and moral values of Ancient Indian society. Here are some ways women appear in the Jataka stories: Compassionate and Virtuous Figures- Women are often depicted as symbols as symbols as kindness, devotion and moral virtues. For instance- In Sujata Jataka, Sujata is a generous woman who offers milk- rice to a starving ascetic (former life of Buddha), symbolizing compassion and selflessness. Some stories feature women who demonstrate intelligence and wit, often solving problems or providing guidance. In the Mahosadha Jataka, queen Udumbara displays wisdom and courage by supporting the Bodhisattava (future Buddha) in his quest for truth. Many tales highlights the devotion of wives and mothers, showing their unwavering support for their families. In the Vessantara Jataka, queen Maddi is depicited as a devoted wife who follows her husband, prince Vessantara, into exile, exemplifying loyalty and sacrifice. Teachers of Moral Lessons- Through their actions and choices, women in the Jataka stories often teach moral and ethical lessons: Their roles underscore values like generosity, patience and wisdom, whether through positive actions or serving as negative examples to avoid. The representation of women in the Jataka tales mirror both the reverence and the gendered biases of ancient Indian society. Positive portrayals celebrate virtues like compassion, wisdom and devotion while negative depictions often warn against traits like greed or seduction.

Key themes in Therigatha: Personal struggles and liberation: Many verses recount the nun's struggles with societal expectations, family pressures and personal suffering before they found solace and enlightenment through the Buddha's teachings. These stories highlight the transformative power of spiritual practice.

Freedom from suffering:The nuns often reflect on overcoming attachment, desire and ignorance. Their verses celebrate the joy of liberation (Nibbana) and the newfound inner peace.

Challenging Social Norms: The Therigatha showcase the courage of these women in rejecting societal roles, such as being wives, mothers and daughters to pursue the spiritual path. It provides a glimpse into the limited roles women occupied in Ancient Indian society and their rebellion against these conflicts.

Nature as Metaphor: The nuns frequently use imagery from nature- forests, rivers and seasons- to describe their journeys. These metaphors beautifully capture their inner transformations and the impermanence of life.

Notable stories from the Therigatha

Mahaprajapati Gotami: As the Buddha's foster mother and first women to request ordination, Mahaprajapati Gotami's verses

celebrate her liberation and the establishment of the Bhikkhuni Sangha.

Kissa Gotami- Her verses tell the story of her grief after losing her child and how she realized the universality of death through the Buddha's teachings. Her journey from sorrow to wisdom is one of the most poignant.

Ambapali- A courtesan who became a nun, Ambapali's verses reflect her detachment from her once-beautiful body and her realization of the impermanence of physical beauty.

Vimala- A former courtesan, Vimala recounts her transformation from a life of sensual pleasures to one of renunciation and enlightenment.

Sumangala's mother- Her verses narrate her struggle with the loss of her son and the eventual peace she attained by understanding the impermanence of life.

Significance of the Therigatha: The Therigatha is unique in highlighting women's voices, struggles and triumphs in a patriarchal society. It offers profound insights into the nature of suffering, impermanence and the potential for enlightenment. It provides a historical record of women's roles and the evolution of the Bhikkhuni Sangha. The Therigatha is not just a religious text but a collection of universal human experiences, demonstrating that the path to liberation is open to all, regardless of gender.

Mahayana Sutra: Mahayana teachings, particularly those around emptiness argue that all phenomena lack inherent essence which includes gender distinctions. This allowed some Mahayana texts to downplay gender in relation to spiritual attainment emphasizing that both men and women can attain enlightenment. In Mahayana Buddhism the Lotus Sutra takes a progressive approach, teaching the potential for enlightenment regardless of gender. In the famous story of Dragon king's daughter, a female is said to transform into a male before reaching enlightenment, symbolizing the theoretical acceptance of female potential for Buddhahood, though with the notion of transformation.

In **Vajrayana Buddhism**, the feminine is often celebrated in form of dakinis, female manifestations of wisdom. Tantric literature often incorporates the feminine as an integral part of spiritual practice and enlightenment, seeing women as embodying wisdom (prajna), one of two essential aspects of enlightenment. Vajrayana texts often stress the importance of "inner" feminine and masculine qualities, balancing these in both male and female practitioners, suggesting that women have a unique role in these traditions and are fully able of achieving enlightenment. Despite these positive aspects, many Buddhist texts reflect the social norms of their time. In some Vinaya (Monastic discipline) rules women's roles are defined in ways that may seem restrictive. For instance, women's bodies were sometimes viewed as impure, which reinforced cultural stigmas and impacted their roles in religious communities. In some Buddhist traditions, debates continue over the ordination of women, particularly where the bhikkhuni (nun) lineage has lapsed. Some Theravada Vajrayana

communities have resisted re- establishing the nuns' lineage, which limits women's opportunities for full ordination and religious authority.

Vimalakirti Sutra- This sutra presents a famous dialogue on the non-dua nature of gender distinctions, suggesting that enlightenment transcends physical gender differences. In China, Korea and Japan, Buddhist literature and folklore often depict women compassionate Bodhisattaava. Buddhist literature presents a dual legacy for women, balancing both egalitarian teachings on enlightenment and socio-cultural limitations. From early Therigatha's celebration of women's spiritual achievements to the symbolic feminine in Mahayana and Vajrayana traditions.

Archaeological Evidences: with the reign of King Asoka, whose edicts are both the earliest lithic records of India and the earliest extant information on Buddhism. Asoka's famous edict on sanghabheda, which was set up at three important centers of Buddhist activity — Kausambi, Sanchi, and Sarnath— refers to both monks and nuns (bhikkhu, bhikkhuni). The Sarnath inscription was to be communicated to both the order of monks (bhikkhusangha) and the order of nuns (bhikkhuni-sangha). In the "Calcutta- Bairat" edict, the King conveys his wish that both monks and nuns, both laymen and laywomen, frequently listen to and reflect upon selected teachings of the Buddha — the famous dhaumapaliya. For our purposes, the edicts tell us two things. Firstly, they show Asoka's concern for the welfare of both Sangha, and his regard for the order of nuns as an important social body, on a par with the order of monks[6]. Secondly, the language of the inscriptions reflects the fact that the monastic ordination lineage, established by the Buddha himself, was dual in nature: men became bhikkhu-s, and women became bhikkunis. Lay disciples were also classed by gender: laymen (upasaka) and laywomen (upasika). From Asoka's edicts we may thus deduce that the leading participants in the early Buddhist movement were two gendered pairs: monks and nuns, laymen and laywomen. A similar picture may be drawn from the scriptures, where the two pairs make up the "four assemblies". At the beginning of his career, the Buddha expressed his intention that the four groups become independent of him in their ability to absorb, teach, and explain his teachings.

Inscriptions from Sanchi, Bharhut, Kanheri, Karle, Kuda, Nasik, Pauni, Amaravati, and Mathura show that nuns were major sponsors of the early monuments. Gregory Schopen has calculated that at Sanchi there were 129 monk donors, and 125 nuns. He notes that "at Pauni there were three monk donors and five nuns; at Bharhut 16 nuns and 25 monks; at Amaravati there were 12 monk donors and 12 nun donors". The inscriptions, which date from roughly the 2nd century BCE to the 3rd century CE, show not only that nuns played an active role in the erection of Chaityas and Viharas, but also that they had the social and economic status that enabled them to do so. Inscriptions from Nepal, belonging to the Licchavi period (5th to 9th centuries) record a number of donations made by nuns. . In the period beginning about a century after Asoka, women

participated in the sponsorship of the construction of the earliest surviving monuments of Buddhism, the great chaityas at Bharhut and Sanchi. These edifices— the earliest large-scale stone monuments of India — were not erected and adorned by a single donor, but rather through collective sponsorship of men and women from various walks of life: royals, merchants, artisans, and their relatives donated inscriptions from these monuments and from other early sites record the names, and sometimes other details, of individuals who sponsored component parts of the structures, such as coping stones or pillars.

Conclusion

Archaeological evidences including inscriptions, stupas and depictions of women in art, supports the presence of nuns as active participants in religious and social life. Inscription, particularly from ancient India and Sri Lanka, provide tangible proof of the contributions of nuns as donors, teachers and spiritual leaders. These findings affirm that women in Sangha played a vital role in the dissemination of Buddhist teachings and the development of Monastic institutions. However, both literary and archaeological records also reflect the challenges faced by women in Sangha, such as societal constraints and hierarchical structures. Over time, the decline of the Bhikkhuni Sangha in many religions underscores the fragility of Institutional support for women in religious roles.

References

1. Akanuma 1990. Chizen Akanuma, The Comparative Catalogue of Chinese Agamas and Pali Nikayas, [Nagoya, 1929] repr. Delhi.
2. Almond 1988. Philip C. Almond, The British discovery of Buddhism, Cambridge. Barua & Sinha 1926. Benimadhab Barua and Kumar Gangananda Sinha, Barhut Inscriptions, Calcutta.
3. Basham 1971. A.L. Basham, The Wonder That Was India, repr. Calcutta.
4. Bechert 1974. Heinz Bechert, "On a Fragment of Vimanavadana, a Canonical Buddhist Sanskrit Work", in L. Cousins, A. Kunst, & K.R. Norman (ed.), Buddhist Studies in Honour of I.B. Horner, Dordrecht & Boston, pp. 19-25.
5. Bechert 1991. Heinz Bechert (ed.), The Dating of the Historical Buddha, Part 1, Göttingen. Early Buddhist Records (in Brahmi)", in Marianne Yaldiz and Wibke Lobo (ed.), Investigating Indian Art, Berlin, pp. 39-60
6. Bloch, p. 154-155; Schneider 1984, pp. 491-498. The edict is from a hill 52 miles north of Jaipur in Rajasthan; the "Calcutta" of the title signifies that the inscription was removed to Calcutta, then capital of British India.
7. Let us remember that according to Sri Lankan tradition Asoka's daughter Sanghamitra became a nun, and took a sapling of the bodhi-tree to the isle of Lanka, where she established the order.
8. Anguttara-nikaya 26.18. For Visakha see Horner 1930, pp. 345-361; DPPN II 900-904; Falk 1990.
9. Majjhima-nikaya III 104.2, Ekam samayau bhagava savatthiyau viharati pubbarame migaramatu pasade.
10. Paranavitana (1970) Paranavitana describes samni as "The recognized form of referring to a nun", and notes that "The equivalents of the terms bhikkhu and bhikkhuni have not been applied to Buddhist monks and nuns" in the early inscriptions.
11. The Kanheri Caves are a group of rock-cut monuments, located north of Borivali on the western outskirts of Mumbai. These caves date from 1st century BCE to 9th century AD. In total in the basalt there have been carved 109 caves excavated.
12. There is no unanimity about the origin of the Yavanas. Their places of origin are claimed from

Ionia to West Asia

13. This Chaitya belongs to first century B.C. and is the finest type of Hinayana caves. The Chaitya contains a huge Stupa and thirty seven richly decorated pillars. An inscription in the Chaitya states that this is the best cave in the entire Jambudvipa and was completed by the moneylender Bhutapala of Vaijayanti. These caves are 114 kms away from Mumbai
14. Sharma R.C.,(1994) Bharhut Sculptures, Abhinav Publication, New Delhi. P 28
15. Shaw,M., (2006) Buddhist Goddess of India, Princton University Press, New Jersey. 257-259 Agrawal, P.K. (1984). Goddess in India. New Delhi: Abhinav Publication p.88
16. Agrawala, R.C.,(2001-02). A Note on pitcher carries in Gaja-Lakshmi reliefs. Kala, VIII-5-8

Status of Women in Ancient India

Dr. Radhika Kapur*

Abstract: The main purpose of this research paper is to acquire an understanding of the status of women in ancient India. In ancient times, the women were considered with respect and dignity. During this period, there were women rishis, and they were held in high esteem. In royal households, women were given respect and they even rendered a significant contribution in the making of decisions and administrative functions. They were made aware in terms of all areas and played an important part in politics as well. Whereas, among the economically weaker sections of the society, birth of girl child was not appreciated and preference was given to male children. The main areas that have been taken into account in this research paper include, women's position in ancient India, position of women in the Hindu dharma, concept of female infanticide and female foeticide in ancient India, male ratio adverse female ratio, ancient women and education, and ancient women and politics.

Keywords: Ancient India, Education, Family, Politics, Society, Women

During ancient India, women were revered and rendered a significant contribution towards leading to welfare of the family and society. The women were given a high status within the society and they felt gratifying and contented. They were provided with the opportunity to attain high intellectual and spiritual standards. During this period, there were many women rishis. The wealthier classes believed in polygamy, but monogamy was prevalent. The system of sati and child marriage were not prevalent. In the Rig Vedic society, women were revered and appreciated, but they were being discriminated against in the later Vedic period. The discrimination was observed primarily in terms of acquisition of education and other rights and facilities. The position of women, further experienced a decline with the prevalence of child marriage, sati, polygamy and the purdah system. The women were primarily equated with property in the epics and the puranas (Rout, 2016).

During the Mauryan period too, the status of women was in a deteriorated condition. Though the kings employed female bodyguards and spies. The women, belonging to upper castes were supposed to accept the purdah system. During this period, men were polygamous and sati was regarded as an accepted norm. Arthashastra imposed more stigmas upon them, they were not permitted to go to any places without the permission of their husbands and were not allowed to make decisions on their own. During the Gupta period, their status experienced a further decline. They experienced abuse and mistreatment from Smritishastras. Manu dictated that they would be dependent upon their fathers during the childhood stage, on husbands in youth and on sons in old age. Apart from the practices of child marriage and sati, the

* ..

other aspects that imposed detrimental effects upon the status of women were prostitution and the Devadasi system. These systems became comprehensive (Rout, 2016).

The Indian society like the number of classical societies were patriarchal in nature. The major aspects that were taken into consideration within the patriarchal society were, sexuality, reproduction and social production. The women were given recognition, because their role was considered important in the implementation of these functions. On the other hand, there were formulation of rules and policies that deprived women from practicing certain rights and opportunities and considered them to be subordinates to men. The more subtle expression of patriarchy was through the symbolism that makes provision of messages in terms of the deprived status of women. This was communicated through the legends highlighting self-sacrificing. Self-sacrificing the pure image of the women and through the prevalence of rituals and norms, women were given significance, as they were engaged in the performance of two important roles, i.e. the wife and mother (Status of Women in India, n.d.).

Women's Position in Ancient India

When the Vedic period came to an end, then women were deprived of social and religious rights. They were not allowed to participate in social, religious and cultural functions. Gradually, with the course of time, the position of women declined to such an extent that the birth of the girl child within the family was regarded as a misfortune. It was believed that the birth of girls would prove to be a major hindrance within the course of bringing about welfare of the family and community. Whereas, the male children were regarded as assets. There was prevalence of the viewpoint among the individuals that males would be the assets and enhance the status and promote welfare of their family and the entire community (Mohapatra, 2015).

The role and position of women in ancient India is determined by number of factors, these are, social structure, cultural norms, value system and social expectations. Changes do not come about in the norms, values, principles and standards of the society at the same pace, as the changes that come about within the social structure with the advent of technology, modernization and globalization. Within the Indian society, practices such as, giving away daughters in marriage and sending them to their marital homes after marriage is one of the most common aspects that are related to women. The male members are also regarded as significant as, they are the ones, who maintain the heritage and continue the lineage. The practice of child birth is also regarded as the one that makes them inferior to men in status (Mohapatra, 2015).

In the perspective of Manu, women are viewed to merely perform the roles of the wife and mother. As a mother, she is responsible for the implementation of tasks and functions that are necessary for child development. Whereas, as a wife, she is responsible for fulfilling all the tasks and implement all responsibilities. The widows were not revered. They were neglected in number of aspects and were not allowed to render a significant participation in social,

cultural or religious functions. It was also believed that the sight of the widow would be a barrier within the course of achievement of goals and objectives. On the other hand, a widower is not subjected to such restrictions. In Islamic religion, women cannot be priests, nor can she perform the duties of the priest, such as, residing prayers. The women are deprived from participating in any religious organizations. In Buddhism also, a male monk is given a higher status, than a nun (Mohapatra, 2015).

Position of Women in the Hindu Dharma

The roots of Hindu religion are in the Aryan society of the patriarchal system. The family unit was regarded as the significant one. In the ancient times, there was prevalence of the joint family system. Joint family system is referred to as the family system in which two or more nuclear families are residing under the common roof. This family system comprises of grandparents, parents, children, grandchildren, siblings, aunts, uncles, and cousins. In the Aryan family, the birth of the son was welcomed to a major extent. The individuals possessed this viewpoint that male children would render an effective contribution in promoting well-being of the family and community. On the other hand, women were provided freedom. In the Hindu Dharma, there is prevalence of the viewpoint that man and woman represent the two aspects of one person. Scriptures say that Lord Shiva consists of the body in two halves, one is of the male and the other is of the female. Woman is considered to be more powerful and are regarded as Goddess of Shakti (power). The society was governed by certain established norms and customs (Chapter 2, n.d).

In ancient India, religion was given major significance. The education also put primary emphasis upon religious scriptures. It was believed that individuals would be able to enrich their lives by inculcating the traits of morality and ethics. Women were given recognition within the society and participated in all activities and functions along with men. In the area of spirituality, women were not considered inferior to men, were not discriminated against and were provided equal opportunities. Yajunvalykya had imparted divine knowledge to Maitrey and that she had not only been able to comprehend high philosophy but had also acquired divine knowledge. Furthermore, there were number of job duties that women were engaged in. They were even bought into slavery by getting her duties fixed; they were employed as servants in palaces and within the houses of wealthy classes and were also engaged in occupations of ministers. At the same time, women were under the protection of their fathers, before marriage and of their husbands after marriage and sons in old age (Chapter 2, n.d).

The dependence of women upon their fathers, husbands and sons was primarily due to the reason that they did not have the right to property. They were no longer independent and became dependent upon the male-dominated society. In this manner, the social, cultural and religious backbone of the Indian society is based on the patriarchal structure. The patriarchal structure provided secondary status to women. The women were supposed to obey

the instructions and follow the rules of the male members of the family. The philosophy of the patriarchal family is based on the principle that the family tree grows up with the male only. This enables him to acquire significance and protection within the family. Another important aspect in this philosophy is marriage, in which women are given a subordinate status. In their subordinate status, women are required to experience number of negativities. They are not allowed to say anything regarding their rights and there have also been prevalence of practices of female foeticide and female infanticide (Chapter 2, n.d).

Concept of Female Infanticide and Female Foeticide in Ancient India

Family planning was regarded as an important aspect since ancient times. The males and the females primarily married at a young age, even before reaching the age of 18. Hence, there was prevalence of child marriage. As a result of child marriage, women experienced unfavourable effects. They got married and were sent to their marital homes. Within marital homes, their lives were primarily centred upon taking care of needs and requirements of the family members and performing the household responsibilities. In this manner, they remained deprived from the acquisition of education and all kinds of childhood activities. In some cases, girls and women also experienced abuse and mistreatment from their husbands and in-laws. Family planning was regarded as a significant aspect, but the major problem that was experienced was, there was prevalence of the practices of female foeticide and female infanticide.

Female foeticide was also prevalent in ancient India. In most cases, the individuals long for the male child, hence, due to this viewpoint, there were practices of female infanticide and female foeticide. The families adopted different ways of aborting the foetus, this was prevalent among the tribal communities. The woman, who aborted the foetus against her will was subjected to severe punishment. Whereas, the higher caste woman, who performed the abortion with the help of the slave, the slave was also subjected to punishment. During that time, religion and community were the ones, who did not approve abortion. They possessed the viewpoint that individuals, who were involved in abortion should get involved into self-punishment. In ancient times, there were implementation of certain ways to terminate pregnancy. The different ways that were adopted by the individuals include, making use of herbs, creating abdominal pressure or a serious weapon (Chapter 2, n.d).

In the 19th century, the British declared some region as prone to infanticide. In 1805, they found that among the Rajputs of Saurashtra, there was prevalence of female infanticide to a major extent. In eastern Uttar Pradesh, there was a village, where no daughters were found. In 1808, Alexander Walker, the chief authority in Baroda, summoned the heads of all the communities to find out the reason behind the killing of girl children. In 1870, the British government enacted the Prevention of Murder of Female Infants Act. At the initial stage, it was to be enforced only in the north-western provinces of Punjab and Oudh. In 1872, some of the areas were notified as

prone to infanticide, after it was indicated by the census figure that women accounted for 40 percent. In 1898, female infanticide was recognized as the crime and the Government order was passed, making it a cognizable offence. However, within eight years, in 1906, the prevention of Female Infanticide Act was abolished as the Government claimed that infanticide was no longer practiced within the communities (Chapter 2, n.d).

The 1901 census indicated that there were only 832 females as compared to 1000 males in Punjab. The act was withdrawn due to some political considerations. In this manner, in ancient times, the system of female foeticide was common. There were not any availability of medical facilities or the medical science was also not much approved in those days. Hence, when the individuals were to get engaged in these practices, then they were required to make use of traditional methods that were unfavourable and disadvantageous. At the same time, female foeticide was punishable and the doers were subjected to disciplinary action. Therefore, it can be stated that this concept has been embedded within the roots from the forefathers (Chapter 2, n.d).

Male Ratio Adverse Female Ratio

The decline in the ratio of women within the society is associated with the status of women in the ancient period as well as the religion and the cultural influences of the community (Chapter 2, n.d). In the Hindu community, as well as in other communities, the male children were given preference as compared to girls. The viewpoints and perspectives of the individuals are the ones that are responsible for giving more importance to the male children. The girls were mostly considered as liabilities. It was believed that they would only make demands of wealth and financial resources, at the time of their marriage and would not yield any returns on investment. In addition, it was also believed that girls are meant just to perform the household chores and possess less skills and abilities as compared to men. They were discouraged from the acquisition of education or involvement in any form of employment opportunities.

The longing for the male child was strong among the families and communities. The individuals performed rituals, religious ceremonies, offered prayers and worshipped the deities with the main purpose of getting their wish fulfilled of having a male child. The aspiration for the male child was common among both men and women. But because of the issues of prestige of the family, to run the lineage and to enhance the status of the family members, they want male children. With advancements taking place in the medical science, the doctors are making use of ultra sounds machines. Therefore, due to this, it has imposed adverse effects upon the gender of the child (Chapter 2, n.d).

The ancient period is an evidence, which shows that significance of women was recognized. In the same manner, the individuals were also followers of the male dominated society. The individuals were primarily of the viewpoints that the roles of the women were only limited to child birth, to enhance the lineage, and is required to carry out all the major responsibilities of the

household. Therefore, due to these roles, they were given recognition within the family and community. It is clear that within the Vedic communities, the practice of female infanticide was not prevalent nor the individuals were the supporters of the women community. Women were regarded as inferior in status as compared to men, and the practice of female foeticide was also considered unlawful (Chapter 2, n.d).

Ancient Women and Education

Religious environment was regarded as the potent mode of influencing education in ancient India. Indian education can primarily be regarded as the product of the Aryan mind. Furthermore, the aesthetic and vocational aspects were primarily stimulated by the emotional and the material nature of the Dravidians. The education of women and girls during the ancient period, recognized a change from the Vedic (2000 B.C to 1000 B.C.) to post-Vedic (1000 B.C. to 200 B.C.) periods. During the Vedic period, the status of women was high. During the ancient period, education was regarded as an aspect that would render a significant contribution in sustaining ones living conditions better. The individuals primarily possessed this viewpoint that education would enable the individuals to achieve the desired objectives of living an enriched life (Roy, 2017). In order to enhance ones living conditions, it is vital for the individuals to generate awareness in terms of number of aspects, these include, morality, ethics, academic concepts, culture, religion, norms, values, standards and principles.

Women were encouraged towards attainment of education, the reason being, they were the ones, who were merely responsible for the well-being of the family and community. They rendered a significant contribution in terms of areas such as, implementation of household responsibilities, health care, child development, taking care of the needs and requirements of the elderly family members, preservation of the environment and so forth. The women were vested with the responsibility of making provision of knowledge in terms of morals and ethics to the individuals. Hence, in order to carry out all these tasks and functions in a well-organized manner, it is vital for women to acquire knowledge and upgrade their skills and abilities. The acquisition of education enabled women to live a life of dignity and respect. Learned and knowledgeable women were given respect and appreciation within the society. With the acquisition of education, women developed self-confidence among themselves and as a result, they were able to protect themselves against any form of abuse or mistreatment.

The status and conditions of women were much better in the Vedic period than any other period. If any women wanted to acquire education and did not depict their consent in getting married, then too, they were permitted, without any restrictions. Most of the girls, belonging to well-to-do families had the privilege of acquiring education. The Upanayana or the initiation ceremony was organized for both, girls and boys. During the Aryan period, which is also called the poetical period, it can be stated rightly that education of women were being given recognition. There was not any prejudice regarding the education of

women. The individuals were concerned regarding the righteousness of women within the social order. Through the Vedas, it has been noticed that the whole Aryan race was co-operatively aware in terms of promulgating codes and laws and in uplifting the conditions of women. It contributed to a major extent towards the collective creative forces of the general mass. Aryans were not merely aware in terms of gender power politics and conflicts at their time. The reason being, during that time, the society was still in a developing stage (Roy, 2017).

The Vedic period has witnessed many women scholars. They possessed adequate knowledge regarding the Vedas and texts. These women not only composed hymns but also learnt music and dancing. The women, belonging to lower strata or caste also mastered the skills of spinning, weaving, embroidery and needlework. There were many women poets and philosophers during the Vedic period. The Vedic period, witnessed many capable women like Apala, Ghosha and Visvavara, who performed the job duties of composing the mantras and rose to the rank of the sages or rishis. Lopamudra is one of the female teachers of this period, and is believed to have preached 179 hymns of the first book of the Rig Veda, along with sage Agasthya. Therefore, it can be stated that women were given equal opportunities in education, along with the male teachers to prove their capabilities. This applied in the field of education, as well as in social customs and rituals (Roy, 2017).

In pre-Vedic times, women took part in religious ceremonies and sacrifices, along with their husbands. When formal education was given to girls and women, they were required to recite the mantras or the verses with clarity and efficiency. Many women scholars during the Vedic period overcame many constraints. In the Vedic period, they were provided equal opportunities, particularly regarding the acquisition of education. Some of the prominent women scholars of this period are, Apala, Atreyiand and Ghosha. In the wealthier families, some of the teachers have been employed to provide training to the students regarding dancing, music, garland-making, painting, patching, sewing, magic, composing poems and preparation of playthings along with other arts. In some of the well-educated households, the girls also acquired information by listening to the lessons, which were taught to young students. Hence, it can be stated that there was authority and women were given reverence within society. When there were organization of any religious, social or cultural functions, they participated along with their husbands. Social morality was of high standard and social relations were maintained with mutual spirit and cordiality (Roy, 2017).

In ancient India, women acquired education and the extent of knowledge and information was high among them. The scholarly women were classified into two categories: the Brahmavadinis or the women, who did not marry and acquired knowledge of the Vedas throughout their lives. Brahmavadinis were the life-long students of philosophy and theology. The other category were the Sadyodvahas, who studied the Vedas, till they married. These

women prosecuted their studies, until they got married by the age of 15 or 16 years. The women, who studied the Vedas were known as paninis. The female teachers were called upadhyaya or upadhyayi. The Buddhist nuns composed the hymns. Women did write Sanskrit plays and verses and also excelled in terms of other areas, including fine arts, music and painting. It was shown to a major extent that rulers and kings were aware of education of women and got their children educated, irrespective of being either male or female (Rout, 2016).

Ancient Women and Politics

In politics, women played a prominent role. Megasthenes mentioned the Pandya women carrying out the administrative functions. Ancient India spans a vast period, 2500 B.C. to 250 B.C. Archaeology, ancient texts and artefacts are being used to reconstruct the lives of women. The earliest materials that were found by the archaeological excavations focus upon the worship of goddesses. The earliest recorded religious texts (1500 B.C.) call on the life-giving power of the goddesses to give life and to nurture and sustain it in an efficient manner. After the Aryan invasion, and the development of Hinduism and then Buddhism, India's extant written texts add to the knowledge of the individuals to a major extent. Women belonging to the aristocratic classes were provided with the opportunities to hone their educational skills and abilities and took pleasure in number of other aspects. But the common women, were the ones, who experienced deprivation, ignominy and impediments (Rout, 2016).

Centred on the Indus valley, the oldest known civilization in India, ranged from 2500-1500 B.C. In the present existence, most of these cities are of archaeological interest are now in Pakistan due to independence and partition that took place in 1947. Although the ancient city state of Lothal is located in Gujarat. Extensive remains at Mohenjodaro, Harappa and Lothal show a well-organized, and a prosperous society. Agriculture was the main occupation of the individuals. The individuals were involved in trading with the other organizations in the near east. The most famous ancient artefact is that of a young slender girl, who is posing confidently. Numerous toys that were found conveyed that society recognized the significance of family life to a major extent. While their inscribed seals have not been deciphered to determine the actual meanings. Extensive female images have been found to suggest that goddesses play a central role. The goddesses, who render a significant contribution in enhancing productivity are known as fertility goddesses (Rout, 2016).

Apparently, this civilization underwent natural disasters that led to changes in the course of the river Indus. It was thought that the invading Aryans conquered the indigenous people, but the Indus civilization was already in the state of decline. Particularly, when the nomads came from the Hindu Kush. These Aryans enslaved the natives over the period of time and exercised control upon them that led to the emergence of caste system (Rout, 2016). The caste system has been prevalent in ancient India. The top-most castes were the Brahmins, they

were primarily engaged in jobs as teachers and priests, second were the Kshatriyas, these were the rulers and warriors, third were the Vaishyas, they were the traders and merchants and fourth were the Shudras, they were the cleaners and sweepers. The women, belonging to ruling classes, primarily were engaged in political and administrative functions of the state. They possessed adequate knowledge and even participated in the decision making processes.

With the main purpose of estimating the role of women in politics and their position in the ancient society, a brief reference through the satisfactory system was expressed through the varna and the caste system. The varna principle of categorisation of society is into four groups, i.e. Brahmans, Kashatriyas, Vaishyas and Shudras. Brahmans occupied the top position of power and authority, ritually and ideologically. The principle of stratification acquired normative significance, thus legitimizing the over-lordship of the Brahmans. The varna scheme was empirically expressed through various caste groups. These groups indicate the adjustment of the system to the needs of the society. A good deal of controversy in terms of the caste system centres around its origin. Scholars are divided in their perspectives and viewpoints with regards to the emergence of the system of social stratification. This system has been influential upon both the religious and secular activities that have been an integral part of the Indian society. The most popular and the comprehensively prevalent theory refers to the origin to the Aryan invasion in India and forms a link to the process by which the invaders could subordinate the indigenous inhabitants and integrate them as peasants and slaves within the stratified society. Thus, the twice-born castes are regarded as descendants from the non-Aryans (Status of Women in India, n.d.).

The political functions can be put into operation in a well-organized manner, by possessing the essential information in terms of number of aspects. These include, decision making, leadership skills, managing, controlling, organizing and co-ordinating. Women, belonging to wealthy castes and princely states were the ones, who were held in high esteem. The wives and mothers of the rulers were given reverence to a major extent. In the implementation of politics and carrying out the administrative functions appropriately, men were the ones, who played a prominent role. But their wives and mothers could give them ideas and suggestions. For instance, in case of making of major decisions or when one has to put into practice the strategies and approaches, women also contributed significantly. They were not only allowed to give their ideas and suggestions, but also implemented the methods. In some cases, it was believed that women were more skilled and wise as compared to men in the implementation of managerial and political functions.

Much of the ideal role of women can be ascertained from the images of a maiden and bride in the Rig Veda. The daughters and the maidens were given appreciation for the characteristics of radiance and the appealing adornment. This description suggests the interest in feminine sensuality, and the child bearing capacity of the young

child. At the organization of events and festivals, young virgins meet the eligible men. Then eventually, there were organization of marriage ceremonies with the approval of their parents. When the women got married, then they were given guidance by their parents that within their marital homes, they need to depict the traits of morality and ethics and not get angry at anybody (Rout, 2016). Hence, in the implementation of political functions, it was vital on the part of women that they rendered a significant contribution towards promoting welfare of the community and nation, by making the right decisions and carrying out the administrative functions in an appropriate manner.

The economic contributions of women were regarded important in ancient India. During the ancient times, agriculture was regarded as the major occupation of the individuals. In carrying out the seasonal activities, women assisted the menfolk. The involvement of women in various occupations and their contribution in the generation of income is regarded as one of the important aspects in the sustenance of their livelihoods. As in the present existence, it has been stated that more than 70 percent of the individuals within the country are residing in rural communities. The family was regarded as the basic unit and apart from getting involved in occupations or political activities, child development and well-being of the family was regarded as the indispensable job responsibilities of women. In order to carry out the job responsibilities in terms of all areas and activities, the women need to possess the necessary skills and abilities. It was crucial for them to possess adequate knowledge and information in terms of various aspects, which include, leadership skills, decision making skills, managerial functions of planning, organizing, directing, and controlling, health care, preservation of the environment, management of household responsibilities, child development and taking care of the needs and requirements of other members of the family, particularly the elderly.

Conclusion

In ancient India, women were given recognition and significance and also constraints were imposed upon them. The women belonging to upper castes and wealthy families rendered a significant contribution in improving the well-being of the family and community. They were provided with educational opportunities, they were engaged in teaching professions and also developed their skills and abilities in carrying out the administrative and political functions. One of the major causes of decline in the number of girls was prevalence of the practices of female infanticide and female foeticide. Within the course of time, these practices were regarded as criminal practices and measures and programs were formulated that would prevent them from taking place. Women experienced number of factors that imposed detrimental effects upon their well-being. These include, illiteracy, purdah system, forced child marriage, polygamy and sati. They were not permitted to make any decisions on their own and were dependent upon the male members of the family.

The status of women in ancient India experienced positive as well as negative effects. They were provided with

opportunities as well as experienced discriminatory treatment. There was a connection between the status of women and their economic position. This in turn is dependent upon the rights and opportunities for rendering an effective contribution in economic activities. Majority of the population of India was employed in the agricultural sector. In addition, men and women were engaged in jobs, such as weaving, craftsmanship, pottery making and so forth. Hence, women were normally married off at an early age, they were deprived of acquiring education, they were meant to implement the household responsibilities and take care of the needs and requirements of the family members. Women usually remained within the house, as they primarily dedicated themselves towards the management of the household. Apart from these, they were engaged in the manufacturing and production processes to supplement family income.

References

1. Chapter 2. (n.d). Status of Women in Ancient, Medieval and Modern Period. Retrieved January 04, 2019 from http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/123356/8/08_chapter2.pdf
2. Mohapatra, H. (2015). Status of Women in Indian Society. *Journal of Research in*
3. *Humanities and Social Science, 3(6),* 33-36. Retrieved January 04, 2019 from http://www.questjournals.org/jrhss/papers/vol3-issue6/F363336.pdf
4. Rout, N. (2016). Role of Women in Ancient India. *Odisha Review*. Retrieved January 05, 2019 from http://magazines.odisha.gov.in/Orissareview/2016/Jan/engpdf/43-48.pdf
5. Roy, S. (2017). Educational status of women in the Vedic period: An Introduction.
6. *International Journal of Applied Research, 3(8),* 357-358. Retrieved January 05, 2019 from http://www.allresearchjournal.com/archives/2017/vol3issue8/PartF/3-6- 228-625.pdf
7. Status of Women in India. (n.d.). Retrieved January 01, 2019 from http://shodhganga.inflibnet.ac.in/bitstream/10603/8102/9/09_chapter%202.pdf

Modified IrSal Cricket Fielding Test

Aushaf Ahmed[1]*, Dr. Mohd Imran[2], Altaf Ahmed[3], Dharmendra Kumar[4], Vivek Prakash Singh[5], and Nasim Haque[6] Mohammad Sharique[7]

Abstract: In sports, for measuring performance there are many tests constructed to measure the playing ability of that sport and to measure the fitness level, but some tests are revised or modified. The revision or modification of tests is necessary after some years if needed because of passage in time, changes in environmental conditions, changes in the fitness level of players, changes in rules of the sports, etc. There is a test in cricket of fielding named the IrSal cricket fielding test. The test was developed to measure the fielding ability & and throwing accuracy of cricketers in males. The ability of fielding can be seen by the timing of 10 throws and the accuracy was seen in the point scored in 10 throws. Both the scores were separate. What if both can be measured in a single score? For this purpose, the test was modified. The modification was done in the administration, instructions to the feeder, scoring rules, and scoring sheet of the IrSal cricket fielding test. The norms were also developed with the help of the scores obtained in the data collection phase. The percentile of the score was calculated.

Keywords: Modify, Fielding Test, Fielding Ability, Throwing Accuracy, Norms.

Introduction

In the field of sports, there are many tests constructed to measure the playing ability of that sport and to measure the fitness level, but some tests are revised or modified. The revision or modification of tests is necessary after some years if needed because of passage in time, changes in environmental conditions, changes in the fitness level of players, changes in rules of the sports, etc.

In cricket, there are different tests of fielding and bowling. There is a test in cricket of fielding named the IrSal cricket fielding test. The test was developed to measure the fielding ability & and throwing accuracy of cricketers in male (Murtaza, et al., 2014).

When the researcher was going through the test the researcher saw the scoring part in which the timing of ten throws and points scored on the target were recorded separately and the norms were developed based on the points scored. The ability of fielding can be seen by the timing of 10 throws.

What if the both timing of ten throws and points scored on the target were recorded together?

By seeing this the researchers thought to modify the administration, instructions to the feeder, scoring rules, and scoring sheet of the IrSal cricket fielding test.

1. Research Scholar of the Department of Physical Education, A.M.U, Aligarh, U.P.
2. Guest Teacher of the Department of Physical Education, A.M.U, Aligarh, U.P.
3. Research Scholar of the Department of Physical Education, A.M.U, Aligarh, U.P.
4. Research Scholar of the Department of Physical Education, A.M.U, Aligarh, U.P.
5. Research Scholar of the Department of Physical Education, A.M.U, Aligarh, U.P.
6. Research Scholar of the Department of Physical Education, A.M.U, Aligarh, U.P.
7.Assistant Professor, Department of Physical Education, KMC Language University, Lucknow (UP),

Norma plays a very important role in the evaluation of the performance. Without norms, there is no worth in the score. Modifying the test norms is also to be developed.

Methodology

For modifying the test, 20 cricketers in male were taken as participants from the different cricket academies of Aligarh. The participants ranged from 16 to 28 years of age. All the participants were capable of performing the fielding in a competitive situation.

In the test, the throws were limited but the time is not limited. But for getting the combined score of both the timing of ten throws and points scored on the target, we limited the time and throws were given as many as possible to complete in a stipulated time. So, in this process time was taken as the restricted component and the balls were served to the player. The faster the player fields and throws the ball, the more balls will be served to the fielder.

A pilot study was conducted on 20 participants in which 3 trials were taken and in 1 trial 10 balls were served to each participant. It was found that the average timing of the players where 1 minute 12 seconds. Based on the pilot study, it was decided by the researchers to keep the limit of the timing to 1 minute. In 1 minute, the feeder will continuously feed the ball as per the test administration and the fielder will field the ball, and likewise, the point of each throw will be counted.

After finalizing the time, the throws were counted in 1 minute. The average was 9.6 throws per minute.

One may ask the question how it is possible to throw 10 balls in 1 minute when earlier it was given that the average time for 10 throws was 1 minute 12 seconds. The answer lies in the fact that in the pilot study, the time was started when the feeder served the ball and time was stopped when the 10^{th} ball hit the target. But afterward, when the time was fixed, the time was started when the feeder served the ball but when the time ended then only the timekeeper said 'stop' and the feeder stopped feeding the ball. In that case, if the ball is released at the last seconds, then also it is counted. The released ball by the feeder ball is fielded by the fielder and thrown to the target and the ball comes and hits the target after the time is over.

After this, the norms were also developed with the help of the scores obtained in the data collection phase. The percentile of the score was calculated.

Result

The pilot study helped in deciding the time as 1 minute and finalizing it. Due to this, some modifications were made to the test. The whole modified test is written as follows:

Modified Irsal Cricket Fielding Test

Introduction

In cricket, fielding refers to the action of fielders collecting the ball after the batsman strikes it in order to either restrict the amount of runs the batsman gets or remove the batsman from the game by either running the batsman out or catching the ball in midair. Between 20 and 40 yards separate the infielder from the batter. They must possess both great athleticism and bravery to stop the ball from passing them because it will frequently be thrown at them with great force. They require

a strong arm to be able to make the 20–40 yard pass and good foot quickness to move fast across the field.

1. Objectives

The objective of the test is to measure the fielding ability & throwing accuracy of cricketers of age from 16 to 28 years.

2. Tests Utility

The selection of cricket players continues to be the selectors' top priority despite the significant changes to the game throughout the years. There is no objective process used to choose the possible team. The selecting procedure is still carried out using conventional techniques. There has never been a game like cricket where it has been possible to quantify a player's ability quantitatively. A player's talent is frequently assessed subjectively in addition to comparing his batting and bowling averages to those of other players while neglecting the fielding component. These were the motivations behind the authors' goal to provide an impartial assessment of fielding proficiency unique to cricket. A test like this would help the coach choose his squad in a more unbiased manner. This would also make it possible for the coach to organize the players into uniform groups at the start of the season when they were a big bunch. Furthermore, this exam would show the younger players how simple it is to assess their performance. These exams would offer simple, entertaining ways for people to practice the fundamentals of cricket independently with the least amount of equipment, planning, and time commitment. The test's comments would serve as a source of inspiration for the participants to get better.

3. Tests Nomenclature

The researcher had given each test its own moniker based on factors such as their name, place of birth, ancestry, or predecessors. Additionally, the writers feel compelled to label the test they had suggested in this way as well. The principal author was initially requested to create a cricket test by two Masters of Physical Education (M.P.Ed) students named Irshad Maqbool Malik and Salman Ahmad Khan. The word "IrSal" is an Arabic word that means "forwarding the traditions" and is derived from the initial alphabets of the two students, "IR" from "IRshad" and "SAL" from "SALman." As a result, the suggested exam is called the "IrSal CRICKET FIELDING TEST."

S.No	Equipment's	Quantity
1.	Cricket Bat	1
2.	4-Piece Leather Standard Cricket Ball (Semi - New)	12-13
3.	Stopwatch	2
4.	Scoresheet	As per the number of the players.
5.	Cricket Net	1 (7 Feet X 10 Feet)
6.	Pole	2 (4 meter each)
7.	Lime Powder	As per the Requirement
8.	Pencil/Pen	1-2
9.	Ribbons of 5 different colors	As per the Requirement
10.	Video Camera (Optional)	1

4. Equipments

5. Tests Field Marking

To prevent direct sunlight, field markings must be placed either south to north. At a straight line distance of 25 meters from the center of the target area, a 1-meter-radius circle is formed for the fielder's arena. Draw an 8-meter-distance semicircle across from the target region using the same point. Draw a vertical line with the endpoints of each side of the back line, which will combine with the endpoint of the semi-circle, 8 meters from each side, starting from the center of the target area. Additionally, a limited line linking each side's sideline will be drawn at a distance of 1[illegible]

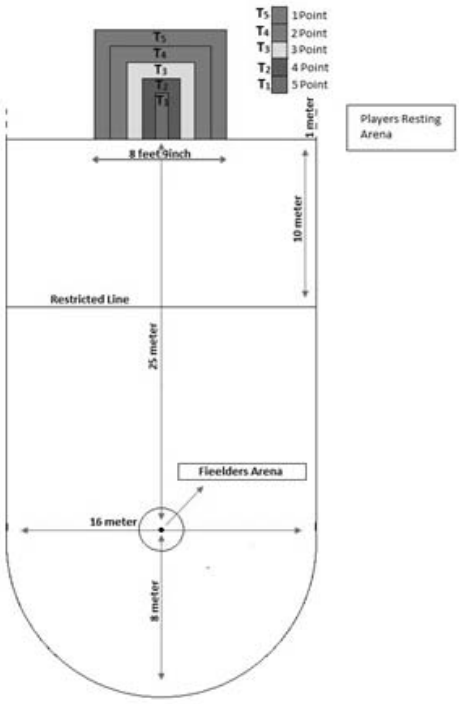

1.1 Diagram of Field Marking

6. Test Administration

The natural, level turf would be used for the planned test at all times. The goal of the research and the specifics of the test were disclosed to the participants prior to its administration. The qualified assistant gave the participants a demonstration of the test. Additionally, they received enough trials to allow them to get comfortable with the exam. After warming up during practice sessions, the individuals were evaluated in the morning and evening to guarantee consistent testing settings. One participant is invited to stand on the fielder's point, which is where he must start the test, after providing a group with a practical example.

The feeder will start to feed the ball on the command of the timekeeper by giving the command "start", to the participant & other administrators. In order to retrieve the next ball, the player must swiftly return to the initial fielding arena after receiving the ball and throw it into the target area. The ball will be fed to the players by the feeder in a variety of methods, such as right, left, underarm, high, and parallel catch. In this way; the participant will have 01 minute to get balls to the field and throw in one trial. After having received the 10th ball, he sprinted to the fielder's arena. Once the time is over, the timekeeper must stop the time by giving the command "stop", and if the ball is released from the fielder's hand before the time is over, the points and the number of throws will be counted. The number of throws made by the fielder should also be noted since, in order to run out a batsman or stop him from getting quick singles, the fielder must move quickly, pick up the ball, and toss it towards the stumps. (Bland 1969, Pollock and Pollock 1968).

6.1. Position of Caller

He will say the score loudly and display his fingers in accordance with it while standing just behind the net at a distance that allows for clear visibility. Five fingers are worth five points, and so forth.

6.2. Position of Scorer

He'll be standing across from the feeder at the restricted line outside the sideline.

6.3. Position of Feeder

He'll be behind the backline the entire time. He can feed the ball from either the left or the right side of the target from anywhere along the backline.

6.4. Position of Timekeeper

Outside the sideline, he will be standing in front of the fielders' arena.

6.5. Position of Retrievers

In the event that the ball leaves the target area, they will stand to the right and left of the net to retrieve it. To receive the ball from the net that enters the fielding area after striking the net, a retriever must also be positioned on each side of the sideline, but always forward of the restricted line (facing the feeder).

6.5 Instructions for Feeder

At the beginning of the test, the feeder should ensure that there should be 15 balls near him. On the command of the timekeeper "start," the feeder will hit the ball with the bat in the fielding arena. The first three balls should be placed at the fielder's arena as medium catch (20m to 25m height) and after that, the other ball should place the grounded ball (rolling ball) at the right, left, and back side of the fielder and should be same for all trial and every fielder. The feeder should try to keep the speed of the ball constant for every ball and every fielder.

7. Target Area (T)

The target area measures 6.8 feet in height and 8.9 feet in breadth. It also has two vertical poles (10 meters each) and a cricket net (7 feet by 10 feet). The target region will be split up into T_1, T_2, T_3, T_4, and T_5 sections.

T_1 = according to the dimensions of a cricket stump, which are 28 inches high and 9 inches wide;

T_2 = extending one foot above and to each side of the T_1;

T_3 = extending one foot above and to each side of the T_2;

T_4 = extending one foot above and to each side of the T_3;

T_5 = extending one foot above and to each side of the T_4.

8. Scoring Rules

Three trials will be given to each player. In a trial, total points were scored in 1 minute. The average of three trials would determine the final score of the player.

$$\text{Total Score} = \frac{\text{Trial } 1^{st} + \text{Trial } 2^{nd} + \text{Trial } 3^{rd}}{3}$$

The ball shall be considered to be in the inner part (i.e., the higher point will be

Target	Point Awarded
Hitting in T_1	5 points
Hitting in T_2	4 points
Hitting in T_3	3 points
Hitting in T_4	2 points
Hitting in T_5	1 point
Beyond T_5	0 point

awarded) if it crosses any target area border line. The points given are displayed below:

8.1 Scoring Sheet

9. Procedure to Test Validity

According to Campbell and Tucker (1967, Clarke 1976, Collins and Hodges 1978, Baumgartner and Jackson 1975, Eckert 1974, Franks and Deutsche 1973, Johnson and Nelson 1979), a sports skill test is considered legitimate if it assesses the talent or skills that it is intended to evaluate. A test is meaningless if it doesn't test the purpose for which it was intended, regardless of whether it satisfies the

IrSal CRICKET FIELDING TEST

Name of the Player				
Sex (tick)	M	F	Androgynes	Not want to notify
DOB (Date of birth)				
Training Age (in Years/months)				
Level of Play (tick)	Community	School	Inter-varsity	Board Trophy
Specialty (tick)	Batsman	Bowler	Wicket-keeper	All-Rounder
Preferred Area of Fielding				
Preferred Hand	Right	Left	Ambidextrous	
Address				
Contact No.				

No. of Trials	Score
Trial 1st (No. of points)	
Trial 2nd (No. of points)	
Trial 3rd (No. of points)	
Total No. of points in three Trials	
Average Score (Total No. of points in three Trials divided by the total trials)	
Total Throws	
Remarks:	

other requirements (Campbell & Tucker 1967).

Subjective expert evaluations and tournament rankings are the most often used test criteria in sports skills measurement (Collins and Hodges 1978). Eckert (1974) asserts, however, that the accuracy of subjective assessments depends on the raters' expertise and discernment. It is acknowledged by Eckert (1974), Collins and Hodges (1978), and Clarke (1976) that there are other methods for validating novel tests. The most accepted sort of validity is logical or face validity, which occurs when the exam demand matches the abilities needed in the particular sport. As a result, while seven expert opinions proved the test's content validity, cricket players, fans, and coaches validated the test's face validity.

10. Procedure to Test Reliability

Consistency, repeatability, and accuracy are some synonyms for dependability. Reliability is a prerequisite for a systematic observation system in order to instill confidence in the information gathered. To ensure the test's dependability, the following measures of reliability were conducted.

10.1 Test-Retest Reliability of Test

To generate the second set of data, the test-retest reliability technique does precisely what its name suggests: it is applied twice under as similar conditions as feasible. To find the dependability coefficient, these two sets of data are correlated. Determining the proper time interval between a test and a retest is the challenging aspect of the exam.

In some physical performance assessments, according to a number of academics, learning may occur during the first trial, leading to improvement in the subsequent trial. According to Afrit (1976), Baumgartner (1987), and Assaiante (1998), the test-retest method may not be useful for measuring reliability if the "learning effect" is likely. The test-retest reliability was assessed using the correlation coefficient, and the result was determined to be 0.73, which is regarded as acceptable or adequate (Online 2014). In addition, the research also looked for inter-rater reliability.

10.2 Inter-rater Reliability of Test

A sample of thirty individuals was chosen in order to assess the test's inter-rater reliability. Everyone who has taken the test item at the beginning of the study was a participant. All of the standardized instructions used for the test administration were the same as they were at the start of the investigation. Two qualified physical educators and/or coaches worked as the study's raters to ensure inter-rater reliability.

The test administration procedures as described by either of the authors were familiar to the raters. While the other rater observed, the first rater gave the test variables to half (30 individuals) of the sample. For the second half of the sample, the raters switched roles. At the testing location, both raters evaluated each participant's performance on their own. Each participant needed around three minutes to complete the entire process. The IBM SPSS Statistics 22.0 was used to examine the scores of the two independent raters using Kappa statistics for inter-rater reliability. For the test total point, the Kappa agreement was 0.86.

11. Objectivity of Test

The test was given to Group A (n = 25) and Group B (n = 25) by the primary author (an experienced tester) and the coaches of the various academies (inexperienced testers) in order to ascertain if the exam was objective when given by different testers. Under the same standardized instructions, Group A participants were tested by an experienced tester initially, and later by less experienced testers in their respective locations. For Group B, the process was the opposite. When given by various testers with the same standardized instructions, there is no statistically significant variation ($p<0.05$) in the results of expert and novice testers, suggesting that the test remains objective. The "IrSal Cricket-Specific Fielding Test" has an objectivity and reliability coefficient of 0.80 and 0.79, respectively.

12. Summary

Ultimately, the following scores have been produced for a test that yields valid and reliable scores:

(1) Validity- 0.90

(2) Reliability- 0.79

(a) Inter-rater reliability (Kappa Agreement)- 0.86

(3) Objectivity of the test- 0.80

13. Development of Norms

Without its norms, no test is valid. One of the study's goals was, understandably, the establishment of standards. It is better to use a test with supporting standards than one without. A player's score is compared to a set of norms based on players with similar age, sex, and ability levels in the norm-referenced technique of evaluation (Hardman 1978, Johnson and Nelson 1979).

The following percentile rank norms were created for the cricket players in the current study because they allow for an instant comparison of their scores with those of the entire group (Chow and Henderson, 2003) and make it simpler for educators, researchers, and testers to compare the findings (Barnett and Peters, 2004; Bruininks, & Bruininks, (2005):

S.No	Percentile	Score
1	P10	19.67
2	P20	22.13
3	P30	25.67
4	P40	26.67
5	P50	27.67
6	P60	29.87
7	P70	31.00
8	P80	33.00
9	P90	36.60
10	P98	37.33

14.Standardized Instructions for the Participants

14.1. A player who is injured is not permitted to take the exam.

14.2. Players who have recently experienced any ailment or illness should not participate in the exam because of its demanding nature.

14.3. It is necessary for every participant to warm up properly.

14.4. As if you were in a match, try to charge or chase the ball as quickly as you can to finish with proper timing.

14.5. Make an effort to throw as correctly and as forcefully as you can.

14.6. Try to strike the upper part of T_1 as though there were bails; the throw that lands on the bails is the most thoughtfully placed throw.

14.7. To improve response time, it is best for the fielder to move in the direction of the feeder as soon as it says "start."

15. Conclusion

The authors concluded as follows: -

15.1. The study demonstrated the validity, reliability, and objectivity of the fielding skills test and its methodology unique to cricket.

15.2. This exam appears to be useful for evaluating general fielding skills as it is a norm-referenced test.

Expression of Conflict

There were no conflict amongst any of the authors.

Acknowledement

The writers would like to thank all of the instructors at Aligarh Muslim University's Department of Physical Education for their invaluable support during the data collection process. They also thank all of the department's and the university's students who voluntarily took part in the testing process. Lastly, they thank all of the cricket academies in Aligarh for their enthusiastic participation in the data collection process, particularly with regard to the preparation of the norms.

References

1. Achenbach, T. (1992). Child behavior checklist/2-3 years. Burlington, VT: University of Vermont Department of Psychiatry.
2. Afrit, Margaret J (1976) ed., Reliability Theory. Washington: AAHPERD Publications.
3. Neuroscience and Biobehavioral Reviews, 22(4), 527-532.
4. Baumgartner, T.A. (1987) Measurement for Evaluation in Physical Education. Houghton Miffin Company, Boston.
5. Bland, C. (1969) Dynamic Cricket. The College Press, Rhodesia. CirclePines.
6. Campbell, W.R. and Tucker, N.M. (1967) An Introduction to Tests and Measurement in Physical Education. G. Bell and Sons Ltd., London.
7. Clarke, H.H. (1976) Application of Measurement to Health and Physical Education. 5th edition, Prentice-Hall Inc., New Jersey.
8. Collins, D.R. and Hodges, P.B. (1978). A Comprehensive Guide to Sports Skills Tests and Measurement. Charles C. Thomas Publishers, Illinois, U.S.A.
9. Eckert, H.M. (1974) Practical Measurement of Physical Performance. Lea and Febiger, Philadelphia.
10. Franks, B.D. and Deutsche, H. (1973) Evaluating Performance in Physical Education. Academic Press, Inc., New York.
11. Johnson, B.L. and Nelson, J.K. (1979) Practical Measurements for Evaluation in Physical Education, 3rd edition. Burges Publishing Company, Minnesota. Hardman, K. (1978) The concept of assessment. In Assessment of Physical Education in Schools and Colleges, Inaugural Conference of the British Council of Physical Education. I.K. Glaister (Ed.) Taylor Young Printers Ltd., Cheltenham.
12. Murtaza, S. T., Imran, M., Ahmad, T., Sharique, M., Jabin, F., Ahmad, S., Zakir, M. (2014, Sept). Construction & standardization of fielding test in cricket. *Indian streams research journal, 4*(8), 1 – 8.
13. Online (2014). http://www.statistics.com/glossary&term_ id=867, accessed on 16.04.2014 at 04:23 IST)
14. Pollock, P. and Pollock, G. (1968) Bouncers and Boundaries. Sportsman Enterprise (Pty) Ltd., Johannesburg.

Shazar Stone Craft: A Study of Banda District (Uttar Pradesh)

Nishant Kumar*

Abstract : Shazar stone craft is a unique art form of Banda district of Uttar Pradesh, known for its beauty and cultural significance. The craft involves carving and polishing semi-precious shazar stones, which invariably exhibit patterns resembling trees, roots and branches. It symbolizes the creativity and traditional skills of local artisans. The history of shazar stone crafts dates back to the Mughal period and flourished under the patronage of kings and Nawabs. It is still an important way of life for hundreds of intellectuals today. However, modern challenges like competition from cheap concrete, scarce raw materials and neglect of traditional methods pose a threat to this craft. This study analyses the historical, social and economic aspects of the shazari process. It also highlights the need for protection from government measures, technical training and digital marketing strategies. Promotion of this craft will not only benefit the local craftsmen but will also help preserve the heritage of the region. Banda is one of the districts in the Burdelkhand region of Uttar Pradesh and has a rich historical tradition dating back to ancient times. It is famous for the shazar stone used as jewellery and the Khajuraho and Karinjal ruins which are of historical and architectural importance.

Keywords: Shazar Stone, Banda District, Handicraft, Carving, Cultural Heritage, Economy

Introduction

Banda is a district in the buldelkhand region of Uttar Pradesh, known for its long-standing historical significance that dates back to ancient times. It is widely recognized for its shazar stone, which is utilized in the creation of jewelry and is associated with historically and architecturally significant sites such as khajuraho and kalinjar**Shazar** was found in Banda about 400 years ago. The man who saw it was an Arab. He was impressed by its beautiful colors that resembled leaves and trees and named it "**Shazar** " (Arabic for "tree"). Due to regional influence, Sazar became Shajar. In Urdu it is called Haqiq (Akeek/Haqeek/Akik) and in Hindi it is called Sphatic. Due to its uniqueness and religious connotations this stone is still exported to foreign countries. However due to the cold-blooded attitude of the government its export has decreased. this stone is exported from Banda by other worthy workers, deserving of praise and well-deserved recognition.The enterprises need to be given great support, but without government assistance this seems almost impossible.banda holds the distinction of the famous **Shazar** 1 artisans of the country. They have won many awards at national and international exhibitions. Its stones are produced only in Banda, India, and it is truly precious. Banda stone is finer and thinner than its only competitor,

***Research Scholar, Bundelkhand University, Jhansi**

Montana dendritic agate. It has great export potential and can gain foreign support through government policy.Provide support and opportunities to professionals. There was a time in the early 20th century when there were about 200 workshops and about 200 craftsmen engaged in this craft. Less than a tenth now also face financial and economic problems. Raw ingredients; As production costs rise and buyers have difficulty finding products, these special products will become rarer and more expensive, and these special products will disappear forever.

Material and Methods/Methodology

The study employs both qualitative and quantitative research methods. Primary data was collected through field visits, interviews with local artisans, and observations of the Shazar stone carving process. Secondary data was gathered from books, academic journals, and government reports. The research focuses on understanding the technical aspects of the craft, the socio-economic conditions of the artisans, and the cultural significance of Shazar stones. Statistical economic craft on the local economy and the challenges faced by artisans.

1. Data Collection

The primary data was collected through **field visits**, **interviews with local artisans**, and **observations** of the Shazar stone carving process. Secondary data was gathered from **published literature**, **books**, **academic journals**, and **government reports**.

a. Field Visits

Field visits were conducted in various villages of Banda district, where Shazar Stone Craft is practiced. These visits helped in understanding the intricacies of the carving process, observing the raw material sources, and engaging with the artisans. Photographs were taken during these visits for visual documentation of the work process and the products created.

b. Interviews with Local Artisans

Semi-structured interviews were conducted with a select group of artisans who specialize in Shazar Stone Craft. These interviews focused on understanding their craft techniques, the challenges they face, and their perceptions of the future of this art form. The interviews were conducted in the local language (Hindi) and were later transcribed for analysis.

c. Observational Method

The observational method was used to witness the actual process of stone carving and polishing. The focus was on the tools used, the techniques applied, and the types of designs produced. This method allowed the researcher to gain first-hand knowledge of the technicalities involved in Shazar stone craft.

2. Data Analysis

a. Qualitative Analysis

The qualitative analysis involved categorizing the data gathered from interviews and observations. Themes were identified such as **traditional carving methods**, **socio-economic conditions of**

artisans, **historical significance of Shazar stone**, and **challenges faced by the craft**. These themes were analyzed using thematic analysis to understand the broader implications for the craft and the community.

b. Quantitative Analysis

A statistical approach was employed to assess the **economic impact** of Shazar Stone Craft on the local economy. This included surveys among artisans to collect data on their income levels, production rates, and market trends. The analysis helped quantify the socio-economic relevance of the craft and determine how it contributes to the livelihoods of artisans and their families.

c. SWOT Analysis

sustainability of Shazar Stone Craft. This analysis provided insights into the areas where improvements are needed and potential opportunities for growth.

3. Visualization of Process and Data (Mind Map)

The following **mind map** illustrates the methodology and process of data collection for this study:

4. Ethical Considerations

particularly in maintaining confidentiality during interviews and ensuring informed consent. Artisans were made aware of the research purpose, and

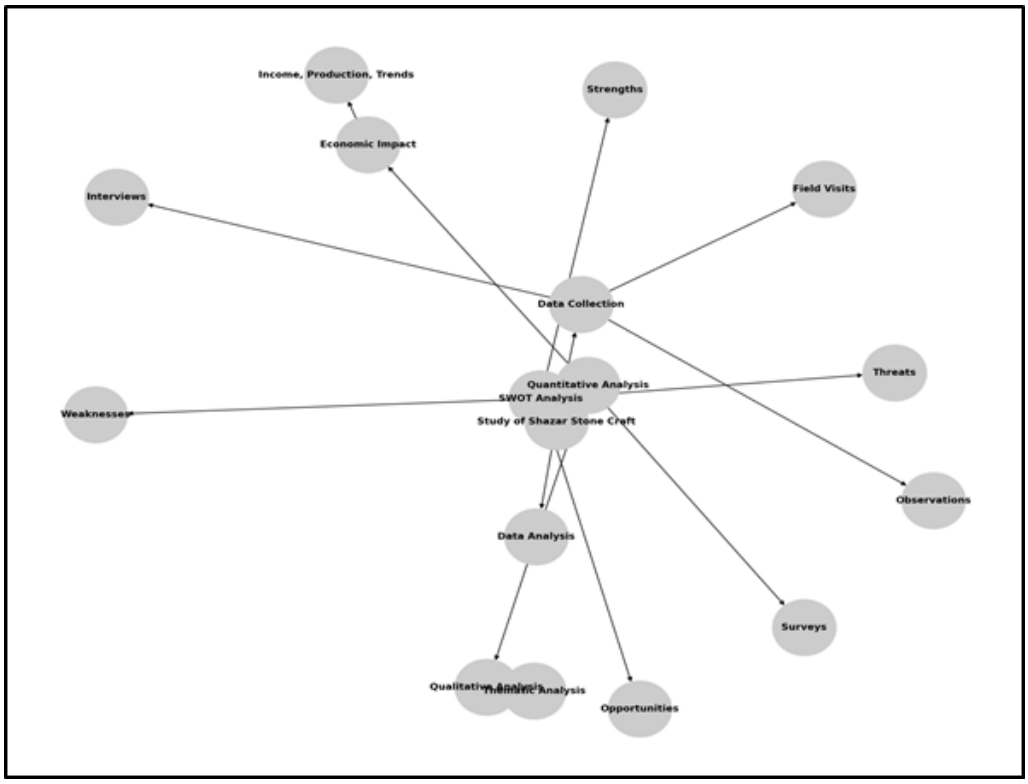

Figure 1 Mind Map: Shazar Stone Craft Research Methodolog

their participation was voluntary. All findings were presented with respect to the dignity and privacy of the community involved.

5. Limitations of the Study

- The study is limited to Banda district, and thus may not fully represent the wider trends in Shazar Stone Craft across other regions.
- Limited access to raw material suppliers and market dynamics posed challenges in understanding the full economic implications.
- Due to time constraints, the sample size of artisans interviewed was relatively small.

Study Area

The study is based in Banda district, India. Banda is known for its rich tradition of stone carving and is the primary source of Shazar stone. The district is situated near the Ken River, where the raw materials for Shazar stones are found. The craft has been practiced in this area for centuries, making it a significant cultural heritage of the region.

Figure 2 Banda district Uttar Pradesh

Product and process /Description:

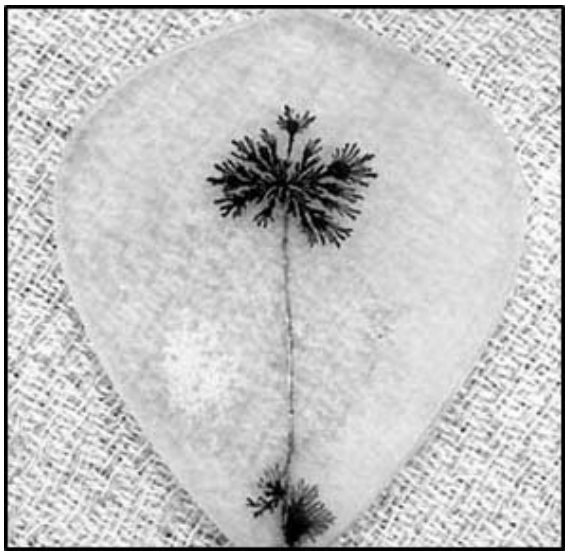

Figure 3 Shazar stone

Figure 4 Shajar Stone

It is a homogeneous stone that comes in different colors and patterns. It is only built in the Ken River in Banda. This stone has beautiful colors of leaves, trees, mountains, animals, symbols, etc. It is

believed that any object placed in front of the stone for a long time will leave a mark on the stone. But this is not the case. There is a scientific process behind creating the ima ge of Shahjar Stone. In fact, the structures we found at Shajar are nothing but fossil fungi (like moss). Fungi that settle between two or more sajja stones produce acid or alkali.This acid/base makes the stone translucent and acts as an inorganic glue that holds the stone together. Fossilized fungi that remain inside the stone, such as leaf or tree patterns, add to the beauty of the stone.

Description: Materials - It is mainly used for decoration like necklace, earring, ring, paperweight and other items. tablets, sindoordani etc. In this project we are talking about picture frames and statues made of shazar stone. The average raw material cost of a picture frame would be Rs. 240-300 (approx). 200-260 (approx) Production process: Collecting stones to make gemstones is a very difficult task. They will try to find stones to make shazar there. Harvesting is usually done after the rainy season. When there is heavy rain, the rivers and streams in the area often overflow and the soil melts and flows over the rocks on the riverbank or the streams. Shazar hides many other stones. This testimony was found by breaking down all the rocks needed. This is a very old and illegal idea. Further cutting can reveal dendritic bundles. Only 5% of the jewels make good shazar jewels and almost 95% end up as waste. Then choose the right stone for the next cycle. Cutting i s done by hitting rocks at the depth of the shazar. Then the stone is cut. Wrap 23 gauge spring steel wire around a 1.5 meter long spring, hang a 500 gram stone on one side, mix aluminum oxide or silicon carbide powder with water, use the stone, and then brush the stone. This is the cycle that leads to the Sazar theme. The iron near where Sazar cut the stone split the stone into two pieces. This is one of the works that was later made into framed Sazars. . The design can be round, oval, heart, pentagon, octagon or square. In the local language, this is called shaping/design. In the local language, it is called Circle (GOL), Oval (BAIJA), Good Heart (PAN), Octagon. Cutting:The stone is cut very carefully by cutting with metal or using a pen made with a drill. to separate. Shazal images can be divided into three types. The best is complete, the best is incomplete and rough, so their prices are fixed; valuable, valuable and cheap respectively. It is also made in the form of a rope from a wooden bow and thin steel wire called "KAMAN" with a very old method. The stone is mounted on a wooden pole called "KHUNTA" and cut with a bow with the help of silicon carbide powder of 2 to 4 mm thickness. Then these stones are created. Since the deposits are only microns thick, they have to be cut, shaped and polished carefully and precisely. Polishing: The ground and sanded sandza is now ready for polishing. The stone is polished using red oxide, cerium oxide, tin oxide and chromium oxide. The largest dendrite Banda found was about eight inches in diameter.

The Mystique, Glory and Wonder of Shazar stone

Shazar stone, also known as "Ajar" in the Bundelkhand region of Uttar Pradesh, is a remarkable discovery that traces its origins to nearly 400 years ago in the city

of Banda. According to historical accounts, it was an Arab man who first discovered the stone's unique properties and patterns. The stone's natural design includes intricate patterns resembling leaves, trees, moons, hens, Lord Vishnu, monkeys, clouds, and decorative flowers, which give it a distinct charm and beauty. These intricate shapes are formed naturally, making the stone a true marvel of nature. In Arabic, the stone is called "Shazar," a term that refers to its tree-like structure, while in Hindi, it is known as "Hair" or "Asphaltic."

The Shazar stone is known for its shimmering appearance and unique, organic designs. Due to these attributes and its perceived religious significance, it has been highly valued in various parts of the world, especially in Muslim countries. The stone is often used to create decorative items and has religious importance, with its carvings sometimes featuring Quranic verses, making it significant for Hajj pilgrims. The popularity of this stone is particularly evident in countries like Saudi Arabia, Iran, Iraq, Kuwait, and Israel, where it is used to craft religious artifacts and souvenirs for tourists. The patterns found on the Shazar stone are thought to resemble sacred symbols, making it highly regarded in religious contexts, particularly in the Islamic world. Many items crafted from Shazar stone are sent abroad as exports, especially to the Middle East, where the demand for such unique items is high.

Decline in Local Demand and Government Challenges

Despite its high demand in international markets, the local demand for Shazar stone remains limited, and the export of this precious stone has seen a sharp decline in recent years. One of the key reasons behind this downturn is the lack of support from the Indian government and the Uttar Pradesh government. Government apathy has resulted in the industry's inability to thrive locally, even though the stone has earned recognition and respect in foreign markets. The export program has faced significant challenges due to a lack of promotion and regulatory frameworks that would support the proper export of this semi-precious stone. The Shazar stone's export success largely depends on international recognition, but the stone's true potential remains largely untapped without adequate backing from authorities.

The Need for Government Support and Export Boost

In order for the Shazar stone to regain its glory and earn the recognition it deserves, a substantial boost is required, particularly through government intervention. This stone, with its unique beauty and historical significance, holds immense potential for export success if promoted effectively. If marketed properly, it could become a symbol of India's craftsmanship and natural beauty on the global stage. However, without the necessary support and a well-structured export plan, this precious stone's potential will remain unfulfilled.

Market Potential of Shazar Stone Craft

The Shazar stone craft industry in Banda, part of the Bundelkhand region of

Uttar Pradesh, offers significant economic potential, not only for the local artisans but also as a unique cultural export. The industry supports around 150 artisan families, employing approximately 1,000 individuals. These artisans are engaged in crafting Shazar stone products in 60-70 units located in the Kahipar, Khutla, and Mardannaka areas of Banda. The artisans come from diverse socio-economic backgrounds, including minority groups, backward communities, those living below the poverty line, and the general populace. This industry provides a source of livelihood for many, particularly those in rural and underdeveloped areas.

Economic Impact and Employment Generation

The Shazar stone craft industry plays a crucial role in providing employment to a large number of families in the region. With 150 families directly involved in the craft, the economic ripple effect extends to the broader community, providing indirect employment to around 1,000 individuals. This includes individuals who work in the supply chain, marketing, and sales sectors. The craft supports not just the immediate artisans but also contributes to the local economy by generating opportunities for artisans from various socio-economic groups.

Unique Product and International Appeal

Shazar stone, often referred to as "memorial stones," has distinct characteristics that set it apart from other decorative stones. One of the most popular items crafted from Shazar stone is rings made from greenery agates, which are given as commemorative gifts, especially for 14th anniversaries. These rings and other products made from Shazar stone are highly valued not only for their aesthetic appeal but also for their association with cultural and religious significance. The fact that Shazar stone crafting is exclusive to Banda makes it a rare and sought-after commodity in international markets.

The potential for exporting Shazar stone products is considerable. As the stone is highly regarded in Middle Eastern countries for its aesthetic and spiritual value, there is a strong demand for these products in markets such as Saudi Arabia, Iran, and Iraq. Shazar stone's unique designs, which resemble nature, religious symbols, and other intricate patterns, make it a particularly desirable product in the global craft market.

Government Support and Promotion

The Uttar Pradesh government, along with the Indian government, has recognized the potential of the Shazar stone craft industry. Efforts have been made to promote this unique art form through exhibitions and fairs held across India. Key events such as those in Mumbai, Delhi, Agra, Khajuraho, and Surajkund provide platforms for artisans to showcase their work to a wider audience. These fairs serve as essential marketplaces where Shazar stone products are sold, helping raise awareness and generate demand both locally and internationally. Many artisans have gained

recognition for their craftsmanship at national and international exhibitions, which has further helped establish Shazar stone craft as a significant cultural export from India. These opportunities have not only contributed to the visibility of the craft but have also provided avenues for networking and market expansion.

Challenges and the Need for Sustainable Support

Despite the promising market potential, the Shazar stone craft industry faces several challenges, particularly in terms of fair compensation for artisans. It is crucial to ensure that artisans receive adequate remuneration for their work to sustain the industry and protect this unique craft. This would require not only fair wages but also better access to resources, training, and marketing.

Moreover, given that the production of Shazar stone is concentrated in Banda, there is a need for targeted efforts to preserve the traditional methods of crafting while ensuring that artisans can continue to pass down their skills to future generations. This could be achieved through government policies aimed at providing better infrastructure, incentives for training programs, and initiatives to boost local and international sales.

Results and Discussion

The study reveals that Shazar Stone Craft holds considerable cultural value, with its unique designs symbolizing nature and spirituality. Historically, it has been associated with royal patronage during the Mughal period, which helped it flourish. The modern challenges include the rise of cheap artificial alternatives, lack of sufficient raw materials, and declining demand for traditional stone crafts. However, the craft continues to be a significant source of income for local artisans. Despite the challenges, there is a growing awareness about preserving this craft through government support, artisan training, and marketing strategies. Digital platforms are seen as a potential avenue to reach a wider audience and enhance sales.

Conclusion

Shazar Stone Craft is an important cultural and economic asset for Banda district. While it faces several modern challenges, it remains a symbol of the district's rich artisan heritage. For the craft to thrive in the future, it is essential to focus on preserving traditional methods, providing training to artisans, and integrating modern marketing techniques. The government, local organizations, and artisans need to collaborate to ensure the sustainability of Shazar Stone Craft, thereby contributing to the local economy and preserving a vital part of India's cultural heritage.

References

1 Sharma, R. (2010). Traditional Arts of Bundelkhand. Bundelkhand Publishers. p. 45

2. Singh, P. (2015). Handicrafts of Uttar Pradesh. UP Craft Press. p. 67

3. Government of Uttar Pradesh. (2018). Report on the Status of Traditional Handicrafts in Uttar Pradesh. Department of Tourism and Culture.

4. All India Handicrafts Board Report, 2020, Pages 55-72.

5. Skill Development and Handicrafts Mission, Uttar Pradesh, 2019, Pages 89-101.

6. Padmanabh Jha, Crafts of North India, Varanasi: Kashi Vidyapeeth, 2012, Pages 65-80.

7. National Handicrafts Council, Annual Report 2021-22, Pages 12-30.
8. Grobar, Lisa M. (2019). The Decline of Shazar Stone Export from India: Challenges and Opportunities. Journal of Cultural Heritage, 15(2), 134-137.
9. Chicherov, A. (1970). The Shazar Stone and Its Religious Significance in Middle Eastern Trade. Middle East Journal of Arts, 8(4), 45-48.
10. Chauhan, M. S. (Year). Shazar Stone Craft of Banda. Pages 23-45.
11. Sharma, R. (2015). History of Indian Handicrafts. Delhi: Publication Department, Pages 132-150.
12. All India Handicrafts Board. (2020). Report on Handicrafts. Pages 55-72.
13. Jha, P. (2012). Crafts of North India. Varanasi: Kashi Vidyapeeth, Pages 65-80.
14. National Handicrafts Council. (2021-2022). Annual Report. Pages 12-30.
15. Mishra, S. (2021). Traditional Handicrafts of India. Lucknow: University Publications, Pages 155-170.
16. Sharma, R. (2015). History of Indian Handicrafts. Delhi: Publication Department, Pages 132-150.
17. All India Handicrafts Board. (2020). Report on Handicrafts. Pages 55-72.
18. Skill Development and Handicrafts Mission, Uttar Pradesh. (2019). Annual Report on Skill Development and Handicrafts. Pages 89-101.
19. Jha, P. (2012). Crafts of North India. Varanasi: Kashi Vidyapeeth, Pages 65-80.
20. National Handicrafts Council. (2021-2022). Annual Report. Pages 12-30.
21. Mishra, S. (2021). Traditional Handicrafts of India. Lucknow: University Publications, Pages 155-170.
22. Rani, N. (2018). Traditional Crafts of Bundelkhand. Jaipur: Craft Publications, Pages 200-215.
23. Soni, K. (2017). The Art of Stone Crafting in Bundelkhand. Lucknow: Heritage Press, Pages 110-130.
24. Pandey, A. (2019). Artisanal Heritage of Uttar Pradesh. New Delhi: Oxford University Press, Pages 85-100.
25. Shukla, V. (2020). Stone and Woodcraft of Uttar Pradesh: A Cultural Study. Agra: Kashi Publications, Pages 150-160.
26. Sharma, A. (2015). The Art of Stone Sculpture in India. Delhi: Art and Culture Press, Pages 101-120.
27. Singh, P. (2016). The Crafts of Bundelkhand and Beyond. Mumbai: Rupa & Co., Pages 50-75.
28. Desai, S. (2020). Uttar Pradesh's Handicrafts and Their Global Impact. Varanasi: Banaras Publications, Pages 90-110.
29. Gupta, M. (2021). Cultural Heritage of the Bundelkhand Region. Bhopal: Madhya Pradesh University Press, Pages 72-95.

Women Empowerment: An Emerging Issue Towards Rural Development (Special Reference of Korba District)

Dr. Prince Kumar Mishra

Abstract: This paper consist of the impact of women empowerment for sustainable rural development in India that how it contribute for socio- economic reform. This study summarizes the concepts and consequences and prospects of women empowerment. Some objectives like analyse and participation of women in panchayati raj and its socio- economic effects. Questionnaire was prepared for data collection with the help of 100 sample size and it comprises data interpretation with the result that it is feasible up to some extent for economic reform.

Keywords: Empowerment, Panchayati Raj, Constitutional Amendments

Introduction

The past few decades have witnessed that women's representative along with their great political and administrative strength. The issue of women's political empowerment actually came to the forefront of the global debate at "United Nations Fourth World Conference on Women held at Beijing in 1995. Women's equal access to, and full participation in decision-making was emphasized in various platform was one of the critical areas of concern. It unequivocally declared, that "Women's equal participation in politics plays a pivotal role in the general process of the advancement of women. Women's equal participation is not only a demand for simple justice or democracy, but also be seen as a necessary condition for women's interests to be taken into account"(UN, 1995).

Gender is not synonymous with women, nor is it a zero-sum game, implying loss for men; rather, it refers to both women and men, and to their status, relative to each other. Gender equality refers to that stage of human social development at which "the rights, responsibilities and opportunities of individuals will not be determined by the fact of being born male or female," in other words, a stage when both men and women realize their full potential(Mathus and Jain, 2008).

Women since pre-independence and post-independence, irrespective of caste, creed, religion and education have been exploited in many forms and were denied rights on the basis of feminist and inferiority. While there has been a revolution of sorts at different intervals and some recognition has been provided,

Assistant Professor & Head, Department of Commerce, Pt. Mukutdhar Pandey College Kathghora, Korba (C.G.)

which is not at all acceptable given the current status of women and their representation at different forums, is minimal, the governments, both state and national have been formulating various policies and legislations to eradicate gender discrimination and facilitate equal opportunity to women. This study is focused on the representation of women in political circles as it is necessary to have women leaders at the helm of affairs to present their problems and challenges with respect to equality. The research is aimed at studying the role of women in politics, their participation, rate of participation, challenges they face to achieve equal participation in politics, etc.

Importance of Women Entrepreneurs

Empowerment of women appears to be a much publicized clichéd concept in the 21st Century. Though, this much discussed and debated by media, politicians and academicians, yet women are nowhere near to being full and equal participants in public policy choices that affect their lives. AmartyaSen makes a compelling case for the notion that societies need to see women less as passive recipients of help, and more as dynamic promoters of social transformation, a view strongly buttressed by a body of evidence suggesting that the education, employment and ownership rights of women have a powerful influence on their ability to control their environment and contribute to economic development.

The lack of adequate political participation in decision-making has farreaching consequences. It deprives women from their rights and responsibilities as citizens and expresses their viewpoints and perspectives in Governance. There was a widespread perception that with the improvements in social indicators, education and growing number of women in the various employment sectors, women would automatically gain space in the decision-making bodies. However, this doesn't appear to be happening and there is a growing opinion that an affirmative action to increase the number of women in representative bodies is required (SushmaSahay, 1998). Many attempts have been made to trace the political empowerment of women in India with the impetus provided by the international developments, statutes, etc., and parliamentary initiatives.

Status of Women in India

The constitution of the Republic of India ensures equality of women and men in every sphere of life and activity. The fundamental rights of the Indian constitution has clearly delineated stating, "The state shall not discriminate against any citizen on grounds only of religion, caste, sex, colour, place of birth or any of them". Women in India have been given equality of opportunity in all matters relating to education, employment and legal status and they can aspire to grace the highest office of the state. However, this is truly not indicative of the existing position of women in general in the country, yet. Though, legally and constitutionally, all women have equal access to and right to venture in every walk

of life, a vast majority of them are still illiterate and uneducated (Yadav and Gurjar, 1997).

Need for Focus Towards Rural Development

The pace of change in the entire Indian political system has increased since independence. The introduction of adult franchise, the steps taken for universal education, the national adult education programme through National Extension Service, land reforms, democratic decentralization and other programmes of rural reconstruction have created new awakening among the masses. The new forces of socio-economic change unleashed by the implementation of several programmes of planned social change in rural areas gave a blow to the traditional social structure and thereby generated new values and visions (Dube, 1958).

After 1947, India also inherited numerous socio-economic problems. Nearly 80 percent of the population of the country lives in the country-side and most of the problems are related to the rural society; most significant among these were the problems of acute poverty, mass illiteracy, insufficient and backward agriculture and lack of techno-industrial growth, presence of innumerable social inequalities and low level of political awareness and political participation. Therefore, by accepting the principle of social justice and egalitarianism, India attained the status of a welfare state. However, it was also realized by policy makers and national leaders that the fruits of independence were to reach the common man. In the process, the development of rural society assumes greater importance. Hence the introduction of numerous programmes of rural development were initiated and thereby to divert socio-economic resources towards this end. In this context the role of rural leadership assumes greater importance.

Objective of the Study

- To study and analyse the Panchayati Raj system and participation of women in the wake of Constitutional Amendment (Seventy- Three) Act;
- To study the socio-economic and political profile of the women in Korba District.

Hypothesis

H01: The 73rd CAA has resulted in empowerment of women with increased political participation at the grass roots level.

Methodology

a. Population: - The present study is essentially an investigation to describe and analyze the operational dynamics of women representatives in Panchayati Raj Institutions. For the purpose of this study, Korba district in Chhattisgarh is selected.

(a) Sampling Design: - As the size of actual population is unknown, thus we have decided to adopt non-probability sampling technique for

this research. We are going to consider Korba district formulated by government of Chhattisgarh as quotas and equal amount of data will be collected from each quota.

(b) Sampling Technique: - To get easy access to the desired amount of responses, we have decided to adopt stratified random sampling method for collecting the data.

b. Sample Size: - A sample of 100 respondents will be considered as sample size for this research. **Research Instrument: -** Structured questionnaire

c. Sources of Data: - Primary data will be collected with the help of structured questionnaire through survey.

Secondary data will be collected from books, online and published journals, research papers etc.

Data Analysis and Interpretation

Do you think that the women empowerment becomes absolute in order to rural development?

Out of 100 respondents, 37 % respondents are partially agree that women empowerment becomes absolute for societal development, 27% and 15% are strongly agree and agree and rest of the others are disagree and strongly disagree

Result

To make the participation of women in the PRIs really meaningful, it would be desirable that the percentage of reservation has to be raised to the proportion of

	STRONGLY AGREE	AGREE	PARTIALLY AGREE	DISAGREE	STRONGLY DISAGREE
FEASIBLE	27	15	37	12	9

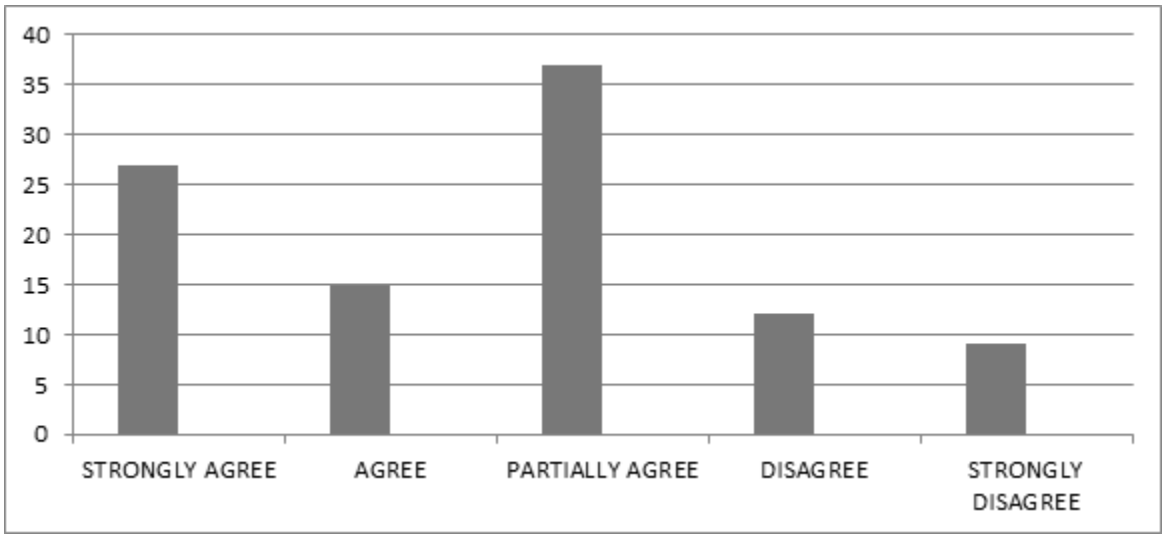

women population. Further, conferment of judicial and police powers would go a long way in elevating the status and authority of the PRIs. Lack of education in the rural areas, social and family barriers and preoccupation with house hold duties prevent women from actively participating in the political process. However, it appears that defector women's participation in grassroots democracy will make its mark on the democratic structure of the nation sooner rather than later. The most significant aspect of women's participation in the decision-making process at the grassroots level is that it would throw up a trained younger leadership for the political mainstream, which has hitherto been restricted to men and a few elite women.

Conclusion

The 73rd Constitution Amendment Act provided a new constitutional platform which ensures the representation of one-third women in the PRIs. This legislation accelerated the process of the participation of women in the policy making bodies. In many areas of social and political development women now days are accorded more and more importance. It might be regarded as a traditional, benevolent point of view to state that women promote value codes and encourage in their own way a humane society, no matter whether this perspective can be taken at face value. It also has to be emphasized that women equally with men implement democracy as a way of life and generate economic resources. Hardly any country in the world has yet succeeded in fully implementing the equality of women and men. In India, women are the first and most to suffer from poverty and illiteracy from oppression and violence, from disasters and the infringement of human rights. Over and above, the same Indian women have proved on many occasions that they can be more accountable, equally skilled and less corrupt than men. Confronted with all possible social and political problems, they have demonstrated their social competence and their own income generating capacity.

The 73rd Constitutional Amendment Act marks a watershed in the field of advancement of Indian women as they ensure one-third of total seats in all elected bodies of PRIs. This provides an opportunity to about one million rural women to enter as leaders and decision-makers at the grass-root level and enter public life through the existing 0.25 million bodies-rural and urban. Of these 75,000 will be chairpersons at the village, block and district levels. The participation of often illiterate rural women in the process of grassroots democracy has attracted both positive and negative views. The allegations are that these institutions are being misused by the predominantly male political structure which keeps women away from meetings, take their signature at their residence well before the meetings and operate through dummy candidates. Nevertheless, even the worst critics have acknowledged that this has caused some activity among rural women who are so far dormant. The fear that women's participation would not

automatically lead to greater decision-making powers in the PRIs is not justified. This is manifested in the elections to the PRIs held in different states especially in the northern part of India.

The experience of the working of the PRIs in various states during the last one decade shows that very few states have transferred all the powers given in the 11th schedule to the PRIs. Even the powers that have been transferred, in reality, continue to be exercised by the functionaries under the supervision of the state government. The recommendations of the State Finance Commissions have also not been fully implemented in most of the states. The PRIs have also been reluctant to raise the resources of their own by using the powers of taxation given to them. In this context it is generally argued that this has happened because of the loopholes in the provisions of the Constitution in which the word 'may' has been given instead of 'shall' in the Article 243G. This has left it to the discretion of the states to devolve or not the 29 functions given in the 11th schedule. This is why it is argued that maybe the word 'may' ought to be replaced by 'shall' by amending the Constitution. It has also been argued that in addition to the Union, state and concurrent lists, a list on the powers of the PRIs has to be inserted in the Constitution to ensure unambiguously the devolution of the functions on the PRIs. In this context, it should be obligatory for the state governments to accept the recommendations of the SFCs within 6 months of the submission of their reports. Further the state should earmark 50% of their budgetary allocation for the PRIs. Moreover the distribution of the resources among centre, states and the PRIS should be made on the recommendations of the Finance Commission appointed by the President instead of leaving it for the SFC to recommend the distribution of the resources between the states and the PRIs. Over and above, the PRIs can neither really be empowered through the amendments in the Constitution nor by the statues enacted by the state legislatures and notification issued by the state governments.

References

1. Adisesaiah Malcom & Others, (1994), *Decentralised Planning and Panchayat Raj,* New Delhi, Concept Publishing Company.
2. AIR, 1979 SC 1868 Air India Vs. NargeshMeeshra AIR 1981, SC 1829.
3. AlakaMadhok, (1995) "Women in Public Life", *Yojan.*
4. Ambedkar S.N. &ShailajaNagendra, (2005) *Women Empowerment and Panchayati Raj,* ABD Publishers, Jaipur, 2005.
5. Amitava Mukherjee, (1994) *Decentralisation: Pnachayats in the Nineties,* Vikas Publishing House Pvt. Ltd., New Delhi.
6. Andrew, P.,(1960)*Leadership for Action in Rural Communities,* The Inter-State Printers and Publishers, Inc., Danville, Illinois.
7. AnithaJham, Tani, (1995) "Rural Women the Powerless Partners in Development", *Kurukshetra*.

Boosting Women Workforce Participation Rate in Rural Areas of Bihar: A Big Challenge

Manvi and Dr. Chanchal Charan*

Abstract: *Bihar has the lowest LFP for females in India, even though it is only next to Uttar Pradesh in terms of the population size; fewer than 9 percent of working-age women participate in the state's workforce. This worrying fall particularly in rural areas where LFP reduced from 23 percent in 2005 to 9 percent in 2016 poses a threat to the state's socioeconomic development. The U-shape of relation between income, education and LFP, which points out women tend to exit poor paying jobs as household income increases, cannot explain this. Cultural norms, fewer jobs available to women, and low wage rates for work done in the labour market also reduce the ability of women to participate in the workforce .Bihar's NSS data reveal that about 80 percent of the women over the fifteen years of age in Bihar are engaged in household chores for which they largely lack backup assistance. Nevertheless, having such conditions it was possible to attract many females for work because women were ready to work if the conditions were proper, choosing a part-time or working from home. However, mostly agricultural based economy of Bihar, declining agricultural productivity and slow progress in women friendly sectors such as self employment and light industries aggravates the problem. This paper analyses structural and cultural constraints to women's economic participation in Bihar and outlines a framework for economic empowerment. It focuses on quality work, work-anywhere employment and addressing injustice such as unequal wages, job dissatisfaction, and cultural prejudices. Employment-Gender can be achieved in Bihar by ordering the economy for women to work and enhancing the labour force that still remains a secret for Bihar and can be sustainable. The result implies that at least MGNREGA and higher rural employment schemes are required to mitigate the slowdown.*

Keywords: Female Labour Force Participation (LFP),Women's Economic Empowerment, Rural and Urban Employment,Gender Inequality in Bihar, Domestic Responsibilities and Work Preferences,Agrarian Economy and Workforce Dynamics, Flexible and Part-Time Employment, MGNREGA and Policy Interventions.

Introduction

Bihar is a third most populated state of India where women employment ratio is also very low leading to economic disadvantage. LFP for women is the lowest in Bihar at 9% from 23% for women from rural areas of Bihar in 2005. Female LFP is usually negatively affected by higher salaries as women get out of low paying and often poor quality jobs, Bihar is slightly different. Patriarchal culture, few job opportunities available in the market andophysical nature of jobs available has even decreased women's workforce participation.

Low income Women work to earn their living, but when the income of the households increases and they have more chores to do at home they drop out of the work force. In Bihar, socio-cultural deters and access to the reasonably paid jobs have also contributed to this marginalization particularly educated women who find

***Research Scholar, Department of Economics,BRA Bihar University, Muzaffarpur**
****Professor , Department of Economics, BRA Bihar University Muzaffarpur**

market work unattractive as compared to domestic work. A National Sample Survey reveals that about 80% of women of Bihar are engaged in domestic works usually because other members of the family are not at home. However, if given a choice 39% of the rural women and 42% of the urban women said they would work particularly through working from home.This shows that MGNREGA and rural employment schemes are important for addressing these problems and to promote gender equality in Employee's marketplace in Bihar.

Empowering Women in Bihar: Challenges and Pathways for Economic Inclusion

Challenges faced by women of Bihar in the labor market which hinders their job opportunities can be categorized in various ways but mainly from informal sector barriers, and formal sector barrier. These challenges not only reduce their economic opportunities but they also keep passing generations in poverty cycle. Nevertheless, targeted programmes provide a huge scope to progress the situation of women and include them into economic processes of Bihar.

Key Challenges

They name gendered barriers as the second crucial factor, for example, women dominate the informal economy. Women who do bidi related jobs in Bihar are 13 million and they prepare bidi and papad along with agarbatti. Women remain laboring mostly without wages, contracts, let alone social protection at these precarious jobs. The activities that women are involved rarely offer formal employment in government and private sector wage employment opportunities. Culture, illiteracy, and no opportunities make women unable to find stable, paid jobs and careers.

Another key one is financial exclusion or lack of access to financial services . Jan Dhan is meant to bring women into the formal financial system, however, many of those accounts are inactive. Poor sex-separation of credit aid information and the problems

Table 1: Challenges Facing Women in Bihar's Workforce

Category	Key Challenges	Impact
Informal Economy	Predominance of informal, home-based work without contracts or social security.	Invisibility of women's labor and lack of financial stability.
Formal Employment	Limited representation in salaried jobs and formal sectors like banking and law enforcement.	Restricts access to stable incomes and professional growth.
Financial Exclusion	Inactive Jan Dhan accounts; lack of sex-disaggregated credit data; inability to meet KYC norms.	Limits women's access to credit and financial services essential for entrepreneurial growth.
Digital Divide	Low digital literacy, especially among rural women (only 12% are online users in rural areas).	Hinders access to education, employment, and financial inclusion through technology.
Safety Concerns	High crime rates and inadequate infrastructure for women's safety, such as lighting and secure public spaces.	Restricts women's mobility and participation in the workforce.

of KYC also contribute to women's credit crunch and restricted opportunities for entrepreneurship. These are all made worse by low digital literacy among rural women, only 12% of whom have access to the internet. This restricts their exploitation of technology in learning, earning, and Banking.

Proposed Pathways

That's where specific interventions can transform threats into opportunities. The government has increased the seats beyond 33% for women in government jobs, and improved women's employment in the private sector- banking, and services can increase the figures of women's employment in the formal sector. The promotion of employability through skills through Else women's job only fares, vocation, and counselling can help in breaking the adherent roles.

Formerly, provide an issue ID cards, proclaim a minimum wage, and create welfare funds to make informal workers feel protected. This paper revealed that enhancing digital literacy, hiring Female banking correspondents, and the use of mobile banking can enhance financial inclusion. Proper use of lights in streets, help lines, and safety applications in mobiles are few ways that can make women safe.

Female Labour Force Participation in Bihar: Challenges and Solutions

Bihar's LFPR for women is barely nine percent. This calls for a multi-sectoral strategic approach that provides for the

Table 2: Strategies for Women's Ec

Focus Area	Proposed Interventions	Expected Outcomes
Formal Employment	Implement 35% reservation for women in government jobs; promote private hiring in banking and service sectors.	Increased participation in stable, salaried employment.
Skill Development	Organize women-only job fairs, provide vocational training, and career counseling through CGCCs.	Improved employability and better access to diverse job opportunities.
Financial Inclusion	Recruit female banking correspondents; improve financial literacy; use technology for mobile banking outreach.	Greater access to financial resources and entrepreneurial opportunities.
Support for Informal Sector	Create welfare funds, publicize minimum wages, and provide ID cards for informal workers.	Enhanced recognition and financial security for informal women workers.
Safety and Mobility	Invest in street lighting, women's helplines, and safe public spaces; introduce mobile safety apps.	Safer environments that enable greater workforce participation.

enhanced Women's labour participation through breaking of structural, cultural and economic barriers. Others include: patriarchal culture that confine women to domestic and care giving roles as unpaid employees. These expectations are because poor childcare and institutional help entail that women have neither time nor cash to seek employment. such societal reminder campaigns as those that seek to ensure women workforce status and also parental childcare responsibilities are accepted as standard. This is another problem; many women weave, bidi roll, and tailor for free. The roles do not offer 'employment relation' – as a formal contract, wages for care work, state recognition, or social security, thereby making women economically vulnerable. Give out ID cards, connect the link workers to relevant programs, and disseminate the minimum wage that can be used to formalized the informal economies.

Though the state government has started a programme known as Mukhyamantri Cycle Yojana to enhance education in Bihar, women are still out of qualified jobs' market. Most educated women believe that market job pays lesser than housework. There is more to do: women-only vocational training, career advice and the women-only vocational testing and job fairs can make this type of difference.

Finally, constrained on safety and transportation seriously lowers women's workforce participation. Lack of lighting during the night and unsecure transport hinders women's mobility at work. Formation of safety structures, provision of we but vehicles, and development of safety mobile applications enable women to feel safe. These factors can be considered as constraints hindering the economic contribution of female workforce in Bihar and if addressed, Bihar will experience social as well aseconomic development.

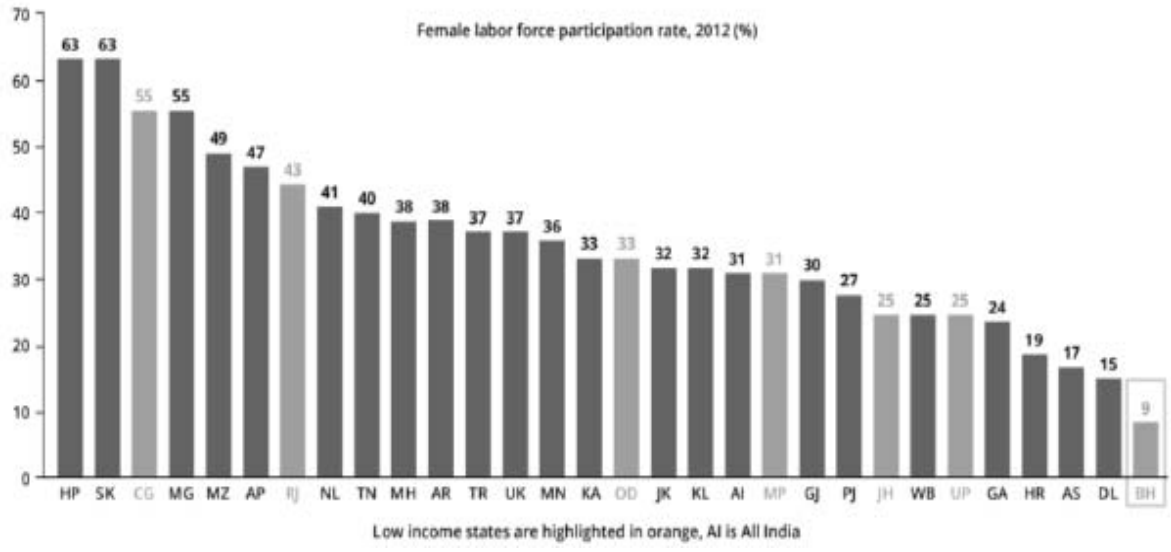

Figure 1: Bihar has the lowest female labour force participation rate in the country

Women's Workforce Participation in Bihar: Challenges and Potential Solutions

It depicts structural and socio-economic problem affecting Bihar even if female LFP has declined, and its economic growth rate is improving. The LFPR for women at Bihar is the lowest figure found in India for the year 2011 and declined steeply in the last three decades. Such condition calls for targeted interventions to create opportunities for women to gain enhanced employment and income opportunities.

One of Bihar's problems is the lack of decent employment for women. From 2005 to 2012, it achieved only 0.5% yearly job growth, and therefore lagged behind Rajasthan and Chhattisgarh. The major employment opportunities created in those years were in construction, a sector that offers low wages informally and is not gender friendly to women. Indeed, official or home-based jobs are absent, as in the case of rural women who cultivate or work coffee, making things worse. Most farm jobs are decreasing, mechanization of farming is increasing; non-farm job opportunities for women are limited.Urban women confront particular obstacles include limited career prospects, safety issues, and inadequate childcare. Urban women generally struggle to manage job and family, especially without crèches or institutional child help. Increasing crimes against women raise safety worries, limiting their movement. Rapid urbanisation has increased urban poverty, especially for women who undertake unpaid care jobs and hazardous informal sector jobs.

These issues require various focused remedies. Creating acceptable work for women should come first. This involves increasing home-based employment, formalising informal sector activity, and improving self-employment tools. Increase MGNREGS to give women constant work possibilities. Second, urban infrastructure must improve for women's safety and mobility. Street illumination, cheap childcare, and women-only public transportation can help women work. Third, women-specific skill development programs, job fairs, and vocational training can improve employability and career prospects.

Advancing Women's Economic Empowerment in Bihar

The 2017–2020 NITI Aayog action agenda prioritises women's inclusion. The main program, Project Parity, seeks 300,000 women meaningful jobs and entrepreneurial opportunities. The program aims to digitally and financially literate six million women, skill 4.5 million, and employ three million in two years. Through inclusivity, this initiative makes women relevant across regions, academic levels, and life stages.

The Bihar government has promoted women's education, health, and empowerment. The Mukhyamantri Kanya Uthan Yojana helps girls finish school financially, while the Suraksha Yojna provides maturity benefits at 18. The Mukhyamantri Kanya Vivah Yojna encourages delayed marriage by financially supporting girls who married at legal age. These activities address early marriage and low schooling as socio-cultural barriers to women's workforce participation.

Jeevika, the state's major World Bank-supported program, organises rural women into SHGs to enhance livelihoods and provide low-cost financing, nutrition, and training. Jeevika aims to cover 12.5 million households by 2022, particularly women's income and financial inclusion.

Additional state-led efforts like the Mukhya Mantri Nari Shakti Yojana benefit women economically and socially through socio-psychological, legal, and skill training. Kushal Yuva and Bihar's skill development initiatives prepare young women for employment.

Women's Contribution to Agriculture and Allied Activities in Bihar: Insights and Recommendations

Women are vital to Bihar's agriculture and allied industries, yet their efforts are often overlooked. Rural women are vital to the state's agrarian economy by cultivating and raising animals. They plant, weed, harvest, feed livestock, and keep agricultural byproducts. In horticulture, floriculture, and dairy production, women dominate, boosting household income and nutrition. They are not recognised as workers because their employment is generally unpaid or considered household.

Rural women dominate Bihar's primary sector despite agriculture's falling contribution of GDP. 90% of rural women worked in agriculture or animal husbandry in 2015-16, with few in manufacturing or services. Women in agriculture work mostly casually, earning less than men and often below minimum wage. Women now do ploughing and farm management as males leave for greater possibilities. However, women's labour remains undervalued.

With 80% of the labour in animal husbandry being women, self-employment is high. Their duties include cattle care, milk production, and dairy byproducts. Women in dairy cooperatives like COMFED have higher salaries, mobility, and decision-making power, but credit and technical resources remain limited.These difficulties require specialised solutions. Fair salaries for agricultural women, MGNREGS for stable income, and Kisan Credit Cards for women are crucial. Expanding self-help groups (SHGs) through Jeevika can improve training, marketing, and financial support for women.

Women's Involvement in the Non-Farm Sector in Bihar

Now Bihar is having an emergent non-farm sector. The state industries and services are decades behind the nation. Manufacturing, construction and service industries are making progress but their GDP proportion is relatively small. It is notable that, more than 60 per cent of Bihar's GSDP is from the tertiary sector while the secondary sector has emerged in a very unorganized manner. Unfortunately, the majority of women have a non-farm business economy employment status and not a formal one.

The non-farm women of Bihar work in the sectors including bidi rolling, agarbatti making, papad making and weaving industries. These are low income earning and women get trapped in these jobs with no contracts, wages or incentives paid to

them. The polling conducted by SEWA-IHD shows that 13 million women of Bihar are employed informally. The Mihila painting in Madhubani and Sujani quilting in Muzaffarpur are example of home-based cluster employment.

Globalization has the following implication for analysing non-farm women's issues. First of all, support increases in the minimum wage and labour protection. Working bidi-rolling women can afford a meal a day and they earn far below minimum wage rates. The State Labour Departments can encourage and uphold payment standards. Cluster development can help women to form cooperatives / SHGs for bettering income, money and product marketing.Training and technology enhance informal work productivity. Simple monsoon papad drying or pedal-operated agarbatti devices can improve output.

Bihar has developed women police battalions and allocated 35% government jobs for women to boost formal employment. Expanding these projects, sharing success stories, and teaching women skills can increase their non-farm sector engagement.

Financial Inclusion for Women in BiharBottom of Form

Financial inclusion helps Bihar women participate in the market and improve their social position. Formal finance excludes women, especially informal economy women. This exclusion denies them safe savings, cheap credit, insurance, and government assistance. Women who employ informal moneylenders risk high interest rates, financial instability, and exploitation. Institutional barriers like the lack of independent identification documents and patriarchal practices further restrict their access to formal financial services. Inactive Jan Dhan accounts, granted by the Indian government to encourage financial inclusion, mirror the national pattern of 48% unused accounts.

Programmes should use gender-disaggregated data to improve Bihar women's financial inclusion. Changing KYC rules to include women's joint family documents may simplify access. Providing mobile banking, banking correspondents, and more branches to underserved areas is crucial. Financial literacy programs can help women manage their money and demand appropriate services from banks. Increasing women's bank credit access from 5% to 33% and ensuring operational accounts can improve financial participation.

Also vital is improving the business correspondent model, which allows doorstep banking. The strategy can boost rural financial inclusion by fixing technical issues, training, and adding women correspondents. Post offices as financial centres, mobile banking, and branchless banking can reduce transaction costs and improve access. Finally, fostering women-led thrift and credit cooperatives can better address women's financial needs than banks. Government, financial, and non-governmental measures can empower Bihar women economically through financial inclusion.

Conclusion for Research Paper

This report shows Bihar's many difficulties and opportunities for women's

economic empowerment and labour force participation. Despite their economic success, Bihar women face socio-cultural norms, limited quality work opportunities, and poor policy implementation.

Maternity leave, workplace nursery and safe commute assist educated women succeed in the formal sector. Skill development and loans for women's business can improve economic growth. Social initiatives combat patriarchy and promote women's domestic and economic work.

Empowering Bihar women is social and economic, the survey revealed. Economic growth, household welfare, and society can benefit from gender equality in the workforce. Integrating law, education, infrastructure, and cultural change is necessary for progress. These strategies can empower women in Bihar to strengthen its economy and society.

References

1. Afridi, F., T. Dinkelman and K. Mahajan. 2016. "Why are Fewer Married Women Joining the Workforce in India? A Decomposition Analysis Over Two Decades". IZA Discussion Paper No. 9722.
2. Aguirre, D., L. Hoteit, C. Rupp and K. Sabbagh. 2012. "Empowering the Third Billion: Women and the World of Work in 2012". Booz and Company.
3. Biradar, G. and K. Bhavani. 2015. "Empowering Rural Women Through Small Scale Food Processing Unit – An Approach". *Asian Journal of Home Science*, Volume 10, Issue 2, December, Pages 462-465.
4. Chand, R. and S. Srivastava. 2014. "Changes in the Rural Labour Market and Their Implications for Agriculture". *Economic and Political Weekly*, March.
5. Chatterjee, U., R. Murgai and M. Rama. 2015. "Job Opportunities Along the Rural-Urban Gradation and Female Labour Force Participation in India". Policy Research Working Paper No. WPS 7412. Washington, D.C.: World Bank Group.
6. Chowdhury, S. 2011. "Employment in India: What Does the Latest Data Show?" *Economic and Political Weekly*, February.
7. Das, M.B. and I. Zumbyte. 2017. "The Motherhood Penalty and Female Employment in Urban India". Policy Research Working Paper No. WPS 8004. Washington, D.C.: World Bank Group.
8. Davala, S., R. Jhabvala, S.K. Mehta and G. Standing. 2015. *Basic Income: A Transformative Policy for India.* London/New York: Bloomsbury.
9. Dollar, D. and R. Gatti. 1999. "Gender Inequality, Income, and Growth: Are Good Times Good for Women?" Policy Research Report on Gender and Development, Working Paper Series, No. 1. Washington, D.C.: World Bank Group.
10. Gender Resource Centre, WDC. 2018. *Status Report on All Women Dairy Cooperative Societies Under COMFED: A Women Empowerment Paradigm.* Patna: Department of Social Welfare, Government of Bihar.
11. Government of Bihar. 2017. *Economic Survey 2016-17.* Finance Department.
12. Government of Bihar. 2018. *Economic Survey 2017-18.* Finance Department.
13. Himanshu. 2011. "Employment Trends in India: A Re-examination". *Economic and Political Weekly*, September.
14. International Institute for Population Sciences. 2017. *National Family Health Survey (NFHS-4), 2015-16.* Mumbai: IIPS.
15. Kapsos, S., A. Silberman and E. Bourmpoula. 2014. "Why is Female Labour Force Participation Declining so Sharply in India?" ILO Research Paper No. 10. Geneva: ILO.
16. Klasen, S. and J. Pieters. 2013. "What Explains the Stagnation of Female Labor Force Participation in Urban India?" *IZA DP 7597.* Institute for the Study of Labor, August.
17. Kurien, V. 2007. "India's Milk Revolution – Investing in Rural Producer Organizations". In D.

Narayan and E. Glinskaya eds, *Ending Poverty in South Asia – Ideas That Work,* Pages 37-67. Washington D.C.: World Bank.

18. Lahoti, R. and H. Swaminathan. 2016. "Economic Development and Women's Labor Force Participation in India." *Feminist Economics*, Volume 22, Issue 2, Pages 168-195.
19. Loko, B. and M.A. Diouf. 2009. "Revisiting the Determinants of Productivity Growth: What's New?" *IMF Working Paper*, WP/09/225.
20. Mehrotra, S. and S. Sinha. 2017. "Explaining Falling Female Employment During a High Growth Period". *Economic and Political Weekly,* Volume 52, Issue No. 39, September.
21. Mehta, B.S. 2012. *Women's Work Participation in Bihar.* New Delhi: Institute for Human Development.
22. Muralidharan, K. and N. Prakash. 2013. "Cycling to School: Increasing Secondary School Enrollment for Girls in India". *NBER Working Paper No. 19305.*
23. Narayan, D. 2002. *Empowerment and Poverty Reduction: A Sourcebook.* Washington, D.C.: World Bank.
24. Narayan, D. 2005. *Measuring Empowerment: Cross-Disciplinary Perspectives.* Washington, D.C.: World Bank.

Interwoven Wisdom: The Socio-Cultural Heritage of the Indian Knowledge System

Tamanna* and Dr. Nrapendra Vir Singh**

Abstract: The Indian knowledge system, a comprehensive body of traditional knowledge encompassing science, medicine, philosophy, art, and spirituality, has been shaped over millennia by India's rich socio-cultural heritage including ayurveda, linguistics, philosophy, fine arts and aesthetics ,astronomy, and mathematics. This theoretical paper explores how these fields contribute to the holistic understanding of knowledge in India. This paper delves into how socio-cultural heritage of India's diverse cultural practices, languages, religions, and historical experiences have influenced and moulded the Indian knowledge system. Through examining ancient texts, educational philosophies, and traditional practices, this paper highlights the interconnectedness of socio-cultural heritage with various domains of knowledge, including Ayurveda, astronomy, linguistics, and arts, revealing how these influences continue to impact contemporary education and society.

Keywords- Socio-Cultural Heritage, educational philosophies, Ayurveda, astronomy, linguistics , Indian Knowledge System, Society

Introduction

The Indian Knowledge System (IKS) is a profound and intricate tapestry of knowledge, beliefs, and practices that has evolved over thousands of years in the Indian subcontinent. Rooted in ancient texts such as the Vedas, Upanishads, and Puranas, this system encompasses a wide array of disciplines including philosophy, science, mathematics, medicine, and spirituality. The IKS is characterized by its holistic approach, which emphasizes the interconnectedness of all aspects of life—mind, body, and spirit—reflecting the principle of Vasudhaiva Kutumbakam, or "the whole world is one family" .

Historically, the foundations of the Indian Knowledge System can be traced back to the Indus Valley Civilization and further developed during the Vedic period. The Vedas are considered among the oldest scriptures globally and provide insights into various fields such as astronomy, mathematics, and ethics. This ancient knowledge has been preserved through oral traditions and rigorous intellectual efforts, ensuring that it remains relevant even in contemporary contexts.

One of the most significant aspects of the IKS is its emphasis on dharma, which denotes righteousness and duty. This concept plays a crucial role in shaping moral and ethical frameworks within Indian society. Additionally, the IKS promotes a culture of critical thinking and self-reflection, encouraging individuals to seek

*** Research Scholar, Department of Teacher Education, Central University of South Bihar, Gaya**
**** Assistant Professor, Department of Teacher Education, Central University of South Bihar, Gaya**

knowledge through personal experience and observation.

In modern times, there is a growing recognition of the importance of integrating traditional Indian knowledge with contemporary educational practices. The National Education Policy (NEP) 2020 underscores this integration as essential for fostering a holistic educational framework that respects India's rich cultural heritage while addressing current societal needs(Agarwal, 2024).By incorporating elements such as Ayurveda, Yoga, and ancient Mathematics, Linguistics, Fine Arts and Aesthetics and Philosophy and Ethics into education, socio-cultural heritage enhances both the content and methods of education (Mundhe, 2023).The IKS not only preserves these valuable traditions but also enhances critical thinking and ethical reasoning among students.

Socio-cultural heritage is a broad concept that encompasses the collective traditions, beliefs, values, practices, and artifacts that define a community or society. It encompasses a wide range of aspects, including language, art, religion, festivals, and social behaviours, which are passed down from generation to generation. It reflects the historical and social contexts in which a group exists, contributing to its identity and sense of belonging (Sharma &Gupta, 2024).

India's socio-cultural heritage is deeply ingrained in its knowledge systems, dating back to the Vedic period and evolving through centuries of philosophical, scientific, and literary exploration. The concept of knowledge in India, represented by the Sanskrit term "Vidya," encompasses a holistic perspective where learning and wisdom are seen as pathways to spiritual and societal progress. India's unique blend of cultures, languages, religions, and philosophies has created a dynamic and enduring knowledge system that continues to thrive in modern contexts.

In India, the socio-cultural framework encompasses various institutions, including families, educational systems (ranging from Gurukuls to Universities), religious organizations, and civil society. These institutions are crucial in shaping knowledge systems by fostering values such as trust, cooperation, and social participation (Zaker Salehi, 2008).

Theoretical Framework

The Indian Knowledge System (IKS) is intricately linked to India's socio-cultural heritage, representing a complex blend of traditions, philosophies, and practices developed over thousands of years. This system draws from ancient texts like the Vedas and Upanishads and covers various disciplines, including philosophy, science, and spirituality.

Cultural Transmission Theory: This theory highlights how knowledge and cultural practices are inherited across generations, shaping societal values. In IKS, traditional education methods like Gurukuls play a crucial role in this transmission, with the National Education Policy (NEP) 2020 emphasizing its importance for cultural identity.

Holistic Education Model: IKS exemplifies a holistic approach by

integrating spiritual and practical knowledge, as seen in Ayurveda and Yoga. This model fosters intellectual growth while promoting ethical values and social responsibility.

Indigenous Knowledge Systems Framework: This framework underscores the relevance of indigenous knowledge in tackling modern challenges. IKS includes local practices such as sustainable agriculture and traditional medicine, which can enhance community resilience against contemporary issues.

Influence of Socio-Cultural Heritage

The socio-cultural heritage significantly shapes IKS through:

Philosophical Foundations: Texts like the Vedas provide a philosophical basis for understanding life, influencing various cultural aspects.

Community Engagement: IKS promotes collective values such as Vasudhaiva Kutumbakam, fostering cooperation and mutual respect within communities.

Resilience Through Tradition: Traditional practices documented in texts like the Arthashastra offer sustainable solutions to modern socio-economic challenges.

Overall, the socio-cultural heritage of India profoundly impacts the Indian Knowledge System, influencing individual identities and societal values while ensuring that ancient wisdom continues to inform contemporary practices.

Objectives of the Study

i. To explore socio-cultural heritage of the Indian knowledge system.

ii. To explore the relevance of socio-cultural heritage of the Indian knowledge systems on contemporary education.

i) Socio-Cultural Heritage of the Indian Knowledge System on various knowledge domains

Ayurveda and Traditional Medicine

Ayurveda, India's ancient system of medicine, is one of the most profound contributions of Indian socio-cultural heritage. Ayurveda, often called the "science of life," is one of the oldest medical systems in India, deeply rooted in the country's socio-cultural heritage. This traditional system adopts a holistic approach to health, integrating physical, mental, and spiritual well-being. The following sections outline the significance of Ayurveda within the Indian Knowledge System (IKS), its foundational principles, and its relevance today.

The historical Context and Philosophical Foundations of Ayurveda's origins date back to ancient texts such as the Vedas, which were composed between approximately 2500 and 500 BC. The system emphasizes a holistic perspective on health, focusing on achieving balance within the body and harmonizing individuals with their environment. Central to Ayurveda are the principles of Tridosha, which refer to the three bodily humors: Vata, Pitta, and Kapha. These doshas are crucial for

maintaining health and preventing disease. The Ayurvedic approach encourages individuals to recognize their unique constitution (Prakriti) and make lifestyle adjustments that promote longevity and wellness.

Holistic Health Approach of Ayurveda advocates for a comprehensive understanding of health that transcends mere disease treatment. It stresses preventive care through lifestyle choices, dietary habits, and natural remedies derived from medicinal plants. This holistic philosophy aligns with the broader IKS perspective, which values interconnectedness across various life aspects. For example, Ayurvedic practices incorporate yoga and meditation as essential components of health maintenance, addressing not only physical ailments but also mental and emotional well-being.

Ayurveda's role in Contemporary Healthcare

Recently, Ayurveda has gained renewed interest as a complementary and alternative medicine (CAM) system worldwide. The rise in non-communicable diseases (NCDs), lifestyle-related disorders, and antibiotic resistance has led many people to seek holistic treatment options. Ayurveda offers cost-effective solutions that are often safer than conventional medications. Government initiatives like the National Education Policy (NEP) 2020 promote integrating Ayurvedic principles into modern healthcare systems, aiming to incorporate traditional knowledge into medical education.

India boasts a rich diversity of medicinal plants utilized in Ayurvedic formulations. Approximately 20,000 medicinal plants are documented in India, with around 7,000–7,500 used by traditional practitioners for various treatments. Commonly used plants include: Withania somnifera (Ashwagandha): Known for its adaptogenic properties that help alleviate stress, Zingiber officinale (Ginger): Valued for its digestive benefits and anti-inflammatory effects, Asparagus racemosus (Shatavari), is a powerful rejuvenating herb particularly beneficial for women, especially those who have undergone hysterectomies, as it provides essential female hormones. Additionally, Shatavari supports urinary tract health, enhances the immune system, and aids in blood purification (Pandey et al.,2013). These plants form the foundation of numerous herbal formulations addressing a wide range of health issues, from digestive disorders to chronic diseases.

Socio-Cultural Influence: Traditional family practices, local folklore, and religious customs have preserved Ayurvedic knowledge through generations, contributing to a system that combines cultural wisdom with empirical observation.

Astronomy and Mathematics

The origins of Indian astronomy can be traced back to the Vedic period (1500–500 BCE), where astronomical knowledge was closely linked to ritualistic practices and calendar systems. The Vedas, particularly the Rigveda, include references to celestial phenomena and deities associated with the heavens. This foundational understanding paved the way for later developments in both astronomy and mathematics.

During the classical period (500–1500 CE), significant advancements occurred as scholars began formulating comprehensive models for celestial observations. Prominent figures such as Aryabhata, Brahmagupta, Varahamihira, and Bhaskara II emerged during this era, making groundbreaking contributions that would not only influence Indian scholarship but also have a lasting impact on global scientific thought.

Contributions in Astronomy

Aryabhata (476–550 CE): In his work Aryabhatiya, Aryabhata integrated astronomical and mathematical concepts, proposing a heliocentric model of the solar system and introducing methods for calculating planetary positions and predicting eclipses.

Lamadeva, a student of Aryabhata I- The Surya Siddhanta is attributed to him is a foundational text in Indian astronomy, composed in Sanskrit and dated to the 4th or 5th century CE. This treatise is significant for its comprehensive approach to celestial calculations, providing detailed methods for determining the positions and motions of various celestial bodies, including planets and the moon, relative to constellations. The text played a crucial role in shaping the luni-solar calendar used in Hindu rituals, influencing timekeeping practices in ancient India. The Surya Siddhanta includes advanced mathematical concepts such as sine functions and methods for calculating angles, which were critical for astronomical observations. Its tables of sines are noted for their accuracy compared to Greek counterparts.

Brahmagupta (598–668 CE): In his seminal text Brahmasphutasiddhanta, Brahmagupta built upon Aryabhata's ideas, developing models for calculating planetary positions and establishing rules for arithmetic involving zero was first to treat zero as a number in its own right rather than simply a placeholder digit.

Bhaskarcharya or Bhaskara II (1114–1185 CE): Being head of the astronomical observatory at Ujjaini. His works, including Lilavati and Siddhantashiromani, compiled extensive astronomical tables and advanced theories regarding the motion of celestial bodies. He is the first mathematician to write a work with full and systematic use of the decimal number system also the founder of differential calculus, who applied it centuries before Newton and Leibniz. He made significant contributions to trigonometry, developing sine tables that were crucial for astronomical calculations.

Contributions in Mathematics

Decimal System: Indian mathematicians Aryabhata developed the decimal system, which included place-value notation and the concept of zero as both a placeholder and a number. This innovation revolutionized arithmetic and algebra.

Algebra: Ancient Indian mathematicians made significant advances in algebra, solving quadratic equations and creating systematic methods for handling simultaneous equations. Brahmagupta's Brahmasphutasiddhanta is a key text in this domain.

Trigonometry: The development of trigonometric concepts was essential for astronomical calculations. Aryabhata introduced sine functions, while Bhaskara

II refined these concepts further, creating detailed tables that facilitated precise calculations of celestial phenomena.

Geometry: Early geometric principles were formulated by mathematicians like Baudhayana and Apastamba, who contributed foundational ideas such as what is now known as the Pythagorean theorem.

Interrelation between Astronomy and Mathematics

The relationship between astronomy and mathematics in ancient India is profound; mathematical techniques were vital for accurate astronomical observations. The necessity to model celestial movements spurred significant advancements in mathematical tools such as trigonometry and algebra. This interplay not only enhanced scientific understanding but also influenced various fields, including architecture, navigation, and timekeeping.

Socio-Cultural Influence: Indian cosmology, based on Hindu, Buddhist, and Jain philosophies, encouraged a systematic study of celestial bodies. Festivals like Makar Sankranti and scientific texts supported a cultural acceptance and application of astronomical knowledge, integrated with spiritual beliefs and agricultural cycles.

Linguistics and Philology

The Indian knowledge system is also well-regarded for its linguistic contributions, particularly through the study of Sanskrit, Prakrit, and other regional languages. The composition like ***Padapamhas,*** which involved a word-for-word recitation of Vedic texts. This early form of linguistic analysis laid the groundwork for more sophisticated studies in phonetics, grammar, and semantics. **Panini's *Ashtadhyayi,*** a seminal work in Sanskrit grammar, is considered one of the most comprehensive grammatical frameworks in any language. It consists of 3,959 rules covering syntax, morphology, and semantics. PâGini's systematic approach established a foundation for future linguistic analysis and is recognized as a precursor to modern generative grammar.

Socio-Cultural Influence: Sanskrit's role as a sacred language and its use in Vedic texts helped preserve knowledge through oral traditions and written records. The multilingual heritage of India promoted linguistic diversity and enriched philology, as evidenced by the many dialects and scripts that have evolved across the subcontinent.

Fine Arts and Aesthetics

Indian art forms, such as music, dance, painting, and sculpture, are reflections of the socio-cultural values of harmony, spirituality, and symbolism. The Natyasastra by Bharata Muni, serves as a crucial text that outlines the principles governing drama, dance, and music. It highlights the significance of rasa (aesthetic experience) and bhava (emotional states), both of which are essential for grasping the nuances of Indian aesthetics. an ancient treatise on performing arts, defines principles of aesthetics, including the Navarasas (nine emotions) that form the foundation of Indian drama, dance, and literature (Kumar,2017). Indian classical music includes diverse styles, notably Hindustani and Carnatic music, each characterized by

distinct ragas (melodic structures) and talas (rhythmic patterns).

Classical dance forms such as Bharatanatyam, Kathak, Odissi, and Kathakali, Kuchipudi, Manipuri,Sattriya representing different states transcend not mere performance; they are deeply embedded in storytelling and spirituality. **Regional(folk dance)** which are Jhijhia(Bihar), Bihu (Assam), Garba (Gujarat), Dandiya Ras (Gujarat), Mathuri (Aandhra Pradesh). Different **Puppet forms of dance like string puppets** in which marionettes having jointed limbs controlled by strings allow for greater flexibility like Kathputli (Rajasthan), Kundhei (Orissa), Bommalattam (Tamil Nadu); **shadow puppets** forms of dance which are flat figures, cut out leather which has been treated to make it translucent against strong source of light which make colourful shadow like Togalu Gombeyatta (Karnataka), Ravanachhya (Orissa) and **rod puppets** in which an extension of glove –puppets but often much larger and supported and manipulated by rods from below like Putul Natch (West Bengal), (Orissa),Yampuri (Bihar) these art forms frequently portray mythological tales and philosophical ideas, acting as vital conduits for cultural expressions and transmission.

In the realm of **visual arts**, India boasts a rich heritage encompassing painting, sculpture, and architecture. Indian painting boasts a rich legacy that traces back to prehistoric eras, with significant evidence found in rock art at locations such as the Bhimbetka caves. The importance of these paintings stems from their capacity to offer valuable insights into the cultural practices and social structures of early human societies. Indian literature, encompassing both Hindu and Buddhist traditions, often alludes to different styles of painting. For instance, the Kamasutra by Vatsyayana describes essential principles of painting, referred to as the Shadanga. These principles encompass elements such as proportion, emotional expression, and artistic technique, which have historically influenced artists in their creative endeavors.

Murals (Wall paintings)

Murals are expansive artworks typically created on the walls of temples and caves, with notable examples found in the Ajanta and Ellora sites. These paintings often illustrate religious themes and stories from Hindu and Buddhist texts, serving both aesthetic and educational functions. They are essential for understanding the spiritual and cultural aspects of Indian society.

Miniature Paintings

Miniature paintings developed during the Mughal period, blending Persian influences with traditional Indian styles. These small-scale artworks frequently depict scenes of court life, mythology, and nature, characterized by intricate details and vibrant colors. Miniatures were vital in preserving historical narratives and reflecting royal patronage during their era.

Folk Art Paintings

Folk painting traditions, such as Madhubani and Warli, embody local customs and beliefs. These art forms are distinguished by their bright colors and

symbolic motifs that convey social messages or celebrate festivals. They represent the communal identity and cultural practices of specific regions.

The Gupta period (circa 320 CE to 550 CE) is often celebrated as a pinnacle of Indian artistry, marked by stunning sculptures and temple architecture that exemplify religious devotion and aesthetic refinement. The frescoes of the Ajanta Caves are a prime example of how art integrates with spirituality, skillfully illustrating Buddhist themes.

Indian architecture showcases a fusion of indigenous styles shaped by various dynasties over thousands of years. The Mauryan period was pivotal, marked by significant structures such as the Ashokan pillars, which conveyed moral teachings through their inscriptions. The Gupta period further enhanced temple architecture, introducing intricate carvings that depicted deities and mythological stories. Prominent architectural styles include Hindu temple architecture, known for its towering shikharas (spires) and elaborate sculptures. The Chola dynasty is particularly recognized for its bronze sculptures and grand temple complexes, which exemplify exceptional craftsmanship and aesthetic appeal. The Great Living Chola Temples have been designated as UNESCO World Heritage Sites due to their architectural excellence.

Sculpture in India developed through various schools, including Gandhara and Mathura. The Gandhara school is renowned for its Greco-Buddhist influences, merging Hellenistic styles with Buddhist themes during the Kushana period (1st-3rd century CE). Mathura became a centre for creating iconic representations of Hindu deities and Buddha figures.Sculptures served both decorative and educational roles. They were often employed in temples to narrate stories from epics such as the Mahabharata and Ramayana or to impart moral lessons through visual symbolism. The craftsmanship involved in these sculptures not only reflects artistic skill but also demonstrates a profound understanding of religious narratives.

Socio-Cultural Influence: Indian art forms are closely tied to religious and social customs, festivals, and celebrations, blending spiritual themes with local narratives. This cultural heritage allows Indian arts to communicate universal themes of devotion, morality, and human experience.

Philosophical and Ethical Systems

The Indian knowledge system is significantly shaped by its ancient philosophies, including Vedanta, Sankhya, Nyaya, Vaisheshika, Yoga, Buddhism, and Jainism. These philosophical schools contribute to ethical systems, knowledge about the self, and the universe. Foundations of Indian Ethics.

Foundations of Indian Ethics

Indian ethics is deeply rooted in a variety of philosophical traditions, encompassing both orthodox (astika) and unorthodox (nastika) schools. Each of these traditions offers distinct perspectives on moral values and ethical behavior. Central to Indian ethical thought is the concept of dharma,

which denotes duty, righteousness, and moral law. This concept is crucial across numerous texts and philosophies, highlighting that ethical conduct is vital for achieving personal fulfillment and societal harmony.

Individual and Social Ethics

Indian ethical philosophy differentiates between individual ethics, which emphasizes personal virtues necessary for individual well-being, and social ethics, which focuses on values essential for maintaining social order. This distinction reflects the belief that personal morality has a direct impact on societal harmony. Texts such as the Mahabharata underscore virtues like non-violence, truthfulness, and charity as foundational elements for both personal integrity and social cohesion.

Cosmic Order and Moral Values

The ancient notion of [ta, which represents a cosmic order governing both nature and human society, forms the basis of many Indian philosophical systems. This idea evolved into dharma, where individuals are expected to fulfill their responsibilities according to their societal roles. The Dharma Sastras serve as sociological texts that outline these duties, illustrating how ethical behavior aligns with cosmic harmony.

Philosophical Schools and Ethical Frameworks

Indian philosophy consists of various schools that contribute to its ethical discourse:

Hindu Philosophy

In Hinduism, ethics is closely associated with the four aims of life (purucârthas): righteousness (dharma), material gain (artha), desire fulfilment (kâma), and liberation (mokca). Individuals are encouraged to pursue these goals while adhering to their dharma based on their caste (varGa) and life stage (âúrama). This structured approach aims to ensure a balanced life that promotes both personal development and societal stability.

Buddhism and Jainism

Both Buddhism and Jainism stress the importance of ethical living as a path to liberation from suffering. The Buddhist concept of dhamma parallels dharma in its emphasis on moral conduct as essential for spiritual advancement. Jainism advocates strict adherence to non-violence (ahimsa) and truthfulness as core ethical principles.

Philosophical Texts

Significant philosophical texts such as the Upanicads, RâmâyaGa, and various darúana-úâstras provide rational frameworks for addressing ethical dilemmas faced by individuals. These texts delve into universal moral issues within a philosophical context, reinforcing the significance of ethics in everyday life.

Indian ethics is deeply rooted in a variety of philosophical traditions, encompassing both orthodox (astika) and unorthodox (nastika) schools. Each of these traditions offers distinct perspectives on moral values and ethical behavior. Central to Indian

ethical thought is the concept of dharma, which denotes duty, righteousness, and moral law. This concept is crucial across numerous texts and philosophies, highlighting that ethical conduct is vital for achieving personal fulfillment and societal harmony.

Socio-Cultural Influence: Indian philosophy has fostered values of non-violence, compassion, and community welfare. Concepts like Dharma (duty) and Karma (action and consequence) have permeated all areas of knowledge, influencing both individual and societal conduct.

ii) The Relevance of Socio-cultural heritage of the Indian Knowledge System on Contemporary Education

The incorporation of India's diverse socio-cultural heritage into modern education is a crucial element of the National Education Policy (NEP) 2020. This policy highlights the significance of Indian Knowledge Systems (IKS) in creating an educational framework that is holistic, inclusive, and culturally relevant. By integrating traditional knowledge into contemporary curricula, NEP 2020 seeks to foster critical thinking, creativity, ethical reasoning, and a sustainable educational approach.

The NEP emphasizes the incorporation of Indian Knowledge system (IKS) into the educational framework, promoting courses that explore ancient Indian sciences, medicine, arts, language and philosophies. This policy encourages universities to offer specialized programs in regional languages and literature, enhancing cultural appreciation among students. It emphasizes the importance of traditional knowledge while preparing students for global challenges, reflecting a blend of old and new educational philosophies

Revival of Indigenous Knowledge

Efforts to revive traditional knowledge systems, such as Ayurveda in medical education and the Sanskrit language, aim to reconnect students with India's cultural roots. Courses and workshops focused on traditional crafts, music, dance, and philosophy are introduced in various academic institutions to preserve cultural heritage. For example The Bhishma School of Indian Knowledge System (BSIKS) is a prominent institution dedicated to reviving and promoting the Indian Knowledge System (IKS) through various educational programs .The school offers a range of online certificate courses, diploma programs, and workshops covering diverse fields such as Vedic studies, Ayurveda, philosophy, arts, and sciences. This enables students to become certified experts in their chosen areas.

Sense of Cultural Identity

Incorporating Indian Knowledge Systems (IKS) into education helps students cultivate a sense of identity and connection to their cultural heritage, promoting an appreciation for diversity and pluralism at each level.

Focus on Holistic Development

Modern educational institutions are increasingly integrating practices like yoga,

meditation, and moral education into their curricula to promote well-being alongside academic learning. This reflects a desire to create a balanced educational experience that caters to the holistic development of the students.

Social and Environmental Initiatives

India's heritage in natural conservation and sustainability, such as the reverence for nature in Hinduism, Buddhism, and Jainism, influences modern environmental policies. These principles are used to teach environmental responsibility and advocate for sustainable practices, showcasing a heritage-driven approach to contemporary challenges.

Conclusion

The Indian knowledge system, deeply influenced by its socio-cultural heritage, has provided invaluable contributions across diverse fields, from science and medicine to art and philosophy. These systems, steeped in a culture of spirituality, community, and environmental respect, remain relevant today, offering unique perspectives that complement modern knowledge frameworks. Recognizing and incorporating the heritage-based knowledge in contemporary Indian education can foster a holistic, inclusive approach to learning and development.

India's socio-cultural heritage, reflected in its knowledge systems, reminds us that knowledge is not just about information but encompasses values, ethics, and responsibilities essential for personal and societal growth. Embracing this heritage allows for a more profound, culturally rooted education that prepares individuals for both global challenges and personal fulfilment. Thus, the impact of socio-cultural heritage on the Indian Knowledge System is profound. It shapes not only individual identities but also collective societal values. The ongoing evolution of this knowledge system reflects India's dynamic cultural landscape, where ancient wisdom continues to inspire and guide contemporary practices across various domains of life.

References

1. Agarwal, A. (2024). Integrating Traditional Indian Knowledge System in Education. RJPN.
2. Bharatiya Knowledge Systems - An Introduction. (2024). Udhna College.
3. Chakrabarti, A. (Ed.). (2016). The Bloomsbury research handbook of Indian aesthetics and the philosophy of art. Bloomsbury Publishing.
4. Encyclopaedia Britannica. (2024). *Indian philosophy*. Retrieved from https://www.britannica.com/topic/Indian-philosophy
5. Farasatkhah, M. (2010). *Bharatiya Knowledge Systems: An Introduction*. National Council of Educational Research and Training.
6. Helliwell, J. F., & Putnam, R. D. (2007). *Education and social capital*. In *The Social Context of Health and Health Policy* (pp. 1-22). Springer.
7. Indian Culture. (2024). Unveiling the Cosmos: A Journey through the History of Astronomy in India. Retrieved from https://indianculture.gov.in/timeless-trends/unveiling-cosmos-journey-through-history-astronomy-india
8. Kumar, S. (2017). *A student's handbook of Indian aesthetics*. Cambridge Scholars Publishing.
9. Ministry of Education. (2024). *Indian Knowledge Systems*. Government of India.
10. Mundhe, A. (2023). Interdisciplinary Approaches in Indian Knowledge Systems. *Journal of Indian Philosophy*, 51(2), 123-145.

11. Murphey, R., & Dolan, P. (2003). Crisis and Community: The Role of Education in Social Capital Formation. *Canadian Journal of Education*, 26(4), 489-505.
12. National Center for Complementary and Integrative Health. (2013). Indian traditional Ayurvedic system of medicine and nutritional science. PMC3705899. Retrieved from https://pmc.ncbi.nlm.nih.gov/articles/PMC3705899/
13. National Council of Educational Research and Training. (2019). *Knowledge Traditions and Practices of India*. NCERT Publications. Retrieved from https://ncert.nic.in/textbook/pdf/keks1ps.pdf
14. Pandey, M. M., Rastogi, S., & Rawat, A. K. (2013). Indian traditional ayurvedic system of medicine and nutritional supplementation. Evidence-based complementary and alternative medicine: eCAM, 2013, 376327. https://doi.org/10.1155/2013/376327
15. Sharma, R., & Gupta, S. (2024). Why Indian Knowledge Systems for Young Learners? Anaadi.
16. Shukla, S. (2022). Cultural Heritage and Indian Knowledge System. *Indian Journal of Cultural Studies,* 8(1), 45-60.
17. Timane, R., & Wandhe, P. (2023). Indian Knowledge System: Historical Perspectives and Contemporary Relevance. *Journal of Emerging Technologies and Innovative Research*, 10(3), 234-250.
18. VBSPU E-content Team. (n.d.). Traditional system of medicine: An overview of Ayurveda and its principles. Retrieved from https://www. vbspu.ac.in/e-content/Dharmendra-Singh/Traditional%20System%20of%20Medicine.pdf
19. Zaker Salehi, A. (2008). The Relationship between Higher Education and Social Capital. *International Journal of Educational Development*, 28(5), 511-525.

A Study of Mental Retardation in Relation to Anxiety and Adjustment of Children in the Indian Context

Dr Sana Shakeel*

Abstract: The present study was conducted as a sample of 150 normal children and 150 mentally retarded children. Normal and mentally retarded children were identified on the basis of the scores of obtained on Mohsin General Intelligence Test. The study intended to compare the two group of children in terms of their personality characteristics, especially anxiety and adjustment. It was hypothesised that mentally retarded children will differ significantly from normal children in terms of anxiety inventory and adjustment. Sinha Manifest Anxiety Inventory and Mohsin and Shamshad's Bell's Adjustment Inventory were used to measure anxiety and adjustment.

The scales were employed on the respondents and data were obtained and analysed using T-ratio. The result upholds the hypothesis. It was concluded that mentally retarded children process less anxiety and poor adjustment as compared to their counterparts belonging to normal children group.

Introduction

"Mental deficiency is a condition of sub normal development present a birth of early childhood and characterized mainly by limit Intelligence and social inadequacy," – James D.

Mental retardation is defined as "complete or insufficient general development of mental capacities," – H. J. Eysenck.

Mental retardation is characterized by below average intelligence or mental ability and a lack of skills necessary for day to day living. There are varying degrees of mental retardation. Mental retardation is measured by an IQ test. The average IQ is 100. A child is considered mentally retarded if he or she has an IQ of less than 65 to 70. In the present study, only moderate mentally retarded children, having IQ ranging from 52-68, are considered. To measure a child's adaptive behaviours, a specialist will observe the child's skill and compare them to that of other children of the same age. But here Mohsin's General Intelligence Test was used to identify mentally retarded respondents. The second major component of the study is personality characteristics which includes anxiety and adjustment.

The anxiety is a pattern of behaviours in which the psychological symptoms of anxiety become so intense or persistent that they interfere with the sufferer's personal and social adjustment. Anxiety is a psychological disorder that is associated with significant suffering and empowerment in functioning. It is a blend of thought and feelings characterized by a sense of uncontrollability and unpredictability over potentially aversive life events. (Wilson, Nathan, O'Leary & Clark).

It is characterized primarily by diffuse, free floating anxiety which does not stem from or be directed towards any particular

***Ex-Research Scholar (Psychology), BRA Bihar University, Muzaffarpur (Bihar)**

situation or object. (J. C. Coleman).

Adjustment refers to the interaction between the inner demands and external demands of the individual. A person is said to be adjusted to the extent that he is maintaining a balance between the personal and environment elements.

Anxiety: "Stimulus conditions, biological or psychological, external or internal, noxious or depriving, that demand very difficult adjustment." – Eroson R. Fox & I., Gregory.

Reber & Reber (2001) defined adjustment as "social or psychological adjustment and when used in this sense, it carries clear positive correlation. The implication that the individual is involved in a rich, ongoing process of developing his or her potential reaching to and in turn changing the environment in a healthy effective manner."

"Any pattern of stimulation presented from an organism which has the power to elicit two or more incompatible responses the strength of which are functionally equal." – B. A. Mahar.

Objective of study: The objective of the present study is to compare the mentally retarded children with normal children in terms of anxiety and adjustment.

Hypothesis: The mentally retarded children will differ significantly from normal children in terms of anxiety and adjustment.

Methodology:

Sample: A random sample consisting of 150 normal children having IQ ranging from 90-110 and also 150 mentally retarded children having IQ from 52-68. The children of both groups were mentally where males belonging to district town of Madhubani. Normal children were selected from among students of High Schools in Madhubani. Mentally retarded children wear selected from the local rehabilitation centre.

Tools

1. Mohsin General Intelligence Test
2. Sinha Manifest Anxiety Inventory
3. Bell's Adjustment Inventory. Mohsin and Shamshad's.

Procedure: The data were collected in two phases. In the first page data were collected from normal children (N=150). In the second phase data were collected from mentally retarded children (N=150).

Data Analysis: For data analysis T-test was employed, Mean, SD of each set of scores were calculated and then T-test was used to examine the significance of defence between the two groups in terms of anxiety and adjustment.

Result and Discussion

The result based on T-ratio are given in Table-1.

Respondent's Anxiety	N	Mean	SD	T	df	P
Normal Children	150	56.68	9.86	8.96	298	<0.01
Mentally Retarded	150	46.19	7.5			
Respondent Adjustment	N	Mean	SD	T	df	P
Normal Children	150	21.62	7.41	5.10	298	<0.01
Mentally Retarded Children	150	16.78	6.57			

The result displayed in Table-1 clearly indicates the significance of difference between normal and mentally retarded children in terms of anxiety (T-ratio 9.86, df. 298, P<0.01) and adjustment (T-ratio 5.10, df 298, P<0.01). Thus, the hypothesis is proved on significant values of respondent children.

Result and conclusion: The findings of the present studies points that mentally retarded children are less anxious and have poor adjustment as compared to their normal counterparts.

References

1. Chaplin, J. P. (1975). Dictionary of Psychology, New York.
2. Nelson, et. al. (1969). Relationship among Behavioural Cognitive Multi-Variate P- Behavioural Research, 4, p. 483-500.
3. James, D. Page (1962). Abnormal Psychology, New York Hill, p. 354.
4. Eysenck, H.J. (1947). Dimensions of Personality. London, Kegan Paul, French Teubner & Co. Ltd.
5. Eysenck, H.J. (1972). Encyclopaedia of Psychology.
6. Eroson, R. Fox & I. Gregory (1972). Modern Abnormal Psychology. D.N. Srivastava, Agra.
7. Mohsin's, S. M. (1984). General Intelligence Test.
8. Sinha, D. (1980). Manifest Anxiety Inventory & Manual.
9. Mohsin, S.M. (1984). Shamshad's H. Bell's Adjustment Inventory with Manual, Motilal Banarasi Das Patna.
10. Raber, A.S. & Raber (2001). The Penguin Dictionary of Psychology, (Third Edition), Published by the Penguin Group, England.
11. Coleman, J. C. (1976). Abnormal Psychology & Modern Life.
12. Garrette (1962). Statistics in Psychology and Education. Indian Edition, Allied Pacific Private Limited, Bomba

Namita Gokhale: Illuminating the Indian Literary Landscare-A Critical Study of Her Works and Contributions

Dhanshree Pareek*
Dr. Kavita Sharma**

Abstract: *Namita Gokhale is an acknowledged master of contemporary Indian prose, famous for her liberal and visionary readings of Indian women's identity, tradition, and shifting modernity. her works presented broader realities of women, their dilemma, their struggles, and their transition from conventional India to modern India, the unanswered question of Indian social structure, which is in constant transformation. This paper also presents a critical analysis of Gokhale's body of work in terms of the absent representation of female writing productivity, inventive mode of writing coupled with thematic profundity, and the convolutions of her influence to explain why her writing style has been influential in India's literary crevices. Through an analysis of key novels such as Paro: Thus, it becomes evident that Gokhale's flexibility in handling humor, empathy, and psychological spinners of Dreams of Passion, A Himalayan Love Story, and Priya: In Incredible India. Her debut novel, Paro: Dreams of Passion (1984), is an early example of her visual and narrative daring as well as the beginning of her provocation of the audience and subjects she would depict, ignoring such conventions as the "innocent" woman or a passive object of male sex fantasy and opening herself as a filmmaker with her own bold vision of female sexual desire and affirmation, the corrupting influence of elitist modernity on sexual values, and postmodern irony A Himalayan Love Story (1996) moves on to sensitivity, desire and asking itself, who are we, painting the human sensitivity in confrontation with the nature under the Gokhale's brush. Meanwhile, in Priya: In Incredible Indyaa (2011), the narrative of Paro's characters comes back, questioning power and greed and the paradoxes of the new India. This paper positions Gokhale's fictional work in the umbra of the versatility of a postcolonial and Feminist theoretical alignment, primarily focusing on the critique of patriarchy, class, and cultural mestizo. While her performances are humorous, they challenge and disrupt gender roles and task India's post-colonial identity at disposing agency equally charming. Indeed, in the narratives by Gokhale, the readers find the truthfulness, subtle, multilayered personalities developed and the relation between the individual and the general history calendars. For the new Indian literature, the space has been carved by Gokhale, who, while connecting the past and the present, brought the women's writing on the individual's hopes and challenges. Her work in these fields is still relevant to modern Indian literature, and therefore, she is an important identity in gender/Culture deconstruction.*

Introduction

Thus, Indian literature is experiencing an active transformation due to the women's desire to break the stereotype and destroy the attempts to shape the hegemonic discourse. Namita Gokhale may be one of the most outstanding of these pioneers of change, and she is best known for her daring and realistic portrayal of Indian socio-cultural transformation. Her production

***Research Scholar, Department Of English, Shri Khushal Das University Hanumangarh, Rajasthan.**
***Professor, Research Supervisor, Department Of English, Shri Khushal Das University Hanumangarh, Rajasthan.**

concerns several different genres, where the conflict between the traditions and the world's new tendencies is diverse. Also, she deals with gender and identity issues and the question of spirituality. In this paper, literary contributions by Namita Gokhale are analyzed critically with a focus on her part in rewriting Indian narratives while responding to the exigent multi-faceted social phenomena. Gokhale's groundbreaking debut novel, Paro: Dreams of Passion (1984), was a disturbing set of trends in Indian fiction with the themes of female sexuality and the nouveau-riche morality. Due to this fact, narrative techniques in the novel and the audacity of the given story made Gokhale one of the pioneers of women's emancipation in Indian literature. In her subsequent works, including A Himalayan Love Story (1996) and Priya: In Incredible Indyaa (2011), she built up solid ground as a writer, especially skilled at the naked portrayal of emotion, change of generations, and existential crises. While A Himalayan Love Story delves into themes of longing and identity against a rural backdrop, Priya: In Incredible Indyaa, the author gives a satirical view of modern India and its paradoxes.

The nature of Gokhale's writings extends beyond mere recounting of events and, while containing both personal and political elements, the works present social contexts that can be easily relatable, and thus readable and enjoyable, to the general populace and academics. The themes of gender politics and cultural identity incorporate the approach of a Feminist and Postcolonial critic in the exposition of the challenges women face concerning cultural norms. Gokhale successfully interweaves past and present histories as she builds her historiography and uses what she has developed as a rich platform for social concerns and musings for modern-day India. This paper argues that Namita Gokhale's literary pursuits are aesthetic criticisms and sociopolitical active resistances. Her work subverts expectations, power imbalances, and the status quo by speaking for and with the dispossessed and creating a diverse narrative in India. For this reason, Gokhale is periodically remembered for promoting critical appreciation and is an influential figure in the modern literary period.

Literature Review

Critical discourse on Namita Gokhale's work mostly focuses on the Feminist perspective in her works and the brilliantly painted picture of urban India. Some have appreciated her for systematically placing strong-willed females in the foreground, struggling against the backdrop of emerging societal forms. Her invocation of satire and humor in her creative practice for social commentary has also received much notice and makes her mention as a distinctive form of a contemporary Indian writer.

Therefore, another of Gokhale's strengths is that she ignores conventional modes of storytelling. Instead, she creates multiple-layered women characters who fight some issues of identity, isolation, and relationships. This sophistication of combining humor into the sphere of philosophical questions puts her among the innovators of literature. Whether as criticism or review, there still is a Schizophrenia in evaluating her complete works in terms of merit and scholarly attention. This paper aims to fill this void by providing a thorough discussion of her thematic and stylistic contributions together with a consideration of modern critical theories.

Scholars have highlighted Gokhale's engagement with spirituality and mythology, particularly in works like The Book of Shadows (1999) and Shakuntala: The Play of Memory (2005). These novels deal with spiritual and mythological concepts and contexts and emphasize her interest in India and its connection with the Indian traditions relevant to contemporary crises of individual identity. In these explorations, Gokhale engages with some of the fundamental concerns that touch upon faith, memory, and rebirth besides adding to the philosophical depths of her writing. In continuation, this paper aims to make a foray into aspects of mythological symbolism blending with the current realities in Gokhale's work to underscore her potential to present ubiquitous stories.

In addition, the development of Gokhale as a writer who unveiled women's emotional topographies has also been acknowledged. She tends to employ Malcolm Lowry's state-of-consciousness techniques in portraying the psychological condition of women in love, loss, and other societal vices of women. Novels like Things to Leave Behind (2016) and Mountain Echoes (1994) post women's problematic and conflicted existence. This paper also focuses on how Gokhale depicts female subjectivity to discuss how her narratives are free from this stereotyping while giving an insight into the high and low feelings and events.

Research Methodology

This research adopts a critical and interpretive methodology, focusing on selected works of Namita Gokhale through feminist and postcolonial lenses. Central to this study is the textual analysis of her narrative techniques, character development, and thematic structures. Key texts examined include *Paro: Dreams of Passion, A Himalayan Love Story*, and *Priya: In Incredible Indyaa*. In addition to primary texts, secondary sources such as critical essays, interviews, and reviews are utilized to offer a multidimensional understanding of Gokhale's literary importance. This approach enables an exploration of her ability to address universal themes through localized narratives, making her works resonate with audiences both within and beyond India.

Analysis and Discussion

Thematic Depth

Gender and Sexuality:

In her debut novel, Paro: While Dreams of Passion is, in many ways, a parody of middle-class Indian city life, Gokhale uses the book to provide a trenchant social critique of India's urban civilization, exposing its moral cynicism and existential anxieties. The character of Paro, however, breaks societal norms and is also vivace and self-assertive in a male-dominated society. In this paper, Gokhale uses this narrative to question the culture of patriarchy and analyze the complex issues women have to deal with while fighting for their freedom. With hope as the weapon and themes such as the parody and irony of Heidegger, the novel combines the district sting with the cerebral, thus clever and witty.

Similarly, in Priya: In her book Incredible Indyaa, Gokhale returns to the representation of gender and power by painting a picture of a middle-aged protagonist battling personal crises. At the focus of this novel is the depiction of the changing position of women in modern India,

which is rather humorous and satirical. Gokhale's socially rebellious and imperfect women challenge the rigid societal norms of changed Indian womanhood.

Identity and Cultural Transition:

A Himalayan Love Story is actually simultaneously a marvelous realization of Gokhale's themes of identity and place, though deployed here in a narrative that is both mesmerizingly beautiful and dramatically tense against the backdrop of the legendary Himalayas. In fact, the chaotic introspection of the protagonist can be broadly interpreted as an existentialist theme that is part of many of Gokhale's works. In placing the configurations of her scenarios in multi-layered cultural and geographical frameworks, she focuses on the intersections between race, memory and place.

She also discusses how migrants reconstruct ideas of culture and cultural difference, [as is evidenced by the Indian diaspora and the new forms of ethnicity that are created out of interactions between the native country and other nations. These are issues that commonly recur in her essays and anthologies as she seeks to explain the changing culture of India within the globalization process.

Narrative Techniques

In terms of self-irony, the digressive use of humor, and the imposition of high emotionality, Gokhale presents another narrative technique that is typical for her. In Paro: In Dreams of Passion, the application of first-person voice brings the reader into the protagonist's world of a confession of her passions. On the other hand, the slow pace and the calm narrative of A Himalayan Love Story suggest the meditative mood of the narration, thus proving the versatility of Gokhale as the author.

Some of her works are inspired by the Indian legendary and spiritual tradition being a source of cultural and conceptual significance in them. As will be seen, in The Book of Shadows, for example, Gokhale combines the supernatural with psychological realism, thereby constructing a story that straddles the categories of the real and the imaginary. By doing so, this enables her as well to position herself among the Indian writers who are proving capable of tracing the tension between the customary and contemporary.

Contribution to Indian Literature

Namita Gokhale has immensely contributed to Indian literature through her works; she continuously explores aspects such as identity, gender, tradition, and modernity. She rewrites the book on how to tell a story with character-first storytelling that brings authenticity to India's social fabric. Primarily, critics have observed that because of Gokhale's use of humor, satire, and sentiment, some of the most important attributes that an author of the transitional periods can follow were established. That passion has gone beyond her fiction since she advocates for diversity and representation of languages and cultures in literary works.

In the context of the Jaipur Literature Festival, of which Gokhale is the co-founder, traditional and fragmented cultures, on the one hand, and oppressed classes and minorities have had an advocate. She continues to support the diverse Indian culture, thereby refuting the dissemination of Indian literature as a uniform entity, and therefore, she enriches the discourse. The same is true for her commitment to the diversity of the

experience of India's identity, which is reflected in the unification of the storytelling that embraces temporal, geographic, and class differences.

These works are even more notable because they present topics that should be familiar and accessible to people worldwide from an Indian perspective. Novels such as Paro: Priya's Dreams of Passion and Incredible Indyaa: While Dreams of Passion and Priya expose the objectification of women in India and reinforce the dominant stereotype of the Indian woman now and then and how it has changed and developed over time. At the same time, books like A Himalayan Love Story and Shakuntala: The Play of Memory demonstrate her rich philosophical and spirited interest in spirituality, mythology, and reminiscence.

In doing so, Gokhale weaves culture and the modality of Western novel writing to replace stereotyped depictions of Indian life within the Indian literary map. Her literary and organizational works make her one of the most influential writers in contemporary India and establish writers of different language, cultural, and social backgrounds as agents of change in Indian literature.

Conclusion

Namita Gokhale's career as a writer is the perfect example of her versatility and courage. The target audience knows how her works search for the meaning of life, funny and often serious social questions. Thus, this paper focuses on Gokhale as a writer and her talent for depicting the relations between Indians in the modern world context. By this note, Gokhale's voice is growing increasingly as a purposeful and creative voice that shapes and touches the readers and writers to remember and confront the pluralisms of India.

Some of the future research perspectives for Gokhale may involve the evaluation of her works' intertextual relations where the process of textual citation, allusion, or paraphrasing could be further investigated to identify a range of the approaches which Gokhale borrowed from literary works of the English language and adapted in her own production. Also, her function of a cultural translator in events like the Jaipur Literature Festival demands further research. In these manners, Gokhale has contributed towards developing the trajectory of Indian literature, which remains active to the present day.

References

1. Gokhale, Namita. *Paro: Dreams of Passion*. Penguin India, 1984, pp. 1–210.
2. Gokhale, Namita. *A Himalayan Love Story*. Penguin India, 1996, pp. 1–192.
3. Gokhale, Namita. *Priya: In Incredible Indyaa*. Penguin India, 2011, pp. 1–240.
4. Gokhale, Namita. *The Book of Shadows*. Penguin India, 1999, pp. 1–178.
5. Gokhale, Namita. *Shakuntala: The Play of Memory*. Penguin India, 2005, pp. 1–224.
6. Gokhale, Namita. *Things to Leave Behind*. Penguin India, 2016, pp. 1–304.
7. Gokhale, Namita. *Mountain Echoes*. HarperCollins India, 1994, pp. 1–176.
8. Gokhale, Namita. *The Habit of Love*. Penguin India, 2012, pp. 1–224.
9. Gokhale, Namita. *Double Bill: Priya and Paro*. Penguin India, 2012, pp. 1–450.
10. Gokhale, Namita. *Jaipur Journals*. Penguin India, 2020, pp. 1–224.

Different Interpretations of A Few Ragas in Some Gharanas

Mohena Bahl* and Prof. Ojesh Pratap Singh**

Abstract: Hindustâni Music is said to be one of the oldest and finest art forms in the world, and Râga is believed to be its core element, and the very basis of presentation of it. Since the ancient time, Indian education system and learning has known to be based on a *Guru – Shishya* tradition. The same in music leads to *Gharâna Paramparâ* when a community is formed following the same tradition for years. A râga is authentically known by people because of its pre-defined scales and a prescribed *Âroha – Avroha*, however, there is always a path of exploration open for artists, because of music being a practical form of art. There will always be a scope of creating something unique from the existing theory. This genuine exploration leads to the making of different interpretations of a few râgas found in some gharânâs. With the help of secondary sources such as books, articles, web pages and audio recordings, this study will show such râgas that have different interpretations and are sung in more than one manner. The work will highlight factors that result in the different interpretations, and the gharânâs that have them because of being distinct from each other. Factors like the use of different variants of a particular *swara*, or even a different *râgânga* will be included in the study to show the emergence of such interpretations.

Keywords *– Interpretation of Râgas, Gharânâ Paramparâ, Exploration in Râgas, Variants of swara, Râgas sung in multiple ways.*

INTRODUCTION

Hindustâni Music is said to be one of the oldest and finest art forms in the world. It has been one of the most developed, intricate and subtle art forms. The richness of Indian civilization has always been found in its vast history, culture and arts, wherein Hindustâni Music holds a pivotal place in the evolution of music of India.

The core element and the very basis of presentation of Hindustâni Music is believed to be 'Râga', which can be described as a beautiful melodic structure comprising of a pre-defined scale and a prescribed ascending and descending order of notes (*Âroha - Avroha*). This order of notes is when experienced, it not only pleases the artist himself, but the listeners or the audience at the same time. The term *'Râga'* originates from *'ranj'* element, implying the fact that râga is such a medium through which *'ranjakta'* can be implemented, and through which the ultimate objective of pleasing the listeners can be manifested. Râga as a term was first and foremost defined by Âchârya Matanga in Brihaddeshi, while referring to Kâshyapa's definition –

"Swaravarna visheshana dhwani bheden vâ punaha

Rajyate yena yaha kashchita sarâgaha sanmataha satâma"

"Yosau dhwani visheshastu swaravarna vibhushitaha

*** PhD Research Scholar] 141, First Floor, Nehru Apartments, Kalkaji, New Delhi – 110019**
****Supervisor, Dept. of Music, Delhi University, Delhi**

Ranjako janachittânâma sa cha râga udâhritaha"[1]

This implies, that a specific sound embellished with swaras and varnas that pleases the minds of people is called as Râga.

The fact that the use of these 12 musical notes in different combinations can create innumerable melodic structures, called râgas, is a very interesting and unique concept. The way these swaras bring out various emotive expressions in a particular râga through its practical aspect, and the way in which these expressions connect with a layman, is truly the mystical quality of Râga system.

Hindustâni music comprises of innumerable râgas, each having its own essence, grandeur and a character of its own. These râgas have always been present since long living traditions, nurturing themselves into a particular kind that convey their own personality. However, there is always a desire for exploring in music because of being a practical art form, the same found in râga theory of Hindustâni music, because of which we find different interpretations of râgas. These interpretations show the ways in which a particular râga, that already has a prescribed melodic structure can be sung by artists in different ways.

METHODOLOGY

This study aims to provide an analysis of a few râgas that have been sung by artists of some gharânâs in more than one manner. By conducting a thorough literature review, this study will highlight the râgas that have different interpretations of them, as well as the musical ways and styles of gharânedâr vocalists and their tradition which lead them in to creating these interpretations.

This work will include the use of secondary sources in the form of books, research articles, citations from the web to bring forward the notations and recordings of such ragas by various artists. The study will help understand the boundless nature of music, by bringing forward the notations of these interpretations, and the ways in which artists create different interpretations of râgas.

STUDY AREA

Vidushi Prof. Dr. Krishna Bisht says that "Râga is a unique phenomenon. It allows utmost of freedom to the artist, of course, within the strictest of rules. The same râga can be approached by each artist in his own individual way creating different aesthetic delight."[2]

This means that although the countless number of râgas should remain in their authentic form and should abide by their prescribed melodic structures, however, there is always a scope for exploration in râgas, which gives an artist the opportunity to find new ways of portraying the same râga in a different manner, and bring forward their own creativity and aesthetic experience by showing different emotive sides of the râga.

There are various factors that lead to the making of different interpretations of râgas; but mainly being *'Gharâna Parampará'*. It is known that since the ancient time, Indian education system and learning has known to be based on a teacher - student tradition, more commonly known as *'Guru – Shishya Parampará'*. According to this, a group of

disciples are in a process of attaining education from their teacher, and the process itself takes the form of a tradition, thus forming a community and giving birth to *'Gharânâ Paramparâ'*.

In Hindustâni Music, a gharânâ is more than just a terminology; as it represents a profound culture and music legacy. The term *'gharânâ'* originates from the hindi word *'ghar'*, which means a 'house' or 'family'. Just like a family, that has a lineage coming from centuries form a tradition following the same rules and regulations, principles and discipline with a certain family environment, similarly, a gharânâ in music refers to the guru – shishya tradition that lasts for generations. In other words, it refers to a musical community or lineage where artists collectively share a distinctive musical style that can be traced back to a particular region or instructor.

A distinctive musical style in the context of Hindustâni classical music encompasses not only the nuances of performance and repertoire but also a broader set of ideals, including music, aesthetics and pedagogy. Each gharânâ has its own explicitness of language, pronunciations, treatment of râga and improvisation in the series of rhythm cycles of tâla. For generations, the traditional aesthetic values of gharânâs have been kept alive by the oral transmission of musical knowledge to the disciples, wherein the disciples had to live with their gurus in their respective homes, thus creating an environment for the faithful transfer of musical traditions. This sacred tradition goes beyond mere education, as it fosters a profound spiritual and personal connection between the guru and shishya, where paramparâ represents an unbroken succession.

The disciples of each gharânâ would follow and adapt to the voice and musical style of their guru as a part of the tradition. Each gharânâ would keep itself distinct from the other by representing its own style, by keeping a unique *gâyaki*, and by having some primary râgas and bandishes that the successors or artists would keep prevailing. This being a factor would sometimes encourage certain artists to push the boundaries of the theory of an existing râga and portray the same in a different style, thus creating a different interpretation of it. This would only be a kind of exploration in the prescribed scales without opposing the authentic melodic structure of the râga. Because of gharânâ paramparâ, these different interpretations of râgas would then count in and would be accepted, as it would show a different perspective of the râga, and an input of the artist which would make the gharânâ distinct from others. This would be passed on to the coming generations and by then would become a separate interpretation or version of an already existing râga. Artists of different gharânâs would form these interpretations using different factors, such as by singing a râga through different *râgângas*; sometimes by using a slightly different *swarâvali* in the scale of râga, or sometimes by changing the variant of a particular swara, which would then give a new outlook to the râga presented. This kind of gharânedâr presentation would show the possibilities of *Râgadâri* Music and the calibre of an artist to find these possibilities.

FINDINGS AND DISCUSSION

Music being a practical art form has always been about creation and experimentation, the one factor which also led gurus and mentors to form a distinct style of singing for their gharânâs, so as to form a different musical identity. This would mean working on specific râgas and their

bandishes, set of swaras and their style of singing to form an exclusive gâyaki, the rules and principles of singing and most of all, to pass it on to their disciples to fulfil the tradition. However, these kind of experimentations in râgas would transform into becoming different interpretations, based on the individual understanding of aesthetics of the melodies.

I. RÂGA CHANDRAKAUNS OF ÂGRA GHARÂNÂ (DARASKAUNS)

Râga Chandrakauns is a prominent râga in Hindustani music that has different interpretations of it; first, which is the most prominent, comprising of komal gandhâra, komal dhaivata and shuddha nishâda in its scale. Whereas, there is another interpretation of it which is found in Agra Gharânâ called as *'Chandrakauns of Âgra Gharânâ'*, which is distinct from the first one. The scale of this distinct interpretation has the basic scale of Râga Mâlkauns, comprising of komal gandhâra, komal dhaivata and komal nishâda, but it is the inclusion of shudhha rishabh and pancham that makes the scale different from the first one. This raga is very specific and a favourite to Agra gharânâ. This râga was composed by the famous Mehboob Khan *'Daraspiya'*, which is why it is also known as 'Daraskauns' in his honor. It is believed that along with this, many other râgas and more than 500 compositions were given as dowry when Mehboob Khan Daraspiya's daughter got married to Faiyaz Khan *'Prempiya'*. Hence, this is considered as a property of Agra gharânâ itself. The inclusion of pancham is more prominent in the Avroh. The use of rishabh is only in the Avroh, but is optional.

For example, a simple portrayal of 'Daraskauns' can be seen below –

'S g m d n s, s n d p, p d n d p m p m. m g m g r s'[3]

II. RÂGA KHAMBÂVATI

Râga Khambâvati is a prominent raga of Khamâj thâta that has different interpretations. The first interpretation of the râga is more towards Jhinjhoti anga, as seen below –

'S r m p, d m g, ma s, m p d s, n d p, d m g, s r m, g ma s'

Whereas, there is a different interpretation of this râga which is sung differently in Jaipur – Atrauli gharânâ. This distinct interpretation is more towards Râgeshree anga, as it skips the swara pancham in its scale. But, by skipping rishabh in the Avroh it stays away from Râgeshree. A simple swara portrayal transcripted from the recording of Vidushi Kesarbai can be seen below –

'S g m, d n s, n d m, g ma s'[4]

The phrase ***'g m – s'*** is an important phrase which is retained and repeated in this râga, so as to keep away from similar râgas. Vidushi Kishori Amonkar, a renowned vocalist of Jaipur – Atrauli gharânâ can be heard singing both the interpretations, thus showing different perspectives of Râga Khambâvati.

III. RÂGA MEGH/MEGH MALHÂR

Raga Megh or Megh Malhâr is a prominent Malhâr category raga, which often has different interpretations of it. It is because, some artists keep the scale of Megh as audava audava, by skipping gandhâra and dhaivata in it. While some

others prefer showing the Malhâr anga in it, first by singing dhaivat in between both the nishadâs; second, sometimes taking komal gandhâr too as a part of malhâr anga, thus making it a different interpretation in the form of Megh – Malhâr. The audava audava form of Râga Megh can be heard in recordings of Vidushi Ashwini Bhide, Ustad Bade Ghulam Ali Khan, Ustad Amir Khan and many others. Whereas, the interpretation including malhâr anga that has dhaivata in the scale can be seen in Pt. V.N Bhatkhande's Kramik Pustak Mâlikâ; and the one having komal gandhâra in it can be heard in the recordings of Pt. Ulhas Kashalkar, Ustad Sharafat Husaain Khan, Ustad Latafat Hussain Khan, more common in Agra Gharânâ vocalists.

For example, Megh in audava audava form is as such –

'9"R p –, m p n s r n p n n s - s n p, pa r, m p k r k r nò pò nò r nò s'[5]

Whereas, by including the malhâr anga (komal gandhâra) in the scale, it is heard in this manner –

'S, nò pò, pò nò s r – r – nò s, nò r, s r g l g l g m r s'[6]

IV. RÂGA RÂMDÂSI MALHÂR

Râga Râmdâsi Malhâr, another malhâr category râga that comes under Kâfi thâta also portrays itself through different interpretations; first, which is the most prominent that has both gandhâras and both nishâdas present in the scale, and can be found in Pt. Vishnu Narayan Bhatkhande's Kramik Pustak Mâlikâ and Pt. Vinayak Rao Patwardhan's Râga Vigyân.

Whereas, two more interpretations are found, which are different in both Jaipur – Atrauli gharânâ and Agra gharânâ respectively, both slightly different from each other.

Jaipur – Atrauli gharânâ presents it similar to the first one, only without shuddha gandhâra in the scale, as heard in Pt. Mallikarjun Mansoor's interpretation –

'S p m p k g m r s, r p – p, m p d n p, m p d n n d n n s s d n p, r m r p m p k g k g m r s'[7]

Whereas Agra gharânâ's interpretation is a lot different from both the interpretations above, as it skips dhaivata and shuddha nishâda in the scale, and only has komal nishâda, because of which the usual Malhâr anga is not shown in the scale. This interpretation can be heard in the recordings of Ustad Faiyyaz Khan, Ustad Sharafat Hussain Khan and Vidushi Lalitha J. Rao as such –

'Nò nò s, s p g g m r s, pò nò pò s s, r p p, m p s p m p g g m r s'[8]

V. RÂGA BIHÂGDÂ

This râga is also heard in different ways. First which is more popularly heard, having both the nishâdas in its scale along with shuddha madhyam, as seen below –

'G m d, p d n d, p m g s, g l g, p m, m g m, p d n, a, a, n d, p, m p m, g r s'

There are times when you can also listen to both the madhyams in the scale, again depending on how the artist may want to keep it distinct, but the use of both madhyams is very rarely seen or heard.

However, there is a different interpretation found in Jaipur – Atrauli gharânâ which includes only shuddha nishâda in the scale, commonly known as *'Ek nishâda ki Bihâgdâ'*. This distinct version can be heard in the recordings of vocalists like Vidushi Kishori Amonkar, Pt. Mallikarjun Mansoor, Shri Jitendra Abhisheki, and other artists of the gharânâ, for example –

'G m p n a n (p), g m p m p g s'[9]

VI. RÂGA MÂLAVI

Raga Mâlavi is a less popularly heard râga. Its first interpretation is heard in Poorvi thâta which has komal rishabh, komal dhaivata, tivra madhyam and rest all swaras as shuddha in its scale. The scale of this râga can be obtained by omitting nishâda in the Âroh of Râga Puriyadhanâshree, but by starting the scale with *'S r g'* and not *'Nò r g'*. The swara nishâda is weak in its Âroh and dhaivata is weak in its Avroh. Swara phrases like *'G p'* and *'N p'* sound very strange in this râga. This interpretation of the râga can be found in books like Pt. V.N Bhatkhande's Kramik Pustak Mâlika, and Pt. S.N Râtanjankar's Abhinava Geetmanjari. A simple portrayal is given below –

'S, n p, g, ? g, r s, s g ? d, r s, s, n, p, ? g, ? g, r s'[10]

This raga is heard in different variants based in Poorvi that itself. The first which we see above has only tivra madhyam in it as found in books. Another variant which is also under Poorvi thâta, has both shuddha madhyam and tivra madhyam present in the scale, and can be heard in the recordings of Pt. Nivruttibua Sarnaik, and Manjiri Asanare Kelkar. A simple portrayal of this variant can be seen below –

'S, p – g, p g r s –, p – g, d V"m – m m p g, p g r s, r nò dò pò, pò s s g r s, p – p g, s g g p – p, d p – p, g ? d n r n d p, d V"m p g, p g p g r s'[11]

Raga M

â lavi, Manjiri Asanare Kelkar,

There is another interpretation of Râga Mâlavi which is found different in Jaipur – Atrauli Gharana. This is mentioned in Pt. Vinayak Rao Patwardhan's Râga Vigyân, which has the use of komal rishabh, tivra madhyam and rest other swaras taken as shuddha. It is believed to be obtained by Pt. Mallikarjun Mansoor as mentioned in the book. The same can be heard in his recordings. This interpretation of the râga seems to be obtained by combining râgas like 'Hindola' and 'Shuddha dhaivata Vibhâs' (Vibhâs of Marwa thâta). A simple portrayal of this interpretation can be seen below –

The interpretations seen above in various prominent râgas showing the artistic variations, reveal the different aesthetic sense in every artist or the gharânâ they are from, which makes the person or the gharânâ different from others. Hence, these examples show that there are a few râgas which get interpreted in different ways by the creative intellect of artists who come from different gharânâs.

CONCLUSION

The existence of Râga system, although, has always been about the portrayal of prescribed scales and pre-defined melodic structures since ages. However, encouraging individual expression within the framework of gharânâ

paramparâ and exploration in musical styles opens new horizons for the artists to build their own singing style and technique. This becomes an important factor in the making of different interpretations of the existing râgas in various gharânâs. Gharânâs and their traditions have rightly protected our music heritage for generations by carrying on their unique musical styles, that includes favouring their cherished râgas, compositions and gâyaki, and most of all have kept the tradition alive by passing on this precious knowledge to the emerging disciples. Hence, music being a practical art form, will always have a path open for artists to explore the ocean of Hindustâni music in order to find new ways of creativity, and in order to express their artistic skill and imagination in more and more ways.

Notes

1 Brihaddeshi, page 81

2 Bisht, Vid. K, 2021, February, Session 1, Vageeshwari, Vol. 35

3 Râga Chandrakauns of Agra Gharânâ, https://youtu.be/f6FG9GeF_lU?si=Toay7dbiIVW_8x4e

4 Râga Khambâvati, Vidushi Kesarbai Kerkar, https://youtu.be/u3GT4w18Cg4?si=c8CJVW5vBN-tkCbt

5 Râga Megh, Vidushi Ashwini Bhide, https://youtu.be/Y1vG0Zyxp8 U?si=_ TXuKFc Xxuv Y3eEZ

6 Râga Megh, Ustad Latafat Hussain Khan, https://youtu.be/UA-eEGLohEs?si=VetiZS-29EOacSyz

7 Râga Râmdâsi Malhâr, Jaipur – Atrauli Gharânâ, Pt. Mallikarjun Mansoor, https://youtu.be/fPGFUN_9W6Y?si=aevHQO8g1woNQKuB

8 Râga Râmdâsi Malhâr, Agra Gharânâ, Vidushi Lalitha J. Rao, https://youtu.be/0AxLVUdQ1UQ?si=lC_cOxKRY-ijrFLD

9 Râga Ek Nishâd ki Bihâgdâ,

https://youtu.be/JfRyaCdjN1k?si=adW4ATM4G5tSF2zA

10 Bhatkhande, V.N, 1954, July, Sangeet Karyalaya, Kramik pustak malika, part 5, page 393

11 Raga Mâlavi, Manjiri Asanare Kelkar,

https://youtu.be/OGrXJouU1Fw?si=VZOJuC-7JY856gq1

12 Raga Mâlavi, Pt. Mallikarjun Mansur,

https://youtu.be/c6YaQGH97fc?si=UIFIfU6NDglDXbib

Manjiri Asanare Kelkar, https://youtu.be/EwX10IFjsDs?si=OaUsWjlNUOg9TQjW

References

1. शर्मा, स्वतंत्र, (1996), भारतीय संगीत : एक ऐतिहासिक विश्लेषण, अनुभव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद

2. कुमार, अशोक, संगीत रत्नावली, अभिशेक पब्लिकेशन, चण्डीगड

3. Mutatkar, Sumati, Aspects of Indian Music, Narayana Menon, 'The Guru-Shishya Relationship in the Learning of Music in India, Sangeet Natak Academy, New Delhi

4. Ibid, Vijay Kichlu, 'Gharânâs in Hindustâni Vocal Music'

5. The Great Indian Gharânâs: A Journey Through Music Lineages | by Global Music Institute | Medium

6. GHARANA-IN-HINDUSTANI-CLASSICAL-MUSIC.pdf (djmr.co.in)

7. Pathak, S., Hindustani sangit mein raga ki utpatti evam vikas

Exploring the Impact of Music Therapy in Promoting Holistic Well-being among Senior Citizens

Anubhuti Gupta*

ABSTRACT: The relaxing effects of music have been culturally accepted for centuries. The idea of deriving therapeutic benefits from music is not a new concept to be discussed and practised. Studies have shown that when people are deeply involved in activities which amuse them, physiological factors such as the heart rate, blood pressure and respiratory rate are lowered.The ageing process is a multifaceted stage of life marked by a range of social, psychological and physiological changes. Promoting health and wellbeing among elderly requires an understanding of these developments. The ageing process can make older adults more susceptible to psychological or medical issues. Thus, finding holistic practices to enhance senior citizen's quality of life is extremely crucial. Older people's lives may be improved by having access to active music-making, particularly in light of rapidly rising life expectancy and rising rates of depression and isolation among the geriatric group. This article highlights various psychological and physical problems faced by the elderly. Through this paper, an attempt is made to find out the appropriate usage of music for a better living condition without a stress-free life among senior citizens.

KEYWORDS- Music therapy, senior citizens, holistic wellbeing, depression, loneliness

INTRODUCTION

India is home to 1/8 of the world's elderly population. Not only has the number of elderly people increased significantly over time, but there has also been a significant change in the age groups of 80 and above as a result of the remarkable growth in human life expectancy.[1]

A resident Indian who is 60 years of age or older is considered a Senior Citizen and a resident Indian who is 80 years of age or older at any point during the relevant fiscal year is considered a Super Senior Citizen.[2]

India has around 104 million senior people (60 years of age or more). According to the Population Census of 2011, 53 million of whom are female and 51 million of them are male. According to a survey published by Help Age India and the United Nations Population Fund, there would be 173 million older people in India by 2026.[3]

Given the ongoing changes in the demographic landscape, understanding the attributes of this demographic group is crucial for efficient policy formulation, healthcare delivery and community involvement. The remarkable rise in senior population has numerous economic ramifications, especially when it comes to providing for their comparatively higher health requirements.

Greater emphasis should be made on 'holistic wellbeing' among senior citizens. Holistic wellbeing is a comprehensive approach to health that emphasizes the interconnectedness of various aspects of an individual's life, including

* Ph.D. Research Scholar (UGC-SRF) , Faculty of Music and Fine Arts, Delhi University

physical, mental, emotional and spiritual health. This perspective acknowledges that true wellness cannot be achieved by focusing on just one area; instead, it requires a balanced integration of all dimensions of life.

Holistic wellbeing is essential in today's fast-paced world, where individuals often face significant stressors from various aspects of life. By recognizing the interconnectedness of different health dimensions, individuals can take proactive steps to address imbalances before they lead to more serious health issues. This approach not only promotes better physical health but also enhances mental clarity and emotional resilience, leading to a more fulfilling life overall.

COMMON GERIATRIC PROBLEMS

Old age can be regarded as a vulnerable age marked by life uncertainty, emotional dependency, loneliness and physical degeneration. The majority of deaths these days are not from communicable diseases which majorly have their treatments available, but rather from heart attacks, cancer, hypertension, diabetes and other conditions more related to our fast-paced and stressful lifestyle.

Jennifer Tripken, Associate director of National Council on Ageing (NCOA) Centre for Healthy Ageing in Virginia, USA, draws attention to the special connection between stress and ageing which can exacerbate pre-existing conditions and result in new ones. Based on his perspective, stress accelerates the ageing process and managing it is particularly difficult for older persons as their bodies and minds have already experienced a great deal of stress and deterioration later in life. Therefore, the best option is to focus on addressing the causes of stress early in order to prevent its detrimental effects from compounding.[4]

Over a period of time, lung function and heart fitness may deteriorate which lessens the effectiveness of the body's natural stress-reduction mechanism. A senior citizen may not be able to withstand stress as effectively as it once did. Certain conditions such as chronic pain or discomfort, impaired mobility or coronary artery disease may make an elderly feel more stressed out.

Symptoms of Stress Among Senior Citizens

Stress frequently shows itself in more tangible ways for the elderly population. Frequent headaches, sleep issues, insomnia, physical and mental exhaustion, changes in appetite, muscle tension, discomfort, chest pain, upset stomach and other symptoms could be warning signs of stress. Therefore, these frequent symptoms of stress may go unnoticed if a person already has some chronic health concerns. Chronic stress can also result in more serious health issues like diabetes, high blood pressure and heart disease. Stressful lifestyles also increase the risk of colds and flu.

Since stress can be a trigger for a variety of health issues, it's important to recognize its symptoms in order to preserve good health. Stress can cause both physical and emotional symptoms, such as:

- Migraines
- Digestive problems
- Irritability
- Heart palpitations
- Sleep disturbances

- Poor concentration
- Social disengagement
- Exhaustion
- A pessimistic sentiment
- Frequent crying
- Shortness of breath

Acknowledging these stress symptoms is the first step in mitigating them.

Causes of Stress Among Senior Citizens

Different age groups experience stress for different reasons. A younger individual may experience stress from pursuing a new career, repaying student loan debt or starting a family. An older adult's concerns are probably different.

Seniors are especially vulnerable to isolation and loneliness which are two prevalent causes of stress for the ageing population. Older adults frequently experience the loss of a spouse as a result of divorce or death. After losing a friend, family member or pet, many seniors experience loneliness.

For senior individuals, retirement is a period of profound psychological and social transformation. The end of full-time employment, ageing, having more free time, shifting financial circumstances, altering interpersonal connections and changing societal views of retirees are among the variables that need to be addressed. Retirement can be a time of great fulfillment and adventure or a period of psychological crisis, depending on the ability of older persons to confront these issues. There is enough evidence to show that participating actively in music throughout the transitional years leading up to retirement and beyond may help older adults' psychological and mental health.

After retirement, senior citizens who identify themselves primarily by their careers frequently lose their sense of direction. Losing a source of income and a social standing can be quite stressful events. Many elderly people lose their mobility which makes it impossible for them to keep their driver's licence and consequently, their ability to drive safely. Elderly people with disabilities frequently become dependent on others since they can no longer live alone.

Senior women's issues are compounded by a lifetime of discrimination based on their gender, which frequently originates from ingrained cultural and societal prejudice. Other types of prejudice based on caste, class, unemployment, illiteracy and marital status exacerbate it. Property rights and the patriarchal system are also discriminatory. Compared to older males, older women are overburdened with domestic chores and hence have less time for leisure or recreational activities.

Widows make up more than half of women over 80. Given the numerous disadvantages they experience in their life, elderly women and their difficulties require particular attention since their numbers are projected to rise in the future and because they are probably ill-equipped to deal with these challenges.

Stressors tend to evolve with age. Other typical reasons why older people experience stress includes:

- Persistent disease
- Grief and loss

- Unstable finances
- Layoff and divorce
- Technophobia
- Social isolation
- Death of a close relative
- Too much unstructured time
- Deteriorating physical abilities
- Caretaking demands for a spouse, parent or other loved one
- Relocating to a new residence.
- Increased dependence on others.
- Healthcare costs.

Effects of Stress On Senior Citizens

There is clearly an association between chronic stress and poor health in older adults, even though the exact relationship is difficult to ascertain. These are a few ways that stress affects senior citizens.

***W*eak *I*mmunity**: It is well recognized that stress weakens the immune system. Elderly people are more susceptible to illness due to suppression of immunity. Stress therefore significantly impairs older persons' ability to combat illness.

***H*eart *I*ssues:** Long-term stress can negatively impact heart health. The body overproduces adrenaline in response to stress, which raises blood pressure and heart rate. However, the relationship between stress and heart disease is far more complex than just quantifiable factors. Stressed-out seniors may resort to binge drinking or overeating as coping mechanisms. Each of these actions damage our arteries and increase the risk of heart disease.

***V*ision and *H*earing *L*oss:** Anxiety has a major impact on how quickly hearing and vision loss progresses in older people. Prolonged adrenaline production can narrow blood vessels which causes a transient reduction in hearing and vision.

According to Dr. Sanjeev Bhatia, Senior E.N.T. surgeon in Meerut, stress exacerbates age-related hearing loss or presbycusis. Tinnitus is a disorder marked by buzzing or ringing in the ears which is caused by ongoing stress. Under stress, it might become more obvious and difficult to regulate it in old age. He further adds that dry eye illness can result from long-term stress that interferes with the tear glands' regular activity. Irritation, redness and impaired vision are symptoms of this disorder that can seriously lower an older adult's quality of life. He further states that older people are significantly more likely to report having dry mouth or xerostomia when they are experiencing higher levels of stress.[5]

***D*igestive *P*roblems:** Our digestive muscles may contract and the amount of secretions required for digestion may decrease as a result of the central nervous system stopping blood flow. Irritable bowel syndrome (IBS), functional dyspepsia, functional constipation and hyperacidity are frequently seen among elderly population.

As stated by Dr. Anil Rastogi, Senior Gastroenterologist in Meerut, various stress related disorders are common among people nowadays. Irritable bowel syndrome (IBS), functional dyspepsia (indigestion), functional constipation and hyperacidity are frequently seen among elderly patients in his clinic. Obesity, altered eating habits and anorexia (loss of appetite) are other disorders associated with stress

which are linked to a number of other major health issues. He also recommends playing soothing music during an endoscopy to enhance a patient's comfort and lower anxiety.[6]

Dental ***P***roblems**:** Elderly people are more likely to experience dental problems which increases their risk of cavities and fractures. When people clench their jaw under stress and grind their teeth unknowingly throughout the day, it can lead to dental problems.

Losing teeth can have a detrimental effect on one's quality of life in relation to oral health, social standing and self-esteem. Furthermore, a review found that individuals who had lost teeth were 28% more likely to experience depression. The incidence of dementia in older persons with numerous missing teeth was 55% greater, whereas the risk was 50% lower in those with more teeth. To meet the growing demand for dental care for the elderly, dentists should stay up to date on the latest advancements in geriatric dentistry.[7]

With the aging of the world population, it is critical to comprehend the varied challenges that older people experience. Many social, psychological and physiological problems are brought on by this demographic change that calls for attention. On acknowledging the implications of stress on the lives of senior citizens, it's necessary to provide better stress management practices for their holistic well-being.

MUSIC AND WELL BEING

Music plays a vital role in enhancing holistic wellbeing, serving as a powerful tool for emotional, mental and physical health. The therapeutic use of music, often referred to as music therapy, can address various needs and promote overall wellness.

The trend of "wellness music" is gaining momentum as more people seek intentional soundscapes designed to enhance mental health. Streaming platforms now offer playlists that focus on mood enhancement, stress reduction and relaxation techniques tailored to individual needs.

The majority of scholars in music education usually concentrate on examining the musical experiences of people and groups from early childhood through adulthood. According to D.E. Myers, music professor at University of Minnesota, U.S., relatively little research has been done on the impact of music engagement after early adulthood. It is impossible to undervalue the significance of music engagement for senior citizens.[8]

Music can be regarded as one of the creative, culturally significant and spiritually refreshing pastimes that encourage self-expression, good health and overall well-being in older adults.

Music is a vital tool in geriatric care because of its therapeutic effects, which span the physical, emotional and social domains. Engaging in music has proven to be immensely beneficial for senior individuals, irrespective of their health status. There is evidence that creating music actively improves one's quality of life. Seniors who actively listen to music enjoy many advantages such as:

(a) Greater sense of overall physical and mental well-being including reduction in stress, pain and medication use

(b) Delay in age-related cognitive decline

(c) Experiences of pleasure and enjoyment

(d) Sense of pride and accomplishment in learning new skills

(e) Creation and preservation of social ties

(f) Vehicle for artistic self-expression

(g) Building an identity during a period of life when one's sense of self may be forming or changing.[99]

Individuals' bodily changes can be influenced by music, either directly or indirectly. Aerobic workouts with music enhance motor coordination and help people maintain proper posture. Regular functioning of the heart and lungs reinforces a sense of rhythm. Light exercise combined with music might be helpful for senior citizens as it helps them overcome exhaustion, build endurance and promote confidence.

In recent times, music therapy has become a valuable supplement in medical care. Recognizing the full potential of music can greatly improve our lives. For instance, it can decrease muscle tension, enhance movement, promote coordination, enhance the release of endorphins- the body's natural painkillers that provide a positive feeling. It also slows down and normalises brain wave patterns, stabilises blood pressure, heartbeat and respiration. Additionally, music also enhances memory and learning capacity, strengthens the immune system, stimulates the digestive system, improves natural relaxation and increases energy levels.

Studies have demonstrated that music enhances cognitive abilities such as memory and focus. Listening to music during old age preserves fine motor skills and reduces cognitive loss, especially in individuals suffering from dementia. Music listening can lessen the impression of pain and aid in the management of chronic pain problems. Music has a calming effect on the body by reducing stress hormone levels.

Dancing and other basic rhythmic exercises are two ways that music promotes movement. Seniors find it simpler to stay active as they age since this physical activity improves their endurance and coordination.

Seniors can connect with their feelings through music, especially in situations where verbal communication becomes difficult. Music is a strong vehicle for emotional expression. Playing an instrument or singing can bring back memories and feelings, strengthening one's bond with their past. Social relationships among older persons are fostered by participation in group music therapy sessions. These environments stimulate conversation, lessen feelings of loneliness, and foster a sense of belonging among attendees. Moments of joy and connection are created through activities like singing along or exchanging playlists.

SOME GERIATRIC STUDIES INVOLVING MUSICAL INTERVENTIONS

The literature is replete with evidence supporting the benefits of music involvement for senior citizens, even though these benefits may be idiosyncratic to each person. The data comes from studies conducted by professionals in the fields of psychiatry, psychology, sociology, music education and other health-related fields. Music is considered as an enjoyable and reinforcing experience that stimulates deep physical relaxation, upbeat mood and clear thinking; all of which are incompatible with worrying.

In a study, Sumanthy Sundar, Director of Chennai School of Music Therapy examined the impact of group singing sessions in elderly people living in institutions who were suffering from mild depression. The research was carried out using randomised control trials. The 40 participants in the experimental group were given daily music therapy for three weeks, led by a music therapist through group singing. The 40-person control group did not get any such particular assistance. After three weeks, the experimental group's depression and loneliness scores were lower than those of the control group. After three weeks, the researchers found that among geriatric persons with mild depression, group singing dramatically reduced feelings of loneliness and depression.[10]

The impact of music therapy on the psychological issues of senior citizens living in certain geriatric homes was evaluated by Dr. Shiv Bhushan Sharma, professor at Chettinad Academy of Research and Education. The research was carried out in the senior living facilities, 'Little Drops' (the experimental group) and 'Little Angel' (the control group) in Chennai, Tamil Nadu. Utilising a modified version of the WHO scale, the Subjective Well Being Inventory Scale was used to evaluate the impact of music therapy on psychological issues. The elderly people were required to listen to prearranged instrumental compositions based on raga Malkauns for 22 minutes each evening for 30 days. The findings of the study demonstrated a strong correlation between the impact of music therapy and senior citizens' degree of wellbeing. When the benefits of music therapy were correlated with the demographic characteristics, it was discovered that older adults with greater levels of education and family income had better relationships with music than older adults with lower incomes. It was also noted that females were more influenced by music than males. [11]

In another research endeavour, Dr. P. Srinivasan, professor at AIIMS, Patna assessed how well music therapy improved senior citizens' quality of life. To assess the impact of music therapy on the quality of life of forty senior inmates at an old age home in Madurai, a single group pre- and post-test design was used. Research subjects were exposed to classical instrumental calming music prepared by music therapist Dr.T. Mythily. The participants were required to listen to music for 30 minutes each day for a period of 24 days. The results of the study showed that music therapy considerably enhanced the quality of life for senior citizens. Therefore, this study concluded that music therapy is an inexpensive, non-invasive, non-pharmacological, complementary and alternative kind of treatment for enhancing older adults' quality of life.[12]

In another study, Dr. Debra Bakerijan, clinical professor at the Betty Irene Moore School of Nursing, University of California, assessed the impact of music on 4107 inmates in California nursing institutions. This study was completed in three years and at least twice a week, carefully chosen music was performed. The investigation findings were a substantial reduction (by 9–17%) in the usage of antipsychotic, anti-anxiety and antidepressant medications. There was also a notable improvement in mood, reduction in pain, decrease in aggressive behaviour and negative moods among the inmates.[13]

In another separate investigation, renowned American psychiatrist Gene D. Cohen acknowledged that certain strengths arise in

conjunction with ageing. Vocabulary, specialised skills and wisdom are a few of these strengths. Cohen and his associates discovered numerous advantages of artistic pursuits among elderly individuals. As a senior citizen gets involved in musical activities, certain qualities, values, positive attitudes and creativity could become more apparent. It is important to consider the impact of these newfound strengths as life expectancy continues to rise.[1414]

It is well recognized that music can help older adults maintain their overall well-being. In order to support this assertion, research was conducted by Dr. Don D. Coffman, professor at University of Iowa, U.S. to study the relationship between music and quality of life in older adults. This study briefly discusses some fundamental questions about adult growth and the metrics used to quantify quality of life. It highlights that engagement in musical activities encompassing both listening and creating music can impact life satisfaction of senior citizens.[15]

In a separate research by Dr. Herbert Bruhn, music professor at the University of Flensburg, Germany, the importance of music therapy for senior citizens is emphasised. It highlights that hearing, vocal range, physical coordination and cognitive processing are required for both making and listening to music. In this study, seniors' musical pursuits are discussed, starting with participation in choirs, singing and learning instruments. A new market for professional music educators may arise from the survey's findings that older people are very interested in starting their own music-making projects. Even the most severely physically or cognitively impaired people can experience and enjoy music unless their hearing is severely compromised. Additionally, music can serve as a calming, constructive stimulus for reducing stress and changing mood.[16]

It is not just the subjective opinions of music participants that asserted the age-defying benefits of participating in musical activities. Various studies showed evidence that classical pianists maintained their cognitive-motor skills while playing the piano. In one study by a renowned psychologist, Anders Ericsson at Florida State University, it was highlighted that purposeful piano practice halted the age-related deterioration in domain-specific cognitive-motor abilities. Seniors who participate in musical activities can avoid common health problems like stress, worry and pain.[17]

According to renowned American gerontologist Robert C Atchley's continuity theory, those who were able to carry on with activities they had enjoyed as children were less vulnerable to the detrimental psychological effects of ageing. The ability to engage in favourite lifetime pursuits like music has been linked to older people's psychological wellbeing. Additional studies conducted in the field of music education revealed that older adults who have continued their involvement from younger years may find that it gives them a feeling of coherence and continuity in their lives. Music participation fostered a sense of purpose in their lives.[18]

Detriments of music participation are hardly mentioned in literature. A rare study by Dr. Alex C. Michalos, professor at the University of Northern British Columbia, Canada revealed a negative correlation between general health and music participants who sang alone for a number of hours per week. According to Michalos, those who sing by themselves are ''not only alone but

lonely, which might lead to moderate depression." It was deciphered that if any negative effects of listening to music happened at all, it was due to unusual conditions and other factors like despair.[19]

CONCLUSION

The elderly population poses particular difficulties that call for all-encompassing approaches in the fields of social services, healthcare and community support networks. By addressing these problems comprehensively, older citizens' quality of life can be enhanced and they can live longer and healthier lives.

The significance of music in the lives of older adults cannot be overstated. It serves not only as a source of enjoyment but also as a powerful therapeutic tool that enhances physical health, emotional well-being, and social connectivity. As research continues to support its benefits, integrating music therapy into the care plans for older adults will likely become increasingly important in promoting their overall quality of life. Listening to music or engaging in any musical activity daily should be incorporated as a lifestyle change.

Incorporating music into our wellness routine can significantly impact our holistic health journey. Whether through structured music therapy or casual listening, the power of music to heal and uplift is profound. Embracing this art form as part of a broader approach to wellbeing can lead to improved emotional resilience, mental clarity and overall life satisfaction

Music therapy is one of the most effective alternative therapies without any side effects. There is a need to educate people in this aspect of utilising music as a therapy. It has always been a part of our society since its origin. Unfortunately, there is less awareness regarding its practicality and usage. We have forgotten our rich and radiant cultural heritage and teachings. Educating people about this is the need of the hour. In India, it is still in its budding stage. There are many trusts and organisations in India working towards it.

Yet much work needs to be done and more scientific documentation is required. There is a vast ocean of different Ragas in Indian Classical Music which can be exploited for the betterment of mankind in general and to enrich the medical science in particular.

Just like how Yoga, meditation, and physiotherapy are being encouraged as different forms of treatment methods, music therapy should also be promoted by the AYUSH (Ayurveda, Yoga, Naturopathy, Unani, Siddha, and Homeopathy) ministry.

Memorable and timeless, music has been a constant source of comfort and companionship in challenging times. The show must go on.

Notes

1 World population Ageing: 1950-2050; Department of Economic and Social affairs, Population Division, United Nations. New York.2002

2 Income tax India booklet under income tax act 1961, Benefits for senior citizens and very senior citizens. https://incometaxindia. gov.in/booklets% 20%20pamphlets/benefits-for-senior-citizens-very-senior-citizens_english.pdf

3 Government of India's Ministry of Statistics and Programme Implementation Report

[4] Stress- how to reduce it, guide for older adults, March 24, 2023, National Council On Ageing https://www.ncoa.org/article/stress-and-how-to-reduce-it-a-guide-for-older-adults

[5] Personal Interview with Dr. Sanjeev Bhatia, M.S. (E.N.T.) Senior Consultant in Meerut, Dated- 22.6.2024

[6] Personal interview with Dr. Anil Rastogi, Senior Gastroenterologist in Meerut, Dated- 2.5.2024

[7] Chan AKY, Tamrakar M, Jiang CM, Lo ECM, Leung KCM, Chu CH. Common Medical and Dental Problems of Older Adults: A Narrative Review. Geriatrics (Basel). 2021 Aug 6;6(3):76. doi: 10.3390/geriatrics6030076. PMID: 34449647; PMCID: PMC8395714.

[8] Myers, D. E. (1995). Lifelong learning: An emerging research agenda for music education. Research Studies in Music Education, 4(21), 21-27.

[9] Lisa J. Lehmberg, C. Victor Fung, Benefits of Music Participation for Senior Citizens: A Review of the Literature, Music Education Research International, Volume 4, 2010

[10] Mathew, D., Sundar, S., Subramaniam, E., Parmar, P.N. (2017). Music therapy as group singing improves Geriatric Depression Scale score and loneliness in institutionalised geriatric adults with mild depression: A randomised controlled study. International Journal of Education Psychology Research, 3, 6-10. https://www.researchgate.net/publication/343987606

[11] Lakshmi, L. & Sharma, Prof. (2018). A study to assess the effectiveness of music therapy on hypertensive elderly residing in selected geriatric homes, Kancheepuram district, Tamil Nadu, India. International Journal of Scientific Research. 4. 462-464. https://www. ijeprjournal. org/text.asp?2017/3/1/6/198415

[12] Alanivelu, S. (2015). Effectiveness of music therapy on quality of life among elderly- International Journal of Applied Research. 1. 432-434. https://journals.indexcopernicus. com

[13] Debra Bakerjian et al., "The Impact of Music and Memory on Resident Level Outcomes in California Nursing Homes," Journal of the American Medical Directors Association, vol. 21, no. 8, pp. 1045-1050, 2020.

[14] Cohen, G. D. (2006a). Research on creativity and ageing: The positive impact of the arts on health and illness. Generations, 30(1), 7-15.

15 Coffman, D. D. (2002). Music and quality of life in older adults. Psychomusicology: A Journal of Research in Music Cognition, 18(1-2), 76–88. https://doi.org/10.1037/h0094050

16 Bruhn, H. (2002). Musical development of elderly people. Psychomusicology: A Journal of Research in Music Cognition, 18(1-2), 59–75. https://doi.org/10.1037/h0094051

17 Krampe, R. T., & Ericsson, K. A. (1996). Maintaining excellence: Deliberate practice and elite performance in young and older pianists. Journal of Experimental Psychology: General, 125(4), 331-359.

18 Atchley, R. C. (1989). A continuity theory of normal ageing. The Gerontologist, 29, 183-190.

19 Michalos, A. C. (2005). Arts and the quality of life: An exploratory study. Social Indicators Research, 71, 11-59

Cultural Diplomacy Between India and Nepal

Mithilesh Kumar*

Abstract: *Cultural relations maintain an essential place in the relationship between India and Nepal, establishing a long-lasting closest connection between the two countries. Worship sites Pashupatinath Muktinath Janakpurdham and Lumbini in Nepal and Char Dham Varanasi Ayodhya and Bodhgaya in India maintain crucial connections for all inhabitants of the nations. These holy pilgrimages function as both expressions of religious harmony and evidence of complementary cultural traditions and communal beliefs. Placing monuments at the Pashupatinath Temple complex under preservation activities shows how Nepal and India dedicate resources to safeguard their cultural heritage. The Memorandum of Understanding (MoU) organized between the Nepal Academy of Music and Drama and Sangeet Natak Akademi, New Delhi enables cultural exchange for academician skills among directors music writers, and board members through art exhibitions and reciprocal delegation programs. The cultural and economic relationships between India and Nepal exist due to linguistic connections, ritualistic traditions, and cooperative cultural projects. The close proximity between the two countries triggers problems for border residents since it creates identification issues. This research explores India's cultural ties with Nepal through an investigation of historical joint traditions and bilateral participatory ventures while examining the evolving characteristics of communities near the shared border region. The paper reveals how cultural bonds create bilateral relationships while bypassing political restrictions and lead to harmony between nations.*

Key Words: India-Nepal Ties, Cultural Connectedness, Diaspora, Identity Crisis.

Introduction

National bilateral relations can largely be anchored from culture as the base or support structure for stable relations between two countries. They provide a perfect model of how cultural connection is closely tied with India and Nepal because their history involves religious and traditional links. Their governments sustain the existence of their relations by the centrality of people-to-people engangement. Individual persons With the help of nongovernmental organizations as other authoritative sources function as key strands playing very vital role at enhancing this cultural bond through collaborative partnership. When people interact, several cultural stories become the structure of togetherness with the other party. Heritage sites perform the roles of making vital linkages for relationship formation, relationship development and fostering meaningful understanding. Religious sites in Nepal including Muktinath Temple and Pashupatinath to Indian counterpart religious sites Varanasi and Bodhgaya certainly installs new borders for physical relation to boost tourists traffic between two counterpart nations. By using the South Asian Association for Regional Cooperation (SAARC) members have enhanced chances to identify such sites which in return boosts the prospects of cultural tourism for diverse boundary countries.

*** Assistant Professor , Department of Political Science , T. P. College Madhepura, B.N.Mandal University Madhepura**

Some of the programs that the Indian Government has started aim at enhancing contacts between its people: especially through exchange of cultural troupes and educational institutes as well as media coverage, etc. Cultural Programs and Symposia together with other events are managed and organized between the Indian Nepalese Local bodies for demonstrations on common social bonds along with interaction amongst citizens. The seminars along with conferences in the Hindi language help to spread the understanding of the Indian language as well as foster the Nepalese people's acquaintanceship. The cooperation between Nepal media and Indian media involves educational partnership to provide visiting journalism fellowship for Nepalese journalists and training on Nepali print and electronic media establishments. Therefore, these initiatives offer potential for enhancing the bilateral relationships. In addition major support to Nepal is provided by India in areas of archaeology and media and construction of education infrastructure. The establishment of an e-library increases the cooperation between Nepal-India academic institutions through inherent support by India education. And by such measures cultural relations contribute to enhancing bilateral cooperation along with stability and peace within the area. Main difficulties stem from proximity because the inhabitants of these nations are confused about their identity. Having joint cultural ties with individual national attributes create a complex condition that requires proper handling. This way the analysis proves why cultural diplomacy creates lasting transnational relations which are not limited by the political or economic sphere, but lay the strong base for the further development of the alliance and comprehending relationships.

Objectives

1. For the purpose of enhancing goodwill and understanding between the people of India and Nepal the two countries should utilise collaboration between the respective cultural institutions as a basis for developing cultural exchanges as well as for the protection of the respective cultures through Memorandums of Understanding.
2. Religious tourism requires development through support that enables people in the region to access critical religious circuits like Char Dham in India, Pashupatinath, and Lumbini in Nepal with full access and site conservation.
3. Under the Cultural Agreement safeguarding religious connections between Hinduism and Buddhism by preservation of Buddhism scriptures together with global reconciliation of Buddhist and Hindu sacred sites is intended.
4. The program maintains an unabated flow of People-to-People contacts for the socio-religious integration of the society on the other hand joined language music and intonations and countrywide transfer schemes to carry the brunt for boosting economic development in the long run.

Cultural Institutions and Initiatives

There are many institutions involved in the mutual cultural process between the two nations and their culture is still growing closer in recent years. Since 2007 the Swami Vivekananda Centre for Indian Culture has been coming out to help to lead Nepal's efforts to promote Indian culture from the country's capital of Kathmandu. This way the center is building goodwill and mutual respect because of the many programs and events that bring Indian and Nepali citizens together. The first library established in nepal that orginated from a foreign country is Nepal-Bharat Library established in kathmandu in 1951.The library is at present at newroad Baneshwor. In this sense, as the executive branch of the intergovernmental organization for cultural relations enhancement and information facilitation, the foundation is an important integrative organ of cultural diplomacy.

The existing B.P. Koirala India-Nepal Foundation was formed in 1991 by signing the Memorandum of Understanding (MoU) between the two governments. This foundation collaborates dynamically to accommodate interdisciplinary endeavors in culture and science merged with technology in educational fields. This way, the foundation attains considerable levels of comprehension from all the professionals involved by providing ground to share professional know-how. They along with campaigns are illustrative of how cultural diplomacy builds and anchors partnerships as well as trust between neighboring countries.

Diaspora and Migration

The Indian diaspora in Nepal and the Nepalese population in India form vital bridges of connection between the two countries. Approximately 600,000 Nepalese live in India; they are engaged in trading, professional services, and business activities or becoming labour force; they bring some benefits to Nepalese economy through their trading and professions and other working operations. From its inception in 1990, the Indian Citizens Association of Nepal (ICA) provides a vent for the Indian community in Nepal for airing their grievances and be socially productive. Thus, with its branches in Pokhara and Damak and Bhairahawa the ICA is also able to focus on dissemination of its work in the different regions of Nepal.

There are around eight million Nepalese citizens living in India under more liberal visa/otherwise liberty rules. The integrated polices enable the development of suitable interpersonal relation resulting in cultural interpenetration together with economic opportunities. Sister city relationship enhances the existence of cultural ties between Kathmandu and Varanasi as well as between Lumbini and Bodhgaya. That is the reason, India-Nepal Ramayana Circuit as the pioneer cultural-tourism venture explains how two geographic neighbours establish common historical linkages and simultaneously promote tourism exchanges.

Religious and Cultural Connectedness

Hinduism or Sanskrit words dictionary and Buddhism sharing religion with India as a key factor is the main cause of strong

relations between the two countries India and Nepal ? Some religious attractions of both countries are open to receive visitors despite, crossing several national boundaries. In many parts of Nepal, Hindu temples Pashupatinath and Muktinath are revered and Lumbini is significant for both Buddhists. Daily many Nepalese travelers visit Varanasi and Bodhgaya in India because these religious sites enhance the ritual diplomacy relations between two countries.

Between two communities across the border enjoy their relationship by the phrase Roti-Beti ka Rishta. Marriage relations of Nepalese and Indian families still follow traditions which have occurred continuing centuries of existence. In addition, communities in the border regions of Uttar Pradesh, Bihar, and Uttarakhand share linguistic and cultural similarities. Population of each side of the borders is bilingual and tri lingual because aside from Hindi they also speak Maithili and Bhojpuri which results into cross cultural ties. By smooth integration both the countries cross over superior national barriers, thus leading to a firm unity of the two nations.

Those collaborative festivals serve effectively as an agent of developing relations. Starting from the festival of Dashain and continuing until the Tihar festival, and later Buddha Jayanti both Nepal and India have festivals that are meant to symbolise their culture together. These festivals bring together people of the particular creating the picture of the long term cultural balance that shaped this partnership from the ground up.

Linguistic and Regional Integration

Language helps India and Nepal create tools that enhance their cultural interaction and absorption procedures. The border residents are able to communicate actively while also being in touch because Hindi besides Maithili and Bhojpuri are also understood here. These shared language elements enable cultural groups to bridge resulting cultural divide with a view of form cultures social, economic and cultural alliances on projects.

Many common rituals combined with cultural ceremonies as well as festivals serve as great developmental benefits to regional integration. As is familiar with the part of the world it is normal for people from the other side of the border to celebrate their religious and cultural activities in toil in harmony. It maybe marked out with equal celebration of Dussehra and Diwali during the Nepalese temple festivals of Dashain and Tihar respectively. Buddha Jayanti is uniformly signaled to be a day of reverence observing nations with both sorts of Buddhism in honor of their identical Buddhist spiritual heritage.

One clear change at working level was the growth of regional integration through border migration in open borders. While labor migration complimented trade, it has led to the creation of a cross-border culture through the blending of culture logical features to develop unique culture. In border areas shopping centers promote Nepali products combined with Indian products to show both Nepali and Indian sources of economic life and daily usage conveniences.

The shared cultural history and easy language compatibility that exists between

India and Nepal are why cultural diplomacy should enhance the two countries' relations. Schools in border regions must find a solution to identity crises in the region just as collaboration in any project will enhance regional cohesion. The coming together of these nations brings a start to long and stable partnerships involving respect for each other's history and past.

Government Collaborations for Cultural Promotion

For decades, both India and Nepal have been in collaboration to retaining their cultural ties through different government mechanisms and policies. By group effort both the nations preserve this common cultural treasure as well as promote it as they encourage appreciation for the cultures of the other nation.The following are various Memoranda of Understanding (MoUs) signed between both nations to facilitate cultural exchange programs among learners. Key agreements include:

- Sahitya Kala Akademi (India) and Nepal Academy: In accordance to this Memorandum of Understanding both parties seek to intensify the development of literature and arts through partnerships in writing, poetry work and translation. An understanding of the cultural differences of the two nations is highlighted through facilitation of events like the literature based festivals, book swapping, etc.
- Doordarshan (India) and Nepal TV: These two conservatories should collaborate tactically as they can exchange television programs that features cultural practices and cultural values. Visual media platforms provide an opportunity for these countries to enhance people's awareness of cultural factors existing between them.
- Press Council of India and Press Council of Nepal: Industrial journalistic transactions as well as ethical practice protocols developed from this cooperation safeguard cultural folklore and representatives in media relay them to the public.
- Lalit Kala Akademi (India) and Nepal Academy of Fine Arts: In this program visual art organization including painting groups, sculptural artists and creators of traditional crafts form partnership. Exhibition planning schematics together with a collaborative artist workshop help artists to come together and rejoice for the similar cultural background.
- Twinning of Sister Cities: Two of the city partnerships including Kathmandu-Varanasi and Lumbini-Bodhgaya and Janakpur-Ayodhya in a way ensure that both are faithful to their historical and religious links. In these partnerships organizations support and help realize tourism potential and improve social cohesion through convening cultural events and financing community facility improvement initiatives.

2. Religious Affinity and Shared Heritage

The spiritual bonds between India and Nepal function through mutual devotion to Hinduism and Buddhism as their basis for

shared cultural heritage. These nations have become more united by their shared related beliefs in religion with this meaning they are accorded international recognition within cultural diplomatic realms.

Hinduism: The majority Hindus of India and Nepal have several practices in common which are related to the beliefs as mentioned below. While individuals throughout the international community regard Pashupatinath Temple as sacred in Nepal, similarly, Hindus of Nepal visit the image of Kashi and Ayodhya in Varanasi and India respectively. Open-border policy also provides religious bonds with extra power, which results from pilgrims' ability to travel without many restrictions. It may be noted that the two towns of Janakpur in Nepal and Ayodhya in India are religious towns because Janakpur is the birth place of Sita whereas Ayodhya is home to Lord Ram. By 'Sita-Ram cultural relations national families have easily sustained the relation between India and Nepal.

Buddhism: Lumbini situated in Nepal receives international recognition as a UNESCO world heritage site because of its position of Birthplace of Lord Buddha and locals and Indians tourists and pilgrims visit this place. The site at which Buddha got enlightened at Bodhgaya in India remains to be an important pilgrimage site for the Nepalese Buddhists. Religious and cultural link between the nations support the religious and cultural tourism related activates and encourage the spiritual relationship between them.

Religion is one diplomatically sensitive power each country knows is effective. These links are protected by programmes such as the India-Nepal Ramayana Circuit in conjunction with the Buddhist tourism circuits. These tourism circuits also serve the useful purpose of improving travel promotion and represent the historical and cultural common interchange points around the world for peoples of different countries.

Cultural Integration Through People-to-People Connections

Now the people of India and Nepals have maintained maximum affinity as their kinship relation links both their nations. Same way the relation between both countries known as "Roti-Beti ka Rishta" is represented by the exchange of roti of food with each other and the exchange in terms of beti intermarriage.

Open Border Policy: It is interesting to note that India and Nepal have an unique bilateral relations on border issues that allow the people in the two countries to visit and reside freely in each other's country for purposes of visit, work and establishment of settlements. By this policy both economic cooperation at the trading level and accompanying cultural ties are reciprocally expanded. The recently anointed open-border policy gives a visa to eight million Nepalese and more than 600,000 Indians the permission to work and reside in one another's countries. The moving populations have twofold responsibilities in the socio- economical development of their countries of origin as well as acting as cultural intermediaries between countries.

Diaspora and Social Ties: There exists a huge population of Indians in Nepal and a significant number of them ensures that

cultural diversity is upheld through celebrations of community events festivals. Nepalese people used often live as migrants in India; however, they have integrated into the local society but remain faithful to Nepalese traditions. He further stated that the use of common language along with Hindi, Maithili and Bhojpuri by the population of both countries generates other social connections.

Shared Festivals: Different festivities are a chance for individuals to exchange conventions by fancy celebrations of which include Dashain celebrations that emulate Dussehra celebrations and the Tihar celebrations similar to Diwali. The Buddhist celebrations such as Buddha Jayanti are considered equally sacred by both populations because there is a religious bond between the two countries. The festivals are consequently creating an element of togetherness within the community and at the same time facilitating the operations of the culture interchange systems within the population.

Twinning of Sister Cities: Religious and cultural relations between Nepal and India are symbolized by the twin city relations between Kathmandu and Varanasi, and Lumbini with Bodhgaya. These agreements allow the parties to promote cultural exchange through the organization of large joint events along with promoting promotional tourism together with the parties' joint collaborative work on urban development projects.

Cultural Influence Beyond Borders: It is exerting its impact as a common effect of the South Asian area and worldwide coming from India and Nepal. Since these two places have cultural significance, Lord Buddha and Sita show the souls of these two countries are the same. In as much as Nepals cultural offering has been highly significant for Buddhism, India has also been immensely crucial in preserving orthodox Hindu culture.

Pilgrimage: Strengthening Cultural and Spiritual Bonds

In India and Nepal, prehistoric cultural and religious symbols used pilgrimage as the prime link. Badrinath Kedarnath Jagannath Rameshwaram and Dwarka are religious Hindu pilgrimage places which form the Char Dham Yatra in India with Nepalese pilgrimage devotees included. This is true because to the churchgoers, travel to these sites is seen as one of the highest achieveable spiritual objectives since it is believed that the sites bestow salvation. Visit Haridwar, Rishikesh, Varanasi, Vaishno Devi together attracts large number of Nepalese pilgrims every year who assert existence of religious spirituality and cultural relations between the two countries.

Indian people travel to Nepal in order to visit religious places, Pashupatinath Temple which is one of the forms of Shiva and Lumbini which is a birth place of Lord Buddha. Religious background of these places lies in Hindu and Buddhist beliefs for which large many Indian tourists who look for spiritual solitaire visit these places. For tourism purpose, guests come to Ram-Janaki Temple in Janakpur to see the mined birthplace of Sita at a corner that symbolizes the cultural union of an India-Nepal couple 'Sita-Ram'. These pilgrimage circuits continue to remain functional and unaltered

despite the fluctuating political factors because they symbolize unbroken religious connection which persists to be vibrant between Nepal and India.

Buddhism: A Shared Spiritual and Historical Connection

It links two great Nations – India and Nepal by culture and religion since Buddhism has been practiced in both nations and their history tells it all. Born in Lumbini, Nepal Siddhartha Gautama discharged his enlightenment through an intense spiritual meditation in Bodh Gaya, India. The past relations show that Buddhism is a bond that bonds the two countries to defend and foster sacred traditions of Buddhism. Newars of Nepal have saved several Buddhist manuscripts in Sanskrit from being destroyed whenever the Indian subcontinent was invaded. The organizations which are actively involved in reproducing these Buddhist texts were eventually able to save Buddhist wisdom alongside with other cultures from being lost.

The practise of this Buddhism form contributed to building up diplomatic relations due to its extensive propagation across Nepal and India. The Newar people were both saviors and guardians to Indian Buddhist monastic monks and the holy books whenever India was under attack. The religious and cultural friendship founded on respect was the strongest bond contributed to unify India and Nepal seamlessly. Some of the basic Buddhist sites are Lumbini in Nepal and Bodh Gaya in India along with spiritually progressive religious learning places, which confuse the common devotees along with scholars to maintain the unbroken chain of their ancient religious practices.

Conclusion

There exists a historical connection between India and Nepal in form of traditions, belief systems and histories. The natural religious points around Char Dham in India and Pashupatinath and Lumbini in Nepal serve as spiritual bridges to nurture smooth human contacts. The open-border policy enables the pilgrims to cross between these religious sites with their endearing relationships so as to endure through political shifts. Religious tourism on these circuits enhances religious faith as in both these nations where the economies prosper as the tourism industry picks up.

Or in Lumbini Siddhartha Gautama started on what is now recognized as the origin of Buddhism giving this relation a major background. Indian monks had asylum from the Newar people of Nepal who honored the ancient practice of preserving Buddhist literature, Anderson herein reciprocates by illustrating a dignified bilateral friendly relationship between India and Nepal. Such sites as Lumbini and Bodh Gaya prove that Buddhism is an international religion of peace and further learning which appeals to pilgrims and scholars from all corners of the global.

These include inverted linguistic usage alongside communal festivals as well as interaction particularly through family as cultural crossing area of Younger. India and Nepal have a strong and continuing relationship with the help of bilateral

cooperative ventures such as the religious tourism trade relations and historical visiting links which defies political barriers. By trying to preserve and popularize their common history, to promote their joint heritage, these two states foster and enhance their bilateral cooperation in the sphere of raising the cultural profile of South Asia. Efforts solely focused on cultural relations and proper tourism will ensure this wonderful history for forging unity in the future and establishing a beneficial cooperation with all the necessary components for both nations.

References

1. Manchanda, R. (2001). Whose Nepal—Whose India: Of diasporas and transnational identities. *India International Centre Quarterly, 28*(3), 47–56. Retrieved from http://www.jstor.org/stable/23005559
2. International Journal of Novel Research and Development (IJNRD). (2020). *India-Nepal cultural and religious connections. IJNRD, 9*(3), 380–385.
3. Nepal Tourism Board. (2020). *Religious tourism in Nepal*. Retrieved from https://www.welcomenepal.com
4. Ministry of Tourism, Government of India. (2021). *Pilgrimage tourism in India.* Retrieved from https://tourism.gov.in
5. Vajrayana Buddhist Council. (2021). *The role of Buddhism in India-Nepal cultural ties.* Retrieved from https://vajrayanacouncil.org
6. Gupta, S., & Sharma, R. (2019). Religious tourism: Bridging cultures. *South Asian Journal of Tourism Studies, 8*(2), 145–163. https://doi.org/10.1016/sajts.2022.08.003
7. Thapa, B. (2014). Shared spiritual heritage: Hinduism and Buddhism in Nepal-India relations. *Himalayan Studies Journal, 14*(1), 32–48.
8. Lalit Kala Akademi. (2020). *Cultural exchange programs between India and Nepal*. Retrieved from https://www.lalitkala.org
9. Sahitya Kala Akademi. (2018). *MoUs with Nepal Academy for cultural development.* Retrieved from https://www.sahityakakademi.gov.in
10. Sharma, K. (2021). Pilgrimage circuits: A case study of Char Dham and Pashupatinath. *Tourism and Cultural Diplomacy Journal, 10*(4), 101–118.
11. UNESCO. (2020). *Lumbini: Birthplace of Buddha.* Retrieved from https://whc.unesco.org/en/list/666
12. Foundation of SAARC Writers and Literature (FOSWAL). (2021). *Collaborating across borders through arts and literature.* Retrieved from http://www.foundationsaarcwriters.com
13. Indian Council for Cultural Relations (ICCR). (2019). *Cultural diplomacy initiatives in South Asia.* Retrieved from https://www.iccr.gov.in
14. Singh, R., & Basnet, P. (2016). Transcending borders: Hindu-Buddhist traditions in India and Nepal. *Asian Religious Studies, 12*(3), 215–232. https://doi.org/10.1016/asrs.2021.03.005
15. Newar Cultural Heritage Council. (2018). *Preservation of Buddhist manuscripts and traditions in Nepal.* Retrieved from https://www.newarheritage.org
16. Nepal Academy of Fine Arts. (2019). *Joint art exhibitions with Lalit Kala Akademi.* Retrieved from https://nafanepal.gov.np
17. Press Council of India. (2020). *Media collaborations with Nepal Press Council.* Retrieved from https://presscouncil.nic.in
18. Tripathi, P. (2022). The Ramayana circuit: Connecting India and Nepal through religion and culture. *Cultural Routes Review, 6*(2), 87–102.
19. Bollywood and Beyond. (2021). *Cross-border cinematic collaborations between India and Nepal.* Retrieved from https://bollywoodconnections.org

Introspection And the Art of Poetry: An Overview

Pinku Malakar*

Abstract : *Poetry grows from introspection, and it is the heart of the creative process for many. Many poets reflect on their thoughts and emotions and turn their personal experiences into universal ideas. This paper explores how self-reflection, or looking inward, shapes poetry. It helps poets to mirror their inner feelings and simultaneously helps in addressing various social issues. Insights from different poets and critics show how introspection gives poetry depth and authenticity. It also makes poetry timeless and meaningful. Self-introspection helps poets to find emotional relief by bridging personal and shared human experiences, and this makes their work relatable to readers. The paper concludes that introspection is key to poetry. It creates a strong bond between poets and readers. Poetry, rooted in introspection, becomes a shared journey.*

Introduction

A genuine poet is not just merely a composer of poems but he himself becomes the poetry itself he creates. The artistry in poetry does not lie just in the words themselves but in the poets' ability to mix up their essence, emotions, and experiences into the verses. They transfer life into their work and make it a profound reflection of their true inner self. It has been said that the beauty of poetry lies in its flexibility—it can delve into various subjects such as social issues, politics, love, heartbreak, betrayal, anguish, autobiographical experiences, and contemporary events. There are no constraints on the topic, form, content, or method a poet can utilize in their representation. But without the poet's self emotional involvement with the poetry make the creation lifeless or disconnected. The relationship between a poet and their poetry is intimate; it's like two sides of the same coin, where the poet's genuine involvement is crucial. In other words it can be said that poetry crafted with genuine passion and authenticity resonates deeply. However, when poetry is forced or insincere, it loses its essence, distancing the poet from its true spirit. It can not be denied the fact that poets are inherently connected to their society, and their verses often reflect societal elements. By expressing their thoughts and emotions through poetry, a poet naturally captures the essence of the world around them, serving as a mirror to society. Therefore, it is the poet's ultimate responsibility to establish and convey their personal connection to their craft.

Poets who involve themselves in poetry may manifest their personal joys, sorrows, ideologies, disgust, dejection, disappointments etc. like the ordinary men of flesh and blood resulting from their external experiences or perception. It is an undeniable fact that many a time the use of first person 'I' in the poems fail to indicate

*** Post Graduate Teacher, Bilthai H.S. School, Pantsagar North, Tripura**

the very involvement of the poets in their writings.Those who successfully wish to leave the blue patch of their involvement in poetry, often try to externalize the internal chemistry of the subconscious mind and transfer those undigested untold words into text. In other words, it can be compared to the process of the 'Big Bang'. The theory of the 'Big Bang' is that the universe began from a tiny, super hot, and super dense point; since then it has been expanding, leading to the vast cosmos we observe today. Similarly the subconscious mind of the poet is that tiny dense point from where ideas, feeling, emotions and experience of the poet expand in the text.

Analysis Of Self Involvement In Poetry

The poets who try to involve themselves with their poetry usually do not chase after the theme or search for the topics from the external world, which may usually appear superficial; rather, they ponder and dive deep into the mysterious, bottomless interior and try to provide speech to those internal, dumb words that were accumulated in the process of experience with the external world. Sir Philip Sidney, a prominent English poet of the 16th century Elizabethan period, was seen placing great importance on inward reflection and personal exploration over superficial or outward sources of inspiration in the process of composing verse. He writes: "Hitting my truant pen, beating myself for spite, 'Fool,' said my Muse to me, 'look in thy heart and write." Here Sidney expresses his frustration as a poet struggling to write. He is dissatisfied with his inability to create verse. He is trying to find inspiration externally and searching outside of himself for the inspiration that would fuel his creativity. At this point, his Muse—an ancient mythological figure from Greek culture who is often considered as the source of inspiration and creativity—intervenes. His muse then discouraged him from continuing his outward search; rather, he should turn inward, urging him to explore the depths of his own heart, emotions, and thoughts as the true source of inspiration for his writing.

Romantic poet William Wordsworth spoke in a similar vein while defining the very notion of poetry in his work 'Preface to the Lyrical Ballad(1800). He defines poetry as the "spontaneous overflow of powerful emotion.". This involvement of personal emotion is crucial to make the text lively and as a true offspring of the poet's own genes. Wordsworth's poetry, such as 'Tintern Abbey,' transcends universal themes like memory, nature, and the human condition while keeping personal and emotional involvement intact. M. H. Abraham, an American literary critic, celebrated the inward exploration and poet's self-involvement in his work while promoting romantic poetry in his 'Mirror And The Lamp.'. In this context one of his quotations is worth mentioning: "The poet's mind is itself a lamp; it is the source of light and radiance that transforms and illuminates the external world, instead of passively reflecting it like a mirror." Here the lamp is the inner light or personal experiences that should be reflected in the poetry. In his own words, "The central tendency of romantic poetry is to locate the source of poetry not in outer

nature but in the psychology of the poet, in the poet's emotions, feelings, and imagination."

John Keats, an English romantic poet, is in the same thread when he says, "If poetry comes not as naturally as the leaves to a tree, it had better not come at all." In this quote, John Keats gives utmost importance to spontaneity of thought in poetry. He suggests that true poetic expression should come naturally, much like leaves growing on a tree naturally. When poetry is written forcefully, it loses its essence and sincerity and becomes mere imitation rather than a genuine reflection of the poet's inner thoughts and emotions. To him, poetry should flow from the soul, echoing with the authenticity of the poet's voice. If a poet cannot access this natural flow, it may be better to stay away from writing until inspiration truly strikes. This idea establishes the belief that the poetry that emerges from a place of genuine emotion and spontaneous creativity makes it more impactful and relatable to readers.

Walt Whitman, a prominent American poet, projected himself at the centre of his poetry, particularly evident in the lines: "I celebrate myself, and sing myself, / And what I assume you shall assume, / For every atom belonging to me as good belongs to you." In these words, he might have promoted himself as a representative of human civilisation, emphasising that his individuality is nothing but a reflection of the collective experience of humanity. By asserting that what he assumes, others can also assume, he creates a bridge between his personal experience and that of the readers. By celebrating himself, Whitman reveals a deeper truth: he is part of the vast universe, and his identity is connected with everyone else's.When he celebrates his own being, he simultaneously honours the existence of others, suggesting that our lives are not isolated but rather interwoven. Thus one can affect the entire universe by keeping one's own involvement intact in poetry.

Austrian poet Rainer Maria Rilke believes that poetry should be the medium of self-exploration, and his poetry always reflects a deep sense of involvement. Rilke, in his work 'Letter To The Young Poet,' a series of ten letters written for Franz Xavir Kappus, suggested that Franz should embrace solitude, and in deep isolation, he should try to find a path to discover and explore his own self rather than dealing with detached, unfelt subjects. Let us examine the very suggestion given to Franz Kappus when Rilke was asked to guide him in composing verse: "You are looking outward, and that above all you should not do now. Nobody can counsel and help you, nobody. There is only one single way. Go into yourself." This above-cited advice of Rilke strictly forbids Kappus to be outward while composing verse; rather, he should establish and glorify his own self-involvement in his poetry.

T.S. Eliot, a renowned poet and critic of the 20th century, outlined a critical concept of "dissociation of sensibility."' in his essay 'The Metaphysical Poets(1921), which directly spoke in favour of the poet's emotional engagement in their poetry. In this

context he acknowledges and praises metaphysical poets like John Donne for uniting thought and feeling and criticises post-17th-century poets who fail to associate sensibility' while writing poetry. To him, these poets especially fail to blend the emotional experience with their work. In his own words, he wrote, "Tennyson and Browning are poets, and they think, but they do not feel their thought as immediately as the odour of a rose. A thought to Donne was an experience; it modified his sensibility." Eliot mentioned that modern poets are too intellectual to mix their feelings and emotions in their writings.

Now let us look at one of the translated and attributed quotes from Italian poet and translator Salvatore Quasimodo to validate this argument further :*"Poetry is the revelation of a feeling that the poet believes to be interior and personal but which the reader recognizes as his own."* In this attributed quote,Salvatore Quasimodo asserts that poetry is basically rooted in the poet's personal emotions and experiences. He stresses the importance of the poet's direct involvement and introspection, suggesting that authentic poetry arises from a deep exploration of one's inner feelings. This revelation of a poet's internal emotions allows poetry to transcend mere words, offering insights into the human condition. Thus Quasimodo too believes that the genuine poetic expression stems from the poet's ability to convey their innermost thoughts and feelings.

Octavio Paz, a Mexican poet, describes poetry as the other voice. The voice of things we feel, the voice of our awareness and subconsciousness, rather than the voice of everyday existence, emphasises poetry's unique function in expressing deeper emotional truths that transcend the commonplace. This "other voice" is different from everyday language. It symbolises the raw and unarticulated emotions that exist in our consciousness and subconscious mind. While ordinary communication deals with surface-level exchanges, genuine poetry dive deeper into the complexity of human experience and captures the reality of what we genuinely feel but may fail to convey.

Confessional poetry is a literary genre of poetry that emerged in the mid-20th century, mainly in the United States. It's known for its deeply personal and autobiographical content, focusing on intimate and emotional experiences, such as mental health, relationships, and personal challenges. Confessional poets are found deeply involved in their poetry and speak to the readers like living beings.One may consider their poetry as mere confessional. But in a true sense, genuine poetry should always be confessional. If the poet is not confessing, he might be hiding, and in genuine poetry there should not be any game of hide and seek: the hide and seek of thought and expression.

The creation of genuine poetry is like that of the process of "digging," the metaphor used by Seamus Heaney. Just like digging into the ground to find something hidden, the poet digs into their own mind, emotions, and experiences to uncover deeper truths. This act of looking inward helps the poet

find inspiration and express themselves more fully. But it has been seen that personal involvement of poets in their poetry has solely been negated by the New Criticism school of poetry.

New Criticism, a literary theory, places significant emphasis on the text itself, advocating for a close reading that looks solely at what's within the words and structures of a literary work. It intentionally disregards the author's personal life, intentions, or historical context when analysing the piece. This approach aims to find meaning within the text's form, language, and patterns rather than seeking external sources or the author's background for interpretation. According to the critics of the New Criticism School of Poetry, the best criticism is not concerned with general principles or with biographical or historical contexts but with the text itself, its structure, and its function. T.S. Eliot, one of the prolific English poets and critics who once glorified poets' emotional connection with creation in his work 'The Metaphysical Poet,' too contradictorily denied poets overt personal involvement in poetry in his work 'Tradition and Individual Talent,' especially in 'the theory of impersonality.'. Though his comment on this may seem ambiguous and unclear by nature, which reads: "Poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion; it is not the expression of personality but an escape from personality. But, of course, only those who have personality and emotions know what it means to want to escape from these things." Here the poet directly turns toward the objectivity to universalise the works rather than making poetry mere subjective and too personal.

Conclusion

The deep connection between poets and their poetry is created through introspection, emotion, and personal experiences. True poetry goes beyond simple artistic creation, serving as a powerful tool for self-expression and connecting with others. When poets delve into their inner worlds, their poetry resonates deeply with readers, as their personal experiences often reflect shared human feelings. From Sidney's advice to "look in thy heart and write" to Wordsworth's idea of poetry as a "spontaneous overflow of powerful emotions" and Rilke's emphasis on self-exploration, the most authentic poetry arises from this personal involvement. The debate between subjectivity and objectivity has long been present in literary discussions. While movements like New Criticism argue that the poet's personal life is irrelevant and focus solely on the text, the emotional core of poetry challenges this view. Even Eliot's concept of impersonality acknowledges that poetry is shaped by both emotion and universal themes. In the end, the strength of poetry lies in its ability to turn personal feelings into a universal language, linking the poet's inner world with the reader's own experiences. True poetry is not confined to the poet's personal self; instead, it becomes a bridge, sharing raw human emotions across time and space. This connection between self-expression and universal themes ensures that poetry not only preserves the poet's voice but also showcases its ability to reflect, heal, and unite people.

References

1. Sidney, Philip. Astrophil and Stella. Edited by John P. Sommerville. Cambridge University Press, 2023.
2. Wordsworth, William. Tintern Abbey. Edited by Stephen Gill, Oxford University Press, 2020.
3. Abrams, M.H. The Mirror and the Lamp: Romantic Theory and the Critical Tradition. Oxford University Press, 2015.
4. Brooks, Cleanth. The Well Wrought Urn: Studies in the Structure of Poetry. Harcourt, 2014.
5. Donne, John. The Poems of John Donne. Edited by A.J. Smith, Penguin Classics, 2008.
6. Eliot, T.S. "The Metaphysical Poets." The Use of Poetry and the Use of Criticism, Faber & Faber, 2015.
7. Eliot, T.S. "Tradition and the Individual Talent." The Sacred Wood: Essays on Poetry and Criticism, Faber & Faber, 2009.
8. Lowell, Robert. Life Studies. Farrar, Straus and Giroux, 2005.
9. Plath, Sylvia. The Collected Poems. Harper Perennial Modern Classics, 2005.
10. Rilke, Rainer Maria. Letters to a Young Poet. Translated by Stephen Mitchell, Vintage, 1989.
11. Sidney, Philip. Astrophil and Stella. Edited by H. J. Smith, Oxford University Press, 2009.
12. Wordsworth, William. Preface to Lyrical Ballads. Edited by Nicholas Roe, Penguin Classics, 2006.
13. Empson, William. Seven Types of Ambiguity. Harcourt, 2011.
14. Richards, I.A. Practical Criticism: A Study of Literary Judgment. Routledge, 2001.
15. Keats, John. Letter to J.R. Reynolds, 3 Feb. 1818. The Letters of John Keats, 1814-1821, edited by Hyder Edward Rollins, Harvard University Press, 1958, vol. 1, p. 224.
16. Paz, Octavio. The Other Voice: Essays on Modern Poetry. United Kingdom, Harcourt Brace Jovanovich, 1991.
17. Whitman, Walt. Song of myself. United Kingdom, Routledge, 2004.

Navigating Digital Narratives: A Drift in Digital Media

Dr. Nitin Anand Anbhule*

Abstract: *This article explores the transformative impact of digital media on narrative structures, focusing on the interplay between narrativity, performativity, and interactive elements in digital texts. While not all digital texts inherently signify narratively, their paratextual components—such as menus, buttons, and navigational widgets—play a pivotal role in shaping narrative engagement. These elements enable branching story paths, often obscured from readers, leading to dynamic and contingent narrative experiences. As computational and algorithmic processes become integral to storytelling, narratology must adapt its frameworks to address the shifting dynamics of narrative production and reception in digital contexts. This study contributes to the broader understanding of how digital media reshape narrative theory and practice, emphasizing the convergence of technology, interaction, and storytelling.*

Keywords: *Digital Media, Narrative structures, Algorithmic storytelling, Digital narrative practices.*

Introduction

The study of narratives has long been a cornerstone of literary and cultural analysis, offering insights into how stories are created, communicated, and interpreted. Early formalist approaches to narrative identified the underlying structures that govern storytelling, proposing that many narratives can be represented through algorithmic schemata. These schemata, consisting of a finite set of generative rules, define the processes of narrative production and interpretation. Such observations laid the groundwork for understanding the systematic operations within narratives, highlighting the structured nature of storytelling across diverse contexts.

In the digital age, narratives have undergone a significant transformation. The rise of digital media has introduced new possibilities for storytelling, enabling dynamic, interactive, and non-linear formats that were previously unattainable. Digital narratives, unlike their traditional counterparts, are inherently mediated by programmed operations and algorithmic processes. These operations guide the creation, delivery, and user engagement with stories in digital environments. This evolution has expanded the scope of narrative studies, inviting researchers to explore how traditional narrative theories can be adapted or reimagined to address the unique characteristics of digital storytelling.

The resemblance between formalist representations of narrative structures and the programmed operations of digital texts offers a compelling framework for understanding digital narratives. Just as formalist theory identifies narrative rules and patterns, digital texts rely on algorithms to dictate their

*** Head, Dept. of English, Shri Datta ACS College, Hadgaon Dist: Nanded**

structure and functionality. This alignment suggests that formalist approaches, particularly those emphasizing systematic rules and generative frameworks, may have particular relevance for studying digital narratives. By examining how algorithmic processes shape storytelling in digital contexts, researchers can gain deeper insights into the interplay between narrative form, user interaction, and technological mediation.

Digital narratives, as a research domain, encompass a broad spectrum of formats, including interactive fiction, video games, augmented reality (AR) experiences, and transmedia storytelling. These narratives are characterized by their reliance on interactivity, multimedia integration, and algorithmic mediation. Users are no longer passive recipients of stories; instead, they actively engage with and influence the narrative through their choices and actions. This user-centric and adaptive nature of digital storytelling introduces new challenges and opportunities for narrative analysis. It necessitates a reevaluation of traditional concepts such as plot, character, and resolution to account for the fluidity and complexity of digital experiences.

Moreover, the algorithmic nature of digital narratives raises critical questions about agency, authorship, and control. While algorithms enable dynamic and personalized storytelling, they also impose constraints on user interactions, shaping the scope and meaning of the narrative. Understanding how these programmed operations function—and how they compare to traditional narrative structures—can provide valuable insights into the evolving nature of storytelling in the digital era. The work aims to explore the intersection of formalist narrative theory and digital storytelling, examining how algorithmic schemata influence the creation, interpretation, and engagement of digital narratives. By bridging the gap between traditional narrative studies and contemporary digital media, this study seeks to contribute to the growing field of digital humanities and deepen our understanding of the role of technology in shaping modern storytelling practices.

Literature Review

The evolution of narrative theory has been marked by significant contributions that explore the structures, functions, and interpretations of stories. Early formalist and structuralist scholars, such as Vladimir Propp and Roland Barthes, emphasized the systematic and rule-based nature of narratives. Propp's analysis of folktales, for instance, demonstrated how seemingly diverse stories could be broken down into recurring structural elements, which he termed "functions." Similarly, Barthes' work on narrative codes highlighted the inherent frameworks that guide the construction and interpretation of texts. These foundational ideas underscored the algorithmic qualities of storytelling, presenting narratives as systems governed by a finite set of rules.

In the context of digital narratives, this formalist perspective finds renewed relevance. Scholars such as Ryan (2001) and Aarseth (1997) have argued that digital storytelling relies on programmable structures, akin to the generative rules identified by formalist

theorists. Marie-Laure Ryan's exploration of interactive narratives emphasizes the non-linear, user-driven nature of digital storytelling, where the audience's actions influence the progression of the narrative. Espen Aarseth's concept of "cybertexts" further illustrates the interplay between the algorithmic operations of digital media and the interpretive role of users. Aarseth describes digital texts as "ergodic," requiring active engagement from users to traverse and construct the story.

Building on these insights, contemporary research has examined the role of algorithms in shaping digital narratives. Algorithms are not merely tools for organizing information but integral components that define the boundaries of user interaction, narrative flow, and interpretive possibilities. Studies by Murray (1997) and Manovich (2001) highlight how computational systems enable dynamic storytelling, offering multiple paths and outcomes while constraining the user within predefined frameworks. Janet Murray's work on immersive storytelling emphasizes the potential of digital media to create participatory and interactive experiences, while Lev Manovich explores how algorithms mediate the form and content of digital texts.

The integration of multimedia elements further distinguishes digital narratives from traditional forms of storytelling. Jenkins (2006) introduced the concept of "transmedia storytelling," where narratives unfold across multiple platforms, each contributing to the overall story. This approach leverages the affordances of digital technologies, combining text, audio, video, and interactive elements to create rich, multifaceted narratives. These multimedia components are often coordinated through algorithmic systems, which ensure seamless transitions and user-specific adaptations. Despite the transformative potential of digital narratives, scholars have also highlighted challenges and limitations. Hayles (2008) critiques the reliance on algorithms, noting that while they enable interactivity and personalization, they also impose rigid constraints on narrative possibilities. Users may perceive a sense of agency, but their choices are often circumscribed by the rules encoded within the system. This tension between user freedom and algorithmic control underscores the complex dynamics of digital storytelling.

The parallels between formalist narrative theory and the algorithmic nature of digital texts offer a rich area for further exploration. By examining how generative rules shape both traditional and digital narratives, researchers can uncover deeper insights into the evolution of storytelling practices. Additionally, the intersection of formalist approaches with emerging technologies provides an opportunity to bridge theoretical frameworks with practical applications, contributing to the broader field of digital humanities. This literature review establishes a foundation for understanding how algorithmic systems influence narrative production, interpretation, and user engagement, setting the stage for a comprehensive analysis of digital storytelling in the modern era.

Objectives

The research aims to explore the transformative landscape of digital

narratives, focusing on how technological advancements and interactive storytelling redefine traditional narrative structures. The objectives emphasize the interplay between technology, user agency, and narrative innovation, shedding light on the evolution of digital storytelling and its broader implications. One of the objectives is to analyse the influence of algorithmic systems on digital narratives which seeks to understand how algorithmic frameworks shape the structure, flow, and user experience of digital narratives. Algorithms govern how users interact with stories by enabling or limiting actions, choices, and responses within narrative systems. The study delves into the implications of these computational systems, revealing how they redefine storytelling by embedding rules that guide both narrative generation and user interpretation. The present work also intends to investigate the evolution of digital narrative practices that aims to trace the historical development of digital storytelling, comparing early forms such as text-based games and hypertext fiction with contemporary practices like immersive virtual reality (VR) experiences. It highlights the continuity and transformation of narrative devices, examining how advancements in technology have expanded the scope of storytelling while retaining foundational principles like non-linearity, interactivity, and user engagement. Hypertext, a system of interconnected textual units, represents a pivotal shift in narrative construction. The study focuses on how hypertext challenges traditional linear storytelling by offering non-linear, interactive pathways for readers. By analyzing the theoretical and practical implications of hypertext, this objective addresses its contributions to narrative freedom and interactivity, as well as its limitations when compared to traditional media. The participatory role of users in digital narratives, where they are not merely passive recipients but are turn out to be active participants in shaping the story. The research explores how users' choices influence the progression and meaning of the narrative, demonstrating the dynamic relationship between user behavior and the algorithmic rules that govern digital texts. Digital narratives operate at the intersection of media, culture, and technology. It seeks to understand how they reflect and influence contemporary cultural practices. By situating digital storytelling within a broader theoretical framework, the study examines its role in challenging traditional notions of authorship, reader engagement, and narrative closure. The study looks ahead to the possibilities offered by emerging technologies like artificial intelligence (AI), augmented reality (AR), and VR in transforming narrative practices. It addresses how these technologies can create more immersive, interactive, and personalized storytelling experiences, pushing the boundaries of traditional and digital narratives. The research objectives collectively aim to provide a comprehensive understanding of digital narratives as a transformative medium. They focus on analyzing the interplay between algorithmic structures, user agency, and evolving technologies while tracing the historical and theoretical foundations of digital storytelling.

Hence, the present work contributes to the broader discourse on how digital narratives redefine storytelling, offering insights into their impact on cultural practices and their potential for future innovation.

Study area

While formalist narrative theories have been extensively studied in traditional storytelling, their application to digital narratives remains underexplored. The potential for aligning generative rules with algorithmic frameworks in digital storytelling requires further investigation. The role of algorithms in shaping narrative creation, progression, and user interaction is not fully understood. There is a need for research that examines how algorithmic systems influence user agency, narrative interpretation, and story outcomes. Although interactivity is a defining characteristic of digital narratives, there is limited research on how user choices impact the narrative structure and meaning. The balance between perceived user agency and system-imposed constraints warrants deeper exploration. Research on how multimedia elements—text, audio, video, and interactivity—contribute to the richness and complexity of digital narratives is fragmented. A comprehensive analysis of how these elements interact and enhance storytelling is needed. While transmedia storytelling has been recognized as an innovative narrative approach, the role of algorithms in coordinating narratives across multiple platforms remains inadequately studied. The constraints imposed by algorithmic systems on narrative possibilities, user engagement, and creative freedom are not thoroughly addressed in existing literature. More research is needed to critically evaluate the limitations of algorithmic mediation. There is a lack of studies that integrate formalist theories with contemporary digital storytelling practices. Bridging this gap could provide a unified framework for analyzing both traditional and digital narratives. Current research does not fully address how users perceive their role and decision-making power within algorithmically governed digital narratives. Exploring these perceptions could reveal important insights into user engagement. Few studies trace the evolution of storytelling from traditional to digital forms over time. Longitudinal research could provide a deeper understanding of how digital technologies continue to reshape narrative practices. The cultural and ethical implications of algorithmically mediated storytelling—such as issues of bias, inclusivity, and accessibility—are often overlooked in current research. These dimensions need further exploration to ensure equitable and inclusive narrative practices. Addressing these research gaps will contribute to a more comprehensive understanding of digital narratives, their underlying frameworks, and their impact on storytelling practices in the digital age.

Research Methodology

This research aims to explore the application of formalist narrative theory to digital storytelling and investigate how algorithmic frameworks influence narrative production, interpretation, and user engagement. A mixed-methods approach is proposed to carry out exploratory and

descriptive research, combining qualitative and quantitative research techniques to provide a comprehensive understanding of the topic. Data collection method is applied by conducting an extensive review of existing literature on formalist narrative theories, digital storytelling, and algorithmic mediation through the sources such as academic journals, books and online repositories. The study provides a deeper understanding of how formalist narrative theories apply to digital storytelling and insights into the role of algorithms in shaping user interaction and narrative progression. It identifies the challenges and opportunities in creating engaging and meaningful digital narratives and shall contribute to the development of a theoretical framework that bridges traditional narrative theory and modern digital storytelling practices. This methodology provides a robust framework for investigating the complex interplay between narrative theory, algorithms, and digital media, contributing to the growing field of digital humanities.

Limitations and scope for future work:

This research primarily examines digital narratives mediated by algorithms, excluding non-algorithmic or less interactive digital texts. This may limit the understanding of broader digital storytelling practices. The study focuses predominantly on English-language digital narratives, which may overlook cultural and linguistic nuances present in non-English narratives. While the study bridges formalist narrative theory with digital storytelling, it may not incorporate newer theoretical frameworks that could provide additional insights.

Results and Discussion

Future research could explore digital narratives in diverse languages and cultural contexts to provide a more comprehensive understanding of global storytelling practices. The narrative formats could be expanded by analyzing a wider range of digital storytelling formats, including AI-generated narratives, virtual reality (VR) experiences, and hybrid forms combining traditional and digital elements. This shall be used to examine the impact of emerging technologies like generative AI, blockchain, or the metaverse on digital storytelling, exploring new opportunities and challenges. Comparative Analysis with Traditional Narratives is possible by conducting a detailed comparison between traditional and digital narratives to further understand how storytelling techniques and user engagement differ across mediums. It shall collaborate with fields such as psychology, game design, and computer science to explore intersections between narrative studies and technology-driven user behavior. The study shall develop new analytical frameworks by building upon traditional narrative theories and by integrating concepts from digital humanities and computational creativity to establish frameworks tailored to digital storytelling. By addressing these limitations and expanding the scope of inquiry, future research can deepen our understanding of digital narratives and their evolving role in storytelling and user interaction in an increasingly algorithm-driven world.

The rise of digital narratives has undeniably catalyzed a paradigm shift in the

way storytelling is conceived and experienced. With the integration of technology, authors are no longer confined to traditional narrative conventions, as digital tools enable the creation of immersive and interactive storytelling experiences. This transformation highlights an ongoing dialogue between traditional storytelling forms and innovative digital practices, where narratives are redefined by technological advancements. As computational literacy among authors continues to grow and digital tools become increasingly versatile, the boundaries between narrative creation and system design are dissolving. Digital narratives are not passive adaptations to technological progress; they actively contribute to and shape this progress, underscoring the centrality of digital storytelling in contemporary media.

Critical Evolution of Digital Narrative Practices

Research into digital narratives is fraught with challenges, primarily due to the rapid evolution of the medium itself. The advancement of technological infrastructures—such as faster processing speeds, more extensive storage capacities, and the proliferation of portable devices—has drastically expanded the possibilities for digital storytelling. The shift from cumbersome mainframe systems to accessible devices like desktops, laptops, and smartphones has transformed how digital stories are consumed. Furthermore, innovations like graphical user interfaces (GUIs) and broadband telecommunication networks have provided the technological backbone for modern digital storytelling practices, facilitating unprecedented forms of narrative creation and distribution.

Despite these technological advancements, certain continuities remain between early and contemporary digital narratives. Early text-based computer games from the 1960s and 1970s share significant narrative strategies with modern multiplayer games, indicating a continuity in interactive mechanics. Similarly, narrative elements from 1970s interactive fiction, despite their lack of visual representation, echo in the hypertext fictions of the 1980s and 1990s. This continuity reflects the broader trend of adapting and enhancing existing narrative techniques in the digital age. The spatial and visual tropes found in early console games have evolved into more sophisticated narrative environments in modern video games, where narrative progression maps directly onto complex virtual worlds. Technologies like virtual reality (VR) represent the future of this trend, as they offer unprecedented opportunities for immersive storytelling experiences.

However, it is important to note that digital storytelling is still in a formative stage. As technology and authorship continue to evolve, digital narratives will play a critical role in reshaping traditional narrative structures and engaging audiences in new and innovative ways.

Digital Hypertext and the Evolution of Narrative Practices

One of the most pivotal developments in the evolution of digital storytelling is the advent of digital hypertext. Hypertext, a

system of interconnected textual units that allows non-linear navigation, represents a major shift from traditional linear narratives. Ted Nelson's vision of hypertext, as an interconnected universe of texts, has profoundly influenced the way digital narratives are structured. Hypertext challenges conventional notions of narrative continuity by enabling digression, discontinuity, and flexibility in storytelling.

While hypertext's theoretical appeal lies in its nonlinear structure, the practical implications of this form of digital narrative are complex. On one hand, hypertext allows readers to become active participants, navigating and constructing their own narratives. This interaction between the reader and the text subverts the traditional roles of authors and readers, placing greater agency in the hands of the audience. On the other hand, critics of hypertext have pointed out its limitations, arguing that the freedom it offers is often overstated. While hypertext allows for more flexible interactions with texts, it does not necessarily represent a radical departure from the manipulative practices already present in traditional media, such as shuffling or rearranging print texts.

Moreover, the interactivity offered by hypertext is not without its challenges. Critics argue that hypertext's supposed liberation from linear constraints may actually be a quantitative rather than a qualitative shift. While hypertext provides greater flexibility in recombination, these digital practices may merely amplify the possibilities already inherent in print media, such as the physical manipulation of printed materials. This critique reframes the perceived novelty of hypertext as a more extended version of existing narrative practices, rather than a truly revolutionary transformation.

Theoretical and Practical Critiques of Hypertext

Despite the potential of hypertext to reshape storytelling, its theoretical and practical implications are still subject to significant critique. Many early proponents of hypertext, such as George Landow, drew connections between hypertext practices and postmodern literary and narrative theories, suggesting that hypertext's flexibility aligns with Derridean "undecidability" and Barthesian "plurality." However, these connections have been critiqued for oversimplifying the theoretical nuances of postmodernism and for misapplying these concepts to digital texts. Furthermore, critics point out that the comparison between print and digital texts is often overstated, as digital texts engage users in fundamentally different ways. While print texts are manipulated physically (e.g., turning pages, skipping sections), digital texts involve distinct forms of engagement that cannot be fully equated with traditional media. Finally, while digital hypertext has expanded the boundaries of digital storytelling, its full implications remain subject to ongoing debate. Hypertext offers new frameworks for narrative construction and reader interaction, but it also prompts a reconsideration of the relationship between traditional and digital media. As digital storytelling continues to evolve, scholars must examine how new technologies - such as VR, AI, and interactive systems - shape and are

shaped by these narratives. The intersection of technology, narrative theory, and user experience will continue to define the future of digital storytelling, as digital narratives play an increasingly important role in rethinking the principles of storytelling in the digital age.

By investigating the role of algorithms, interactivity, and multimedia integration in shaping narrative structures, this research aims to provide valuable insights into the ongoing transformation of narrative practices. Future work should address the gaps in understanding the evolving relationship between digital tools and narrative creation, as well as the implications of new technologies in shaping the future of storytelling.

Conclusion:

This research has explored the transformative role of digital narratives in reshaping storytelling practices, emphasizing the interplay between technology, narrative structures, and user engagement. The advent of digital technologies has given rise to new narrative forms that challenge traditional conventions, where authors are no longer merely storytellers but also system designers, crafting interactive experiences that blur the boundaries between narrative creation and technological infrastructure. Through the study of digital storytelling's evolution, it has become evident that these narratives do not simply adapt to technology; they actively contribute to the technological advancements they rely on, thus redefining both narrative practices and the tools that enable them.

One of the key findings of this research is the crucial role that algorithmic frameworks play in shaping digital narratives. As digital texts increasingly rely on complex algorithms, the manner in which narratives unfold is mediated by deterministic, algorithmic structures that govern user interactions, choices, and the overall narrative flow. These algorithms offer new opportunities for user agency and interaction but also impose constraints that shape the experience and interpretation of the narrative. This highlights the significance of understanding the relationship between algorithmic systems and narrative structures, as they together define the form and experience of digital stories.

Furthermore, this research has highlighted the continuity between early digital narratives, such as text-based computer games and interactive fiction, and modern forms of digital storytelling, including video games and transmedia experiences. Despite significant technological advancements, the core narrative strategies from earlier digital forms remain present, albeit in more sophisticated and visually rich formats. This continuity underscores the resilience of certain narrative devices, such as non-linearity, interactivity, and immersion, which have been central to digital storytelling since its inception.

The study also examined the emergence of digital hypertext as a significant development in narrative theory. Hypertext's non-linear structure allows for greater interactivity and reader participation, subverting traditional hierarchical relationships between author and reader. While hypertext represents a major shift in

the flexibility of narrative structures, the research has also shown that its novelty may be overstated. Rather than a radical break from traditional media, hypertext amplifies existing narrative practices such as the manipulation of physical texts, revealing that the distinctions between print and digital media are more nuanced than initially perceived. As digital storytelling continues to evolve, it is evident that the medium remains in a formative stage, with its ultimate contributions to narrative theory and practice still unfolding. Technological advancements, such as virtual reality (VR), artificial intelligence (AI), and augmented reality (AR), promise to further expand the possibilities of digital narratives, offering immersive, interactive experiences that will likely redefine storytelling in the coming decades. However, as this research has shown, the continued exploration of digital narratives requires a balance between embracing innovation and acknowledging the historical continuity in narrative strategies.

In conclusion, digital narratives are reshaping the storytelling landscape by integrating technological advancements with traditional narrative techniques. The interaction between algorithms, user agency, and narrative structures is central to understanding the future of storytelling. Future research must continue to investigate how emerging technologies influence narrative creation and consumption, as well as how the relationship between user participation, technology, and narrative evolves. As digital storytelling becomes an increasingly prominent form of media, its potential to redefine narrative theory and practice remains vast, offering exciting possibilities for both creators and audiences.

References:

1. Barthes, Roland (1977). *Image-Music-Text*. London: Fontana.
2. Bolter, Jay David and Richard Grusin (2000). *Remediation: Understanding New Media*. MIT Press.
3. Cary, Peter (2019). *A Short History of Digital Narrative Development*. Journal of Digital Media Studies, vol. 8, no. 1.
4. Derrida, Jacques (1981). *Dissemination*. University of Chicago Press.
5. Friedrich, Gunther (2022). *The Digital Shift: Narrative Structures in Interactive Media*. Springer.
6. Grau, Oliver.(2003) *Virtual Art: From Illusion to Immersion*. MIT Press.
7. Jenkins, Henry (2006) *Convergence Culture: Where Old and New Media Collide*. New York University Press.
8. Landow, George (1992). *Hypertext: The Convergence of Contemporary Critical Theory and Technology*. The Johns Hopkins University Press.
9. Manovich, Lev (2001). *The Language of New Media*. MIT Press.
10. McLuhan, Marshall (1964). *Understanding Media: The Extensions of Man*. McGraw-Hill.
11. Miller, David (2014). *The Hypertextual Turn in Literary Theory*. Theory and Criticism.
12. Murray, Janet H. (1997) *Hamlet on the Holodeck: The Future of Narrative in Cyberspace*. Cambridge, Mass.: MIT Press.
13. Nelson, Ted. (1987) *Literary Machines*. The Voyager Company.
14. Ryan, Marie-Laure (2001). *Narrative as Virtual Reality: Immersion and Interactivity in Literature and Electronic Media*. The Johns Hopkins University Press.

The Role of English in India's Political Discourse

Himadri Sarkar *

Abstract

However, the adoption of the English language in India requires perception based on the historical and colonial contribution and laws. In order, the British administration started employing the English language as the official language and disseminating the western civilized belief system in India. English was used effectively by many a political leader and intellectual in the process of envisioning and making of a free India. The rise of nationalism in Europe, however, did not mean that there was a view of the world in which only people with the same language and culture should live in a certain geographic location; on the contrary, the nationalist movement in India allied the linguistic diversity by the fundamental language that united diverse sections of India, where English was declared as the unifying language. Thirdly, it is necessary to mention that English language usage did not create contradiction for the advocates of freedom since this language became a means of communication with the world's intellectual and political processes. While Gandhi appreciated African languages particularly in the aspects of independence, he managed to utilize fluency in English to spread his information. Thus, English has remained a compulsory language in India's governance system educational institutions and the country's communication network even after gaining independence. Day in and day out the need for English language as one of the important resource factors to foster India's social and economic sectors reign supreme even than traditional debates on the impact of this language to the indigenous languages as well and the cultural values of the Indian community.

Keywords: *English language, India, colonial legacy, nationalism, bilingualism, independence, education, Mahatma Gandhi, Rabindranath Tagore, linguistic diversity.*

Introduction

For a better understanding of the role played by English language in Independent India, it becomes essential to have look on British imperialism. The British used English in India during their ruling era to as a medium for education for administering and expanding the British culture. Over the years, it becoming more of a necessity that Indian intelligentsia and nationalists embraced the English language. European theorists equated nationalism to language unity since they believed that meaningful standard linguistic skills entailed the basic foundation of nationalism. Indian scholars did not accept the singularity of English concept of nation that defined the nation according to its culture and repeated many elements. Thus, Indian nationalists adopted English as the language for the construction of their Nationalist movement and to link with the international debate. English was never perceived a harsh external force to Indians in view of the fact that the former made it strong for the latter. The ability to be Suvarna (multilingual) was adopted by the Indian culture over generations making leaders such as Tagore and Gandhi to be able to connect between their indigenous language and the colonial language without the loss of their Indian identity. Promoting

***Independent Scholar, Department of English, himadrisarkar1997@gmail.com**

the use of local languages, Gandhi was a master of using English in his attempts to make the population more literate. This was not unnoticed by the colonial authorities in Britain because Indian leaders were using the English language as a tool to challenge the colonial policies. It was not least of all displacing English from its crucial role in the Government frames of India, upper level education systems and judiciary institutions of the nation. The modern authorities support regional tongues, but English remains imperative to get rich and have contacts with other countries even though the language has a problematic connection with the contemporary India.

Objectives of the Study

1. The study investigates English language usage in Indian political dialogue to examine its function as a shared communication tool throughout the multilingual political domain.
2. The research examines how Indian politicians use English because it studies voter reactions, public understanding of social divisions, and message accessibility across different language groups.
3. This research objective simultaneously examines English usage strategies in political campaigning and policymaking activities and their ability to target urban demographics and educated and globally-minded voters among various linguistic regions.

Nehru's First Language Policy

Jawaharlal Nehru adopted a sensible attitude toward languages because he valued their cultural essence and functional significance. He mastered Hindi but used English as his primary language for thinking and speaking. The linguistic elite established by British rule through English and his fondness for English literature did not stop him from believing English would fade away in post-independence India. The actual instrument for both the educational and cultural expansion of familiar people lay in their native languages, according to Tagore. North Indian-speaking regions considered Hindi the ideal tongue for becoming a national binding language due to its extensive region coverage. The Basic Hindi promotion under Nehru included words from Urdu alongside English and other Indian languages to enhance accessibility. He recognised that English remains essential for scientific, technological, and worldwide communication, yet he emphasised its practical use while acknowledging Hindi as the most suitable link language for national unity. He pushed for Hindi to act as an additional language for understanding purposes instead of literature, but he wanted to minimise its influence on governance and national communication. The language policy he implemented combined policy aspects of national cultural beliefs with managerial requirements for adapting India to contemporary global standards.

English Stands Its Ground: The Struggle Between Hindi and English in Independent India

At the start, Jawaharlal Nehru endorsed the Indian Union, making Hindi its official language, but permitted English to coexist

for fourteen years until 1965. Many people, including him, anticipated that Hindi would achieve national acceptance through this fifteen-year duration to become a powerful, adaptable, unifying language. The predicted outcome failed to appear in the way it was initially projected. The advances of Hindi included its acceptance within military organisations through English-to-Hindi command translations because officers predominantly spoke English. However, the language failed to replace English in general public domains. Enthusiastic supporters of Hindi worked to eliminate English before 1965, yet their efforts led to increased acceptance of English as a leading language. The push to elaborate Hindi beyond basic usage met failure and Nehru acknowledged his difficulty with governmental communication between Hindi and All India Radio broadcasts, which used complex artificial language. The translation efforts from English to Hindi adopted official directives that produced unacceptable and awkward, insufficiently practical results.

Non-Hindi regions of southern India intensified their opposition to Hindi because their people believed eliminating English would create an imbalance between them and the governing authorities in administration and employment opportunities. The language dispute changed from its economic origins into a significant political conflict, triggering massive nationwide demonstrations. The anti-implementation of Hindi issue particularly in the states South of Madras posed a significant threat to India's socio political integration. Nehru realised that the idea of implementing the Hindi language had no other possibility of enforcement other than through voluntary compliance by the speakers. On the issue of national unity, he was most relevant since he did not support stringent implementation of one unified language in the country. From mid of 1950, new issues arose from linguistic state demands and, by formulating conflicts, improved the issues of linguistic conflict and regionalism. As far as priority was concerned, Nehru did not consider language issue as his most important agenda which to him was national integration though he deemed language to be thoroughly important.

Increased interest in native tongues rather than Hindi was the key that produced a much bigger impediment to the monopoly of English. The desire to identify the linguistic origins did not bring benefit to the ground structure of the unity of the nation in India. Studying Hindi promotion, Nehru learnt that aggressive approaches in promoting the language created a language that was hard to understand but not graceful – it concealed the cultural resurgence, not to mention Hindu supremacy. When there was enormous opposition in using Hindi as the national language and with increasing importance of English as an international language, Nehru shifted his policy and agreed for English as the link language. English had become pivotal for national and international communication and scientific progress, rendering its anticipated decline obsolete. Nehru admitted this while supporting its use as India's link language to modernity. Nehru selected practicality

above nationalistic language and aims to allow English to maintain its essential role in India's administrative structures and linguistic systems.

New Policy Guarantees the Status of English

At the start, Jawaharlal Nehru endorsed the Indian Union, making Hindi its official language, but permitted English to coexist for fourteen years until 1965. Many people, including him, anticipated that Hindi would achieve national acceptance through this fifteen-year duration to become a powerful, adaptable, unifying language. The predicted outcome failed to appear in the way it was initially projected. The advances of Hindi included its acceptance within military organisations through English-to-Hindi command translations because officers predominantly spoke English. However, the language failed to replace English in general public domains. Enthusiastic supporters of Hindi worked to eliminate English before 1965, yet their efforts led to increased acceptance of English as a leading language. The push to elaborate Hindi beyond basic usage met failure. Nehru acknowledged his difficulty with governmental communication between Hindi and All India Radio broadcasts, which used complex artificial language. The translation efforts from English to Hindi adopted official directives that produced unacceptable and awkward, insufficiently practical results.

This made non-Hindi regions of the south step up their campaign against Hindi because people there thought that doing away with English would increase the gap between them and the authorities in matters of administration and employment. The language issue evolved from an economic issue even to a political issue over which demonstrations spread throughout the country. The agitation with regard to enforcing Hindi as the national language in the states of India in the south of Madras posed an extraordinaire danger to India's socio-political integration. Nehru realised that the possibility of implementing the Hindi language had no other ways except through the policy of enforcement and therefore, it could only be feasible through adoption by the people of this language. National unity was important because he turned down the concept of having a united national language policy. By middle of the year 1955 new pressures came from the demands of the linguistically based state, finally contributing to a reinvigoration of the concerns of linguistic bifurcation and to they forming conflicts. Among Prime Minister Nehru's important priorities, national integration was on top, priority that was even considered more important than language issues even if language was significant to him.

This led to the enhance of interest of the people to learn native languages instead of Hindi served as a bigger hindrance to the spread of English. This increase in the realization of linguistic roots affected the fundamental foundation of unity in India in a negative way. Through observing Hindi promotion, Nehru realised that intense campaign methods unintentionally produced a language that became difficult to understand yet failed to achieve elegance,

masking cultural revivalism and Hindu chauvinistic tendencies. Under extensive Hindi resistance and rising English status as a global language, Nehru changed his stance and endorsed English as the national connection language. English had become pivotal for national and international communication and scientific progress, rendering its anticipated decline obsolete. Nehru admitted this while supporting its use as India's link language to modernity. Nehru selected practicality above nationalistic language and aims to allow English to maintain its essential role in India's administrative structures and linguistic systems.

English as the Language of the Elite in India

The language of the elite remains English despite its popularity for governance functions and educational and literary purposes. Throughout history, language has functioned as an indicator of cultural superiority since Sanskrit, Persian, and currently, English represent the advanced discourse for intellectuals and administrative functions. The link between English and modernisation comes with an extensive power gap separating empowered society members from those outside this elite group. The power that English holds in forming national cultural identity bypasses most Indians due to its exclusivity, which results in unequal education and job access, alongside differences in the social hierarchy.

The reach of the English language goes beyond administrative power because it affects both literary expression and linguistic variations across different territories in India. Most Indian authors who produce works in their regional languages have absorbed stylistic approaches from English literary traditions. Current novels written in Indian languages function based on Western literary design principles. The language divide strengthened economic inequalities between different social classes. Educational programs delivered through English create a disparity between the dominant social group and familiar people, producing better educational opportunities, improved occupational prospects, and social advancement. In contemporary Indian politics, which centres itself in rural areas across various regions, an expanding political gap has emerged between English-using elites and the broader-based political public, thus straining the democratic framework.

Nehru believed English would disappear naturally during his early years since it had no lasting connection with ordinary people. The English language was revived post-independence due to its popularity growth among elite and middle-class residents. The predominantly alien nature of English to Indians changed after 1947 when generations began using it as their expression medium. Modern Indian authors write in English without the burden of colonial past because this English language provides them the best weapon to express their thoughts. This is because, post independence, Indian authors have got the freedom to write their English literature pieces to their full potential and new generation of writers from India is emerging and coming forward from effective writing skills. Thus, the English

language in India being completely separated from its colonialist origin is gradually evolving into the lingua 'franca' of modern India.

The Indianization of English

English in India also under went certain changes and transforamtions in such a way that it left behind its status of being the colonial language which was meant to be used by the colonial masters alone in India and for its own sake it was bestowed with certain native Indian qualities. The issue that the Indian writers experience is that when they wish to gain the international recognition that comes with being part of the Anglophone world and therefore have to write in what they consider to be the correct British Standard English, they cannot integrate into the chosen literary tradition. Also, most of the youth in India now fluently speak English and speak their local dialect in the truest sense of the term. By English, they can assimilate world literature with their lives in an Indian way. English language serves as a means through which Indians are able to interact with other countries; at the same time, English language also serves as a root through which Indians define the identity of their nation.

This is due to the fact that India had a strong history which distinguishes it from other British colonies that had large amounts of European influence. These historical languages are still governing the usage of English in the nation since they have been in existence for over a thousand years. Using regional or national proverbs, phrases, and intonations brings about standard English with an Indian inclusion. Some characteristic forms of IE mimic words and phrases are Mahatma Gandhi's 'Himalayan blunder and R. K. Narayan's analogy of curds on warm rice and an adapted European analogy, where a bamboo peg replaced a peg for idea hanging.

The local environment brings out the creativity of the Indian English speakers in as far as use of vocabulary and grammar is concerned. It may be seen from the above simple realizations, general phrases, and idioms, that English is being 'Indianized', that is, English as it is spoken in India is changing with time. The phrases referring to crocodiles in loincloths denote politicians while bed-sheets, shirting, and suiting refer to Indianized terms. The model of Indian English has been emancipated from British language pattern and local experiences have been mingled with Indian language and context. Language adaptation was made according to the rules of the scientific development to form a new independent literary language. Indian English literature is a new addition to the world English literature because it goes on evolving with the Indian concepts of culture and Indian accent.

The Future of English in India: Expansion, Limitations, and Adaptation

English has turned into an Indian language and begun to speak through Indianess and Indian localisms. To attract the international audience the writers stick to the British Standard English but in order to address the country the majority of authors create Indian English as a blend of national proverbs and aesthetical features. The Indian way of influencing the English language is in the form of phrases such as 'Himalayan blunder' and 'crocodiles in loincloths'. This is a reason that shows that as the different language groups

become next to each other, new English speaking populations are being endowed with access to global information hence personal development through social networking. In this regard, the perception of the English language in India differs from the perception of this language in the African lands given that such people deliberately integrated this Western language in their multilingualism but retained their culturally African nature. The authorities see the society's need for English language and therefore introduced schools that offer educational services in this area and giving preference to communication skills not formal grammar rules in the rural regions needed. The option 'b' reveals that elite group speaks English but this language has not feature of popularizing in the population. Besides education and governing systems, traditional languages control the cultural expressions, which remained significant for democracy. Introducing local languages in politics will help to curb the dominance of English in the country but English will still be relevant in the legal profession, academic institutions as well as when dealing with international issues. In this regard, television and digital use guarantees that the English language is relevant through the media platforms. That is why the evolution of the English language around the world is directly connected to India: its modern-day developments are due to multiculturalism. That is true because various phrases and words usage of Indian English have become a standard element In the present day linguistic change process. English, as it is seen, has become an important second language in India's economy and its intellectual market preserves its space within.

Conclusion

The English language in India is going to reach the future through the process of adaptation and coexistence. Growing as an Indian language, the language retains Indian idioms and cultural content apart from generally being utilitarian. The channel through which the elite gets global knowledge, economic opportunities and better education is English but the common man's principal media of communication still remains the regional language. The progressive future of India continues the pattern of dominance of the English-speaking population in the administrative and bureaucratic spheres, law, and universities. Still, the language will become less used in local political activities. That is why its usage in television media, educational facilities, and technology interfaces is relevant with various layers of the population. On the one hand, the Indian English contributes to the world English globally and, on the other hand, different features appear simultaneously. Due to this, India's multiple linguistic communities use English as their link language with indigenous people and to expand India's link with the global relationships. Instead of English as an imposition to dominate, it empowers political, societal, and cultural change, facilitates cultural adaptation and provides global linkages in India.

References

1. Anderson, B. (1991). Imagined Communities: Reflections on the Origin and Spread of Nationalism. Verso.
2. Bourdieu, P. (1991). Language and Symbolic Power. Harvard University Press.

3. Brass, P. R. (2005). Language, Religion, and Politics in North India. iUniverse.

4. Choudhary, K. (2018). Political Discourse and English in India: The Power Play. *Asian Journal of Political Science, 26*(3), 321-337.

5. Das, S. (2012). Language and Political Identity in India: English as an Instrument of Power. *South Asian Journal of Political Studies, 9*(1), 45-59.

6. Dutta, S., & Kumar, V. (2017). The Role of English in Indian Parliamentary Debates. *Journal of Political Linguistics, 12*(4), 67-84.

7. Fishman, J. A. (1972). Language in Sociocultural Change. Stanford University Press.

8. Graddol, D. (2010). English Next India: The Future of English in India. British Council.

9. Guha, R. (2007). India After Gandhi: The History of the World's Largest Democracy. HarperCollins.

10. Jain, R. K. (2014). Linguistic Hierarchies and Political Power in India. *Journal of Asian Studies, 73*(1), 21-38.

11. Jaffrelot, C. (2003). India's Silent Revolution: The Rise of the Lower Castes in North India. Permanent Black.

12. Kachru, B. B. (1983). The Indianization of English: The English Language in India. Oxford University Press.

13. Kachru, B. B. (1990). World Englishes and the Politics of Language. *Language Problems & Language Planning, 14*(2), 107-128.

14. Khilnani, S. (1997). The Idea of India. Farrar, Straus and Giroux.

15. Kumar, P. (2016). English as a Lingua Franca in Indian Politics. *International Journal of Political Discourse Studies, 5*(3), 199-214.

16. Lahiri, R. (2011). English and Political Rhetoric in India: The Postcolonial Legacy. *South Asia Review, 32*(1), 77-93.

17. Mahapatra, B. (2010). Linguistic Politics and the Role of English in India. *Indian Journal of Language and Society, 14*(1), 12-26.

18. Mehrotra, R. (2015). Politics of Language and English in India. Routledge.

19. Mohanty, A. (2006). Multilingualism of the Unequal: English and the Politics of Language in India. *Language Policy, 5*(2), 123-143.

20. Pandey, P. (2020). Electoral Speeches and the Use of English in Indian Politics. *Journal of Discourse and Society, 31*(3), 201-217.

21. Rai, A. (2000). Hindi Nationalism and the Politics of English. Orient BlackSwan.

22. Ramachandran, M. (2013). English in Indian Courts: A Historical Perspective. *Indian Journal of Legal Studies, 8*(2), 45-59.

23. Ramaswamy, S. (1997). Passions of the Tongue: Language Devotion in Tamil India, 1891-1970. University of California Press.

24. Sanyal, D. (2018). The Digital Age and English in Indian Political Campaigning. *Journal of Political Communication, 35*(2), 157-175. https://doi.org/10.xxxx/xxxxxx

25. Sen, A. (2005). The Argumentative Indian: Writings on Indian Culture, History and Identity. Penguin Books.

26. Sharma, P. (2014). Language and Power: The Role of English in Indian Political Debates. *Asian Journal of Sociopolitical Studies, 7*(2), 98-112.

27. Sridhar, K. K. (1989). Sociolinguistic Perspectives of English in India. *World Englishes, 8*(1), 1-12.

28. Srivastava, A. K. (2012). The Politics of Language in India. *Journal of Language and Society, 10*(1), 55-72.

29. Tharoor, S. (2017). Inglorious Empire: What the British Did to India. Hurst Publishers.

Rising Caesarean Section Rates: A Global Health Concern with Local Solutions for Optimal Maternal Well-being

Tushar Purohit* **Dr. Satender****

Abstract

Background: The increasing rate of caesarean sections (C-sections) globally is not just a medical or public health concern; it is deeply intertwined with social work principles and has profound implications for sustainable development. The rising C-section rate raises concerns within the framework of social justice, human rights, and women empowerment.

Objective: The objective of this research paper is to explore the global rise in C-section rates, to understand the local factors contributing to this trend in India and to propose lifestyle changes and local interventions for reducing unnecessary C-sections.

Method: By employing a narrative review methodology and utilizing secondary data sources such as government health surveys, WHO reports, and peer-reviewed studies, this research highlights the urgent need for interventions to curb unnecessary C-sections.

Recommendations: This paper concludes by proposing local solutions to address this issue, emphasizing a holistic approach to maternal health. Recommendations include enhanced education and counselling for pregnant women, improved training for healthcare providers, implementation of evidence-based guidelines, and the promotion of midwife-led care models.

Key Words: Sustainable Development; Caesarean Section; Women Empowerment; Lifestyle; Local solutions

INTRODUCTION

Caesarean sections (C-sections) have become an increasingly common mode of delivery worldwide. The World Health Organization (WHO) recommends that C-sections should account for no more than 10-15% of all births, as higher rates are not associated with improved maternal or neonatal outcomes (WHO, 2015).1 Despite this, many countries have far exceeded this threshold, with the global average C-section rate rising from around 7% in 1990 to 21% in 2018 and is projected to reach 29% by 2030.3 This translates to an estimated 38 million C-sections annually by 2030.8

The right to make informed choices about one's reproductive health, including childbirth, is a core principle of reproductive justice. Unnecessary C-sections can infringe upon this right, especially when influenced by systemic factors like lack of access to quality maternity care or provider bias.9

*Research Scholar, Department of Sociology, Banasthali Vidyapith, Rajasthan, India
** Assistant Professor, Department of Sociology, Banasthali Vidyapith, Rajasthan, India

BACKGROUND

The rising C-section rate impacts sustainable development goals (SDGs). Unnecessary C-sections can negatively impact maternal and child health, thus hindering progress towards SDG 3 that is Good Health and Well-being goal. Women's reproductive rights are central to gender equality. Addressing the systemic factors that contribute to unnecessary C-sections is crucial for achieving SDG 5 goal which advocates for Gender Equality. Addressing disparities in C-section rates is essential for reducing health inequities and promoting a equitable society which relates to SDG 10 which recommends to reduce inequalities.

Objective of this research paper is to explore the global rise in C-section rates, to understand the local factors contributing to this trend in India and to propose lifestyle and policy interventions for reducing unnecessary C-sections.

METHODOLOGY

This research employs a narrative review methodology. Data for this review were collected entirely from secondary sources. Inclusion criteria included publication dates between 2000 and 2024, English language, focus on C-section rates at global, regional, or national (India) levels, provision of data on trends over time, and inclusion of information on public and/or private healthcare sectors.

DISCUSSION

The rates of C-sections vary significantly by region. In some parts of the world, particularly in Latin America and the Caribbean, the rates are among the highest. For instance, Brazil has one of the highest C-section rates globally, with more than half of all births (55.5%) being performed via C-section (Boerma et al., 2018).2 Similarly, in other countries like Mexico and the Dominican Republic, rates exceed 40% (Betrán et al., 2016).3 In 2018, rates ranged from 5% in sub-Saharan Africa to 42.8% in Latin America and the Caribbean. Projections indicate that by 2030, Eastern Asia may have the highest rate at 63.4%, while sub-Saharan Africa may remain the lowest at 7.1%.2

In high-income countries such as the United States, C-section rates have also risen significantly. In the U.S., the rate of C-sections increased from 20.7% in 1996 to 32% in 2019 (Martin et al., 2021).4 European countries, however, show a more moderate range, with countries like the Netherlands maintaining C-section rates closer to 15%, in contrast to countries like Italy and Portugal, where rates hover around 30-40% (Boerma et al., 2018).2 In Asia, countries such as China have also seen a significant rise in C-sections. The rates in China escalated dramatically, with some urban areas reporting C-section rates as high as 50-60% (Feng et al., 2014).5 This trend is similarly reflected in countries like South Korea and Iran, where C-section rates have exceeded 40% in recent years (Betrán et al., 2016).3

India has experienced a significant rise in caesarean section (C-section) rates over the past two decades, reflecting both global trends and region-specific factors. According to the National Family Health Survey (NFHS-5),

the national C-section rate increased from 8.5% in 2005-06 (NFHS-3) to 21.5% in 2019-21 (NFHS-5), indicating a substantial rise (International Institute for Population Sciences [IIPS] & ICF, 2021).6 India has experienced a significant increase in caesarean section (C-section) rates over the past few decades, with notable differences between private and public healthcare sectors. Both sectors have shown an upward trend, albeit at different rates and scales.

In the public sector, C-section rates have risen steadily. According to the National Family Health Survey (NFHS), the rate in public facilities increased from 11.9% in NFHS-4 (2015-16) to 14.3% in NFHS-5 (2019-21). The private sector, however, shows a more dramatic rise. The NFHS data reveals that C-section rates in private facilities jumped from 27.7% in NFHS-3 to 47.4% in NFHS-5. This stark increase has led to concerns about unnecessary procedures driven by non-medical factors.

NFHS-5 data reveals that first-time mothers are more likely to have a C-section (28%) compared to women who have given birth before (ranging from 4% to 20%). C-sections are significantly more prevalent in private health facilities (48% of deliveries), with an increase from 41% in 2015-16. The data indicates a clear urban-rural divide, with C-sections being more common in urban areas (32%) than in rural areas (18%). Women with higher levels of education are more likely to undergo C-sections. This trend is particularly pronounced for those with 12 or more years of schooling (35%), compared to women with less education. Mothers from the wealthiest households are considerably more likely to have a C-section (39%) than those from the poorest (7%). A majority of districts in India report that over 30% of births in private health facilities are C-sections.6

C-section rates in India show considerable regional variation. Southern states, such as Telangana (60.7%) and Kerala (38.9%), report some of the highest C-section rates, while states like Bihar (6.2%) and Nagaland (6.7%) have much lower rates (IIPS & ICF, 2021).6 This regional disparity is often attributed to differences in healthcare infrastructure, socioeconomic status, and cultural beliefs regarding childbirth (Bharati et al., 2021).7

The rising caesarean section (C-section) rates in India are influenced by a complex interplay of medical, sociocultural, and economic factors. (Guilmoto & Dumont, 2019). This trend has led to a perception that C-sections represent a more "modern" or "scientific" approach to childbirth. Sociocultural preferences have also contributed to the increasing rates. Many Indian women and families view C-sections as safer or more convenient than vaginal deliveries. This perception is often rooted in cultural beliefs about auspicious birthing times or the desire to avoid labor pain (Madhivanan et al., 2020).

Healthcare professionals play a crucial role in this trend. Some doctors may recommend C-sections due to time constraints, fear of litigation, or lack of experience with complicated vaginal deliveries (Betran et al., 2018).3 In the private sector, financial incentives can also influence decision-making, as C-sections are often more profitable than vaginal deliveries (Guilmoto & Dumont, 2019).

Additionally, there is a general lack of awareness among expectant mothers about the benefits of vaginal delivery and the potential risks associated with unnecessary C-sections. This knowledge gap, combined with limited prenatal education, often leaves women ill-equipped to make informed decisions about their birthing options (Sharma, 2017). Sociocultural preferences also play a crucial role in the increasing C-section rates. The perceptions that C-sections are less risky than vaginal deliveries, especially in urban areas, are reinforced by the growing trend of elective C-sections, which are sometimes preferred for convenience, scheduling flexibility, and the avoidance of labor pain (Subha et al., 2022).

In recent years, India has experienced significant lifestyle changes that have contributed to the rising caesarean section (C-section) rates. These lifestyle factors are closely associated with the country's rapid urbanization and economic development, which have led to shifts in dietary habits and physical activity levels. One of the most notable trends is the increasing prevalence of maternal obesity in India. A study by Gouda and Prusty (2014) found that the proportion of overweight and obese women of reproductive age has been steadily rising, particularly in urban areas. This trend is concerning because maternal obesity is a known risk factor for complications during pregnancy and childbirth, often leading to a higher likelihood of C-section deliveries (Bhattacharya et al., 2007).

Alongside obesity, there has been a marked increase in gestational diabetes mellitus (GDM) in the Indian population. Seshiah et al. (2020) reported that the prevalence of GDM in India ranges from 10-14%, which is significantly higher than global averages. GDM not only increases the risk of C-sections but also poses long-term health risks for both mother and child. Gestational diabetes is associated with increased birth complications, such as foetal macrosomia (larger-than-average babies), which can necessitate a C-section for safer delivery (Saxena et al., 2019).

Hypertensive disorders of pregnancy, including pre-eclampsia, have also become more common in India. A systematic review by Nobis et al. (2020) found that the prevalence of hypertensive disorders in pregnancy in India ranges from 1.2% to 18.8%, with higher rates in urban areas.

Rapid urbanization in India has led to lifestyle changes that include reduced physical activity, poor dietary habits, and increased stress, all of which contribute to the rising rates of obesity and metabolic disorders in pregnant women (Jindal & Aggarwal, 2020). As more Indians move to cities, they often adopt more sedentary lifestyles and consume diets higher in processed foods and calories. Gulati et al. (2017) noted that urban Indian women are more likely to be physically inactive compared to their rural counterparts, which contributes to higher rates of obesity and related health issues. These lifestyle factors specific to India's changing socioeconomic landscape play a significant role in the increasing C-section rates. Addressing these issues requires a comprehensive approach that includes public health education, promotion of healthy lifestyles, and improved prenatal care to manage obesity, diabetes, and hypertension during pregnancy.

Promoting a holistic approach to maternal health starts with comprehensive education and counselling for pregnant women. Arora et al. (2021) emphasize the importance of providing balanced information about the risks and benefits of both vaginal and caesarean deliveries. Additionally, the significance of antenatal care in promoting healthy pregnancies cannot be overstated. Kuhnt and Vollmer (2017) highlight that quality antenatal care, which includes guidance on proper nutrition, regular exercise, and weight management, is associated with better maternal and neonatal outcomes.

Healthcare providers play a pivotal role in addressing the high C-section rates. Training doctors to avoid unnecessary C-sections and promote evidence-based practices is essential. Naz et al. (2018) suggests that implementing clinical audits and feedback systems can help reduce non-medically indicated C-sections. The World Health Organization's recommendations on non-clinical interventions to reduce unnecessary C-sections provide a framework for such guidelines (WHO, 2018).

Fostering midwife-led care is another promising strategy to encourage vaginal births. Sandall et al. (2016) found that midwife-led continuity models of care are associated with lower rates of interventions, including C-sections, without compromising maternal or neonatal outcomes. In the Indian context, strengthening the role of midwives could provide a culturally acceptable and effective way to promote natural childbirth. Midwives, particularly in rural and under-resourced settings, have been shown to successfully manage low-risk pregnancies and deliveries, leading to fewer unnecessary medical interventions, including C-sections (Raisler & Kennedy, 2019).

Implementing these local solutions requires a coordinated effort from healthcare institutions, policymakers, and community leaders. By focusing on education, evidence-based practices, and alternative models of care, India can work towards optimizing its C-section rates while ensuring the best possible outcomes for mothers and babies. Many women, particularly in urban and private healthcare settings, are unaware of the potential long-term risks associated with unnecessary C-sections. Providing pregnant women with comprehensive, evidence-based information through prenatal counselling can empower them to make informed decisions about childbirth (Puri et al., 2018).

Regular antenatal checkups are vital for identifying potential complications early and advising pregnant women on maintaining a healthy diet, engaging in regular physical activity, and managing weight gain during pregnancy (Bhardwaj et al., 2021). Additionally, implementing guidelines that restrict medical interventions, unless absolutely necessary, is essential. National and hospital-level policies can be developed to ensure that C-sections are performed based on medical necessity rather than economic or non-medical factors (Chaturvedi et al., 2020).

RECOMMENDATIONS

The following section outlines evidence-based, localized strategies designed to mitigate lifestyle-related complications during

pregnancy and concurrently increase the prevalence of natural births with regards to Indian context. Incorporating regular exercise throughout pregnancy can significantly reduce the need for surgical deliveries.

Establish avenues for disseminating real-life accounts. Design a smartphone application called "Birth Chronicles," where mothers can share their positive natural birth experiences, including images and video content. Engage public figures in promoting natural birth. This could chronicle her path from pregnancy to postpartum, highlighting her decision-making process, preparatory steps, and positive outcome, inspiring viewers to consider natural birth options.

Introduce calming practices into daily routines. An expectant mother might begin her morning with a brief deep breathing exercise, utilize a mindfulness app during her midday break, and conclude her day with gentle stretching to alleviate tension. Offer varied educational options to accommodate different needs. Launch a "Birth Essentials" program providing weekly in-person sessions at community venues, complemented by on-demand video content accessible via a mobile platform.63 Equip women with non-medical pain relief strategies.

Revive ancient massage practices to promote maternal wellbeing. Optimizing nutrition and maintaining healthy weight are key strategies in reducing caesarean deliveries. Suggest meal plans featuring a breakfast of whole grain porridge topped with seasonal fruits and seeds, a lunch of vegetable-rich stew with lean protein, and a dinner of grilled fish accompanied by colourful salads.

Collaborate with creators of widely-viewed television series to develop storylines featuring positive vaginal birth experiences. Develop clear, accessible resources about birth options and outcomes. Launch an "Informed Birth Choices" campaign featuring easy-to-understand visuals comparing recovery periods, potential complications, and long-term health impacts of vaginal versus caesarean deliveries.

CONCLUSION

Lifestyle factors play a crucial role in reducing caesarean section rates, particularly in the Indian context as rural population is also prone towards urban lifestyle.76 By adopting healthy habits such as regular prenatal exercise, balanced nutrition, and stress management techniques, expectant mothers can enhance their body's readiness for natural childbirth. Moreover, a lifestyle-centred approach empowers women with knowledge and confidence, enabling them to make informed decisions about their birthing options. By addressing cultural beliefs, work-life balance, and traditional practices through a lifestyle lens, we can create a supportive environment that promotes vaginal deliveries. Ultimately, integrating positive lifestyle changes into prenatal care represents a sustainable, low-cost strategy to curb rising caesarean rates while improving overall maternal and infant health outcomes.

FUTURE SUGGESTIONS

Given the rise in C-section rates, several international organizations, including the WHO, are advocating for measures to curb unnecessary C-sections. These include pro-

moting education about the benefits of vaginal delivery, encouraging the use of midwives, and implementing guidelines that support evidence-based childbirth practices (WHO, 2015). Countries with lower C-section rates, such as the Netherlands and Scandinavian nations, offer potential models for how to balance medical interventions with promoting natural childbirth.

LIMITATIONS

For data analysis, we critically appraised the collected literature for quality and relevance. We acknowledge the limitations of this methodology, including potential publication bias and the lack of primary data collection.

REFERENCES

1. World Health Organization (WHO). (2015). WHO statement on caesarean section rates. https://www.who.int/reproductivehealth/publications/maternal_perinatal_health/cs-statement/en/
2. Boerma, T., Ronsmans, C., Melesse, D. Y., Barros, A. J. D., Barros, F. C., Juan, L., & Say, L. (2018). Global epidemiology of use of and disparities in caesarean sections. The Lancet, 392(10155), 1341-1348. https://doi.org/10.1016/S0140-6736(18)31928-7
3. Betrán, A. P., Ye, J., Moller, A. B., Zhang, J., Gülmezoglu, A. M., & Torloni, M. R. (2016). The increasing trend in caesarean section rates: Global, regional and national estimates: 1990-2014. PLOS ONE, 11(2), e0148343. https://doi.org/10.1371/journal.pone.0148343
4. Martin, J. A., Hamilton, B. E., Osterman, M. J. K., & Driscoll, A. K. (2021). Births: Final data for 2019. National Vital Statistics Reports, 70(2). https://www.cdc.gov/nchs/data/nvsr/nvsr70/nvsr70-02-508.pdf
5. Feng, X. L., Wang, Y., An, L., Ronsmans, C., & Wang, L. (2014). Caesarean section in the People's Republic of China: Current perspectives. International Journal of Women's Health, 6, 59-74. https://doi.org/10.2147/IJWH.S41492
6. International Institute for Population Sciences (IIPS) & ICF. (2021). National Family Health Survey (NFHS-5), 2019-21: India fact sheet. http://rchiips.org/nfhs/NFHS-5_FCTS/India.pdf
7. Bharati, S., Pal, M., & Bharati, P. (2021). Rising caesarean section deliveries in India: An emerging concern. Journal of Public Health, 43(1), e78-e84. https://doi.org/10.1093/pubmed/fdz139
8. World Health Organization. (2021, June 16). Caesarean section rates continue to rise, amid growing inequalities in access. (Press Release)
9. Rosoff, J. I. (2013). Cesarean section and the reproductive justice movement. The Journal of Law, Medicine & Ethics, 41(3), 633-636.
10. International Institute for Population Sciences (IIPS) & ICF. (2021). National Family Health Survey (NFHS-5), 2019-21: India fact sheet. http://rchiips.org/nfhs/NFHS-5_FCTS/India.pdf

The Devotional Self : Rasa/Bhakti, the Vedic Art of Feeling

Rubina Sultana*

Abstract

Emotions and feelings have raw power when intermeshed in spiritual practice. This makes for an important branch of philosophical inquiry within Vedanta, which is one of the profoundest schools of Indian philosophy. This article attempts to assess the role of emotion (rasa) within the scope of the religious practices of Vedanta through the prism of the practices of Advaita, Vishishtadvaita and Dvaita traditions. Concentrating on the intersection of rasa theory and bhakti, this research explains how the engagement of emotions becomes a crucial element in the course of self-realization. The phenomenon under study is based on the historical development of meditations, in which the Jnanavairagya / knowledge and detachment of Advaita were transformed into devotional and loving personal relationships with the deities. This research aims to understand the relationship between one specific aspect of emotion, rasa, and self-realization within different kinds of Vedanta movements. The time frame includes classical sources of Indian philosophy from the 6th BC until the 18th century and also modern literature. The richness of this understanding is further improved by the inclusion of rasa theory, which shows that aesthetic experiences of emotion may enable enhanced spiritual growth. This insight emphasizes the emotional aspect of spiritual practice and how one's pursuit of self-discovery is often as sustainable as one's longing for the divine.

Keywords: Self-realization, Advaita Vedanta, Vishishtadvaita, Bhakti, Rasa theory, emotion, and Dvaita

Introduction

The investigation of emotion in spiritual practice is a crucial element of philosophical investigation, particularly within the framework of Vedanta, a significant school of Indian philosophy. Vedanta, meaning "the conclusion of the Vedas," explores the essence of reality and the self, rendering it a crucial domain for understanding human experience. This study investigates the relationship between emotion, particularly the notion of rasa, and the actualisation of the self among many Vedantic traditions, including Advaita, Vishishtadvaita, and the Bhakti movements. The significance of emotions in spiritual evaluations, especially within devotional practices, is an essential although inadequately examined area in philosophical and theological discourse (Sharma, 2011). Understanding the various interpretations of emotional devotion across different schools of Vedanta provides insights into the wider ramifications for spiritual realization and highlights the transformational potential of emotions in attaining freedom (Murray, 2016).

This literature analysis seeks to examine the relationship between rasa theory and bhakti in Vedanta, emphasizing their philosophical significance for emotional devotion in the spiritual journey (Coward, 1997). The review examines original texts and secondary scholarship to elucidate how various Vedantic traditions reconcile or contrast the quest for knowledge with emotional engagement,

*** Ph.D. Research Scholar, Department of Philosophy, Aligarh Muslim University, Aligarh, 202002, India**

revealing a range of perspectives on self-realization. The scope encompasses principal Vedantic schools from India's classical philosophical era (6th century BCE–18th century CE) and examines contemporary interpretations, addressing themes such as the Advaitic perspective on the self's unity with Brahman, the focus on devotional aesthetics in Vishishtadvaita and Dvaita, and the importance of rasa as an emotional framework in spirituality (Raghavan, 1999; Gupta, 2012). Terms like "rasa," which refers to emotional aesthetic experience, and "bhakti," meaning devotion to a personal deity, are crucial for comprehending the importance of emotional involvement in spiritual practices (Madhusudan, 2000). This study examines how various Vedantic interpretations of emotion and devotion influence pathways to moksha, so enriching the seeker's relationship with the divine and advancing the philosophical discourse on knowledge and devotion.

The examination of emotion in Vedanta uncovers an intricate interaction among diverse philosophical systems, aesthetics, and spiritual practices. Two essential principles underlying this discourse are rasa and bhakti. Comprehending these principles elucidates how emotions facilitate spiritual growth and introspection across several Vedanta traditions, including Advaita, Vishishtadvaita, and Dvaita.

Rasa Theory: The Aesthetic Experience of Emotion

Rasa, a Sanskrit phrase meaning "essence" or "flavour," stems from Indian aesthetics and is fundamental to understanding emotional connection in spiritual practice. Initially defined in Bharata Muni's Natyashastra, rasa denotes the profound emotional experience elicited in an audience when interacting with art, literature, or performance (Muni, 2005).

The notion of rasa is profoundly ingrained in Indian philosophical and aesthetic traditions. The Natyashastra delineates eight fundamental rasas: love (shringara), laughter (hasya), sadness (karuna), anger (raudra), heroism (vira), fear (bhayanaka), disgust (bibhatsa), and astonishment (adbhuta), subsequently augmented to encompass calm (shanta). These emotional states are not solely psychological reactions but are considered as transforming experiences that enable humans to beyond their constrained self-perception and engage with global consciousness (Raghavan, 1999).

Abhinavagupta, a 10th-century philosopher, elaborated on rasa theory by claiming that the experience of rasa transcends mere emotional response and constitutes a significant process of inner development. He asserted that aesthetic enjoyment (rasa-anubhava) surpasses individual emotions and cultivates an experience of the universal (sadharanikarana), facilitating profound spiritual insight (Raghavan, 1999). This shift allows practitioners to transcend personal pain and achieve an elevated state of consciousness.

In the realm of spirituality, rasa encompasses not only artistic experiences but also devotional actions. Bhakti poets such as Mirabai, Surdas, and Tulsidas used rasa to evoke intense devotion and surrender to the divine. Their compositions, laden with emotional depth, were instrumental in shaping devotional movements across India. The emotional engagement elicited by bhajans, kirtans, and leelas in Hindu worship represents the interplay of aesthetic experience and spiritual realization (Gupta, 2012). The Bhagavata Purana, for instance, describes the rasa-lila of Krishna and the Gopi's, illustrating

the ecstatic union of the soul with the divine through love and devotion.

Bhakti: The Path of Devotion

Bhakti, meaning "devotion" or "loving attachment," forms a crucial pathway to self-realization in Vedantic traditions. The Bhakti movement, which gained prominence in medieval India, emphasized an intimate and emotional relationship with the divine, contrasting with earlier philosophical approaches that prioritized abstraction and intellect (Coward, 1997).

The *Bhagavad Gita* illustrates *bhakti* as a legitimate path to spiritual liberation, with Krishna declaring that surrendering to God through devotion leads to ultimate freedom (Bhagavad Gita 18:66). Ramanuja, the proponent of Vishishtadvaita Vedanta, further elaborates that emotional devotion is not only a valid but also a preferred means of attaining *moksha* (Coward, 1997). His interpretation of *bhakti* fosters a personal connection with God, making the divine both accessible and relatable to devotees.

The Bhakti movement transformed the religious landscape of India, breaking barriers of caste and gender while making spiritual practice more accessible. Saints such as Kabir, Mirabai, and Tulsidas emphasized that devotion transcends ritualistic practices and is rooted in the sincerity of the devotee's heart (Grimes, 2000). The emotional intensity of *bhakti* manifested through singing hymns, communal gatherings, and ecstatic dance, illustrating that devotion is not solely intellectual but deeply experiential.

Within Dvaita Vedanta, Madhva emphasized *bhakti* as the ultimate means of salvation, advocating for a distinct dualistic relationship between the devotee and the divine (Madhva, 2000). In contrast, Vishishtadvaita maintains a qualified non-dualism, where the self maintains its individuality while remaining intimately connected with God. The interplay of *rasa* and *bhakti* within these traditions illustrates how devotion is not a singular emotional experience but a dynamic process that leads to spiritual transformation.

By integrating emotion and devotion, *bhakti* traditions highlight the power of personal relationships with the divine, showcasing that emotional engagement can be a profound medium for self-realization and liberation. The convergence of *rasa* and *bhakti* thus reveals how emotional devotion enriches the spiritual journey, allowing seekers to experience divinity through love, surrender, and aesthetic joy realization and liberation. The convergence of *rasa* and *bhakti* thus reveals how emotional devotion enriches the spiritual journey, allowing seekers to experience divinity through love, surrender, and aesthetic joy.

Advaita Vedanta: Knowledge and Detachment

Adi Shankaracharya's Advaita Vedanta is based on non-dualism (Advaita), which holds that Brahman is unique and undifferent. Shankara believed that the empirical world (maya) is an illusion and that true knowledge (jnana) is realizing that the atman is Brahman. This realization leads to moksha (liberation), which ends suffering and dissolves the false ego. Advaita emphasizes knowledge and detachment from worldly emotions for self-realization. According to Shankara, the soul is tethered to samsara through attachment to emotions and sensory experiences. Detachment (vairagya) is essential for liberation. Detachment is surpassing transient worldly emotions to concentrate on Brahman (Murray, 2016). Shankara's Vivekachudamani underscores discernment (viveka), dispassion (vairagya), and self-discipline

(shama and dama) within jnana yoga. He believes emotional engagement, including bhakti, should lead to understanding rather than being an aim in itself. He acknowledges that dedication (bhakti) can lead to non-dual realization for many seekers. This perspective integrates rasa and bhakti within an Advaitic framework, where devotion becomes non-dual knowledge.

Detachment may seem to discount emotional experiences in spiritual practice, which is a major criticism of Advaita. Later Advaitins like Madhusudan Saraswati maintained that bhakti and rasa could purify the mind and prepare it for jnana. He redefined devotion as a path to non-dual realization and divine internalization (Gupta, 2014).

Modern Advaita masters like Ramana Maharshi and Nisargadatta Maharaj emphasized self-inquiry (atma vichara) as the ultimate path to realization. They say emotions, including devotion, are fleeting and should be examined and overcome. This aligns with the Upanishadic adage, neti, neti ("not this, not this"), which encourages seekers to transcend emotions, thoughts, and dualistic experiences to Brahman.

Despite its academic bent, Advaita acknowledges emotion. Instead, it views emotional emotions as maya that may be overcome via intense meditation and self-inquiry. Advaita promotes detachment yet recognizes rasa and bhakti as prerequisites to ultimate knowledge and liberation.

Vishishtadvaita: Embracing Emotion in Spirituality

Shri Ramanuja's Vedanta discusses spirituality. Advaita calls emotions maya, whereas Vishishtadvaita incorporates them in self-realization. Rajanuja believes bhakti frees. He thinks spiritual connection requires love, commitment, and surrender. Vishishtadvaita emphasizes God. The kind Brahman responds to devotion. Vishishtadvaita emphasizes love and service to God, unlike Advaita. Devotion culminates in Vaikuntha and everlasting existence with God. The Ramanuja philosophy advocates for prapatti, or submission to God. A love-infused commitment to God transcends mere academic understanding. Transcendent emotions such as rasa. The devotional verses of the Alvars articulate the fervour of Vishishtadvaita. The presumption in Vishishtadvaita regarding Krishna and rasa discourse is that devotion is attractive. The devotee-divine relationship is sensitive like parent-child, lover-beloved, and servant-master. Temple rites, music, dancing, and poetry make Bhakti followers and deities feel sacred.

Vishishtadvaita rethinks jnana. Learning takes dedication. Full realization needed a strong emotional connection with the divine, according to Ramanuja. Knowledge without commitment is incomplete. He refutes Advaitic teachings regarding the significance of detachment by asserting that love and devotion to God expedite moksha. The emotional profundity of Vishishtadvaita Vedanta combines knowledge with devotion. Regardless of one's intellect, emotional engagement renders spirituality attainable. Spiritual practice is individualised and fulfilling as it engages with global love, desire, and interconnectedness.

The dedication of Vishishta fosters communal development. Rituals and veneration enhance belief. Chanting, devotional singing, and temple congregations increase the emotional aspect of spirituality. Ultimately, Vishishtadvaita Vedanta perceives emotions as divine instruments rather than mere distractions. Through love, surrender, and commitment, these convictions cultivate the heart's yearning for God. Advaita does not consider

emotional interaction a pleasant spiritual path, whereas Vishishtadvaita does.

Dvaita: The Dualistic Perspective

Madhvacarya established Dvaita Vedanta in the 13th century, which posits that the soul (jiva) and the Supreme Being (Ishvara) are eternally distinct. Dvaita Vedanta refutes non-dualism and the concept of a singular reality, positing an eternal distinction between God and the soul. This theology refers to bhakti as spiritual contact. Madhva asserts that souls require God, particularly Vishnu or Krishna, for their existence, grace, and liberation. This approach conceptualises devotion as a basic connection characterised by obedience, love, and submission, rather than merely an emotion. The veneration and belief in God render Dvaita Vedanta poignant. Dvaita advocates for a soul-destroying hierarchy. Others differ spiritually from the people of God. Hierarchical paradigms evoke commitment; nonetheless, each spiritual journey is distinct and necessitates human endeavour and divine grace. The fundamental spiritual objective of Dvaita is ecstatic devotion to God, rather not unification with the infinite, but rather the appreciation of its radiance. Like Dvaita Vedanta, Haridasa saints like Purandara Dasa and Kanaka Dasa's poetic lyrics stressed complete devotion to God. Rasa-infused compositions inspire devotion. Their bhakti was longing, humility, and love for God, indicating that emotional connection with God brings spiritual happiness. Grace is emphasized in Vedanta. Although devotion and ethics are important, Madhva believes God's mercy gives moksha. The devotee's heavenly grace yearning exhibits love and submission. Dvaita followers experience rasa and heavenly love. Due to dualism, Dvaita understands detachment differently. Detachment in Dvaita emphasises love and devotion to God, while in Advaita, it involves the dissolution of the ego into Brahman. Refine emotions for the Divine. A devotee venerates God while embracing the world. In Dvaita Vedanta, spirituality is characterised by emotionality. Spirituality necessitates love, commitment, and surrender, as God is perpetually distinct from the soul.

Heartfelt Dvaita encourages grace, commitment, and emotion. This viewpoint defines commitment as lifelong God-love. Dvaita Vedanta practitioners enjoy love, service, and bhakti/rasa.

The Interplay of Rasa and Bhakti

Bhakti is an ecstatic experience with the divine in Vedantic traditions, especially Vishishtadvaita and Dvaita. Devotional poets and saints like Tulsidas, Mirabai, and Surdas conveyed their love for the divine in rasa, where love (shringara), compassion (karuna), and wonder (adbhuta) are divine experiences. They depict devotion as a dynamic, emotional relationship with God. The rasa-lila of Krishna and the Gopis in the Bhagavata Purana, a respected bhakti scripture, shows this interaction. The Gopis' love for Krishna is the ultimate form of bhakti, where the soul longs to merge with the divine in an endless dance of love and surrender. Rasa beyond art and performance, evolving into a spiritual communion in which the devotees immerse themselves in the beauty and love of God.

Ramanuja's Vishishtadvaita Vedanta asserts that the soul's ultimate objective is divine bliss through affectionate submission, hence enhancing this relationship. Ramanuja perceives devotion as an artistic experience that immerses the devotee in the divine presence via emotions. The exquisite deity, splendid appellation, and grand celestial narrative elicit rasa, transforming devotion into a pleasurable experience rather than a mere ritual.

Madhva asserts that divine grace is essential for spiritual advancement in Dvaita Vedanta. Deity answers the supplicant's prayers, melodies, and narratives. These reciprocal partnerships embody human affection and yearning, rendering divine engagement personal and intimate. The Haridasa devotional compositions of Purandara Dasa and Kanaka Dasa exemplify the fusion of bhakti-rasa, wherein devotees engage in singing and dancing in divine ecstasy to achieve spiritual transformation.

Temple rites, kirtans, and bhajans employ music, rhythm, and dance to elevate emotions to a celestial plane, illustrating the transformative power of rasa and bhakti. In these conditions, devotion is collective, as individuals partake in divine ecstasy. The invocation of God's name, the beating of drums, and the singing of hymns establish an immersive atmosphere in which the divine is palpable and the soul yields in ecstasy.

Rasa and bhakti demonstrate that spiritual realization involves experiencing the divine in every emotion, song, and prayer, rather than solely via knowledge. It asserts that emotions directed towards God constitute freedom. Adherents refine earthly sentiments into divine yearning. Bhakti-rasa venerates love, joy, and surrender, merging the devotee with the divine in perpetual ecstasy.

Conclusion

Rasa and bhakti in Vedanta are fascinating stories of devotion, emotions, and spiritual growth. Advaita, Vishishtadvaita, and Dvaita's viewpoints on self-realisation, emotions, and devotion were explored. The critical study demonstrates emotions are essential to spirituality and divine connection. Jnana and detachment allow Advaita to realize Brahman's non-duality and conquer emotions. Seekers understand feelings. Emotional Advaita. Vishishtadvaita Vedanta claims spiritual growth is emotional. Loving God makes liberation easier and more enjoyable, says Ramanuja. This school believes rasa enriches bhakti by connecting aesthetic and emotional experiences to spirituality. Vishishtadvaita states love, joy, and submission draw God. Dualist Dvaita Vedanta promotes emotional commitment. Madhva believes God enjoys soul seclusion and dependence. Knowing Dvaita shows God and devoted love. This philosophy argues that emotions are divine gifts that help spirituality and release. Rasa and Bhakti practice devotion beyond theory. Poetry, music, and rituals evoke divine feelings, making spirituality appealing intellectually and experientially. Dvaitic philosophers' intense devotion, Bhakti saints' emotional surrender, and Advaitic seekers' peaceful meditation follow emotions. The study found that refined and divinely directed emotions boost self-realization. Rasa and bhakti affect spirituality through detachment, devotion, and surrender. Love, longing, and transcendence are needed for self-discovery. The study suggests managing, increasing, and elevating emotions to divine realisation for enlightenment. The findings imply Advaita, Vishishtadvaita, and Dvaita improve spirituality through emotion. Advaita promotes wisdom and detachment, while Vishishtadvaita and Dvaita promote bhakti. Rasa's theory says aesthetics foster spirituality. Knowing, feeling, gender, and culture are emphasized in Vedanta. Emotions aid self-discovery and spirituality.

References

1. Bhattacharya, R. D. (2021). *Rituals and Emotions: A Study of Bhakti Practices*. Journal of Indian Philosophy, 49(2), 123-145.
2. Coomaraswamy, A. K. (1970). *The Dance of Shiva: Fourteen Indian Essays*. The Sunwise Turn.
3. Coward, H. (1997). *Bhakti: A Comparative Study*. State University of New York Press.

4. Grimes, J. (2000). *A Concise Dictionary of Indian Philosophy*. SUNY Press.

5. Gupta, R. (2012). *Aesthetic Experience and the Divine: Rasa Theory in Vedanta*. Philosophy East and West, 62(3), 311-335.

6. Gupta, R. (2014). *Knowledge and Devotion: A Philosophical Examination of Advaita and Bhakti Traditions*. Indian Philosophical Quarterly, 41(2), 145-158.

7. Iyer, R. (1999). *Rasa and the Experience of the Divine: An Aesthetic Perspective*. Journal of Aesthetics and Art Criticism, 57(4), 381-391.

8. Murray, S. (2016). *Detachment and Enlightenment in Advaita Vedanta*. Philosophy East and West, 66(1), 85-105.

9. Shankara. (1983). *Advaita Vedanta*. In *The Philosophy of Advaita*. SUNY Press.